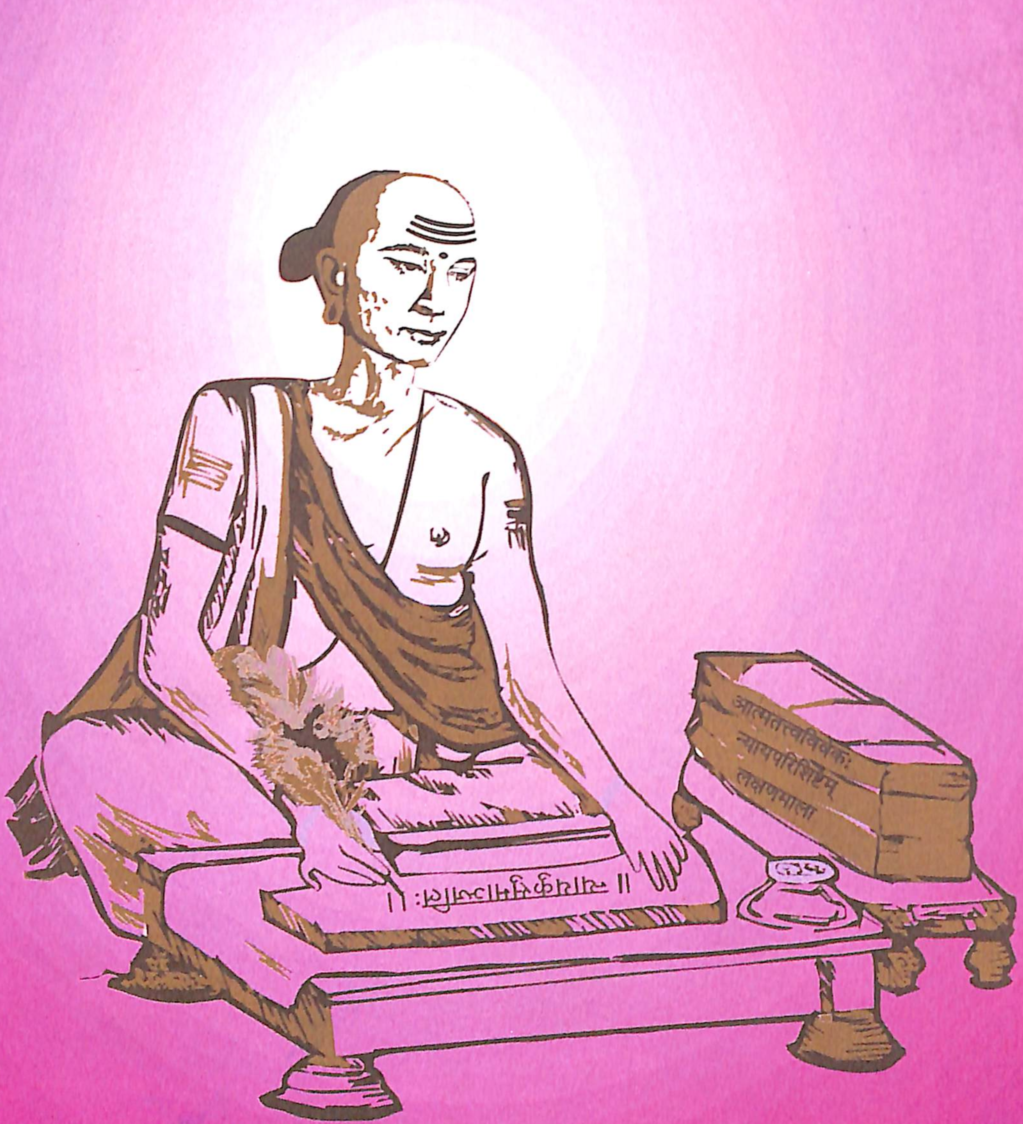
श्रीउदयनग्रन्थावलिः

(तृतीयो भागः)



श्री उदयनग्रन्थावलिः

(३)

श्रीउदयनग्रन्थावलिः

(तृतीयो भागः)



श्री उदयनग्रन्थावलिः

(३)

१) न्यायकुसुमाञ्जलिः

श्रीउदयनग्रन्थावलेः प्रथमो भागः प्राप्तः। महता परिश्रमेण भवद्भिः संपादितोऽयं ग्रन्थः समीचीनेषु काकदेषु मुद्रापितः महान्तं प्रमोदं जनयति। भवद्भिः स्वजीवनकालः शताधिकशास्त्रीयग्रन्थानां प्रकाशनेन सफलः क्रियत इति संतुष्यामितराम्। प्रकृतग्रन्थोपाद्धाते मौलिक-तत्त्वानि आविष्कृतानि आनन्दयन्ति।

एन् एस रामानुजताताचार्यः
G002,Divyaland Mark,
No9, Dr Ramaiah Road,
Yeswanthpur,Bangalore 560022

उदयनग्रन्थावलिः

(तृतीयोभागः)

सम्पादकः

किशोरनाथ झा

पूर्व प्रवाचकः

प्रयागस्थ–गङ्गानाथझा–केन्द्रीय–संस्कृत–विद्यापीठस्य

उदयनाचार्यप्रणीतः

न्यायकुसुमाञ्जलिः

(आमोद-प्रकाश-मकरन्द-व्याख्या-सहितः)

सम्पादकः

किशोरनाथ झा

पूर्व प्रवाचकः

प्रयागस्थ–गङ्गानाथझा–केन्द्रीय–संस्कृत–विद्यापीठस्य

श्रीवल्लभविद्यापीठ श्रीविट्ठलेशप्रभुचरण आ॰हो॰ ट्रस्ट
वैभव को-ऑपरेटिव्ह सोसायटी, पूना बेंगलोर रोड,
कोल्हापूर, महाराष्ट्र - ४१६००८
के आर्थिक अनुदान से प्रकाशित

प्रकाशक
किशोरनाथ झा
ग्रा॰ बिट्ठो, पो॰ सरिसब-पाही
जि॰ मधुबनी - ८४७४२४ (बिहार)

५०० प्रतियाँ (२००९ ई॰)

मूल्य -

टाइप सेटिंग -
एकेडमी प्रेस, दारागञ्ज, इलाहाबाद - २११००६

मुद्रक-
रमा आर्ट
४, चुनावाला इंडस्ट्रीयल इस्टेट,
कोंडीविटा रोड, अंधेरी (पुर्व),
मुंबई - ४०० ०५९.

समर्पणम्

न्यायाब्धिपारदृश्वानौ सदैव मयि वत्सलौ।
ठक्कुरोऽनन्तलालो हि बाबूमिश्रश्च मे गुरू।।

पदप्रमाणयोर्वेत्ता पिता मे कृष्णमाधवः।
प्रीत्यै भक्त्यार्प्यते तेषां ग्रन्थोऽयं पादपद्मयोः।।

– विनीतेन ग्रन्थसम्पादकेन झोपाह्व किशोरनाथेन

भूमिका

१. दार्शनिक ईश्वरवाद का मूल

भारतीय सभ्यता के आदि भाग में वैदिक ऋषिगण अपारशक्ति सम्पन्न विभिन्न देवताओं की स्तुति करते थे। इसका साक्ष्य *ऋग्वेद* आदि प्राचीनतम ग्रन्थों में उपलब्ध है। सर्वप्रथम अग्नि, इन्द्र तथा वायु आदि प्राकृतिक वस्तु-समूह देवता के रूप में प्रतिष्ठित हुए। क्रमशः प्राकृतिक वस्तुओं में अधिष्ठित अधिदेवता विशेष की कल्पना हुई। इस तरह वैदिक देवताओं की संख्या क्रमशः बढ़ती गयी। दूसरी तरफ एकेश्वरवाद की ओर भी प्रगति होने लगी। *ऋग्वेद* में ही '**एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति**' सुनने में आया। पश्चात् अवान्तर वैदिक साहित्य में इस एकेश्वरवाद का प्रचार हुआ। निरुक्तकार **यास्क** ने भूलोक, अन्तरिक्षलोक तथा द्युलोकगत स्थानभेद के कारण पहले देवताओं के तीन प्रकारों का वर्णन किया है तथा उन देवों को शरीरी एवं असीम शक्ति–सम्पन्न कहा है। पश्चात् इन्होंने भी एकेश्वरवाद की पुष्टि[१] की है। सर्ववेदानुक्रमणीकार **शौनक** का कहना है कि *वेदों* में केवल एक देवता की स्तुति की गयी है और वह देवता सूर्य है। *उपनिषदों* के एक ब्रह्मवाद या वेदान्त के अद्वैतवाद का मूल इसी परम्परा में निहित है।

ऋग्वेद में अनेक ऐसे मन्त्र उपलब्ध हैं, जिससे एकेश्वरवाद, एक ब्रह्मवाद अर्थात् अद्वैतवाद उपपन्न होता है। यथा –

यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा
यो देवानां नामधा एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या।

– ऋ० १०।८२।३

---

१. महाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते। निरुक्त ७।१२।५

एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एक एव सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः।
एकैवोषाः सर्वमिदं विभाति एकं वा इदं विबभूव सर्वम्।।

– ऋ० ८।५८।२

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति अग्नि यमं मातरिश्वानमाहुः।।

– ऋ० १।१६४।४७

वैदिक युग के मध्य भाग में प्रत्येक वैदिक मन्त्र का सम्बन्ध यज्ञ से स्थापित किया गया। कहा जाता है कि वेदमन्त्र यज्ञात्मक क्रिया में ही सार्थक है। जिस मन्त्र का सम्बन्ध यज्ञ से नहीं है, वह निरर्थक[२] है।

किन्तु *उपनिषद्* साहित्य में इस यज्ञवाद का संबन्ध शिथिल होता गया तथा ज्ञानवाद का उदय हुआ। यही आत्मवाद तथा परमात्मवाद के उद्भव तथा विकास का रूप है। इस समय यज्ञों का आध्यात्मिक विकास होने लगा। विभिन्न धर्मों के दार्शनिक प्रस्थानों का उद्भव होता गया। इन प्रस्थानों के उद्भव में बहुत अंश में वैयक्तिक ईश्वर ने भित्तिभूमि का काम किया।

इस प्रसंग में पौराणिक त्रिदेववाद की मान्यता का आविर्भाव अविस्मरणीय है। *पुराणों* में ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश — इन तीन देवताओं की कल्पना की गयी। किसी *पुराण* में यदि एक देवता का प्राधान्य है तो यथासंभव अन्य देवताओं की निन्दा नहीं की गयी है। प्रत्युत तीनों देवताओं में ऐक्य-प्रतिपादन का निपुणता से प्रयास किया गया है।

दार्शनिक प्रस्थानों में उपलब्ध ईश्वरवाद की पृष्ठभूमि वैदिक तथा पौराणिक देववाद ही रही होगी। किसी दर्शन में यदि सर्वज्ञ, सर्वशक्तिसम्पन्न तथा विश्वस्रष्टा एक ईश्वर युक्तियों से प्रतिपादित है तो अपर दर्शन ईश्वर का सप्रमाण खण्डन भी करता है। किसी-किसी दर्शन के आरम्भ में ईश्वरवाद की विशेष आलोचन नहीं देखा जाता है किन्तु पश्चात् दृढ़तापूर्वक इसका प्रतिष्ठापन हुआ है। न्याय दर्शन की स्थिति इसी कोटि में आती है। इसका विशद पल्लवन यहाँ आगे यथावसर किया जायेगा।

---

२. आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्। मी.सू.१।२।१।

विभिन्न दर्शनों में स्थित ईश्वरवाद का विहंगावलोकन यहाँ अनुचित नहीं होगा। साधारणतः दार्शनिक सम्प्रदाय दो भागों में विभक्त है– वैदिक तथा अवैदिक। पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा, सांख्य, योग, वैशेषिक तथा न्याय – ये छह सम्प्रदाय वैदिक दर्शन की कोटि में आते हैं। चार्वाक, जैन तथा बौद्धों के चार प्रस्थान – माध्यमिक, योगाचार, वैभाषिक तथा सौत्रान्तिक-अवैदिक कोटि में गिने जाते हैं। इनके अतिरिक्त भी अनेक दर्शन मान्य तथा प्रसिद्ध हैं। यथा पाशुपत, शैव, पूर्णप्रज्ञ, पाञ्चरात्र तथा वैखानस आदि। एक दर्शन में भी दृष्टिभेद के कारण विभिन्न उप सम्प्रदायों की उत्पत्ति होती गयी। जैसे वेदान्त का अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैत तथा अचिन्त्य भेदाभेद आदि। फलतः ईश्वर के स्वरूप निर्माण में तथा इसके अस्तित्व के विषय में अपने-अपने मतों के अनुकूल खण्डन एवं मण्डन युक्ति तथा प्रमाणों के आधार पर होते रहे हैं।

आगमों के अनुसार सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् संसार का कर्त्ता ईश्वर प्रधानतः शिव तथा विष्णु रूप में कल्पित हुए हैं। इस दृष्टि से ईश्वरवादी दर्शनों को दो भागों में रक्खा जा सकता है – शैवदर्शन तथा वैष्णवदर्शन। शाक्त दर्शन, गाणपत्यदर्शन तथा सौरदर्शन परमशक्तिमान के रूप में यथाक्रम शक्ति, गणपति तथा सूर्य को मानते हैं। आदि शङ्कराचार्य को प्रायः इसी दृष्टि से षण्मत-प्रतिष्ठापनाचार्य कहा गया है। गाणेश, स्कान्द, शैव, शाक्त, सौर तथा वैष्णव सिद्धान्त षण्मत से अभिप्रेत है। किन्तु विचार करने पर वे अद्वैत मत के प्रतिष्ठापक हैं।

अति प्राचीन भागवत सम्प्रदाय में विष्णु पुरुषोत्तम रूप में विद्यमान हैं। भगवान् विष्णु *वेद* में प्रसिद्ध आदित्यों में अन्यतम है। यही समय-समय पर भिन्न-भिन्न रूप में अवतार लेकर संसार की देखरेख करते हैं। सात्वतवंशीय क्षत्रियों में इनकी उपासना प्रचुर रूप में प्रचलित हुई थी। व्याकरण[३] *महाभाष्य* तथा विभिन्न प्राचीन *शिलालेखों* में इन्हीं को वासुदेव के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि यह वासुदेव भगवान् विष्णु के अवतार के रूप में मान्य रहे हैं।

मथुरा के क्षत्रिय वसुदेव के पुत्र श्रीकृष्ण ही वासुदेव हैं। यही कंस के

---

३. वासुदेवार्जुनाभ्यां वुञ् (पा.सू.४।३।९८) का भाष्य

संहारक, युद्धभूमि कुरुक्षेत्र में अर्जुन का सारथि रहे हैं और *भगवद्गीता* के उपदेशक भी। यहाँ दार्शनिकों में वैमत्य रहने पर भी साधारण बुद्धि से उपर्युक्त मान्यता की प्रतीति होती है। कहीं-कहीं प्रतिवासुदेव की कल्पना भी मिलती है, जिसमें सात्वतों की देवता वासुदेव कृष्ण से भिन्न प्रतीत होते हैं। किन्तु *महाभारत* में बलदेव, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध के साथ वासुदेव को लेकर चतुर्व्यूह की कल्पना की [४]गयी है। इस कल्पना से सम्बद्ध भगवान् वासुदेव ऐतिहासिक श्रीकृष्ण से अभिन्न हैं – इस मत को विद्वानों की मान्यता प्राप्त है। वासुदेव ने *गीता* शास्त्र का प्रवचन किया था, जो भागवत धर्म का प्रतिपादक होकर भी सर्वसम्प्रदाय सम्मत ईश्वरवाद के प्रतिपादक रूप में अत्यधिक प्रसिद्ध है।

ज्ञान, कर्म तथा भक्ति के परिचायक *गीताशास्त्र* में ईश्वर की उदार कल्पना मिलती है। यहाँ ईश्वर सर्वज्ञ सर्वकर्ता तथा सर्वात्मक कहा गया है। उक्त है कि श्रीकृष्ण ने उपनिषदों का दोहन करके *गीता* में उनके सारभाग का संग्रह[५] किया है। यह *भगवद्गीता* जीवों के शुभ तथा अशुभ कर्मों के प्रयोजक कर्ता के रूप में परमेश्वर का प्रतिपादन करती है। अतएव श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है – इन राजाओं को मैंने ही पहले मार दिया था। अतएव हे अर्जुन! तुम यहाँ केवल निमित्त हो। वस्तुतः कार्य का संपादन मैंने ही किया[६] है। न तो ऐसा ही है कि मैं किसी काल में नहीं था अथवा तुम (अर्जुन) नहीं थे और न ऐसा ही है कि इसके आगे हमसब नहीं[७] रहेंगे। इस उपदेश में अहं पद से परमात्मा विवक्षित है। आचार्य **रामानुज** ने यहाँ *भाष्य* में कहा है – **'यथा अहं परमेश्वरः परमात्मा नित्य इति नात्र संशयः'**।

इस *गीता* के तृतीय अध्याय में २२ से ३० श्लोकों में श्रीकृष्ण ने ईश्वरवाद का विशद प्रतिपादन किया है। 'हे अर्जुन! मुझे तीनों लोकों में कुछ

---

४. द्रष्टव्य महाभारत (गीता प्रेस) १२।३३९।२५,३६,४१,७२,७३।

५. सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः – गीता माहात्म्य।

६. मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।११।३३।

७. न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामो सर्वे वयमतः परम् ।। – २।१२।

भी कर्तव्य[८] नहीं है' इस उक्ति से जीव तथा ईश्वर में भेद स्पष्ट प्रतीत होता है। क्योंकि जीवात्मा कर्मों का कर्ता है और ईश्वर को कुछ करणीय नहीं है। उत्तम पुरुष तो कोई और है, जो तीनों लोकों में प्रवेश करके सभी जन्तुओं का धारण तथा पोषण करता है। वह अव्यय ईश्वर तथा परमात्मा शब्द से पुकारा जाता है – इस[९] उक्ति में त्रिलोक का धारणकर्त्ता एवं अव्यय रूप ईश्वर कण्ठतः उपपादित है। पुरुष इस शरीर में स्थित होकर भी कुछ और ही है। वह साक्षी होने से उपद्रष्टा, यथार्थ सम्मति देने वाला होने से अनुमन्ता, सबका भरण पोषण करने से भर्ता, जीव रूप से भोक्ता, ब्रह्मा आदि का भी स्वामी होने से महेश्वर और शुद्ध सच्चिदानन्दघन होने से परमात्मा[१०] है। इस प्रकार ईश्वर का स्पष्ट चित्र यहाँ प्रस्तुत हुआ है। *न्यायशास्त्र* सम्मत ईश्वर के साथ *भगवद्गीता* में प्रतिपादित ईश्वर की तुलना से ज्ञात होता है कि संसार के सृष्टिकर्ता के विषय में दोनों का भावगत बहुत साम्य है। यथा मैं सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति तथा प्रलय रूप हूँ अर्थात् सम्पूर्ण जगत् का मूल रूप हूँ। एवं सर्वज्ञ, अनादि, सबों का नियन्ता, सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तुओं का तथा जीवों का धारण तथा पोषण करनेवाला, अचिन्त्य स्वरूप, सूर्य के सदृश नित्य चेतन प्रकाश रूप तथा अविद्या से रहित परमात्मा का स्मरण करना[११] चाहिये। यहाँ परमात्मा का सृष्टिकर्तृत्व स्पष्ट प्रतीत होता है। इसकी पुष्टि में अनेक श्लोक यहाँ उपलब्ध हैं। इस प्रकार *भगवद्गीता* में उक्त ईश्वर तथा महेश्वर शब्द विष्णु अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। किन्तु विष्णु तथा शिव में यह समन्वय परवर्ती काल का प्रभाव प्रतीत होता है। *महाभारत* में शिव तथा विष्णु का अभेद प्रतिपादित हुआ है –

---

८. न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि।। ३।२२।

९. उत्तमः पुरुषस्त्वन्य परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः।। – १५।१७।

१०. अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा। ७।६।
उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः।१३।२२।

११. कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयासमनुस्मरेद् यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।। ८।९।

रुद्रो नारायणश्चैव सत्त्वमेकं द्विधा कृतम्।
लोके चरति कौन्तेय व्यक्तिस्थं सर्वकर्मसु।।१२।३४१।२७

लोकमे प्रसिद्ध रामेश्वर पद का व्युत्पत्तिमूलक पद्य से भी राम तथा शिव में अभेद का प्रतिपादन होता है –

रामस्तत्पुरुषं प्राह बहुव्रीहिं तु शङ्करः।
कर्मधारयमित्येके लीलार्थं द्वन्द्वमद्वये।।

ऋग्वेद में रुद्र की स्तुति आती है। किन्तु वैदिक देवताओं में इसका अधिक प्राधान्य नहीं है। रुद्र पथ, प्रान्तर तथा पशुओं का पालक देवता है। वह शस्त्र धारण करता है तथा मनुष्य एवं गौ आदि का नाश भी करता है। *यजुर्वेद* के *रुद्राष्टाध्यायी* में इसकी विभिन्न दैवी शक्तियाँ वर्णित हैं। रुद्र की कृपा से पशुओं की रक्षा होती है। वह कुलुञ्च, कर्मार, निषाद तथा तस्कर आदि का भी अधिपति है। संसार का संरक्षक है। गिरिशायी, कृत्तिवास, पशुपति, कपर्दी, शर्व तथा भव आदि नामों से इसका उल्लेख यहाँ हुआ है।

अथर्ववेद में रुद्र का स्वरूप इससे भी उन्नततर है। यहाँ विभिन्न रूपों में शिव उल्लिखित हुए हैं। शिव द्विपद एवं चतुष्पद प्राणियों का अधिपति है। सहस्राक्ष, अतिवेधा, अभिन्नलक्ष्य, जातुधानों के संहारक, स्तुति करनेवालों के संरक्षक तथा पिनाक नामक धनुष का धारण करनेवाला कहा गया है। यहाँ यह रुद्र राजा के रूप में एवं अग्नि से अभिन्न उक्त है।

भव, शर्व, महादेव, पशुपति तथा सदाशिव आदि भी इसी रुद्र के नामान्तर हैं। भव व्रात्यों का तथा पूर्व दिशा का अधिपति हैं। उग्र उत्तर दिशा का, रुद्र अधोदिशा का, महादेव ऊर्ध्व दिशा का तथा ईशान विदिशाओं का (नैऋत्य, अग्नि, वायव्य तथा ईशान का) अधिपति है।

कविकुलगुरु **कालिदास** द्वारा की गयी शिव की अष्टमूर्तियों की अवधारणा का बीज *वेद* में उपलब्ध है।

ऋग्वेदीय कौषीतकि ब्राह्मण में (६।१।) इस अष्टमूर्ति की अवधारणा का मूल देखा जाता है। यहाँ उक्त है कि अग्नि, वायु, आदित्य और चन्द्रमा – इन चार ज्योतियों के सम्मिलित तेज से एक विराट् पुरुष का जन्म हुआ, जिसका सहस्र हाथ, सहस्र चरण और सहस्र आँखें थी। प्रजापति ने उससे पूछा कि तुम

क्या चाहते हो तो उसने कहा कि मेरा एक नाम रखिये। नाम के बिना किसी को किसी वस्तु के उपभोग का अधिकार नहीं होता है। प्रजापति ने उसका आठ नाम रख दिया और प्रत्येक नाम के अर्थ के साथ भौतिक या दैविक तत्त्व का सम्बन्ध स्थापित कर दिया। *यजुर्वेद* के *शतपथ ब्राह्मण* में भी (६।१।३।८-१७) यह कथा उल्लिखित है। दोनों की कथाओं में थोड़ा बहुत साम्य तथा वैषम्य भी दृष्टिगोचर होता है। **कालिदास** द्वारा उक्त पञ्च महाभूत तथा सूर्य चन्द्रमा के साथ इनका तादात्म्य रहने पर भी यजमान के साथ तादात्म्य परिलक्षित नहीं होता है, इतना भेद है। इस सन्दर्भ में महिम्न स्तोत्र में भी एक पद्य उपलब्ध है–

भवः शर्वोः रुद्रो पशुपति रथोग्रः सह महाँ
स्तथा भीमेशानाविति यदभिधानाष्टकमिदम्
अमुष्मिन् प्रत्येकं प्रविचरति देवः श्रुतिरपि
प्रियायास्मै धाम्ने प्रविहितनमस्योऽस्मि भवते।

(राष्ट्रपतिसम्मानित **प्रो० गया चरण त्रिपाठी** के निबन्ध – *शिव की अष्टमूर्तियाँ और उनकी वैदिक पृष्ठभूमि– में* इसका विशद एवं विस्तृत विवरण उपलब्ध है। द्रष्टव्य– कोशल-जर्नल, फैजाबाद अंक ४, वर्ष १९८२-८३ ई०) अष्टमूर्ति शिव का विवरण महाकवि **कालिदास** के *अभिज्ञान शाकुन्तल* नाटक के नान्दी श्लोक में स्पष्ट रूप से, *मालविकाग्निमित्रम्* में संकेत रूप से एवं विभिन्न शैव ग्रन्थों में सामान्य रूप से उपलब्ध है। आजकल भी पार्थिव शिवलिङ्ग की पूजा के अवसर पर इन अष्टमूर्तियों का उल्लेख होता है।

उपनिषद् साहित्य में श्वेताश्वर उपनिषद् बहुत प्राचीन नहीं होने पर भी इस प्रसंग में अपना पृथक् स्थान रखता है। *यह उपनिषद्* विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं का संगम स्थल है। *ऋग्वेद* तथा *यजुर्वेद संहिता, मुण्डक* तथा *कठ* आदि *उपनिषदों* से यहाँ मन्त्रों को उद्धृत किया गया है। विभिन्न विषयों को परस्पर मिलाकर एक ईश्वरवाद मूलक दर्शनों को खड़ा करने में इसका श्रेय अविस्मरणीय है। साथ-साथ सांख्य तथा योगदर्शन के मतवादों का संकलन भी यहाँ दृष्टिगोचर होता है। यद्यपि रुद्र, शिव, ईशान तथा महेश्वर शब्दों का वाच्य शिव ही इसका प्रधान प्रतिपाद्य है तथापि यह *उपनिषद्* किसी सम्प्रदाय विशेष से संबद्ध नहीं है। **शङ्कर** तथा **रामानुज** आदि आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में इस *उपनिषद्* मन्त्रों का उद्धरण प्रमाणरूप में प्रस्तुत किया है। सांख्य, योग,

न्याय तथा वैशेषिक ग्रन्थों में *श्वेताश्वतर उपनिषद* का उपयोग उपजीव्य रूप में किया गया है। इस *उपनिषद्* के अनुसार शिव एकमात्र देवता है तथा वह अक्षर पुरुष है। वह अक्षरों पर आधिपत्य करता है। ईश्वर एक, अद्वय तथा माया का अधिपति है। यह अपनी शक्तियों से प्रत्येक लोक को वशीभूत करता है। वह एकाकी होकर भी सृष्टि, प्रलय तथा सांसारिक व्यवस्था को अपनी शक्ति से स्वाधीन करता है। इसके ज्ञाता अमर होते हैं। रुद्र एक है द्वितीय नहीं, वह अपनी सामर्थ्य से त्रिभुवनों का शासन करता है। वह प्रत्येक प्राणी के अन्तर में वर्तमान रहता है। वह संपूर्ण भुवनों की सृष्टि, पालन तथा संहार करता है। इससे प्रतीत होता है कि औपनिषदिक आत्मा के साथ परमात्मा का भी अस्तित्व *श्वेताश्वतर उपनिषद्* का मान्य है।

केन उपनिषद के उमा हैमवती उपाख्यान में प्रतिपादित ब्रह्म तथा रुद्र शिव के साथ अभिन्न है। क्योंकि उमा रुद्र की शक्ति मानी गयी है। *अथर्वशिरस उपनिषद* में ब्रह्मा तथा विष्णु के साथ रुद्र का अभेद कल्पित है। यहाँ भी विश्व की सृष्टि तथा संहार के कर्ता होने के रूप में रुद्र का वर्णन मिलता है।

२. भारतीय दर्शन की आरम्भिक कृतियों में ईश्वर का स्थान

यद्यपि यह कहना साहस जैसा प्रतीत होता है कि भारतीय दर्शनों के आरम्भिक काल में संसार के कर्तारूप में ईश्वर की मान्यता नहीं रही है। पूर्व मीमांसा, ईश्वर कृष्ण का सांख्य तथा वैशेषिक दर्शनों में ईश्वर का उल्लेख या इस प्रसंग में चिन्तन दृष्टिगोचर नहीं होता है। योगदर्शन में प्रणिधान के विषय रूप में ईश्वर का उल्लेख *सूत्रकार* भगवान् *पतञ्जलि* ने किया है – **'ईश्वरप्रणिधानाद्वा'** (योगसूत्र १।२३)। इस ईश्वर के स्वरूप के विषय में उक्त है कि ईश्वर क्लेश, कर्म, विपाक तथा आशय से अपरामृष्ट अर्थात् रहित पुरुष विशेष रूप है – **क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः** (१।१।२४।)।

इस सूत्र के *अवतरणभाष्य* में **व्यासदेव** ने कहा है कि प्रधान तथा पुरुष (प्रकृति एवं जीव) से भिन्न यह ईश्वर कौन है – इस जिज्ञासा की शान्ति हेतु भगवान् **पतञ्जलि** ने इस सूत्र में ईश्वर का परिचय प्रस्तुत किया है। यह ईश्वर न तो बन्धन से सम्बद्ध है न कभी रहा है और न कभी रहेगा। यह सदा

मुक्त एवं सदा ईश्वर रहता है। यही ईश्वर का शाश्वतिक उत्कर्ष है। इसमें शास्त्र ही प्रमाण है।

वाचस्पति मिश्र ने *तत्त्ववैशारदी* में उपपादित किया है कि ईश्वर की सत्ता में शास्त्र ही प्रमाण है। मन्त्र और आयुर्वेद के प्रणयन से विदित होता है कि ईश्वर में रजस् एवं तमस् गुण रूप मलावरण नहीं रहने से बुद्धि सत्त्व चारों ओर प्रकाशित होता रहता है। अतएव लौकिक अभ्युदय एवं पारलौकिक नि:श्रेयस के उपदेशक वेदराशि ईश्वर की रचना है, जो उस बुद्धिसत्त्व के प्रभाव से उद्भूत होती है।

पुनश्च (१।१।२५ योगसूत्र के) *भाष्य* में उक्त है कि जहाँ ज्ञान की प्राप्ति होती है, वह ईश्वर है, वह पुरुष विशेष स्वरूप मान्य है। आत्मानुग्रह से निरपेक्ष ईश्वर का भूतों पर अनुग्रह ही प्रयोजन है। वह ईश्वर ज्ञान तथा धर्म का उपदेश देकर कल्पान्तर में प्रलय तथा महाप्रलय के समय सांसारिक जीवों का उद्धार करता है। **सूत्रकार** ने आगे कहा है कि वह (ईश्वर) पूर्व पुरुषों का भी गुरु रहा है, उसका वाचक प्रणव अर्थात् ओंकार है। '**स पूर्वेषामपि गुरुः**' (१।१।२६।) '**तस्य वाचकः प्रणवः**' (१।१।२७।)।

इस दर्शन में कहीं भी सूत्रकार **पतञ्जलि** ने ईश्वर को संसार का कर्ता नहीं कहा है। भूतों के अनुग्रहों से प्रेरित होकर यह सांसारिक जीवों का ज्ञान एवं धर्म का उपदेशक मात्र होता है।

द्वितीय अध्याय के द्वादश सूत्र, बत्तीसवाँ सूत्र एवं पैंतालिसवाँ सूत्र तथा तृतीय अध्याय के षष्ठ सूत्र में प्रणिधानविषय के रूप में ईश्वर का वर्णन उपलब्ध है, जगत्कर्ता के रूप में नहीं। **बौद्ध दर्शन** में भी भगवान् बुद्ध धर्म एवं ज्ञान के उपदेशक रूप में मान्य हैं।

प्रतीत होता है कि जगत् कर्तृत्व या स्रष्टृत्व ईश्वर में बहुत सारे **दार्शनिक सूत्रकारों** का अनुमत नहीं रहा है।

न्यायदर्शन के *सूत्र* एवं *भाष्य* के पर्यालोचन से भी ईश्वर का सृष्टि-कर्तृत्व उपपन्न नहीं होता है। यथा *न्यायदर्शन* के तृतीय अध्याय के प्रथम आह्निक में आत्मप्रकरण आया है। यहाँ जीवात्मा के लक्षण की परीक्षा तो की गयी है किन्तु जीवात्मा एवं परमात्मा का विभाग उपलब्ध नहीं है। चतुर्थ अध्याय के प्रथम आह्निक में यद्यपि ईश्वरवाद स्पष्टतः उक्त है – **ईश्वरः**

कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात् ४।१।१९। तथापि शून्यवाद आदि हेय मतों के साथ इसका उल्लेख हुआ है। इन वादों के अवतरण में **वात्स्यायन** ने अपने *भाष्य* में कहा है कि इसके वाद प्रावादुकों की दृष्टि (मत) प्रदर्शित हो रही है – **'अतः परं प्रावादुकानां दृष्टयः प्रदर्श्यन्ते'**। यदि ईश्वरवाद भी प्रावादुकों की दृष्टि में परिगणित है तो इससे आश्चर्य होता है। यह नैयायिक की प्रचलित मान्यता से बहिर्भूत प्रतीत होती है। यद्यपि *वार्त्तिक* तथा *तात्पर्यटीका* में इस *भाष्य* कथन का समाधान किया गया है तथापि उससे निष्पक्ष विचारक को सन्तोष नहीं होता है। इस असन्तोष का कारण है *वार्त्तिक* एवं *टीका* में मतभेद। यथा *भाष्य* में उक्त है प्रावादुकों की दृष्टि से विचार का प्रदर्शन होता है। **वार्त्तिककार** कहते हैं कि इन विचारों में कुछ मान्यताओं का निराकरण होगा और कुछ का ग्रहण भी होगा – **'कानिचित् (शून्यतोपादानादीनि) प्रतिषेद्धुम् कानिचित् (ईश्वरादीनि) अभ्यनुज्ञातुम्'**। यहाँ आठ मतों में सात मत हेय हैं केवल एक मत (ईश्वरवाद) उपादेय है। प्रतीत होता है कि केवल ईश्वरवाद की स्वीकृति हेतु ही **वार्त्तिककार** की यह पंक्ति यहाँ प्रस्तुत हुई है। **भाष्यकार** की दृष्टि में तो ईश्वरकारणतावाद भी प्रावादुकों की दृष्टि ही है। प्रावादुक का अर्थ यहाँ न्यायदर्शन के प्रतिकूल मत का पोषक दार्शनिक होता है। **वाचस्पति मिश्र** ने इस ईश्वरवाद को *वेदान्तदर्शन* के अनुसार ईश्वर ही इस संसार का उपादान कारण है – इसका समर्थन किया हैं, जो नैयायिक की दृष्टि में हेय कोटि में ही आता है। ऐसा प्रतीत होता है कि **वार्त्तिककार** का अभिमत प्रावादुक दृष्टिमें प्रदर्शित विवेकपूर्ण विचार से **तात्पर्य टीकाकार** सर्वथा असहमत हैं।

वार्त्तिककार कहते हैं कि **'ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्'** ४।१।१९। सूत्र का तात्पर्य है ईश्वर संसार का कर्ता होने से निमित्त कारण रूप में मान्य है। **तात्पर्यटीकाकार** कहते हैं कि वेदान्त के अभिमत ईश्वर इस संसार का उपादान कारण है। एक की दृष्टि में यह सिद्धान्त सूत्र है और अपर की दृष्टि में यह पूर्वपक्ष सूत्र है। यद्यपि भाष्यवचन – **'प्रावादुकानां दृष्टयः प्रदर्श्यन्ते'** का नैकट्य *तात्पर्यटीका* का ही प्रतीत होता है। तथापि पश्चात् न्यायदर्शन में पल्लवित प्रसिद्ध ईश्वरकारणतावाद का प्रावादुक दृष्टि के अन्तर्गत रहना हम लोगों को खटकता है। **सूत्रकार** तथा **न्याय भाष्यकार** ने कहीं भी संसार का कर्तृत्व ईश्वर में उपपादित प्रतिपादित नहीं किया है। यह सोचकर ही

वार्त्तिककार ने 'कानिचिदभ्यनुज्ञातुम्' उक्त सन्दर्भ में कहा होगा।

अतएव उपर्युक्त ईश्वरवाद विषयक न्यायसूत्र **वार्त्तिककार** की दृष्टि में सिद्धान्तपरक है और द्वितीय सूत्र '**न पुरुषकर्माभावे फलानिष्पत्तेः**' ४।१।२०। इस सूत्र से उक्त सिद्धान्त पर आक्षेप किया जाता है। पुनश्च '**तत्कारितत्त्वादहेतुः**' ४।१।२१। सूत्र द्वारा उक्त आक्षेप का परिहार होता है।

वाचस्पति मिश्र की *तात्पर्य टीका* में – '**ईश्वरः कारणं**' सूत्र का वेदान्त के मान्य ईश्वर जगत् का उपादान कारण है – इस पूर्वपक्ष के रूप में उपपादन किया गया है। '**न पुरुषकर्माभावे**' सूत्रमे पूर्वपक्षभूत वेदान्त के पक्ष का प्रतिषेध किया गया है। '**तत्कारितत्वात्**' सूत्र में ईश्वर का निमित्तकारणतापक्ष सिद्धान्त रूप में प्रतिपादित हुआ है। न्यायानुमत अपना सिद्धान्त कहने के लिए **वाचस्पति मिश्र** ने *तात्पर्यटीका* में कहा है – 'तदेवमीश्वरोपादानं ब्रह्मविवर्तत्वं च निरपेक्षेश्वरनिमित्तत्वञ्च प्रत्याख्याय अभिमतं पक्षं गृह्णाति' इति।

आचार्य **उदयन** ने *परिशुद्धि* में कहा है कि यद्यपि कारण सामान्य शब्द है तथापि प्रकरण से उपादान में उसका तात्पर्य निहित है। इस कथन से प्रतीत होता है कि इन्होंने **वाचस्पति मिश्र** का हृदय से समर्थन नहीं किया है।

विश्वनाथ कृत *न्यायसूत्रवृत्ति* इस प्रसंग में *वार्तिक*मत का समर्थन करती है। अत एव '**ईश्वरः कारणम्**' यहाँ सिद्धान्त सूत्र के रूप में मान्य है।

वार्त्तिककार ने '**तत्कारितत्वादहेतुः**' इस सूत्र की व्याख्या में स्पष्ट कहा है कि सृष्टि मान्य नहीं है। '**सर्गादेरनभ्युपगमात्**'। अब सृष्टि के निमित्तकारण का उपयोग कहाँ होगा – यह भी विचारणीय है।

'**सूर्यचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्**' इस वैदिक वाक्य के आधार पर सृष्टि का नियन्ता ईश्वर को माना जा सकता है। सृष्टि के कर्ता रूप में ईश्वर की मान्यता न्यायदर्शन के *सूत्र, भाष्य, वार्तिक* तथा *तात्पर्यटीका* में उपलब्ध नहीं है। **भाष्यकार** ने ईश्वर को द्रष्टा, बोद्धा, सर्वज्ञ तो कहा है किन्तु स्रष्टा या कर्ता नहीं।[१२]

---

१२. द्रष्टव्य – मिथिलेश महेश रमेश व्याख्यानमाला के अन्तर्गत (१९३९ ई०) में दिया गया म.म.डा.सर गङ्गानाथ झा का व्याख्यान 'दर्शनशास्त्रम्' तथा उनकी न्याय भाष्य खद्योत व्याख्या की भूमिका।

अवधेय है कि **न्यायवार्त्तिककार** ने तीन हेतुओं से ईश्वर की सिद्धि की है – १. संसार के कर्त्ता के रूप में, २. अदृष्ट (धर्म-अधर्म) के अधिष्ठाता के रूप में तथा ३. वेद के वक्ता के रूप में। वेदवक्तृत्व की सिद्धि इन्होंने **'मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्'** (२।२।६१) इससूत्र के *वार्त्तिक* में विशदरूप से की है। इन्हीं की युक्तियों का पल्लवन आचार्य **उदयन** ने *न्यायकुसुमाञ्जलि* में किया है।

३. न्याय कुसुमाञ्जलि के प्रतिपाद्य का संक्षिप्त परिचय

न्यायदर्शन के अभिमत ईश्वर की सिद्धि हेतु आचार्य **उदयन** ने *न्यायकुसुमाञ्जलि* का प्रणयन किया। यह प्रकरण ग्रन्थ पाँच स्तवकों में विभक्त है। प्रथम स्तवक में **चार्वाकमत** का, द्वितीय स्तवक में **मीमांसकमत** का, तृतीय स्तवक में **बौद्धमत** का, चतुर्थ स्तवक में **जैनमत** का तथा पञ्चम स्तवक में **साङ्ख्यमत** का निराकरण कर आचार्य **उदयन** ने प्रबल युक्तियों के आधार पर न्यायदर्शन के अनुमत ईश्वर का सद्भाव स्थापित किया है। तथा प्रत्येक स्तवक में न्यायदर्शन की मान्यता के प्रतिकूल मतों का प्रमाण तथा तर्क के आधार पर अच्छी तरह खण्डन किया है। यही इस ग्रन्थ का वैशिष्ट्य है।

भारतीय दर्शनों के आरम्भिक काल में ईश्वर दार्शनिक चिन्तन के विषय रूप में मान्य नहीं था, उपासना का विषय होने से कर्मकाण्ड में इसका स्थान सुरक्षित था। इसका विशद विवेचन यहाँ आरम्भ में ही हो चुका है। इस ग्रन्थ के आरम्भ में आचार्य ने भी इनकी उपासना-विषयता का प्रतिपादन किया है। इनकी उक्ति है कि सुधीजनों ने जिनकी उपासना को स्वर्ग तथा अपवर्ग का मार्ग कहा है, उस परमात्मा का निरूपण मैं यहाँ करने जा रहा हूँ।

स्वर्गापवर्गयोर्मार्गमामनन्ति मनीषिणः।
यदुपास्तिमसावत्र परमात्मा निरूप्यते।।

यद्यपि *उपनिषद* आत्मा के दर्शन, श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन का उपदेश देती है– **आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः** दर्शनशास्त्र में भी इसी का संवाद मिलता है।

श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
मत्वा च सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः।।

वेदवाक्यों के अध्ययन से तथा गुरु के उपदेश से – आत्मा का श्रवण करने पर पश्चात् उपपत्ति से – अर्थात् प्रमाण तथा तर्क स्वरूप युक्ति से– उसका मनन का विधान है, जो न्यायशास्त्र की प्रक्रिया से संभव है। पुनश्च मनन कर लेने पर उसका निरन्तर ध्यान करने का विधान है। यही निदिध्यासन पद से शास्त्रकार का अभिप्रेत है। तथापि चूँकि ईश्वर भी आत्मविशेष स्वरूप है, अत: उपर्युक्त *उपनिषद्* वाक्य के समन्वय में बाधा नहीं होती है। आचार्य ने उपपत्ति से – पञ्चावयवरूप न्यायवाक्य के प्रयोग से – मनन स्वरूप ईश्वर की उपासना को यहाँ विशद एवं विस्तृत रूप में प्रस्तुत किया है –

न्यायचर्चेयमीशस्य मननव्यपदेशभाक्।

उपासनैव क्रियते श्रवणानन्तरा गता।।

यहाँ प्रथम स्तवक का विप्रतिपत्ति वाक्य है – **'अलौकिकस्य परलोक-साधनस्याभावात्'** – परलोक का अलौकिक साधन नहीं है। **वर्धमान उपाध्याय** के अनुसार इस विप्रतिपत्तिवाक्य में तीन अवान्तर विप्रतिपत्तियाँ निहित है – १. अलौकिक पदार्थ का अभाव, २. परलोक का अभाव तथा ३. साधन का अभाव। यहाँ अलौकिक पदार्थ से नैयायिक का अभिप्राय है – धर्म तथा अधर्म रूप 'अदृष्ट'। चूँकि लोकसिद्ध प्रत्यक्ष प्रमाण से अदृष्ट की सिद्धि संभव नहीं है। अत: केवल प्रत्यक्ष प्रमाणवादी **चार्वाक** के मत में यह मान्य नहीं है। इसी प्रकार स्वर्ग तथा नरक का अस्तित्व उनका मान्य नहीं है, किन्तु अन्य दार्शनिकों का मान्य है। अदृष्ट के माध्यम से मृत्यु के पश्चात् व्यक्ति को स्वर्ग तथा नरक होता है।

संसाररूपी कार्य के कर्ता रूप में आस्तिक दार्शनिक वृन्द द्वारा स्वीकृत यह ईश्वर **चार्वाक** को स्वीकार नहीं है। स्वाभाविक शक्ति से ही इस संसार की सृष्टि होती है। कार्यकारणभाव मानना आवश्यक नहीं है। स्वभाववाद के पक्षपाती तथा ईश्वर के निराकरण में तत्पर **बौद्ध दार्शनिक** का कहना है कि[१२]

---

१२. नित्यसत्त्वा: भवन्त्यन्ये नित्यासत्त्वाश्च केचन।
विचित्रा: केचिदित्यत्र स्वभावात् तद् व्यवस्थिति:।।

अग्निरुष्णो जलं शीतं समस्पर्शस्तथाऽनिल:।
केनेदं रचितं तस्मात्स्वभावात् तद्व्यवस्थिति:।।

कुछ वस्तु नित्य होती है, कुछ अनित्य होती है तथा कुछ चित्र विचित्र होती है। आग की उष्णता, जल की शीतलता, वायुकी समस्पर्शता की किसने रचना की है। वस्तु का स्वभाव ही इस प्रकार का होता है। आस्तिक व्यक्तियों की उपासना का विषय ईश्वर का सद्भाव मिथ्या ही है। धर्म तथा अधर्म रूप अदृष्ट का उपदेष्टा अदृष्ट के अनुरूप संसार का रचयिता और वेद का प्रणेता ईश्वर की सत्ता मिथ्या है।

इस प्रकार के **चार्वाक** मत के खण्डन हेतु आचार्य **उदयन** ने उपर्युक्त विप्रतिपत्ति के विधिपक्ष का समर्थन किया है अर्थात् परलोक के साधक अलौकिक कारण अवश्य है। क्योंकि कार्य कभी होता है, कभी नहीं भी होता है। कारण रहने पर कार्य का होना तथा उसके अभाव में कार्य का नहीं होना कार्यकारणभाव को सिद्ध करता है। फलतः प्रत्येक कार्य कारण-सापेक्ष होता है। अन्यथा सदा कार्य होता ही रहता अथवा कभी नहीं होता। कादाचित्कत्व कार्यमे नहीं देखा जाता। दूसरी बात यह है कि कार्यकारणभाव की यह परम्परा अनादि काल से चली आ रही है। कार्य की विचित्रता के आधार पर कारण में भी वैचित्र्य स्वीकार करना ही होगा। सांसारिक प्रत्येक व्यवहार कार्यकारणभाव के आधार पर ही निर्भर है। प्रत्येक आत्मा कृतकर्म के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार का भोग करता है। अतएव अलौकिक कारण मानना ही होगा। फलतः अलौकिक धर्म एवं अधर्म रूप अदृष्ट की सिद्धि हेतु कार्यकारणभाव एवं उसके आधार पर अदृष्ट की परलोक साधनता और स्वर्ग तथा नरक स्वरूप परलोक उपपन्न होता हैं।

सापेक्षत्वादनादित्वात् वैचित्र्यात् विश्ववृत्तितः।
प्रत्यात्मनियमाद् भुक्तेरस्ति हेतुरलौकिकः।।

आचार्य की इस कारिका का यही स्वारस्य है।

कार्यकारणभाव के सिद्ध होने पर भी **चार्वाक नैयायिक** से पूछता है कि घट आदि कार्य के कारण नित्य होते हैं या अनित्य । यदि कारण नित्य होगा तो कार्य भी नित्य होगा, जो नैयायिक का मान्य नहीं है। यदि कार्य अनित्य होगा तो नियत कारण की कार्यता उसमें नहीं रहेगी। कारणान्तर से भी वह हो सकता है। यदि वह पुनः भिन्न कारण से होगा तो इस स्थिति में अनवस्था हो जायेगी और यह अनवस्था कार्यकारणभाव के सद्भाव को सिद्ध नहीं होने देगी।

चार्वाक के द्वारा उठायी गयी इस आपत्ति के निराकरण हेतु आचार्य ने उपर्युक्त कारिका में दूसरा हेतु 'अनादित्वात्' कहा है। बीज पहले या अंकुर इस प्रामाणिक अनवस्था के अनादिकाल से चलते रहने के कारण इससे कार्यकारणभाव की व्यवस्था का खण्डन नहीं होता है। फलतः अनादि अनवस्था मान्य होने से कार्यकारणभाव का सद्भाव उपपन्न होता है।

चार्वाक कह सकता है कि वेदान्त दर्शन का मान्य ब्रह्म या सांख्यदर्शन की प्रकृति ही इस संसार का कारण होती है। अतएव परलोक के साधक अदृष्ट के अधिष्ठाता के रूप में ईश्वर मानना आवश्यक नहीं है।

इसके निराकरण हेतु आचार्य ने उपर्युक्त कारिका में तीसरा हेतु 'वैचित्र्यात्' कहा है। यह संसार विचित्र प्रकार के कार्यरूप पदार्थों से भरा पड़ा है। यह वैचित्र्य कारण में वैचित्र्य के बिना संभव नहीं है। अतः विलक्षण कारण से विविध प्रकार के कार्य उपपन्न होते हैं।

वेदान्त का अभिमत एक अद्वितीय ब्रह्म विचित्र प्रकार के कार्यों का कारण नहीं हो सकता है। अनेक प्रकारक बुद्धि स्वरूपा होने पर भी सांख्य दर्शन की प्रकृति एकजातीय होने से कार्यवैचित्र्य का उपपादक नहीं हो सकती। कार्यों में वैविध्य के कारण अनुमान के द्वारा सांसारिक कार्य का अनेक प्रकारक होना अदृष्ट की अनेकता से ही उपपन्न होता है। अतएव इन अदृष्टों के अधिष्ठाता के रूप में ईश्वर मानना आवश्यक है।

पुनः **चार्वाक** कहता है कि सांसारिक कार्यों के वैचित्र्य का कारण जैसे कारणगत वैचित्र्य मान्य है, इसी प्रकार स्वर्ग आदि फलों के जनक अग्निष्टोम, वैश्वदेव एवं वाजपेय आदि यागों को मान लिया जाए। इनकी उपपत्ति हेतु अदृष्ट मानने की आवश्यकता नहीं है।

इसके उत्तर में आचार्य ने उपर्युक्त कारिका में चौथा हेतु 'विश्ववृत्तितः' कहा है। अनुष्ठान सम्पन्न होने के पश्चात् याग आदि नष्ट हो जाते है और उनका फल जन्मान्तर में मिलता है। अतः उक्त फल की उपपत्ति हेतु फलप्राप्ति तक रहनेवाला अदृष्टस्वरूप अवान्तर व्यापार मानना आवश्यक है। अदृष्टरूप अवान्तर व्यापार के द्वारा पूर्व में अनुष्ठित याग स्वर्गादि फल के उत्पादन में समर्थ होता है और इसके बाद अवान्तर व्यापार रूप यह अदृष्ट स्वतः विरत हो जाता है।

अत: इसके अधिष्ठाता के रूप में ईश्वर की सिद्धि होती है।

अब, इस तरह अदृष्ट के निराकरण में असमर्थ **चार्वाक** कहता है कि भले ही अदृष्ट मान्य हो किन्तु उसका आश्रय भोक्ता आत्मा या भोगानपेक्ष ईश्वर नहीं होकर भोग्य पदार्थ होता है। जैसे मीमांसा में अदृष्ट स्थानीय अपूर्व भोग्यनिष्ठ होता है। 'व्रीहीन् प्रोक्षति' इस वैदिक वाक्य के अनुसार प्रोक्षण से उत्पन्न अपूर्व रूप संस्कार ब्रीहि में होता है।

इसके समाधान हेतु उपर्युक्त कारिका में आचार्य ने पाँचवाँ हेतु 'प्रत्यात्म नियमाद् भुक्ते:' कहा है। भोग प्रत्येक आत्मा में नियत है, अत: अदृष्ट को भोक्ता में मानना ही संगत होगा। उसको भोग्यनिष्ठ मानने पर, अदृष्ट कहीं रहेगा और भोग किसी को होगा। तब अदृष्ट में व्यधिकरणवृत्तिता होने पर चैत्र में विद्यमान अदृष्ट से मैत्र को भोग होने लगेगा, जो न तो होता है, न ही उचित है। अपि च विभिन्न प्रकार का भोग प्रत्येक प्राणी को नहीं हो पायेगा। एक प्रकार का भोग ही सभी प्राणियों को होने लगेगा। इसमें प्रत्यक्ष-विरोध स्पष्ट है। संन्यासी सुवर्ण से विरत रहता है तो अब गृहस्थ भी विरत रहने लगेंगे।

अपि च प्रोक्षणजन्य संस्कार ब्रीहि में मानने पर प्रत्येक ब्रीहि में संस्कार की कल्पना करनी होगी। देवता विशेष के उद्देश्य से दी गयी आहुति आहुति-देने वाली आत्मा में संस्कार उत्पन्न करती है। आग में अथवा देवता में नहीं। इसी प्रकार ब्रीहि के प्रोक्षण से प्रोक्षणकर्ता में ही संस्कार उत्पन्न होता है, ब्रीहि में नहीं। भले ही प्रोक्षण ब्रीहि का होता हो। इसका प्रतिपादन आचार्य ने निम्न कारिका में किया है –

संस्कार: पुंस एवेष्ट: प्रोक्षणाभ्युक्षणादिभि:।
देवता: सन्निधानेन प्रत्यभिज्ञानतोऽपि वा।। (१।११)

फलितार्थ यह हुआ कि प्रोक्षण एवं अभ्युक्षण आदि से प्रोक्षण आदि के कर्ता में ही उक्त संस्कार रूप कर्म से उत्पन्न अदृष्ट समवायसंबन्ध से विद्यमान रहता है। अतएव उस अदृष्ट से उस आत्मा को कृतकर्म के फल का भोग होता है।

अदृष्ट पदार्थ के निराकरण में तत्पर **चार्वाक** को परास्त कर आचार्य अब उक्त दार्शनिक के सम्मत देह-आत्मवाद के निराकरण हेतु पहले उनके पूर्वपक्ष को उठाकर युक्तियों से उस पूर्वपक्ष का निराकरण करते हैं।

चार्वाक का कहना है कि अदृष्ट भले ही आत्मा का धर्म हो किन्तु आत्मा नित्य तथा विभु नहीं होता। व्यवहार के बल पर देहाकार में परिणत पृथिवी आदि भूत विशेष ही चैतन्य का आश्रय (आत्मा) होता है। अतएव मैं दुर्बल हूँ, मैं मोटा हूँ, मैं गोरा हूँ तथा मैं काला हूँ आदि प्रयोग लोक व्यवहार में होता है।

इसके उत्तर में आचार्य ने एक कारिका लिखी है –

नान्यदृष्टं स्मरत्यन्यो नैकं भूतमपक्रमात्।
वासनासंक्रमो नास्ति न च गत्यन्तरं स्थिरे।।१।१५।।

दूसरों की देखी हुई वस्तु का स्मरण अन्य व्यक्ति को नहीं होता है। यदि भूतविशेषात्मक शरीर को आत्मा कहेंगे, तो देवदत्त की देखी हुई वस्तु का स्मरण जैसे यज्ञदत्त को नहीं होता है, इसी प्रकार बाल्यशरीर की दृष्ट या अनुभूत वस्तु का स्मरण युवाशरीर को नहीं होगा। वय:क्रम के अनुसार बाल शरीर का अनुभूत पदार्थ तरुणशरीर का स्मरण-पथारूढ़ नहीं होगा। दोनों काल के शरीर में परिमाण के भेद से भिन्नता मान्य है। वय: क्रम की निरन्तर परिवर्तनशीलता सर्वमान्य है। बाल्यकालिक शरीरपरिमाण के नाश होने पर ही युवाशरीर के परिमाण का आविर्भाव होता है। प्रतीति के आधार पर परिमाण के भेद से द्रव्य का भेद सर्वमान्य है।

यह भी नहीं कहा जा सकता है कि कस्तूरी की सुरभि से सुवासित वस्त्र का संसर्ग पाकर जैसे भिन्न-भिन्न वस्त्र सुवासित होते है, इसी प्रकार वासना के संक्रम से बाल शरीर द्वारा देखी गयी वस्तु का स्मरण युवा शरीर कर सकता है। तो इसके निराकरण में कहना है कि संसर्ग से वासना का संक्रमण मानने पर जननी के अनुभूत पदार्थ का गर्भ में विद्यमान शिशु को स्मरण होने लगेगा।

यदि उपादान-उपादेय-भाव के आधार पर वासना का संक्रम मानेंगे तो इस दोष से मुक्ति तो मिल जाएगी। क्योंकि माँ तथा गर्भस्थ शिशु में उपादान उपादेय भाव नहीं है। किन्तु तब शरीर के उपादान हाथ पैर के नाश होने पर लुल्ह तथा खञ्ज को हाथ एवं पैर से हुए अनुभव का स्मरण नहीं हो सकेगा। क्योंकि लुल्ह एवं खञ्ज अवयवी के प्रति विच्छिन्न हाथ तथा विच्छिन्न पैर-उपादान नहीं होते हैं।

फलितार्थ यह हुआ कि **चार्वाक** के अभिमत भूतपरिमाणसमूह से निर्मित

शरीर स्वरूप आत्मा को स्थिर मानने पर भी उपर्युक्त दोषों का परिहार संभव नहीं है। अतः नित्य, विभु तथा शरीर आदि से भिन्न स्वतन्त्र पदार्थ आत्मा ही उपायान्तर के अभाव में मान्य है– यही उपर्युक्त कारिका का तात्पर्य है।

अब **चार्वाक** अपने मत का निराकरण देखकर **बौद्ध आचार्य** की युक्ति उधार लेकर क्षणभंग सिद्धान्त के आधार पर भाव पदार्थों की–आत्मा आदि की–नित्यता एवं विभुता के विरोध में कहता है कि प्रत्येक जागतिक पदार्थ क्षणभंगुर होता है। '**यत् सत् तत् क्षणिकं यथा जलधरः, सन्तश्च भावा अमी।**' ज्ञातव्य है कि यहाँ सत्त्व से नैयायिक का अनुभूत अनुवृत्ति-प्रत्यय के हेतुभूत सत्तारूप जाति का प्रतियोगित्व अभिप्रेत नहीं है अपि तु वस्तु की अनित्यता अर्थात् द्वितीयक्षणवृत्तिध्वंस का प्रतियोगित्व अभिप्रेत है। यदि पूर्वपक्षी की जिज्ञासा हो कि गोत्व आदि सामान्य से उपपादित अनुगत प्रतीति का निर्वाह कैसे होगा तो कहना है कि तद्भिन्नभेदरूप अपोह से उसकी (अनुगतप्रतीति की) उपपत्ति कर ली जायेगी। सत्त्व का आशय है अर्थक्रियाकारित्व। घट से जलाहरण रूप अर्थक्रियाकारित्व की सिद्धि देखकर सत्त्व का यह लक्षण समन्वित होता है। यह अर्थक्रियाकारित्व क्रमभावित्व तथा एककालभावित्व में से किसी एक से व्याप्त होता है।

भाव पदार्थ को स्थिर मानने पर अर्थक्रियाकारित्व रूप सत्त्व यदि घट में क्रमसे उपलब्ध होता है तो जिस क्षण में जलाहरण कार्य घट करता है, उस क्षण में उसमें जलाहरणकर्तृत्व उपलब्ध होता है। इसी तरह घट से होनेवाला अन्य क्रिया का अकर्तृत्व भी उसमें रहता है। तब एक काल में एक स्थल में कर्तृत्व एवं अकर्तृत्व रूप परस्पर विरुद्ध दो धर्मों का समावेश हो जायेगा, जिससे क्रमभावित्व वहाँ उपपन्न नहीं होगा। इस दोष से परिहार के लिए यदि एक ही काल में सत्त्वलक्षण का अन्वय मानेंगे तो भी जिस काल में घट सभी अर्थक्रियाओं का अनुष्ठान करेगा उस काल में घट में कर्तृत्व रहने पर भी उससे भिन्न काल में घट में अर्थक्रियाकारित्व के अभाव से अकर्तृत्व उसमें रहेगा। अतः उसमें परस्पर विरुद्ध धर्म–कर्तृत्व एवं अकर्तृत्व–के रहने से पुनः परस्पर विरुद्ध धर्म का समावेश होना रूप आपत्ति का निवारण नहीं हो सका। इस प्रकार क्रमकारित्व तथा एककालकारित्व में से किसी एक की निवृत्ति से उसके व्याप्य अर्थक्रियाकारित्व रूप सत्त्व की उससे निवृत्ति माननी होगी। व्यापक की निवृत्ति से व्याप्य की

निवृत्ति होती है। वृक्षत्व की निवृत्ति से उसके व्याप्य धर्म शिंशपात्व की निवृत्ति नैयायिकों का अनुमत ही है। अतः अर्थक्रियाकारित्व रूप सत्त्व भाव पदार्थ के क्षणभंगुर मानने पर ही घट आदि में विश्राम प्राप्त करता है।

कुर्वद्रूपत्व रूप शक्ति के अभाव में कुशूलस्थ बीज अंकुर नहीं उगाता है और उसके रहने पर अपर क्षण में खेत में बीज के बोए जाने पर वह अंकुर उत्पन्न करता है। अतः कुशूलस्थ बीज तथा क्षेत्रपतितबीज में परस्पर भेद मानना ही होगा और उसका भेदक होगा कूर्वद्रूपत्वरूप वैजात्य। यद्यपि क्षणिकता के कारण बीज में प्रतिक्षण नया नया उत्पाद होता ही रहता है तथापि सादृश्य के कारण उस भेद का प्रत्यक्ष नहीं होता है। यहाँ वैजात्य (विलक्षणता) की प्रतीति के निश्चय नहीं होने पर भी वह वर्तमान क्षण का अवगाहन निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के रूप में करता है।

भाव पदार्थ को स्थिर मानने पर जैसा कार्यदर्शन में भेद होता है- अंकुर की आरंभक दशा एवं उसकी अनारंभक दशा का विशेष देखा जाता है। इसी प्रकार विलक्षण कार्य के दर्शन से भाव पदार्थ की क्षणभंगुरता का ज्ञान होता ही है। **ज्ञानश्रीमित्र** आदि बौद्ध आचार्य के द्वारा भाव पदार्थ की क्षणभंगुरता के सिद्धान्त पर उपादानउपादेयभाव का नियम सिद्ध होता है। बाल्य शरीरवर्त्ती प्रतिक्षण परिवर्तनशील क्षणिक सन्तान रूप परमाणुपुञ्ज होता है उपादान और उसके वासना का संक्रमण होता है उपादेय स्वरूप यौवन शरीरमें रहनेवाले परमाणुपुञ्ज में। इस प्रकार बाल शरीर के द्वारा अनुभूत पदार्थ का स्मरण यौवनशरीर द्वारा हो जाता है। फलतः क्षणभंग पक्ष का अवलम्बन करके वासना संक्रम के उपपादन में उद्यत **चार्वाक** मत के निराकरण में आचार्य ने यहाँ श्लोक कहा है –

न वैजात्यं विना तत्स्यान्न तस्मिन्ननुमा भवेत्।
विना तेन न तत्सिद्धिर्नाध्यक्षं निश्चयं विना।।

कुर्वद्रूपत्वरूप विजातीयता (वैजात्य-विलक्षणता) के आधार पर बौद्ध दार्शनिक ने कुशूलस्थ बीज तथा क्षेत्रपतित बीज में भिन्नता सिद्ध करके पदार्थ में क्षणभंगुरता सिद्ध की है। किन्तु विजातीयता रहने पर भी सत्त्व हेतु से भावपदार्थ की क्षणभंगुरता उपपन्न नहीं होती है। धूम के प्रति कुर्वद्रूपत्व विशिष्ट अग्नि

को यहाँ कारण मानने पर धूमत्व और वह्नित्व का जो सामान्यलक्षणा सन्निकर्ष से भान होता है, उसके नहीं होने पर व्याप्तिज्ञान ही नहीं होगा और तब इन दोनों में व्याप्तिज्ञान के अभाव के कारण धूम हेतुसे अग्नि का अनुमान नहीं हो पायेगा।

बौद्ध आचार्य यदि प्रत्यक्ष से पदार्थ की क्षणभंगुरता सिद्ध करना चाहते हैं तो आपत्ति यह होगी कि क्षणिकत्व का जबतक सविकल्पक प्रत्यक्ष नहीं होगा तबतक उसका निर्विकल्पक प्रत्यक्ष भी नहीं होगा। अर्थजन्यता के कारण **बौद्ध** आचार्यगण निर्विकल्पक ज्ञान में ही प्रत्यक्ष की योग्यता मानते हैं। अपोह से ही सामान्य (जाति) का कार्य कर लेते हैं। अत: जाति से जन्य सविकल्पक ज्ञान, इनको प्रमाण रूप में मान्य नहीं है। अपोह से ही उनका व्यवहार उपपन्न हो जाता है।

यहाँ नैयायिक कहता है कि भाव पदार्थ की क्षणभंगुरता सविकल्पक प्रत्यक्ष का अविषय होने से, वह निर्विकल्पक होकर भी ज्ञान का विषय नहीं हो पायेगा, अत: वह मान्य नहीं है।

कुर्वद्रूपत्व भी भेदक नहीं हो सकता है। कुशूलस्थ बीज तथा क्षेत्रपतित बीज में सहकारी कारणों की उपस्थिति तथा अनुपस्थिति से भेद उपपन्न होता है। क्षिति, जल, तेज, वायु तथा आकाश के साथ साक्षात्संबन्ध रूप सहकारी कारण के रहने पर बीज से अंकुर उत्पन्न होता है। जो क्षेत्रपतित बीज में देखा जाता है और कुशूलस्थ बीज में नहीं। बीज ज़ातीय होने से दोनों ही प्रकार के बीजों में अंकुर की प्रयोजकता है ही। क्रम से होना तथा एक काल में होना, दोनों पक्ष में कर्तृत्व तथा अकर्तृत्व रूप दो विरुद्ध धर्मों का एकत्र समावेश कालभेद से एकत्र (एक देश में) तथा व्यक्तिभेद से एक काल में पूर्णत: प्रामाणिक रूप से संभव है।

फलत: **चार्वाक** का मत खण्डित हो जाने पर देहात्मवाद का निराकरण हो गया और भाव पदार्थ की स्थिरता, नित्य तथा विभु आत्मा की सिद्धि और ईश्वर में अदृष्ट की अधिष्ठातृता उपपन्न होती है। उपसंहार में कहना है कि कार्यकारणभाव की मान्यता, सांसारिक वैचित्र्य के निमित्त कारण ईश्वर की उपपत्ति, सांसारिक कार्य के वैविध्य की सृष्टि में धर्म एवं अधर्म रूप अदृष्ट की (अलौकिक हेतु की) सिद्धि, सहकारी कारण से कार्य हो जाने पर विलक्षण

पदार्थ मीमांसक के अभिमत शक्ति का, बौद्ध के अभिमत क्षणभंगवाद, कुर्वद्रूपत्व तथा अपोह का निराकरण, शास्त्रान्तर में अपूर्व की व्रीहिसंस्कारता से जन्य मानने पर भी अदृष्ट की आत्मनिष्ठता और भाव पदार्थ का स्थैर्य सिद्ध होते हैं। उपक्रम में उठायी गयी विप्रतिपत्तियों का अलौकिक पदार्थ (अदृष्ट) का अभाव, परलोक (स्वर्ग) आदि का अभाव तथा साधन का अभाव निराकृत करके नैयायिक का अपना अभिमत उपर्युक्त सिद्धान्त सप्रमाण यहाँ सिद्ध हुआ है।

यद्यपि *आत्मतत्त्वविवेक* के प्रथम परिच्छेद में क्षणभंगवाद का और तदङ्गतया अपोह एवं कुर्वद्रूपत्व पदार्थ का विशद एवं विस्तृत रूप में निराकरण किया गया है तथापि प्रसंग उपस्थित होने पर यहाँ भी उसका उपपादन-प्रतिपादन संक्षेप में आचार्य ने किया है।

आचार्य ने कुर्वद्रूपत्व के निराकरण में विशेष रूप से सहकारी कारण की उपस्थिति एवं अनुपस्थिति रूप व्यावहारिक युक्ति दिखाकर चिन्तन की मौलिकता का प्रदर्शन करते हुए सम्प्रदाय का संरक्षण-संवर्धन किया है। ईश्वर सहकारी कारण की उपस्थिति में उपादान कारण से संसार की सृष्टि करता है। यहाँ वेदान्त दर्शन की माया-अथवा अविद्या, साङ्ख्य दर्शन की प्रकृति इसी सहकारी कारण को शक्ति नाम देकर ग्रहण करते हैं। प्रथम स्तवक के उपसंहार पद्य में स्पष्टतः इसका प्रतिपादन हुआ है –

इत्येषा सहकारिशक्तिरसमा माया दुरुन्नीतितो
मूलत्वात् प्रकृतिः प्रबोधभयतोऽविद्येति यस्योदिता।

न्यायकुसुमाञ्जलि के द्वितीय स्तवक में मीमांसक द्वारा ईश्वर के विरोध में उठायी गयी युक्तियों का निराकरण हुआ है। यहाँ दूसरी विप्रतिपत्ति का स्वरूप–परलोक प्राप्ति के साधन रूप में याग आदि का अनुष्ठान ही समर्थ है, इसके लिए ईश्वर मानना आवश्यक नहीं है – 'अन्यथापि परलोकानुष्ठानसंभवात्' उक्त है।

अभिप्राय यह है कि '**स्वर्गकामो यजेत्**' इस वैदिक विधिवाक्य के श्रवण के पश्चात् याग आदि का विधिवत् अनुष्ठान करने पर यजमान (यागकर्ता) को स्वर्ग प्राप्त हो जायेगा। इसके लिए ईश्वर मानना आवश्यक नहीं है। नित्य तथा निर्दोष स्वभाव होने से वेदवचन स्वतः प्रमाण होते हैं। नदी के प्रवाह के

समान अनादिकाल से निरन्तर चलता आ रहा स्वप्रकाशस्वरूप वेदवाक्य निर्बाध रूप से नित्य ही होता है।

प्रलय के पश्चात् सृष्टि के आदि में वेद के उपदेशक रूप में ईश्वर मानने का कोई प्रयोजन नहीं है। हम लोगों की दृष्टि में प्रलय ही मान्य नहीं है। प्रलय के बाधक छह प्रमाण उपलब्ध हैं, जो उसके अभाव को सिद्ध करते हैं। यथा आजकल जैसे दिनरात दिनरातपूर्वक होती है, यह सनातन काल से चली आ रही है। क्योंकि नियम है कि पहले की तरह दिनरात दिनरात के पश्चात् होती रही है। प्रलय मानने पर पहले की दिनरात की तरह दिनरात नहीं हो सकेगी। यही प्रलयकी पहली बाधक युक्ति है।

कर्म के भोग भिन्न-भिन्न कालों में अनेक प्रकार के होते हैं, जहाँ काल रहता है वहाँ भोग अवश्य रहता है। इस व्याप्ति के आधार पर भोग से रहित काल हो ही नहीं सकता है। प्रलय मानने पर कालत्व के व्याप्य भोग का विलोप हो जायेगा, जिस से उपर्युक्त व्याप्ति ही भंग हो जाएगी – यह हुई प्रलय की दूसरी बाधक युक्ति।

भुक्त, भुज्यमान तथा भोग होनेवाला कर्म (धर्म तथा अधर्म रूप अदृष्ट) असंख्य जीवों से संबद्ध है, उनका विपाक काल भिन्न-भिन्न होते हैं। यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि काल संसार का आधार है। अब प्रलय मानने पर सभी वृत्तियाँ एक ही बार में निरुद्ध हो जायेगी – यही अनिष्टरूप आपत्ति होगी। यह है प्रलय की तीसरी बाधक युक्ति।

ब्राह्मण से ब्राह्मण का जन्म होता है – इस नियम के अनुसार प्रलय के बाद सृष्टि के आदि में ब्राह्मण की अनुपलब्धि से परवर्ती काल में भी ब्राह्मण का व्यवहार लुप्त हो जायेगा। यह प्रलय की चौथी बाधक युक्ति हुई।

प्रलय मानने पर प्रयोज्य एवं प्रयोजक वृद्ध के नहीं रहने पर-घट तथा पट आदि शब्द का उन अर्थों में संकेत का ज्ञान करानेवाला के अभाव में-शब्द का व्यवहार ही उच्छिन्न हो जायेगा। यह हुई उसकी पाँचवीं बाधक युक्ति।

प्रलय मानने पर उसके पश्चात् सृष्टि के आदि में घट तथा पट आदि की निर्माण-परम्परा का सञ्चालक कोई नहीं उपलब्ध रहेगा। अतः पदार्थों का निर्माण नहीं हो सकेगा। यह हुई उसकी छठवीं बाधक युक्ति। फलितार्थ यह

हुआ कि प्रलय की मान्यता सर्वथा निष्प्रमाण है।

यदि सृष्टि के आरम्भ में वेद के उपदेशक रूप में किसी पुरुष को मानना दुर्निवार ही हो तो योग के प्रभाव से सर्वज्ञता-सम्पन्न **कपिल महर्षि** को वेद का उपदेशक मान लिया जाए। हम लोगों को तो वेद के प्रामाण्य का ज्ञान शिष्ट महाजन द्वारा परम्परा से मान्य रहने के कारण ही निरापद रूप से मान्य है। प्रलय की सिद्धि में अनेक बाधाओं के रहने से वेद के उपदेशक तथा संसार के कर्त्ता रूप में ईश्वर की सिद्धि नहीं हो पाती है।

मीमांसक के इस सिद्धान्त के निराकरण हेतु आचार्य ने द्वितीय स्तवक में युक्ति प्रदर्शनार्थ पहिली कारिका लिखी है –

प्रमायाः परतन्त्रत्वात् सर्गप्रलयसंभवात्।

तदन्यस्मिन्ननाश्वासात् न विधान्तरसंभवः।।२।१।।

प्रमा का ज्ञान प्रमाण के अधीन होता है। सृष्टि और प्रलय का अस्तित्व सिद्ध है। ईश्वर से अन्य किसी में विश्वास नहीं है तथा अन्य कोई प्रकार है भी नहीं।

शब्द का प्रामाण्य वक्ता की आप्तता के निश्चय से ही संभव है और 'आप्त' यथार्थ वक्ता को कहते हैं, जो सभी वस्तुओं को अच्छी तरह जानता हो तथा राग या द्वेष में पड़कर मिथ्या नहीं बोलता हो। चूँकि यथार्थ वाक्यार्थ का बोध समवाय संबन्ध से वक्ता में रहता है, अतः उस प्रकार के वक्ता का वचन (कथन) प्रमाण होता है। ऐसा ही आप्त पुरुष है ईश्वर, जो वेद का (वक्ता) उपदेशक होकर प्रमाणरूप में मान्य होता है। इससे भिन्न कोई भी शरीरधारी कितनी भी ऋद्धि-सिद्धियों से सम्पन्न हो, वह प्रमाण नहीं हो सकता है। आचार्य का तात्पर्य है कि शाब्दी प्रमा के, वक्ता के यथार्थ वाक्यार्थ के ज्ञान रूप गुण से उत्पन्न होने के कारण, उक्त गुण के आश्रय रूप ईश्वर को मानना ही होगा।

मीमांसक का मत है कि चूँकि वेद नित्य है, अतः वह प्रमाण होता है। इसके निराकरण हेतु **नैयायिक** का कथन है कि वर्णसमूह रूप वेदराशि शब्दस्वरूप होने से स्वभावतः उच्चरित होकर दूसरे तीसरे क्षण में नष्ट हो जाता है। अतः वह अनित्य होता है। वह स्वतः प्रमाण नहीं हो सकता है। यह

कहना भी संगत नहीं होगा कि चूँकि चिरकाल से महाजन वृन्द के द्वारा मान्य होने से वह प्रमाण है, अतः हम लोग भी उसको प्रमाण मानते हैं। सृष्टि और प्रलय का क्रम निरन्तर बिना बाधा का चलता आ रहा है। अतएव प्रलयकाल में वेद के विनष्ट हो जाने पर सृष्टि के आदि में न तो वेद मिलेगा न ही महाजन। फल यह होगा कि ईश्वर के नहीं मानने पर न्याय से सिद्ध सांसारिक व्यवस्था ही चरमरा जायेगी।

प्रलय के साधक सद्धेतु के उपलब्ध रहने से वह अवश्य सिद्ध होता है, इसमें बाधा नहीं है। जैसे वर्षा कालिक दिन रात का, वर्षा काल की दिन रात के पश्चात् होते रहने से पूर्वदिनपूर्वकत्व हेतु में राशि विशेष में सूर्य का संक्रमण रूप काल उपाधि होता है, इसी प्रकार प्रलय का साधक अहोरात्रपूर्वकत्व हेतु संसार के अवच्छेदक कालत्व लक्षण रूप उपाधि से ग्रस्त होने से अप्रयोजक हो जाता है। विभिन्न कालों में किये गये कर्मों से उत्पन्न जीव वृन्द के विविध भोगों के जनक अदृष्ट की वृत्ति शयनावस्था में निवृत्त हो जाती है। इसी प्रकार प्रलय में प्रत्येक जीव के अदृष्ट की वृत्ति सर्वथा निरुद्ध हो जाती है। फलतः दिनरात का दिनरात पूर्वक होना रूप नियम मान्य नहीं हो सकता है।

तण्डुल कण तथा शाक विशेष के बीज से जैसे शाक विशेष उत्पन्न होता है। गोबर तथा बिच्छू से जैसे बिच्छू का जन्म होता है। जैसे जले हुए वेंत के बीज से तथा केला के कन्द से केला का वृक्ष होता है, इसी प्रकार सृष्टि के आदि में केवल अदृष्ट से पुनश्च ब्राह्मण से ब्राह्मण की उत्पत्ति होती है। अनेक कारणों से एक कार्य की उत्पत्ति मानने में व्यतिरेक व्यभिचार का परिहार कार्य की विजातीयता के आधार पर हो ही जाता है। फलितार्थ यह हुआ कि प्रलय मानने पर सृष्टि के आरम्भ में ब्राह्मण के अभाव रहने के कारण ब्राह्मण सन्तति का उच्छेद रूप आपत्ति खण्डित हो जाती है और प्रलय का साधक हेतु उपपन्न होता है।

सृष्टि के आरम्भ में स्वयं ईश्वर प्रयोज्य तथा प्रयोजक वृद्ध बनकर (दोनों रूप में शरीर धारण कर) सद्यः प्रसूत लोगों को व्यवहार की शिक्षा तथा शब्द एवं अर्थ के संकेत का ज्ञान कराता है। फलतः प्रलय मानने पर लोक व्यवहार तथा शब्द और अर्थ के मध्य विद्यमान शक्तिग्रह (संकेतग्रह) का उच्छेद नहीं होता है। जैसे मायाशास्त्र में कुशल शिल्पी (ऐन्द्रजालिक) सूत्र

संचार के द्वारा सूत्र में ग्रथित कठपुतली से कार्य करबाता है। और उसको देखकर बच्चे अनुकरण के द्वारा उन व्यवहारों को सीखते हैं। इसी प्रकार ईश्वर स्वयं अनेक शरीरों का परिग्रह करके शिल्प एवं विद्या का प्रचार–प्रसार करता है।

वर्षादिवद्भवोपाधिर्वृत्तिरोधः सुषुप्तिवत्

उद्भिद्वृश्चिकवद् वर्णा मायावत् समयादयः।।२।२।।

इन युक्तियों के प्रतिपादक उपर्युक्त कारिका के द्वारा आचार्य ने प्रलय की बाधक युक्तियों का उपपादन किया है। अब प्रलय के साधक युक्तियों का प्रदर्शन हेतु आचार्य ने अधोनिर्दिष्ट कारिका यहाँ प्रस्तुत की है –

जन्मसंस्कारविद्यादेः शक्तेः स्वाध्यायकर्मणः।

ह्रासदर्शनतो ह्रासः सम्प्रदायस्य मीयताम्।।२।३।।

जन्म, संस्कार, विद्या, शक्ति, स्वाध्याय तथा याग आदि कर्म समूह में ह्रास के प्रदर्शन से सम्प्रदाय के ह्रास का अनुमान होता है।

जन्म, संस्कार तथा विद्या आदि के निरन्तर क्रम से ह्रास होना देख कर वेद आदि परम्परा का प्रलयोन्मुख ह्रास होना स्वाभाविक है। इससे यह अनुमान होता है कि एक दिन इन सब का लोप होना निश्चित है। यहाँ अनुमान का स्वरूप होता है – प्रतिदिन घटती हुई वेद की (विद्या की) परम्परा एक दिन अवश्य लुप्त हो जायेगी। क्योंकि निरन्तर इसकी ह्रासोन्मुख परम्परा देखी जा रही है। जैसे ह्रासोन्मुख दीप का प्रकाश एक समय में सर्वथा निर्वाण को प्राप्त करता है। सृष्टि के बाद समय बीतने पर प्रलय अवश्य होगा और उस समय इस ब्रह्माण्ड का भी उच्छेद हो ही जाना है। पुनः सृष्टि होगी पुनः प्रलय होगा– यह परम्परा शाश्वत रूप से चलती रही है और चलती रहेगी।

इस स्तवक में आचार्य ने इस ह्रास का विशद एवं विस्तृत वर्णन किया है, जहाँ जन्म, संस्कार तथा विद्या आदि में ह्रास की पराकाष्ठा दिखायी गयी है।

इस स्तवक के उपसंहार-श्लोक में आचार्य ने प्रलय की सिद्धि का निर्देश व्यञ्जना व्यापार से किया है। इन्होंने यहाँ कहा है कि संसार के मूल कारण परमेश्वर के प्रति जन्म जन्मान्तर में मेरी प्रणति अर्पित होती रहे। यह

ईश्वर अदृष्ट (माया) का अधीन होकर इस अलौकिक तथा अद्भुत संसार का निर्माण कर संहार करता है। पुनश्च संहार के पश्चात् इन्द्रजाल की तरह विश्व की रचना करते हुए मानों खेल में निरन्तर लगा रहता हैं। ऐसा अशरीरी, केवल ध्यान से बोधगम्य तथा सर्वथा विश्वास का आश्रय हैं यह शिव।

कारं कारमलौकिकाद्भुतमयं मायावशात् संहरन्
हारं हारमपीन्द्रजालमिव यः कुर्वन् जगत् क्रीडति।
तं देवं निरवग्रहस्फुरदभिध्यानानुभावं भवं
विश्वासैकभुवं शिवं प्रति नमन् भूयासमन्तेष्वपि।।

क्रमशः **चार्वाक** तथा **मीमांसक** के ईश्वर विषयक मान्यताओं का प्रथम एवं द्वितीय स्तवकों में निराकरण करके अब तृतीय स्तवक में **बौद्ध दार्शनिक** द्वारा उपस्थापित ईश्वर-विरोधी युक्तियों का खण्डन आचार्य **उदयन** द्वारा की गयी है। जिसका सार अंश यथामति यहाँ प्रस्तुत है।

बौद्ध दार्शनिक कहता है कि नित्य *वेद* या **कपिल** आदि सिद्ध महर्षियों के द्वारा प्रचालित संप्रदाय के निराकृत होने पर भी ईश्वर के द्वारा वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती है। क्योंकि ईश्वर के बाधक प्रमाण उपलब्ध हैं। अनुपलब्धि प्रमाण से ईश्वर का अभाव सिद्ध होता है। भूतल में घट होता तो वह उपलब्ध होता, चूँकि वह वहाँ उपलब्ध नहीं है, अतः उसका वहाँ अभाव सिद्ध होता है। इसी प्रकार यदि ईश्वर यहाँ होता तो उसकी उपलब्धि होती। चूँकि उसकी उपलब्धि नहीं होती है, अतः उनका अभाव ही अनुपलब्धि प्रमाण से सिद्ध होता है।

यदि कहा जाए कि प्रत्यक्ष के योग्य पदार्थ की अनुपलब्धि से उसका अभाव उक्त प्रमाण के द्वारा मान्य है। ईश्वर में प्रत्यक्ष योग्यता का अभाव है, चर्म चक्षु से उसका दर्शन नहीं होता है, अतः उसका अभाव उक्त प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकता है।

तब यहाँ **बौद्ध** कहेगा कि ऐसी स्थिति में शशश्रृंग भी (अलीक पदार्थ भी) अनुपलब्धि प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकेगा। अब प्रत्यक्ष से अनुपलब्ध विषय का अनुमान भी नहीं हो सकता है। क्योंकि अनुमान का उपजीव्य प्रत्यक्ष ही होता है।

आगे इसी स्तवक में आचार्य ने अनुपलब्धि प्रमाण के खण्डन में आठ तर्कों का प्रदर्शन किया है –

प्रतिपत्तेरपारोक्ष्यादिन्द्रियस्यानुपक्षयात् ।
अज्ञातकरणत्वाच्च भावावेशाच्च चेतसः।।

प्रतियोगिनि सामर्थ्यात् व्यापाराव्यवधानतः।
अक्षाश्रयत्वाद् दोषाणामिन्द्रियाणि विकल्पनात् ।।

अभाव का प्रत्यक्ष नैयायिक की दृष्टि में चक्षु इन्द्रिय से होती है अनुपलब्धि से नहीं। अनुपलब्धि का निराकरण तथा इन्द्रिय से अभाव के प्रत्यक्ष की उपपत्ति हेतु इन्होंने आठ तर्क दिये हैं १. प्रतिपत्ति की अपरोक्षता, २. इन्द्रिय का उपक्षयाभाव, ३. अज्ञातकरणता, ४. मन की भावावेशता, ५. प्रतियोगी में सामर्थ्य, ६. व्यापार की अव्यवधानता, ७. दोष की इन्द्रियाश्रयता तथा ८. विकल्पना।

प्रतिपत्ति से यहाँ अभाव का ज्ञान विवक्षित है, जो साक्षात् होता है। जन्य अपरोक्ष ज्ञान (प्रत्यक्षज्ञान) इन्द्रिय से ही होता है। क्योंकि किसी भी विषय का प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रिय से होता हुआ देखा गया है।

यह नहीं कहा जा सकता है कि अभाव के प्रत्यक्ष स्थल में इन्द्रिय की सामर्थ्य अभाव के अधिकरण का प्रत्यक्ष करके नष्ट हो जायेगा, वह अभाव का प्रत्यक्ष नहीं करा सकता है। क्योंकि इन्द्रिय की सामर्थ्य नष्ट नहीं होती है। अभाव के प्रत्यक्ष के समय अधिकरण का प्रत्यक्ष अवान्तर व्यापार रूप में मान्य है। अवान्तर व्यापार से प्रधान व्यापार नष्ट नहीं होता है। अन्यथा घट के प्रत्यक्ष स्थल में भी इन्द्रिय और विषय का सन्निकर्ष रूप अवान्तर व्यापार से इन्द्रिय की सामर्थ्य नष्ट हो जायेगी और तब चक्षु घट का प्रत्यक्ष नहीं करा पायेगी। फलितार्थ यह हुआ कि घट के प्रत्यक्ष में जैसे चक्षुरिन्द्रिय करण होती है वैसे ही घटाभाव के प्रत्यक्ष में वह करण होगी ही। अतएव आकाश में शब्द के ध्वंस का तथा वायु में रूपाभाव का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान श्रोत्र एवं चक्षु से होते हैं। चूँकि अभाव के प्रत्यक्ष में अन्य करण ज्ञात ही नहीं है। अतः इन्द्रियग्राह्यता ही अभाव में मान्य है। ज्ञान करणक ज्ञान अपरोक्ष नहीं परोक्ष स्वरूप होता है। यथा अनुमिति, उपमिति तथा शाब्दबोध। 'अज्ञातकरणत्वात्' पद से आचार्य का

यही तात्पर्य है।

हम लोगों का बाह्यार्थ विषयक ज्ञान भावभूत चक्षुरिन्द्रिय का साहाय्य पाकर मन से उत्पन्न होता है। अतः अभाव का प्रत्यक्ष इन्द्रिय से होता है। भावावेशाच्च चेतसः इसी अभिप्राय को कहता है।

जो पदार्थ जिस इन्द्रिय से ग्राह्य होता है उसका अभाव एवं उसकी जाति उसी इन्द्रिय से ग्राह्य होती है – नैयायिक के मान्य इस नियम के कारण अनुपलब्धि स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में मान्य नहीं है। यही है प्रतियोगी में सामर्थ्य। फलतः अभाव का ग्राहक भी इन्द्रिय होती है।

अधिकरण के ज्ञान कराने से इन्द्रिय के व्यापार का अर्थात् अवान्तर व्यापार से मुख्य व्यापार का व्यवधान नहीं होता है। यही है व्यापाराव्यवधान से विवक्षित, जो पहले ही द्वितीय तर्क के समय उपपादित हो चुका है।

सातवाँ तर्क है दोष का इन्द्रियाश्रय होना. कामला रोग से ग्रस्त व्यक्ति की आँख से सफेद शंख भी पीला दीखता है – यह समझकर सुधीजन भ्रम की प्रतीति के स्थलों में सर्वत्र करणगत दोष मानते हैं, प्रत्यक्ष योग्य वस्तुगत नहीं। अतः अभाव का प्रत्यक्ष इन्द्रिय से ही मान्य है।

विशेषण से विशिष्ट ज्ञान होता है विकल्पना। यह विकल्पना भी अभाव के प्रत्यक्ष में इन्द्रिय को ही करण मानती है। घटाभाववद् भूतलं में घटाभाववद् है विशेषण है और भूतल है विशेष्य। यहाँ पूर्वपक्षी विशेष्य–भूतल–का ज्ञान इन्द्रिय से और विशेषण–घटाभाववद्–का ज्ञान अनुपलब्धि से मानते हैं। चूँकि ऐसा मानने पर किसी एक प्रमाण से उक्त विशिष्ट ज्ञान की उपपत्ति नहीं हो सकेगी। अतः उक्त विशिष्टज्ञान (विशेषण तथा विशेष्य दोनों के ज्ञान) के एक प्रमाण से उपपत्ति हेतु यहाँ इन्द्रिय को ही करणरूप में मानना संगत होगा।

पूर्वपक्षी अब दूसरी युक्ति प्रस्तुत करता है कि शरीरी में कर्तृत्व देखा जाता है तथा किसी प्रयोजन के सिद्ध्यर्थ कर्त्ता की किसी कार्य में प्रवृत्ति होती है। शरीरित्व एवं प्रयोजनवत्त्व से ही किसी का कर्तृत्व सिद्ध होता है। चूँकि ईश्वर का शरीर मान्य नहीं है तथा सृष्टि के निर्माण में उसका कोई प्रयोजन नहीं है। अतः संसार का कर्ता वह नहीं हो सकता है।

इसके उत्तर में आचार्य **उदयन** ने कहा है कि प्रत्यक्ष योग्य की अनुपलब्धि

प्रत्यक्ष के अयोग्य परमात्मा में किसी भी प्रकार घटित नहीं होता है। यदि कहोगे कि तब शशशृङ्ग भी प्रत्यक्ष के अयोग्य होने से योग्यानुपलब्धि से बाधित नहीं होगा। तो इसका उत्तर यह है कि यदि वह प्रमाण से सिद्ध होता, तब उसके बाध की बात उठती। वह प्रमाण से सिद्ध ही नहीं है। प्रत्यक्ष के अयोग्य शशशृङ्ग बाधित कहाँ होगा। ईश्वर के अभाव का अनुमान तो आपकी दृष्टि में भी संभव नहीं है। जब आप ईश्वर नहीं मानते हैं तब अनुमान का पक्ष (आश्रय) ही सिद्ध नहीं होगा। अत: आश्रयसिद्धिदोष यहाँ लगेगा।

यदि आपका मान्य है ईश्वर, तब धर्मिग्राहक (ईश्वर का ज्ञापक) प्रमाण से ईश्वर के नहीं मानने पर अनुपलब्धि बाधित हो जायेगी। उपलब्धि योग्य विषय की अनुपलब्धि उस उपलब्ध विषय के अभाव को सिद्ध करता है। केवल अनुपलब्धि किसी वस्तु के अभाव का साधक नहीं होती है। चर्मचक्षु से प्रत्यक्ष के अयोग्य ईश्वर में प्रत्यक्ष के योग्य पदार्थ की अनुपलब्धि रूप प्रमाण प्रवृत्त ही नहीं हो सकता है। अत: वह अनुपलब्धि ईश्वर का बाधक अथवा उसके अभाव का साधक नहीं हो सकता है।

दूसरी बात यह है कि प्रत्यक्ष के योग्य पदार्थ की अनुपलब्धि अभावबुद्धि का जनक होती है – इस नियम के मानने पर भी यह नहीं कहा जा सकता है कि प्रत्यक्ष के अयोग्य शशशृङ्ग का अभाव भी उपपन्न नहीं होगा। हम लोग प्रत्यक्ष के अयोग्य शशशृङ्ग का बाध नहीं करते हैं अपि तु शृङ्ग में शशसंबन्धिता के भ्रम का निराकरण करते हैं। ईश्वराभाव के सिद्ध्यर्थ जो कहा गया है कि ईश्वर क्षिति आदि इस संसार का कर्त्ता नहीं हो सकता है, क्योंकि वह शरीरी नहीं है तथा उसका इस कार्य से किसी प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती है। यह अनुमान ईश्वर के अभाव की सिद्धि में साधक नहीं हो सकता है। इस अनुमान में हेतु आश्रयासिद्धि दोष से युक्त है। यहाँ ईश्वर रूप पक्ष ही सिद्ध नहीं है। यदि इस अनुमान के उपपत्त्यर्थ ईश्वर का अस्तित्व मानेंगे तो धर्मिग्राहक मान से उसके सिद्ध हो जाने पर उसका सृष्टिकर्तृत्व भी सिद्ध हो ही जायेगा। और तब आपके इस अनुमान में बाधित-विषयता आ जायेगी। अत: उपर्युक्त अनुमान से ईश्वर के अभाव की सिद्धि नहीं हो सकती है। जीवों पर अनुग्रह करना ही ईश्वर का प्रयोजन है। इसी के लिए वह सृष्टि हेतु प्रवृत्त होता है।

तीसरी बात यह है कि शरीरी नहीं होने के कारण क्षिति आदि जागतिक पदार्थों का कर्ता ईश्वर नहीं हो सकता है। सृष्टि के निर्माण में उनका कोई प्रयोजन भी नहीं है। इस पूर्वपक्ष के उत्तर में यहाँ आचार्य का कहना है कि आपके पहले अनुमान वाक्य में ईश्वर विशेष्य रूप में विद्यमान है और क्षिति आदि जागतिक पदार्थों के कर्तृत्व का अभाव विशेषण होता है। दूसरे अनुमान वाक्य में ईश्वर के अभाव का प्रतिपादन होने से उस अभाव का प्रतियोगी ईश्वर होता है। अब निषेध्य की उपपत्ति हेतु निषेध के अधिकरण का तथा अभाव के प्रतियोगी का पारमार्थिक अस्तित्व मानना होगा। तुच्छ अर्थात् आभासभूत पदार्थ का अभाव मान्य नहीं है। स्वरूपसम्पन्न पदार्थ का ही कहीं सद्भाव तो कहीं निषेध संभव है।

यदि असत्ख्याति का अवलम्बन कर दोनों ही उपर्युक्त अनुमान में ईश्वर अलीक रूप में ज्ञात होगा तो एकत्र विशेषण का आश्रय (विशेष्य) वह नहीं हो पायेगा और अपरत्र अभाव का प्रतियोगी वह नहीं हो पायेगा। सत्पदार्थ ही विशेष्य एवं प्रतियोगीरूप में मान्य है। आचार्य ने यहाँ कहा है कि निषेध्य का अभाववत्त्व तभी संभव है यदि विशेष्य का सद्भाव सिद्ध हो। प्रतियोगिता उसी पदार्थ में मान्य है, जो अभाव का अभावरूप अर्थात् भाव पदार्थ के रूप में मान्य हो।

व्यावर्त्याभाववत्तैव भाविकी हि विशेष्यता।
अभावविरहात्मत्वं वस्तुनः प्रतियोगिता।।

तात्पर्य यह है कि जैसे अभावात्मक अलीक पदार्थ निषेध का अधिकरण नहीं हो सकता है। उसी प्रकार वह निषेध्य भी नहीं हो सकता है।

इस प्रकार अनुपलब्धि प्रमाण से ईश्वर के अभाव की सिद्धि में विफल होकर **बौद्ध दार्शनिक** अनुमान प्रमाण से ईश्वराभाव की सिद्धि हेतु आत्मा को पक्ष मानकर कहते हैं कि आत्मा सर्वज्ञ नहीं हो सकता है, आत्मत्व रहने से। यह आत्मा क्षिति आदि का कर्ता भी नहीं हो सकता है, आत्मत्व रहने से। इन दोनों ही अनुमान से आत्मा की सर्वज्ञता तथा क्षिति आदि जागतिक पदार्थों की कर्तृता सिद्ध नहीं होती है।

यहाँ आचार्य का उत्तर है कि जीवात्मा में असर्वज्ञत्व चूँकि **नैयायिक**

को भी मान्य है। अतः यह अनुमान सिद्धसाधन दोष से ग्रस्त है। यदि च आप अपने मतानुसार प्रमाण के अविषय ईश्वर को पक्ष मानकर उनमें असर्वज्ञत्व सिद्ध करना चाहते हैं तो इसमें आश्रयासिद्धि दोष होगा। क्योंकि साध्य का आश्रय ईश्वर असिद्ध है। यदि कहोगे कि ईश्वरत्वेन ईश्वर की सिद्धि नहीं मानने पर भी आत्मत्वेन ईश्वर को पक्ष माना जाए और इसकी प्रमात्मक सिद्धि माना जाये तो ईश्वर सिद्ध ही हो जायेगा। असत्ख्याति यदि यहाँ मानी जायेगी तो लिङ्ग का परामर्श ही नहीं हो सकेगा। यदि आत्मत्व जाति को ही पक्ष मानेंगे तो सिद्धसाधन एवं आश्रयासिद्धि पूर्ववत् होगी।

इष्टसिद्धिः प्रसिद्धेंऽशे हेत्वसिद्धिरगोचरे।
नान्या सामान्यतः सिद्धिर्जातावपि तथैव सा।।

यहाँ पुनः **चार्वाक** पूर्वपक्ष करता है कि अनुमान प्रमाण मान्य नहीं है। जो प्रत्यक्ष से नहीं देखा जाता है, उस पदार्थ का सद्भाव भी मान्य नहीं है। यही अनुपलब्धि ईश्वर के अभाव का साधक होती है। इस अनुपलब्धि में प्रत्यक्ष योग्य का निवेश करना कोई आवश्यक नहीं है। **चार्वाक** के मत में धर्म तथा अधर्म आदि प्रत्यक्ष के अयोग्य ही माने गये हैं। अतः अनुपलब्धि प्रमाण के लक्षण में अतिव्याप्ति नहीं होती है। इस अनुपलब्धि में यदि अनुमान प्रमाण गतार्थ होता है तो मुझे वह मान्य ही है। मेरी दृष्टि में केवल प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। धूम देखकर जो आग के लिए किसी की प्रवृत्ति देखी जाती है, उसका आधार सन्देह ही है, अनुमान नहीं।

इसके निराकरण हेतु आचार्य ने कहा है –

दृष्ट्यदृष्ट्योर्न सन्देहो भावाभावविनिश्चयात्
अदृष्टिबाधिते हेतौ प्रत्यक्षमपि दुर्लभम्।।

अग्नि के प्रत्यक्ष होने पर उसके सद्भाव का निश्चय तथा उसके अप्रत्यक्ष होने पर उस अग्नि के अभाव का निश्चय तो सिद्ध ही है। यहाँ सन्देह या संभावना नहीं रहने पर अनुपलब्धि किस को सिद्ध करेगा। अनुपलब्धि की स्थिति में प्रत्यक्ष की सामग्री चक्षुरिन्द्रिय आदि किसी वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं कर पायेगी। क्योंकि इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकर्ष से यहाँ कार्यकारणभाव सिद्ध है। अनुपलब्धि को यदि प्रमाण माना जाए तो घर से बाहर में बैठा हुआ **चार्वाक**

घर में विद्यमान पत्नी तथा पुत्री आदि को व्यवधान के कारण नहीं देखकर अनुपलब्धि प्रमाण से उनका अभाव समझकर छाती पीट-पीटकर रोने लगेंगे। अतः केवल अनुपलब्धि से किसी वस्तु के अभाव को सिद्ध नहीं किया जा सकता है।

अब **चार्वाक** दूसरी आपत्ति उपस्थित करता है कि अनुपलब्धि यदि प्रमाण नहीं है तो भी प्रत्यक्ष के अयोग्य में उपाधि की शङ्का रहने से धूम और आग के कार्यकारणभाव में व्यभिचार की शंका हो जाएगी, और वह (शंका) व्याप्ति का निश्चय नहीं होने देगी। पुनश्च इस व्याप्ति के अभाव में अनुमान नहीं होगा।

इसके समाधान में आचार्य ने यहाँ कहा है –

शङ्का चेदनुमास्त्येव न चेच्छङ्का ततस्तराम्

व्याघातावधिराशङ्का तर्कः शङ्कावधिर्मतः।।

कालान्तर तथा देशान्तर में विद्यमान धूम आदि वस्तु का व्यभिचार एवं पिशाच आदि में उपाधित्व की शङ्का देशान्तर तथा कालान्तर में विद्यमान पिशाच आदि की विद्यमानता में ही हो सकती है। इस तरह के पदार्थों की विद्यमानता अनुमान से ही संभव है। यदि शंका नहीं है तो अनुमान सिद्ध ही है। यदि धूम आदि में व्याप्ति की उपपत्ति हेतु अनवस्था दोष लगने पर व्यभिचार की शंका होती है तो उसका समाधान तर्क से हो जाता है। जब तक व्याघात की संभावना रहती है तब तक शङ्का होती रहती है और जब शङ्का रहती है तब तर्क से उसका निराकरण किया जाता है।

व्याप्ति के ज्ञान के समय महानस (रसोई घर) आदि में धूम और अग्नि के व्यभिचाराभाव के प्रत्यक्ष से निश्चय होने पर व्यभिचार की शंका संभव नहीं है। परन्तु देशान्तर तथा कालान्तर के धूम और अग्नि के व्याप्ति-ज्ञान के प्रसंग में प्रत्यक्ष के उपाधि के उठाने पर व्यभिचार शंका का उत्थापन अनुमान प्रमाण के बिना संभव ही नहीं है। इस तरह व्यभिचार शंका के होने तथा नहीं होने पर भी अनायास अनुमान सिद्ध होता है। अनुमान प्रमाण की सिद्धि में किसी प्रकार की बाधा नहीं है।

धूम यदि वह्नि का व्यभिचारी होगा अर्थात् व्याप्त नहीं होगा तो वह वह्नि जन्य भी नहीं होगा – इस प्रकार के कार्यकारणभाव से सामर्थ्य का अवधारण करने वाला विपक्ष-बाधक तर्क ही इन दोनों की व्याप्ति-ज्ञान की विघटक शंका को दूर कर देता है।

यदि कहा जाए कि तर्क भी व्याप्ति की भित्ति पर अवलम्बित है। अतः इसमें उपाधि की शंका रह सकती है तो इसके समाधान में कहना है कि उपाधि की शंका तब तक ही रहती है जब तक व्याघात नहीं होता है। आशंका उसी की होती है, जिस आशंका से अपनी क्रिया का व्याघात रूप दोष नहीं लगता है। कार्यकारणभाव के नहीं मानने पर शंका का होना भी संभव नहीं है। इस स्थिति में शंका नहीं हो सकती है, सब मिथ्या हो जायेगा। कार्यकारणभाव के आधार पर ही धूम कार्य और वह्नि उसका कारण होता है। **वर्धमान उपाध्याय** ने इस कारिका की व्याख्या में कहा है कि अन्वय एवं व्यतिरेक से कार्यकारणभाव के निश्चय होने पर भी यदि कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति मानी जाए तो नियम से धूम के कारण वह्नि का, तृप्ति के हेतु अन्न का तथा दूसरों को समझाने के लिए शब्द का उपादान (ग्रहण) नहीं होगा। इन कार्यों की उपपत्ति उक्त कारणों के बिना भी हो जायेगी।

इन कार्यों का अपने-अपने कारणों से होना ही उस प्रकार की शङ्का का प्रतिबन्धक होगा। यह कभी मान्य नहीं होगा कि धूम आग का कार्य है किन्तु आग धूम का कारण नहीं है।

व्यास ने गीता में कहा है कि अचेतन (जड़) प्रकृति का परिणाम बुद्धि तत्त्व सत्त्व आदि गुण से सभी कर्मों का सम्पादक होता है। किन्तु अहङ्कार के व्यामोह से आत्मा शुद्ध बुद्ध तथा चेतन स्वभाव रहने पर भी समझता है कि मैं ही करता हूँ। इससे प्रतीत होता है कि आत्मा मे विद्यमान कर्तृत्व सर्वथा अभिमानिक है पारमार्थिक नहीं।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।।

इससे ज्ञात होता है कि शब्द प्रमाण ईश्वर के जगत्कर्तृत्व का बाधक होता है। इसके उत्तर में आचार्य का कथन है कि अनाप्त का वचन प्रमाण नहीं

होता है। आपका आगम यदि आप्तवाक्य स्वरूप है तो वह अवश्य ईश्वर का वाक्य होगा। क्योंकि ईश्वर आप्त होता है। एक भी वस्तु ईश्वर से अदृश्य नहीं रहती है। अदृष्ट वस्तु–अतीन्द्रिय पदार्थ–का द्रष्टा ईश्वर हम सबसे भिन्न सर्वज्ञ अवश्य होता है। यदि *आगम* को आप्तवाक्य नहीं मानोगे तो वह नित्य भी सिद्ध नहीं होगा। वाक्य की पौरुषेयता तथा सृष्टि और प्रलय की सत्ता पहले ही प्रतिपादित हो चुकी है।

न प्रमाणमनाप्तोक्तिर्नादृष्टे क्वचिदाप्तता।
अदृश्यदृष्टौ सर्वज्ञो न च नित्यागमः क्षमः।।

इस श्लोक का उपर्युक्त अभिप्राय स्पष्ट है।

अपि च गीता में एक स्थल में यहि आत्मा की कर्तृता को अभिमानिक कहा है तो बहुत स्थलों में ईश्वर को संसार का कर्ता भी कहा है। यथा मैं ही संसार में सबका जन्मदाता हूँ। मुझसे प्रेरित होकर ही प्रत्येक आत्मा प्रवृत्त होता है। विद्वद्वृन्द यही समझकर निष्ठापूर्वक मुझमें भक्ति करते हैं। उद्भव स्थान विराट् ब्रह्म मेरी योनि है, जहाँ मैं वीर्याधान–गर्भ धारण–करता हूँ। वहीं से सभी प्राणियों का जन्म होता है। सभी योनियों में सभी प्रकार के जीव जन्तु जन्म लेते हैं। उन सबका आदि योनि ब्रह्म होता है और वीजवपन मैं ही करता हूँ। अतएव संसार का मैं पिता कहलाता हूँ।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधाः भावसमन्विताः।।

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत।।

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद् योनिरहं बीजप्रदः पिता।।

इस प्रकार ईश्वर के प्रसंग में विधि एवं निषेध परक परस्पर विरोधी अनेक वचन *गीता* में उपलब्ध रहने से विधि परक वचन को मुख्य अर्थ और निषेध परक वचन को लक्ष्य अर्थ परक मानकर सुधीवृन्द यहाँ उनमें परस्पर समन्वय स्थापित करते हैं। विशेष गुणों से रहित नीरूप, निरञ्जन तथा ध्यान गम्य ईश्वर यहाँ लक्ष्यार्थरूप में मान्य है।

कार्यकारणभाव के आधार पर ईश्वर साधक वचनों में मुख्यार्थता यहाँ मान्य है। तर्क भी इस की सहायता करता है। तात्पर्य के भेद से इन आगम वचनों में परस्पर अविरोध उपपन्न होता है। इसी बात का उपपादन आचार्य ने निम्न पद्य में किया है–

न चासौ क्वचिदेकान्तः सत्त्वस्यापि प्रवेदनात्।
निरञ्जनावबोधार्थो न च सन्नपि तत्परः।।

आगम (वेद) अनिर्वचनीय ईश्वर में कर्तृत्व के अभाव का ही बोधक नहीं होता है अपि तु इस संसार का कर्ता भी उनको कहता है। निरञ्जन अर्थात् निर्धर्मक तथा चेतन स्वरूप ईश्वर का बोधक वचन भी आगम में उपलब्ध है। अतएव *आगम* का यथाश्रुत अर्थ ग्राह्य नहीं है। अपि तु ध्येयरूप में ईश्वर का बोध *आगम* वचनों से होता है। अब यह नहीं कहा जा सकता है कि शब्द प्रमाण के बल पर ईश्वर का अभाव मान्य है।

अर्थापत्ति प्रमाण के आधार पर पूर्वपक्षी ईश्वर की सर्वज्ञता का निराकरण करता हुआ कहता है कि वेद के उपदेश के बिना इष्ट लाभ के लिए ज्योतिष्टोम याग आदि में लोगों को प्रवृत्त कराने की सामर्थ्य ईश्वर में नहीं है। इसी प्रकार अनिष्ट के परिहार हेतु कलञ्ज भक्षण के निषेधक भी वह नहीं होता है। वेद के उपदेश से ही उपर्युक्त कर्मों में लोक की प्रवृत्ति या निवृत्ति देखी जाती है। अत एव ईश्वर इष्ट में प्रवर्तक या अनिष्ट में निवर्तक नहीं होता है। वेद स्वयं प्रवृत्ति निवृत्ति कराता है। यहाँ सिद्धान्ती का कहना है कि कारण के अभाव में कार्य नहीं होता है, प्रमा का यथार्थ ज्ञान प्रमाण से ही संभव है। प्रमाज्ञान के अभाव में किसी की कहीं प्रवृत्ति संभव नहीं है। ईश्वर के अभाव मे चेतन कर्म प्रवर्तक नहीं हो सकता है। कर्म का प्रवर्तक चेतन ईश्वर ही होगा। स्वर्ग की कामना से अग्निष्टोम याग करना चाहिये– इस वैदिक उपदेश को प्रमाण नहीं मानने पर इष्टसाधन याग आदि में– यह मेरा इष्ट साधन है– इस प्रकार इष्टसाधनता का ज्ञान नहीं होगा और इसके अभाव में याग आदि कर्म में लोक की प्रवृत्ति नहीं होगी। अतः वेद का प्रामाण्य आवश्यक है और इस वैदिक उपदेश के कर्ता रूप में ईश्वर का सद्भाव मानना ही होगा।

हेत्वभावे फलाभावात् प्रमाणेऽसति न प्रमा।
तदभावात् प्रवृत्तिर्न कर्मवादेऽप्ययं विधिः।।

अर्थापत्ति न्यायशास्त्र में प्रमाण के रूप में मान्य नहीं है। अनुमान में इसका अन्तर्भाव किया गया है। अनुपपद्यमान अर्थ के सिद्ध्यर्थ उसके उपपादक अन्य अर्थ की कल्पना अर्थापत्ति का पहला लक्षण है। पीन देवदत्त दिन में नहीं खाता है– इस अर्थापत्ति का उदाहरण है। दिवा भोजन के बिना देवदत्त का मोटापन (पीनत्व) उपपन्न नहीं होता है। अतः उसकी उपपत्ति के लिए रात में उसके अधिक भोजन रूप भिन्न विषय की कल्पना की जाती है। यहाँ अनुप पद्यमान अर्थ रूप व्याप्य से उपपादक अर्थ व्यापक का अनुमान हो जाता है। अतः अर्थापत्ति प्रमाण की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती है।

अर्थापत्ति का दूसरा लक्षण है दो विरुद्ध प्रमाणों की व्यवस्था से विरोध की प्रस्तुति अर्थापत्ति का विषय होता है। यथा 'मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि' किसी प्राणी की हिंसा नहीं करना चाहिये तथा 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' अग्निसोम संबन्धी पशु का वध करना चाहिये। इन दोनों वाक्यों के श्रुति-प्रमाण से सिद्ध रहने पर भी परस्पर इनमें आपाततः विरोध प्रतीत हो रहा है। अतः अर्थापत्ति प्रमाण से सिद्ध होता है कि अग्नीषोमीय याग से भिन्न स्थलों में 'मा हिंस्यात् वचन' मान्य है। इस प्रकार मीमांसा में विषय भेद की व्यवस्था से विरोध का परिहार हो जाता है। यहाँ भी अनुमान से विरोध का परिहार होता ही है।

अनियम्यस्य नायुक्तिर्नानियन्तोपपादकः।

न मानयोर्विरोधोऽस्ति प्रसिद्धे वाप्यसौ समः।।

इस श्लोक का तात्पर्य है कि अनियम्य अर्थात् अव्याप्य की नायुक्तिः– अनुपपत्ति नहीं होती है। अपि तु व्याप्य की अनुपपत्ति व्यापक के अभाव में होती है। अनियन्ता अर्थात् अव्यापक उपपादक नहीं होता है, इसलिए व्याप्य से व्यापक का अनुमान होता है। विरोधी विषयक प्रमाण युगल की उपस्थिति में स्थान भेद से तथा विषय भेद से विरोध का परिहार हो जाता है। प्रसिद्ध में भी- धूम हेतुक बह्नि साध्यक अनुमान में भी - अर्थापत्ति से ही कार्य सम्पादित हो जायेगा, पुनः सर्वत्र ही इस तरह कार्य सम्पादित होने पर अनुमान का उच्छेद हो जायेगा।

इस प्रकार पूर्वपक्षी के मतों का अच्छी तरह निराकरण करके आचार्य ने उपसंहार में कहा है कि उक्त निराकरण से प्रतिपक्षी निरस्त हो गया। विरोध का

उदय अर्थात् ईश्वर की सत्ता का विरोध दूर हुआ धर्मिग्राहक मानरूप युक्ति के बिना अपना भी अस्तित्व संभव नहीं है। इस प्रकार अपना अभिमत ईश्वर, जो एक है, जिसके अधीन में पूरा संसार है, जो असाधारण है, जो अपनी इच्छा से संसार की लीला करता है, जो इन्द्र आदि देवता का भी देवता है, उनकी शरण में मैं स्वयं जाना चाहता हूँ।

प्रत्यक्षादिभिरेवमेवमधरो दूरे विरोधोदयः
प्रायो यन्मुखवीक्षणैकविधुरैरात्मापि नासाद्यते
तं सर्वानुविधेयमेकमसमस्वच्छन्दलीलोत्सवम्
देवानामपि देवमुद्भवदतिश्रद्धाः प्रपद्यामहे।।

चतुर्थ स्तवक में जैन दार्शनिक के मत का निराकरण हुआ है। जैन दार्शनिक का कहना है कि ईश्वरके मानने पर भी वह प्रमाण नहीं होता है-- '**सत्त्वेऽपि तस्याप्रमाणत्वात्**' इस विप्रतिपत्ति में पूर्वपक्ष जैन दार्शनिक का और उत्तर पक्ष नैयायिक का होता है। पूर्वपक्षी का कहना है कि ईश्वर का सद्भाव मानने पर भी वह प्रमाण के रूप में मान्य नहीं हो सकता है। ईश्वर के ज्ञान में प्रमा का लक्षण नहीं घटता है। मेरे दर्शन में प्रमात्मक ज्ञान वही है जो अज्ञात विषय का ज्ञापक हो। **अनधिगतार्थगन्तृत्वं प्रमात्वम्**। सर्वज्ञ रहने से ईश्वर का एक भी विषय अनधिगत नहीं रहेगा। अतः इनके ज्ञान में प्रमा का लक्षण नहीं घटता है। इसका फल यह होगा कि ईश्वर का उपदेश स्वरूप वेदवाक्य भी प्रमाण रूप में मान्य नहीं होगा।

नैयायिक इसके विरोध में कहता है कि अनधिगत विषय के ग्राहक ज्ञान को यदि प्रमा कहेंगे तो धारावाहिक ज्ञान सन्तान में दूसरा तीसरा ज्ञान गृहीतग्राही होने पर वहाँ इस लक्षण का अव्याप्ति-दोष होगा, एवं शुक्ति में रजत के भ्रमस्थल में रजत के अगृहीत ग्राही होने से अतिव्याप्ति-दोष होगा। अतएव ज्ञानान्तर से निरपेक्ष यथार्थ अनुभाव को ही प्रमा का लक्षण मानना युक्तिसंगत है। स्मृत्यात्मक ज्ञान अनुभवसापेक्ष होने से ज्ञानान्तर से निरपेक्ष नहीं रहता है, अतः वह प्रमाण नहीं होता है। ईश्वर तथा वेद का उपदेश ज्ञानान्तर से निरपेक्ष होने के कारण प्रमाण के रूप में मान्य होते हैं। उपर्युक्त धारावाही ज्ञान में यथार्थ अनुभव के रहने से वहाँ अव्याप्ति नहीं होती है। भ्रम स्थल में अनुभव यथार्थ नहीं रहता है, अतः अतिव्याप्ति दोष नहीं होता है। फलतः न्यायशास्त्र

का अनुमत प्रमा का लक्षण निर्दुष्टसिद्धि होता है।

जैन दार्शनिक मीमांसक के घर से ज्ञातता को उधार लेकर कहते हैं कि इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकर्ष से घट का प्रत्यक्ष होने पर भी उस घटमे विषयत्व की किसी प्रकार उपपत्ति नहीं होती है अतः अर्थापत्ति के द्वारा वहाँ ज्ञातता (प्राकट्य) का प्रादुर्भाव होता है। इससे ज्ञात होता है कि घट के प्रत्यक्षात्मक ज्ञान का विषय घट ही है पट आदि घटभिन्न पदार्थ नहीं। इस प्रकार घट का प्राकट्य होता है। अतः मीमांसक के घर में प्रत्यक्षात्मक घट ज्ञान के ज्ञान को प्रकटता (ज्ञातता) पद से कहा जाता है।

इस प्रकटता की महिमा से यह घट है यह घट है इस प्रकार से निरन्तर फैलते हुए धारावाहिक ज्ञान में द्वितीय क्षण में ज्ञातता (प्राकट्य) के उपराग से घट का नया ज्ञान अनधिगत अर्थ का ग्राहक हो जायेगा। इस प्रकार जैन दार्शनिक के प्रमालक्षण का समन्वय एवं उपपत्ति की जा सकती है। नैयायिक द्वारा उठाये गये दोष का परिहार भी हो जाता है।

नैयायिक यहाँ कहता है कि धारावाहिक ज्ञान परम्परा में दूसरे क्षण में होनेवाली ज्ञातता के उपराग से जो घट परम्परा का ज्ञान होता है, उसमें सूक्ष्मतम क्षण का जो अनुपाती भेद है उसका अवधारण कठिन या असंभव ही है। अतः नैयायिक द्वारा उठाया गया दोष परिहृत नहीं होता है। दूसरी बात यह है कि ज्ञातता के आधार पर विषयविषयिभाव की व्यवस्था करने पर भूत एवं भविष्यत् अर्थ के विद्यमान नहीं रहने से उनमें ज्ञातता का समावेश नहीं होगा और तब विषयविषयिभाव की व्यवस्था नहीं हो पायेगी। तीसरा दोष यहाँ यह है कि ज्ञानजन्य ज्ञातता का अवलम्बन करके घटज्ञान के विषय घट के द्वितीय ज्ञान में विषय का प्राकट्य रूप ज्ञातता माननी होगी। पुनः उसके द्वितीय ज्ञान की ज्ञातता माननी होगी – इस प्रकार अनवस्था हो जायेगी। अपि च प्रत्येक क्रिया कर्मनिष्ठ कुछ फल उत्पन्न करता है, इस व्याप्ति के अनुसार क्रियात्मक लिङ्ग से पूर्वपक्षी घट में ज्ञातता की उत्पत्ति मानता है। किन्तु क्रियात्मक लिङ्ग के व्यभिचरित होने से ज्ञातता की उत्पत्ति संभव नहीं है।

क्रिया से तीन अर्थ लिए जाते हैं– धात्वर्थ, करण का व्यापार तथा स्पन्द। शर से आकाश को युक्त करता है– इस वाक्यगत क्रिया युजधातु का अर्थ आकाश में किसी फल का उत्पादन नहीं करती है। अतः व्यभिचार स्पष्ट है।

करण का व्यापार रूप अर्थ लेने पर आँख से घट को देखता है– इस वाक्य में करण चक्षु का व्यापार घट में किसी फल का उत्पादन नहीं करता है। अतः क्रिया में स्वरूपा सिद्ध स्पष्ट है। ज्ञान स्पन्दात्मक नहीं होता है। अतः यहाँ भी स्वरूपासिद्ध होता है। फलतः हेत्वाभास के कारण क्रियात्मक हेतु से ज्ञातता की अनुमिति नहीं हो सकती है।

पूर्वपक्षी कहता है कि प्राक्ट्य स्वरूप ज्ञातता प्रत्यक्ष से ही उपलब्ध है। घट का ज्ञान हुआ एवं घट का साक्षात्कार हुआ आदि व्यवहार में ज्ञातता विशिष्ट की ही प्रतीति होती है। यहाँ उत्तरपक्षी कहता है कि विशेषण विशिष्ट ज्ञान में विशेषण, विशेष्य तथा इन दोनों के संबन्ध से भिन्न किसी अन्य अर्थ का भान नहीं होता है। स्वभावतः निराकार ज्ञान घट एवं घटत्व आदि विषय से ही उपरक्त होकर विशिष्ट ज्ञान का जनक होता है–

अर्थनैव विशेषो हि निराकारतया धियाम् आचार्य की यह कारिका सर्वथा अनुभवपरिपूत है। नैयायिक का कहना है कि इष्ट घट है, कृत घट है आदि विशिष्टज्ञानशाली व्यवहार में इच्छारूप क्रिया से घट आदि कर्म में परस्पर व्यावृत्ति स्वरूप विशेष ज्ञात होता है। इसी प्रकार ज्ञात घट आदि व्यवहार में पूर्वपक्षी के अभिमत ज्ञाततारूप धर्म से निरपेक्ष ज्ञान से विशेष का अवगाहन करने वाली बुद्धि होती है। इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकर्ष से होने वाला घट ज्ञान के उपपादन में मीमांसक के द्वारा मान्य प्राकट्य रूप ज्ञातता नैयायिक को मान्य नहीं है।

पूर्वपक्षी का यह कहना कि ईश्वर का ज्ञान नित्य होने से उसमें प्रमाण जन्यत्व तथा प्रमात्मकता नहीं रहती है। अतएव ईश्वर न तो प्रमाता हो सकता है न ही प्रमाण, यह कथन संगत नहीं है। यथार्थ अनुभव रूप प्रमा का लक्षण ईश्वर के ज्ञान में समन्वित हो सकता है और तब नित्यज्ञान से संबद्ध ईश्वर प्रमाण भी हो जायेगा। जैसे मन्त्र और आयुर्वेद का प्रमाण्य अनुभव से परिपूत होने से सर्वमान्य है, इसी प्रकार ईश्वर तथा उनका नित्यज्ञान प्रमाण होता है। न्यायसूत्रकार ने स्वयं इसका उपपादन किया है–

मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात् २।१।६९।

पूर्वपक्षी अब एक पृथक् प्रश्न उठाता है कि यदि ईश्वर सर्वज्ञ है तो

उनका ज्ञान लौकिक एवं अलौकिक की तरह यथार्थ तथा अयथार्थ विषयक भी होगा। अब ईश्वर भ्रान्त भी हो सकता है, उनका ज्ञान भ्रमात्मक भी हो सकता है। अतएव ईश्वर एवं उनका ज्ञान प्रमाण नहीं हो सकता है।

इसका उत्तर यह है कि ईश्वर के ज्ञान में व्यधिकरण वृत्तिता नहीं रहती है। अतः वह प्रमाण होता है। तदभाव मे तत् का ज्ञान अप्रमा कहलाता है, शुक्ति (सितुआ) में चान्दी का ज्ञान अप्रमा होता है। क्योंकि रजतत्व का अधिकरण रजत होता है शुक्ति (सितुआ) नहीं। शुक्ति में रजत पदार्थ की व्यधिकरणवृत्तिता है। जो व्यक्ति शुक्ति (सितुआ) में रजतत्व के अधिकरण- रजतसे भिन्न में रजत के (व्यधिकरण में) यह चान्दी है (रजत है) अनुभव करता है वह भ्रान्त कहलाता है। शुक्तित्व विशिष्ट शुक्ति एवं रजतत्व विशिष्ट रजत का ज्ञान तो यथार्थ ही है। जो जैसा है उसका उस रूप में ग्रहण प्रमा का स्वरूप होता है। **तद्वति तत् प्रकारकं ज्ञानं प्रमा** यथार्थ ज्ञान का लक्षण कहा गया है। ऐसा नहीं मानने पर भ्रम को भ्रम समझने वाला व्यक्ति भी भ्रान्त कहलाने लगेगा। ईश्वर कभी भ्रान्त या विपर्यस्त नहीं है। अतएव उनका ज्ञान नित्य और वह सर्वज्ञ अच्छी तरह से उपपन्न होता है।

इस स्तबक के उपसंहार पद्य में आचार्य ने कहा है कि ईश्वर के नित्य तथा प्रत्यक्ष स्वरूप ज्ञान में विश्व के सम्पूर्ण प्रपञ्च के उपादान पदार्थ का समावेश है। उन पदार्थों के विशेष अदर्शन से राग, द्वेष, भ्रम तथा प्रमाद आदि दोष होते हैं। और उन दोषों से रहित अर्थात् सर्वज्ञ सर्वथा प्रमाण अर्थात् अप्रामाण्य की शंका से रहित वेद के उपदेशक सर्वथा कल्याणकारी शिव हमारे लिए परम प्रमाण के रूप में मान्य हैं।

साक्षात्कारिणि नित्ययोगिनि परद्वारानपेक्षस्थितौ
भूतार्थानुभवे निविष्टनिखिलप्रस्ताविवस्तुक्रमः।
लेशादृष्टिनिमित्तदुष्टिविगमप्रभ्रष्टशङ्कातुषः
शङ्कोन्मेषकलङ्किभिः किमपरैस्तन्मे प्रमाणं शिवः।।

पञ्चम स्तबक में पाँचवीं विप्रतिपत्ति का- ईश्वर साधक प्रमाण के अभाव का निराकरण कर आचार्य ने आठ नौ हेतुओं से करके ईश्वर की सिद्धि की है। कहते हैं कि यहाँ साँख्य सिद्धान्त का खण्डन हुआ है। ईश्वर के साधक

प्रमाण का अभाव है– यह सांख्य-दर्शन का मत है। आचार्य ने यहाँ आठ नौ हेतुओं से अनुमान के द्वारा ईश्वर का उपपादन किया है। कार्य, आयोजन, धृति, संहार, पद, प्रत्यय, श्रुति, वाक्य तथा संख्याविशेष रूप हेतुओं से सर्वज्ञ तथा अव्यय स्वरूप ईश्वर की सिद्धि होती है–

कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः।
वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः।।

(१) क्षिति आदि कार्य किसी कर्ता से उत्पन्न होता है। क्योंकि वह कार्य है। 'क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात् घटवत्'। प्रत्येक कार्य किसी कर्ता से उत्पन्न होता है। अतः सकर्तृक होता है। घट रूप कार्य का उत्पादक कर्ता कुलाल प्रसिद्ध है। यहाँ सकर्तृक पद से उपादान विषयक अपरोक्ष ज्ञान, कार्य करने की इच्छा, तथा तदनुकूल यत्न से उत्पन करना अभिप्रेत है।

किसी कार्य के कर्तृत्व की उपपत्ति के लिए कार्य के उपादान अथवा समवायिकारणरूप पदार्थ का प्रत्यक्ष ज्ञान कर्ता में रहना आवश्यक है। जुलाहा पट के समवायिकारण तन्तु समूह का तथा कुम्भकार घट के समवायिकारण गिली मिट्टी का ज्ञान अवश्य रखता है। इतने विशाल इस संसार के उपादानभूत अतीन्द्रिय परमाणुसमूह का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान हमलोगों को संभव नहीं है। हम लोगों का ज्ञान समय तथा देश से परिच्छिन्न रहता है। अतः नित्य ज्ञान, नित्य इच्छा तथा नित्य क्रिया आदि गुणों से सम्पन्न, अतीन्द्रिय पदार्थों का द्रष्टा तथा विभु ईश्वर इस सृष्टि प्रपञ्च-क्षिति पर्वत तथा समुद्र आदि-का कर्ता सिद्ध होता है। इस अनुमान के समर्थन में आगम भी उपलब्ध है। आगम में कहा गया है कि 'एक ही देव इस द्यावा तथा भूमि का जनक है। सम्पूर्ण विश्व ही उनकी आँख, उनका मुख, उनका बाहु तथा उनका पैर है। वह दोनों बाहों से उतरता है और पाँखों से उड़ता है–

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्।
संबाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः।।

यहाँ चक्षु से सर्वज्ञता, मुख से सर्ववक्तृता, बाहु से सहकारिता, पदसे व्यापकता और पुनः संबाहु से धर्म एवं अधर्म रूप अदृष्ट कारण ज्ञात होता है। पतत्र पद यहाँ परमाणु का वाचक है। गतिशील होने से परमाणु पतत्र पद से

लिया होता है। द्यावा से ऊपर का सात लोक और भूमि से नीचे का सात लोक अभिप्रेत हैं। एकसे उनकी अनादिता सिद्ध होती है।

(2) ईश्वर रूप साध्य की सिद्धि के लिए दूसरा हेतु आयोजन कहा गया है। सृष्टि के आदि में दो परमाणुओं के योग से उत्पन्न द्वयणुक का आरम्भक जो संयोगजनक कर्म होता है, वह किसी चेतन के प्रयत्न से होता है। कर्म प्रयत्न से होता है, यथा हम लोगों की शारीरिक क्रिया हमलोगों के प्रयत्न से होता है। यह आयोजन पद अपनी व्युत्पत्ति के अनुसार कर्म का वाचक होता है। 'आ-समन्तात्-सर्वतोभावेन, युज्यते-द्रव्ययुगलम् अनेन इति आयोजनम्' इस पद की व्युत्पत्ति होती है। प्रलय के पश्चात् सृष्टि के आदि में अचेतन दो परमाणुओं का संयोजन कर्म किसी सचेतन के प्रयत्न पुरुष के प्रयत्न से ही संभव है। अचेतन कुल्हारी चेतन पुरूष के प्रयत्न से अधिष्ठित होकर ही अर्थात् उसके प्रयत्न से ही काष्ठ के छेदन में समर्थ होता है। अतः सृष्टि के आदि में दो परमाणुओं के संयोगजनक कर्म का कर्ता सर्वज्ञ ईश्वर इस आयोजन हेतु से सिद्ध होता है।

यहाँ भी आगम प्रमाण उपलब्ध है-

यदा स देवो जागर्ति तदेदं चेष्टते जगत्।
यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलति।।

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा।।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।।

तीसरा हेतु है धृति, जिससे ईश्वर की सिद्धि होती है। यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड पतन के प्रतिबन्धकीभूत प्रयत्नकर्ता से अधिष्ठित है, क्योंकि उस अधिष्ठाता (प्रयत्नकर्ता) में धारण की सामर्थ्य विद्यमान है (धृतिमत्त्व रहता है)। जैसे अपनी घोसला बनाने के लिए पक्षी आकाश में घास-फूस तथा छोटी सी काठ की टुकरी आदि अपने चोंच में लेकर उड़ती हुई देखी जाती है। पक्षी का ऐसा प्रयास रहता है कि वह घास-फूस तथा काठ की टुकरी चोंच से गिरता नहीं है। इस प्रकार की सामर्थ्य ईश्वर में ही संभव है। इसका पोषक आगम

(बृहदारण्यक उपनिषद्) वचन उपलब्ध है– **एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः।** भगवद्गीता में भी उक्त है–

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः।।

यहाँ बिभर्ति का तात्पर्य धारायति से है। अतएव यह श्लोक धृतिहेतु का सम्पोषक होता है।

(4) उक्त कारिका गत 'धृत्यादेः' पद घटक आदि पदसे सृष्टि का संहार रूप कार्य लिया जाता है। ब्रह्माण्ड से लेकर द्व्यणुक पर्यन्त यह संसार किसी यत्नवान् पुरुष से विनष्ट होता है। जैसे प्रयत्नशील व्यक्ति द्वारा एक कपड़ा का दो टुकड़ा किया जाता है।

यहाँ संसार के संहारक कर्म अपनी सर्वातिशायी महिमा से ईश्वर ही करता है। जो ईश्वर सृष्टिकर्ता है, वही सृष्टि के समृद्ध की भी सामर्थ्य रखता है। उसी की इच्छा से संसार का प्रलय भी होता है। *भगवद्गीता* में उक्त है–

एष सर्वाणि भूतानि समभिव्याप्य मूर्तिभिः।
जन्मवृद्धिक्षयैर्नित्यं संभ्रामयति चक्रवत्।।
सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्।।

(5) पद हेतु से ईश्वर की सिद्धि का अनुमान इस तरह होता है। पट एवं घट आदि कार्य की निर्माण परम्परा का व्यवहार स्वतन्त्र पुरुष द्वारा प्रवर्तित होता है, व्यवहारत्व रहने से, जैसे आधुनिक लिपि का व्यवहार प्रचलित है। 'पद्यते गम्यते व्यवहारोऽनेन इति पदम्' जिससे व्यवहार का ज्ञान हो, वह है पद । इस व्युत्पत्ति के अनुसार पद का व्यवहार अर्थ सिद्ध होता है।

कुविन्द का वस्त्रनिर्माणकौशल, कुम्हार का घटनिर्माणकौशल, लोक में वाचनिक व्यवहार, बालों के द्वारा अक्षर की शिक्षा एवं लेखन तथा चैत्र मैत्र आदि नाम से व्यक्ति का परिचय स्वतन्त्र पुरुष द्वारा प्रवर्तित है, व्यवहार होने से। इस अनुमानसे व्यवहार के प्रवर्तक रूप में ईश्वर ही सिद्ध होता है। क्योंकि सृष्टि के आदि में केवल ईश्वर ही रहता है, जिसके उपदेश से व्यवहार चला होगा।

यदि पूर्वपक्ष हो कि व्यवहार का प्रवर्तक ईश्वर नहीं हो सकता है, क्योंकि वह शरीरी नहीं है। शरीरी नहीं होने से मुख भी उनका नहीं होगा। तब मुख से होनेवाला उपदेश के द्वारा व्यवहार वह कैसे चला सकता है। इसके उत्तर में आचार्य ने कहा है कि प्रयोजनवश अर्थात् वृद्धव्यवहार के निर्वाह हेतु ईश्वर शरीर का भी धारण करते हैं तथा अपनी विभूति भी दिखाते हैं। *आगम* प्रमाण भी इस युक्ति में उपलब्ध है। *गीता* का श्लोक यहाँ उल्लेखनीय है–

पिताऽहमस्य जगतः माता धाता पितामहः।
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।
उत्सीदेयुरिमे लोकाः न कुर्यां कर्म चेदहम्।।

ज्ञातव्य है कि **वर्धमान उपाध्याय** ने यहाँ अपनी व्याख्या में कहा है कि हम लोगों के भोगजनक अदृष्ट ही ईश्वर के शरीरपरिग्रह का कारण होता है। उनका अपना अदृष्ट (धर्म तथा अधर्म) मान्य नहीं है।

(6) ईश्वर का साधक छठवाँ हेतु है प्रत्यय, जो प्रामाण्य का वाचक है। *आगम* का सम्प्रदाय कारणगुणपूर्वक होता है। क्योंकि उसमें प्रामाण्य है, जैसे प्रत्यक्ष प्रमाण। सम्प्रदाय से गुरु–परम्परा विवक्षित है।

संप्रदीयते गुरुणा शिष्येभ्यः यः स सम्प्रदायः।

आगम्यते सुष्ठुरूपेण ज्ञायते अलौकिकोऽर्थोऽनेनेति आगमः।।

इस व्युत्पत्ति के द्वारा आगम से अलौकिक अर्थ का प्रतिपादक वाक्यसमूह विवक्षित है। *आगम* अर्थात् ज्ञानराशि ईश्वर का उपदेश स्वरूप वेद का प्रमाण्य प्रत्यक्ष की तरह मान्य है, कारणगुणजन्य होने से। वह कारणगुण ईश्वरीय गुण रूप में मान्य है और ईश्वर अदृष्ट विषय अलौकिक पदार्थों के प्रत्यक्ष करने में समर्थ होता है। समग्र ऐश्वर्यों से सम्पन्न रहता है, वही सृष्टि के आदि में प्रमाणभूत वेद का उपदेशक होता है। इस प्रकार प्रत्यय हेतु से ईश्वर का अनुमान सार्थक होता है।

ईश्वर का साधक सातवाँ हेतु है श्रुति। श्रुति से वेद विवक्षित है। यह वेद पुरुष द्वारा उपदिष्ट है वेदत्व रहने से, जैसे आयुर्वेद। रोगातुर व्यक्ति रोग से मुक्ति हेतु उचित औषधि प्राप्त करने के लिए वैद्य के निकट जाता है। आयुर्वेद

में उक्त औषधि वैद्य से लेकर उसके सेवन से रोगमुक्त होता है। इससे *आयुर्वेद* में प्रामाण्य का अवधारण होता है। इसी प्रकार वेद वचन के अनुसार इष्ट की प्राप्ति तथा अनिष्ट के परिहार द्वारा कल्याण प्राप्त कर वेद में प्रामाण्य का व्यक्ति अवधारण करता है। उस वेद का उपदेशक भ्रम तथा प्रमाद आदि से रहित पुरुष विशेष ईश्वर सिद्ध होता है। हम लोग भ्रम तथा प्रमाद आदि से रहित नहीं है। अतः उस वेद के उपदेशक नहीं हो सकते हैं। यहाँ अनुमान का स्वरूप दूसरे प्रकार का भी हो सकता है– वेद सर्वज्ञ की रचना है, वेदत्व रहने से, जो सर्वज्ञ की रचना नहीं है, वह वेद नहीं है जैसे लौकिक वाक्य। यह व्यतिरेकी अनुमान है। वेद के स्वरूप वर्णन में उक्त है कि जिस वाक्यराशि का दूसरा मूल उपलब्ध नहीं है तथा महाजन के द्वारा मान्य है, वही वेद है। फलतः ऐहिक अभ्युदय एवं परम पुरुषार्थ मोक्ष के साधक इन वेदवाक्य का उपदेशक सर्वज्ञ ईश्वर अनुमान से उपपन्न होता है।

ईश्वर का साधक आठवाँ हेतु है वाक्य। यहाँ वाक्य से वेदवाक्य विवक्षित है। आचार्य ने वाक्यत्व हेतु से ईश्वर की सिद्धि हेतु यहाँ अनुमान प्रस्तुत करते हुए कहा है कि वेदवाक्य पौरुषेय है, उनमें वाक्यत्व रहने से, जैसे हम लोगों का वाक्य है। वेदवाक्यों का उपदेशक ईश्वर ही हो सकते हैं, हम लोग नहीं। क्योंकि हम अल्पज्ञ हैं और वह सर्वज्ञ है तथा नित्य है। योगदर्शन में उसका स्वरूप निरूपण करते हुए महर्षि पतञ्जलि ने कहा है– **क्लेशकर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः** अर्थात् वह क्लेश, कर्म, विपाक तथा आशय से रहति पुरुष विशेष रूप होता है।

यहाँ यह शङ्का नहीं करनी चाहिये कि कुमारसंभव आदि काव्य के अध्ययन के समय जैसे इसके प्रणेता के रूप में **कालिदास** आदि का स्मरण होता है, वैसे वेद के अध्ययन के समय उसके कर्ता का स्मरण नहीं होता है तब उसको पौरुषेय मानना कहाँ तक संगत है। आचार्य ने शास्त्र का वचन यहाँ उद्धृत किया है, *यज्ञपरिभाषा* में **आपस्तम्ब** ने कहा है कि इसके वाद उनके (ईश्वर के) मुख से वेद निःसृत हुआ। प्रत्येक मन्वन्तर में श्रुतियाँ भिन्न-भिन्न प्रकार की देखी जाती है।

अनन्तरञ्च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिःसृताः।

प्रतिमन्वन्तरं चैषा श्रुतिरन्या विधीयते।।

गीता में उक्त है कि वेदान्त का कर्ता तथा वेद का ज्ञाता मैं ही हूँ– **'वेदान्तकृत् वेदविदेव चाहम्'**।

ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में वेदकर्ता ईश्वर का स्पष्ट वर्णन है–

तस्मात् यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः समानि यज्ञिरे।

छन्दांसि यज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत।।

उस यज्ञ से, जिसमें सब कुछ हवन हो चुका था, ऋक्, साम तथा यजुर्वेद उत्पन्न हुए। इस प्रकार वाक्यत्व हेतु से ईश्वर की सिद्धि होती है।

ईश्वर का साधक नवम हेतु है संख्याविशेष। द्व्यणुक का परिमाण संख्याविशेष से उत्पन्न होता है, परिणाम प्रचय से अजन्य होने पर भी उसमें परिमाणजन्यत्व रहने से। जैसे समान परिमाणशाली दो कपालों से आरब्ध घटके परिमाण से अधिक परिमाणशाली तीन कपालों से आरब्ध घट होता है। यहाँ ज्ञातव्य है कि परिमाण तीन प्रकार का होता है– संख्याजन्य, परिमाणजन्य तथा प्रचयजन्य। द्व्यणुक तथा त्र्यणुक आदि परिमाण संख्याजन्य होता है। कपालनिष्ठ परिमाण से जन्य घटनिष्ठ परिमाण होता है। नियम है कि परिमाण अपने समान जातीय उत्कृष्ट परिमाण का जनक होता है। यही कारण है कि दो कपालों से उत्पन्न घट के परिमाण की अपेक्षा तीन कपालों से उत्पन्न घट का परिमाण अधिक होता है। यहाँ परिमाणगत प्रकर्ष का कारण होती है त्रित्व संख्या। परमाणुनिष्ठ अणु परिमाण द्वितीय परिमाण का जनक नहीं होता है। यदि यह माना जाए तो महत् परिमाण से आरब्ध महत्तर परिमाण की तरह अणु परिमाण से आरब्ध अणुतर परिमाण की उत्पत्ति होने लगेगी।

द्व्यणुक दो परमाणुओं के संयोग से उत्पन्न होता है। उन दो परमाणुओं के परिमाण चूंकि द्वित्वसंख्या से उत्पन्न होती है, अतः इस द्वित्वसंख्या के कारण द्व्यणुक महत् परिमाणात्मक होती है। द्वित्वसंख्या की उत्पत्ति यह एक है और यह एक है– यह दोनों मिलकर दो हुआ – इस प्रकार की अपेक्षा बुद्धि से होती है और अपेक्षा बुद्धि चेतन पुरुषनिष्ठ गुण है। सृष्टि के आदि में द्व्यणुक परिमाण के लिए जो परमाणु युगल पर रहने वाली द्वित्व संख्या है, वह जिस पुरुष विशेष की अपेक्षा बुद्धि से उत्पन्न होती है– वही है ईश्वर। हम लोगों का अस्तित्व ही उस समय में नहीं रहता है।

इस प्रकार आठ या नौ हेतुओं से अनुमान द्वारा आचार्य ने ईश्वर की सिद्धि की है, जो सृष्टि का कर्ता, वेद का उपदेशक तथा अदृष्ट का अधिष्ठाता होते हैं।

आचार्य उदयन ने कार्यायोजन आदि कारिका की युक्तियों से पहले सांख्यमत का निराकरण किया है, पुनश्च इन्हीं युक्तियों से वेदप्रामाण्य के आधार पर ईश्वर में मीमांसक का भी विश्वास उत्पन्न कराया है। मीमांसक की दृष्टि में नित्य शब्दात्मक वेद स्वत: प्रमाण है तथा मन्त्र स्वरूप से भिन्न देवता (ईश्वर) मान्य नहीं है।

इस पक्ष में कारिकागत कार्य पद तात्पर्य का वाचक है। और तात्पर्य है वक्ता की इच्छा। वेद में हम लोगों का तात्पर्य संभव नहीं रहने से ईश्वर का तात्पर्य लिया जाता है। फलत: कार्य अर्थात् तात्पर्य हेतु से ईश्वर सिद्ध होता है।

अभिप्राय यह है कि अभिधा शक्ति से लब्ध अर्थ है पदार्थ। आकाङ्क्षा, योग्यता तथा आसत्ति के सहकार से अनेक अन्वित पदार्थों से प्राप्त अर्थ होता है वाक्यार्थ। यही उद्देश्य है जिसका वह है तत्पर-पदार्थ और उसका भाव होता है तात्पर्य। उस तात्पर्य का विषय होता है तात्पर्यार्थ **यत्परः शब्दः स शब्दार्थः** मीमांसा में उक्त है। जहाँ वक्ता की विवक्षा से शब्दार्थ (पदार्थ) का परिचय या ज्ञान होता है। **प्राभाकर मीमांसक** अन्विताभिधानवादी होते हैं। इनकी दृष्टि में वृद्ध व्यवहार के द्वारा कार्य में अन्वित पदार्थ का अभिधा से बोध होता है। जो अभिधा (शक्ति) विधि वाक्य में साक्षात्संबन्ध से और अर्थवादवाक्य में परम्परा संबन्ध से अर्थात् विधिवाक्य के द्वारा रहती है। वक्ताके तात्पर्य के विषय का बोध एकत्र साक्षात् और अपरत्र परम्परा संबन्ध से होता है। **य एव लौकिकास्त एव वैदिकाः** इस अभियुक्त की उक्ति से लौकिकवाक्य की तरह वैदिक वाक्य का भी अर्थ कार्यपरक ही मान्य है। उदाहरण से इसको विशद करते हुए आचार्य ने कहा है कि रोगी से जब आप्त व्यक्ति कहता है कि पथ्य करो अपथ्य नहीं करो, तो यहाँ पथ्य के प्रति- प्रवर्तकता एवं अपथ्य के प्रति निवर्तकता रूप वक्ता का तात्पर्य साक्षात् कार्य की तरह ज्ञात होता है। उपादान तथा त्याग के तात्पर्य से यथाक्रम उक्त आम परिणाम से सुरस होता है और कटहल परिणाम में विरस होता है- यहाँ आम की प्रशंसा और कटहल की निन्दा से यथाक्रम आम खाने में प्रवृत्त तथा कटहल खाने में निवृत्त किया जाता

है। इसी तरह वेद में '**स्वर्गकामो यजेत**' यह विधिवाक्य स्वर्ग के साधन याग में पुरुष को साक्षात् प्रवृत्त करता है और **न कलञ्जं भक्षयेत्** यह निषेधवाक्य कलंज भक्षण से पुरुष को साक्षात् निवृत्त करता है। **वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता** वायु शीघ्र कार्य करनेवाला देवता है, इस वाक्य में वायु की प्रशंसा रहने से यह अर्थवाद वाक्य है। यह **वायव्यं श्वेतं छागमालभेत** वायु देवता संबन्धी सफेद छाग का वध करना चाहिये, इस विधिवाक्य के साथ अन्वित होकर परम्परा संबन्ध से अधिकारी यजमान का प्रवर्तक होता है। आचार्य उदयन ने कहा है कि जिस उद्देश्य से जो शब्द प्रवृत्त होता है, वह शब्द उस अर्थ को कहता है– लोक में ऐसी व्युत्पत्ति प्रसिद्ध है। प्रशंसावाक्य ग्रहण के उद्देश्य से प्रवृत्त होता है, अतः वह उपादानपरक होता है। निन्दावाक्य त्याग के उद्देश्य से प्रवृत्त होता है, अतः वह त्यागपरक होता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी ऊह करना चाहिये।

(2) आयोजन पद का अर्थ यहाँ होता है व्याख्यान। वेद में अतीन्द्रिय विषयक वाक्य मिलते हैं। उनका अभिप्राय व्याख्यान के बिना ज्ञात नहीं होता है। बिना व्याख्यान से उन वैदिकवाक्य का अर्थ समझना संभव नहीं है। इस वैदिकवाक्य समूह के अनिर्भ्रान्त (यथार्थ) अर्थ के बोध के लिए वैदिक विषयों के प्रत्यक्षकर्ता अतीन्द्रिय अर्थों का द्रष्टा सर्वज्ञ किसी पुरुष विशेष को सृष्टि के आदि में मानना ही होगा, वही वेद व्याख्याता ईश्वर है।

कारिकागत धृति पद यहाँ अभिधा से धारण अर्थ का बोधक होता है। किसका धारण– इस जिज्ञासा के उत्तर में कहना है कि वेद का धारण। उक्त पद गत आदि पदसे वैदिक अनुष्ठान विवक्षित है। इस प्रकार 'धृत्यादि पद से वेद का धारण कर्ता तथा वैदिक अनुष्ठान का सम्पादक – इन दो हेतुओं से अनुमान के आधार पर ईश्वर सिद्ध होता है। ईश्वर ही सम्पूर्ण वेद एवं वेदार्थ का ज्ञाता है, वह वेद के अध्यापन एवं वैदिक विधिकी अनुष्ठान के द्वारा शिक्षा देकर सृष्टि के आदि में वेद एवं वैदिक कर्म का प्रचार करता है।

कारिकागत 'पद' से ईश्वरवाचक पदसमूह विवक्षित है। वेद में प्रणव, ईश्वर तथा ईशान आदि पद अनेक स्थलों में देखा जाता है। उन सार्थक पदों से ईश्वर का अनुमान होता है। यहाँ अनुमान का स्वरूप होता है कि ईश्वर इशान तथा प्रणव आदि पद सार्थक हैं श्रुति, स्मृति तथा इतिहास आदि में अनिन्द्य रूप में प्रयुक्त होने से, जैसे– लोक में घट पट आदि पद सार्थक होते हैं। *भगवद्गीता*

में उक्त है कि उत्तम पुरुष जीव से भिन्न ईश्वर पद से अभिहित होता है, वही अव्यय एवं परमात्मा है। वह तीनों लोकों में रहकर उन लोकों का भरण पोषण करता है।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।

यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः।।

कारिकागत प्रत्यय पद से यहाँ आप्त व्यक्ति का अभिप्रायरूप विधि अर्थ परिगृहीत होता है। याग आदि में कर्ता की इष्टसाधनता के ज्ञान से अनुमान प्रमाण के आधार पर वह आप्ताभिप्राय अर्थात् विधि उपपन्न होता है। यह विधिरूप अर्थ लिङ् लकार का है। वह लिङर्थ पुरुष विशेष रूप ईश्वर का नियोग या उपदेश स्वरूप होता है। इस प्रकार प्रत्यय हेतु से ईश्वर अनुमित होता है।

उक्त अभिप्राय को समझाने के लिए आचार्य ने यहाँ एक कारिका प्रस्तुत की है–

विधिर्वक्तुरभिप्रायः प्रवृत्त्यादौ लिङादिभिः।

अभिधेयोऽनुमेया तु वक्तुरिष्टाभ्युपायता।

प्रवृत्ति तथा निवृत्ति रूप कर्म में आप्तव्यक्ति का अभिप्राय लिङ् आदि प्रत्यय से ज्ञात होता है। अतएव आप्त के अभिप्राय से प्रवृत्ति के विषय याग आदि में तथा निवृत्ति के विषय कलञ्ज भक्षण आदि में कर्ता की इष्ट साधनता का अनुमान होता है।

इस पक्ष में श्रुति हेतु से ईश्वर की सिद्धि में आचार्य कहते हैं कि सम्पूर्ण वेद ही परमेश्वर का विषय है। स्वार्थ में ही इसका तात्पर्य निहित है। और स्वार्थ के द्वारा सम्पूर्ण वेद में ईश्वर ही ज्ञात होता है। स्वर्ग आदि का बोधक वाक्य जैसे याग आदि में प्रवर्तक होता है।

कृत्स्न एव हि वेदोऽयं परमेश्वरगोचरः।

स्वार्थद्वारैव तात्पर्यं तस्य स्वर्गादिवद् विधौ।।

वेद की प्रत्येक शाखा में परमेश्वर का नाम कीर्तन उपलब्ध है। पुरुष सूक्त में '**सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्**', '**तस्मादश्वा अजायन्त**

ये के चोभयादत:' उक्त है। एक हजार शीर्ष, एक हजार आँख, एक हजार पैर उस पुरुष का है। उसने घोड़ा तथा उन पशुओं को उत्पन्न किया, जिनके ऊपर नीचे दोनों ओर दाँत है। यहाँ सृष्टिकर्ता का वर्णन उपलब्ध है। शतरुद्रिय में मन्त्र है '**नमो विरूपेभ्य:**' विलक्षण विभूतिसंपन्न परमेश्वर को नमस्कार है। चत्वारिश्‍ृङ्गा: त्रयो अस्य पादा: सप्त हस्तोऽस्य आदि मन्त्र शब्दात्मक परमेश्वर के वैशिष्ट्य का वर्णन करता है। **यज्ञो वै विष्णु:। यज्ञेन यज्ञमजयन्त देवा:। इदं विष्णु र्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।** आदि मन्त्रों में भी परमेश्वर का उपपादन स्पष्ट रूप से किया गया है।

इस पक्ष में ईश्वर विषयक अनुमान में वाक्य भिन्न रीति से हेतु होता है। प्रशंसा तथा निन्दा के लिए प्रयुक्त वेदवाक्य प्रशंसा तथा निन्दा के ज्ञान से होता है यथाक्रम प्रशंसात्मक तथा निन्दात्मक वाक्य रहने से। आम परिणाम में सुरस होता है, इस वाक्य की तरह। लोक में अच्छा पका हुआ सुस्वादु एवं सरस आम के प्रसंग में उपादेय बुद्धि रहने के कारण किसी लौकिक व्यक्ति द्वारा परिणतिसुरसमाम्रम् वाक्य का प्रयोग उक्त वाक्य के अभिप्राय को समझकर किया जाता है। इस प्रकार वैदिक अर्थवादवाक्य का प्रयोग हम सबसे संभव नहीं है। अत: पुरुषविशेष स्वरूप ईश्वर उस प्रकारके वाक्य का प्रयोक्ता हो सकता है– यह बात मीमांसक को भी मान्य होगा ही।

यहाँ संख्या विशेष से एकत्व आदि संख्या ली जाती है। यहाँ संख्या रूप प्रमाण को उपपाद्य रूप में मानकर ईश्वर का सद्‌भाव उससे उपपन्न किया जाता है।

स्यामभूवं भविष्यामीत्यादि संख्या च वक्तृगा।
समाख्यापि न शाखानामाद्यप्रवचनादृते।।

मैं हूँ, था तथा रहूँगा आदि क्रिया की अर्थगत संख्या वक्ता के अनुसार होती है। वेद की शाखाओं के नाम जो देखे जाते हैं, वह आद्यप्रवचनकर्ता के बिना संभव नहीं है। यहाँ संख्या शब्द उच्चारयिता पुरुष के साथ अन्वित होकर एकत्व आदि संख्या रूप अर्थ को कहता है। **तदैक्षत एकोऽहं बहुस्याम् प्रजायेय** इस वैदिक वाक्य में उत्तम पुरुष में उक्त एकत्व संख्या वक्ता के साथ अन्वित होती है। यहाँ वेद के कर्ता पुरुष

विशेष से उक्त एकत्व संख्या अपने आश्रय उस वेदवक्ता परमेश्वर को अनुमिति का विषय बनाती है।

'सम्यक् ख्यायते अनेनेति संख्या' इस व्युत्पत्ति के अनुसार संख्या पद संज्ञा (नाम) का बोधक होता है। वेद की शाखाओं की काठक, कालापक तथा कौथुम आदि अनेक विशेष संज्ञाएँ प्रसिद्ध हैं। वह उनके अध्येता होने के कारण उनके नाम पर नहीं हो सकती है। क्योंकि अध्येताओं की संख्या अनन्त हैं। पूर्व समय में भी किसी अन्य से इन शाखाओं का अधययन संभव है। अतएव अतीन्द्रिय अर्थों का साक्षात्कार करनेवाला परम कारुणिक परमेश्वर ने ही सृष्टि के आरम्भ में हमलोगों के अदृष्ट का साहाय्य पाकर काठक आदि शरीर विशेष का परिग्रह करके जिस शाखा का उपदेश किया है, वह शाखा उस नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस तरह भी संख्या विशेष हेतु से ईश्वर का अनुमान होता है।

इस प्रकार आचार्य ने यहाँ प्रमाणों के सम्प्लव से अर्थात् शब्द प्रमाण स्वरूप श्रुति एवं आगमवचनों से तथा अनुमान प्रमाण से ईश्वर का सद्भाव सिद्ध किया है। ग्रन्थ के उपसंहार में आचार्य ने कहा है–

'स एवं भगवान् श्रुतोऽनुमितश्च कैश्चित् साक्षादपि दृश्यते'। यहाँ 'कैश्चित् पद योगियों के लिए प्रयुक्त हुआ है। योगजन्य धर्म के प्रभाव से योगियों को ईश्वर का प्रत्यक्ष भी होता है।

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये।।

इस कारिका के अनुसार आचार्य उदयन ने उपक्रममें **इह यद्यपि यं कमपि पुरुषार्थमर्थयमानाः शुद्ध बुद्ध स्वभाव इत्यौपनिषदाः। आदि विद्वान् सिद्ध इति कपिलाः** से लेकर **आसंसारं प्रसिद्धानुभावे भगवति भवे सन्देह एव कुतः किं निरूपणीयम्** पर्यन्त सन्दर्भ में कहा है।

पुनश्च उपसंहार में–

कृत्स्न एव हि वेदोऽयं परमेश्वरगोचरः।
स्वार्थद्वारैव तात्पर्यं तस्य स्वर्गादिवद् विधौ।।

न सन्त्येव वेदभागा यत्र परमेश्वरो न गीयते। तथाहि स्त्रष्टृत्वेन

पुरुषसूक्तेषु, विभूत्या रुद्रेषु, शब्द ब्रह्मत्वेन मण्डलब्राह्मणेषु, प्रपञ्चं पुरस्कृत्य निष्प्रपञ्चतयोपनिषत्सु, यज्ञपुरूषत्वेन मन्त्राविधिषु, देहाविर्भावैरुपाख्यानेषु उपास्यत्वेन च सर्वत्र'

इत्यादि कहा है। मध्य में अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति तो प्रदर्शित हुई ही है। अतः प्रतिज्ञात ईश्वर की उपासना रूप मनन सर्वथा उपपन्न होता है।

अन्त में एक पद्य लिखकर आचार्य ने शिव स्वरूप ईश्वर की सभक्ति स्तुति की है। हे प्रभो आप स्वभाव से सुन्दर हैं। हम लोगों के मन को चिरकाल तक अपने में निमग्न रक्खें। हे आनन्द निधि! मेरा यह मन नितान्त चञ्चल है बारम्बार आप में लगे रहने पर भी अतृप्त ही रहता है। प्रभो! आप हम सब पर ऐसी करुणा करो कि केवल आप ही पर मन लगा रहे, जिससे यमराज की सैकड़ों यातनाओं से छुटकारा मिल जाये।

अस्माकं तु निसर्गसुन्दर चिराच्चेतो निमग्नं त्वयी–
त्यद्धानन्दनिधे तथापि तरलं नाद्यापि सन्तृप्यते
तन्नाथ त्वरितं विधेहि करुणां येन त्वदेकाग्रतां
याते चेतसि नाप्नुवाम शतशः याम्याः पुनर्यातनाः।।

४. न्यायकुसुमाञ्जलि पर प्राचीन आचार्यों का प्रभाव

आचार्य उदयन ने *न्याय कुसुमाञ्जलि* में न्यायशास्त्र के अनुमत ईश्वरवाद की सिद्धि में आठ युक्तियाँ प्रदर्शित की है। इनमें प्राचीन न्यायाचार्य **उद्योतकर** तथा **वाचस्पति मिश्र** आदि का प्रभाव सुस्पष्ट परिलक्षित होता है। अतः यह कहना असङ्गत नहीं होगा कि आचार्य **उदयन** न्यायशास्त्र के अनुकूल ईश्वरसिद्धि विषयक युक्तियों का संग्राहक हैं उनका मौलिक चिन्तन अर्थात् संबद्ध विषय के साधक युक्तियों का अपनी ओर से उद्भावन यहाँ दृष्टिगोचर नहीं होता है।

समान विषय एवं समान पंक्तियों की उपलब्धि से ज्ञात होता है कि इस **आचार्य** पर **प्राचीन आचार्यों** का प्रभाव दो तरह से पड़ा है – प्रत्यक्ष एवं परोक्ष। यथा *न्यायकुसुमाञ्जलि* में कारिका है – **'सापेक्षत्वादनादित्वात्'** आदि (१।४।) *न्यायवार्त्तिक* की पंक्ति है – **'अनादिः संसार इति प्रतिपादितम्'** (न्या०वा० ७७, २२१, ७४१, कलकत्ता संस्कृत ग्रन्थमाला)

२. **'एकस्य न क्रमः क्वापि वैचित्र्यं च समस्य न'** यह कारिका **कार्यभेदं पश्याम'** इस *न्यायवार्त्तिक* की पंक्ति से तुलनीय है। (न्या०वा० ९५० पृ०)।

यहाँ *तात्पर्यटीका* का समर्थन भी उपलब्ध है – **'यद्येकं निमित्तं स्यात् वैचित्र्यं न भवेत्। न हि अभिन्नात् कारणात् कार्यवैचित्र्यमुपपद्यते तस्याकस्मिकत्वप्रसङ्गात्'**। (तात्पर्य टीका ५५ पृ० कलकत्ता संस्कृत ग्रन्थमाला सं० १८)

३. **'चिरध्वस्तं फलायालं न कर्मातिशयं विना'** – इस कारिका (१।९) का साम्य *तात्पर्यटीका* की अधो निर्दिष्ट पंक्ति में देखा जाता है – **'यागादि क्रिया तु आशुतरविनाशिनी न चिरभाविनी स्वर्गाय कल्पते'**। (तात्पर्यटीका पृ० ५५, कलकत्ता)

४. **'परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिः'** (३।८) कारिका तथा – **'नहि भावाभावाभ्यामन्यः प्रकारः संभावनीयः, परस्परविधिनिषेधरूपत्वात्। न भाव इति निषेधमात्रेणैवाभावविधिः। एवं नाभाव इति निषेध एव भावविधिः'** इस गद्य भाग (३।८) पर *तात्पर्य टीका* का प्रभाव देखा जाता है – **'एषा तावत् प्रमेयगतिः, भावाभावौ हि परस्परविरहात्मानौ। भावनिवृत्तेरेवाभावः। अभावनिवृत्तेरेव भावः, न तु भावाभावाभ्यामन्या तयोर्निवृत्तिः'** (तात्पर्य टीका ४७६, कलकत्ता)

५. **सम्बन्धस्य परिच्छेदः संज्ञायाः संज्ञिना सह।**

प्रत्यक्षादेरसाध्यत्वादुपमानफलं विदुः (३।१०)

इसका मूल *न्यायवार्त्तिक* में उपलब्ध है – **'याऽसौ संज्ञासंज्ञिसंबन्ध-प्रतिपत्तिः, सा उपमानार्था। गवा गवयसारूप्यप्रतिपत्तेस्तु संज्ञासंज्ञिसंबन्धं प्रतिपद्यत इति सूत्रार्थः'**। (पृ० १७३, ५३१ कलकत्ता।)

६. **'नान्यदृष्टं स्मरत्यन्यः'** इस कारिका का (१।१४।) मूल *न्यायभाष्य* की इस पंक्ति में अवलोकनीय है –**'अन्यदृष्टमन्यो न स्मरति'** एवं **'नान्यदृष्टमन्यो स्मरति'** (पृ० १८८, ७२७, ८५१ तथा ८७६)

७. **'यद्वैतानि पदानि स्मारितार्थसंसर्गज्ञानपूर्वकाणि आकाङ्क्षादिमत्त्वे सति तत्स्मारकत्वात् गामभ्याजेति वाक्यवत्'** *कुसुमाञ्जलि* के इस गद्यभाग

का मूल *तात्पर्यटीका* में देखा जाता है – **यत्र दुःखेनेत्यादिभिः पदैः स्मारिताः पदार्थाः गुणपदार्थभावेनावस्थिताः संसर्गवन्तः आकाङ्क्षायोग्यतासत्तिमत्वे सति पदैः स्मारितत्वात्। गामभ्याजेति पदस्मारितपदार्थवत्**' (ता०टी० पृ० ७३५)

पंक्तिसाम्य की तरह विषयसाम्य भी यहाँ आकलनीय है। प्राचीन आचार्य **उद्योतकर** के द्वारा उद्भावित संसार का कर्त्ता के रूप में मान्य इश्वर की साधक-युक्ति-का यहाँ चार हेतुओं से-कार्य, आयोजन, धृति तथा संख्याविशेष से आचार्य **उदयन** ने पल्लवित किया है। ईश्वर के वेदवक्तृत्व की साधक-युक्तियों का पल्लवन पद, श्रुति तथा वाक्य हेतुओं से आचार्य उदयन ने यहाँ किया है। *कुसुमाञ्जलि* के पञ्चम स्तबक की पहिली कारिका में ईश्वर साधक आठ युक्तियों में पूर्वाचार्यों की मान्यता का पल्लवन देखा जाता है।

'कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः।

वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः।।'

यहाँ सबसे पहले कार्यकारणभाव सिद्धान्त के आधार पर पृथिवी तथा पर्वत आदि अदृष्ट कर्तृक पदार्थों में कार्यत्व सिद्ध करके उस कार्य का सकर्तृकत्त्व सिद्ध किया जाता है। और वह कर्त्ता इतरबाधसहकारस्वरूप अनुमान से ईश्वर सिद्ध होता है।

आयोजन से द्व्यणुक के उत्पादक दो परमाणुओं के संयोगजनक कर्म अभिप्रेत है, जो अन्त्यावयवि घट आदि का परम्परा से जनक होता है।

धृति हेतु से भी ईश्वर की सिद्धि होती है। **उदयनाचार्य** यहाँ कहते हैं कि क्षिति आदि ब्रह्माण्ड पर्यन्त कार्य साक्षात् या परम्परा संबन्ध से पतन के प्रतिबन्धक प्रयत्नशील पुरुष से अधिष्ठित रहता है। अतएव गुरुत्व रहने पर भी धृतिमत्व के कारण उनका पतन नहीं होता है। आकाश में विहङ्गम से अधिष्ठित काष्ठ जैसे रहता है।

न्यायवार्तिक में उक्त है – '**प्रधानपरमाणुकर्माणि प्राक्प्रवृत्तेः बुद्धिमत्कारणाधिष्ठितानि प्रवर्तन्ते अचेतनत्वात् वास्यादिवत्**' (पृ० ९४५) *न्यायवार्तिक* के समसामयिक नैयायिक **अविद्धकर्ण** का मत *तत्त्वसंग्रह* की व्याख्या में **कमलशील** ने पूर्वपक्षरूप में ईश्वरसाधक युक्ति प्रदर्शित करते

हुए कहा है

यत्स्वारम्भकावयवसन्निवेशविशेषवत्।

बुद्धिमद्धेतुगम्यं तत्तद्यथा कलशादिकम्।।

आचार्य **उदयन** द्वारा प्रदर्शित ईश्वर के साधक आयोजन हेतु का मूल भी **अविद्धकर्ण** की युक्ति के साथ साम्य रखता है। यथा –

तन्त्वादीनामुपादानं चेतनावदधिष्ठितम्।

रूपादिमत्त्वात् तन्त्वादि यथादृष्टं स्वकार्यकृत्।।

शान्तरक्षित के वचन से ज्ञात होता है कि **अविद्धकर्ण** ने *न्यायभाष्य* की *तत्त्वटीका* नाम से व्याख्या की थी, जो लुप्त हो गयी।

पद्यते ज्ञायते अनेनेति पदम् इस व्युत्पत्ति के अनुसार लौकिक व्यवहार की परम्परास्वरूप यह पदात्मक हेतु ईश्वर का साधक होता है। जैसे घटकी निर्माणकला में निपुण कुम्भकार स्वतन्त्र रूप से तथा दूसरों का निर्देश पाकर घट के निर्माण में प्रवृत्त होता है, उसी प्रकार प्रलय के पश्चात् ईश्वर सृष्टि के आदि में सृष्टि का प्रवर्तक होता है, उस समय में व्यवहार का प्रवर्तक दूसरा चेतन पुरुष रहता ही नहीं है। फलतः व्यवहार का आदि उपदेशक ईश्वर इस पदात्मक हेतु से सिद्ध होता है। **प्रशस्तमति** ने आचार्य **उदयन** से पहले इस मत का उपपादन, प्रतिपादन किया था– जो *तत्त्वसंग्रह* में उनके मतरूप में उपलब्ध है –

सर्गादौ व्यवहारश्च पुंसामन्योपदेशजः।

नियतत्त्वात् प्रबुद्धानां कुमारव्यवहारवत्।।

(त०सं० कारिका ५१।)

इस कारिका की व्याख्या में **कमलशील** ने कहा – '**प्रशस्तमतिस्त्वाह- सर्गादौ पुरुषाणां व्यवहारः अन्योपदेशजः उत्तरकालं प्रबुद्धानां प्रत्यर्थनियतत्वात्। अप्रसिद्धवाग्व्यवहाराणां कुमाराणां गवादिषु प्रत्यर्थनियतो वाग्व्यवहारो यथा मात्राद्युपदेशपूर्वक इति**'।

प्रत्यय पद से वेदज्ञान में प्रामाण्य अभिप्रेत है, जो ईश्वर का साधक होता है। न्यायदर्शन में वेद को पौरुषेय माना गया है, अतः उसका प्रामाण्य

वेदवाक्य के वक्ता के प्रामाण्य पर निर्भर करता है। वह वक्ता इस दर्शन में विश्व का निर्माता ईश्वर उपपन्न होता है। फलतः ईश्वर के प्रामाण्य के अधीन वेदवाक्यों का प्रामाण्य इस प्रत्यय हेतु से सिद्ध होता है।

श्रुति से वेद अभिप्रेत है। वेद सर्वज्ञ द्वारा प्रणीत है, वेद होने से, जैसे व्यवहार में हमलोगों का वाक्य प्रमाण होकर व्यवहार का साधक होता है। वेद का वेदत्व यही है कि इसका मूल कहीं अन्यत्र उपलब्ध नहीं है और महाजन (शिष्ट) द्वारा इसकी मान्यता चिरकाल से दी गई है।

वाक्य ईश्वर का साधक होता है। वेद का वाक्य पौरुषेय होता है, हम लोगों के वाक्य की तरह। जैसे *रघुवंश* आदि महाकाव्य के कर्ता रूप में महाकवि **कालिदास** का स्मरण होता है, इसी तरह वेद के कर्ता रूप में ईश्वर का स्मरण होता है। सृष्टि के आदि में वेद का प्रणयन कर ईश्वर ने हम लोगों को उससे परिचय कराकर परम उपकार किया है। इस प्रसंग में *आपस्तम्ब* सूत्र के यज्ञपरिभाषा की कारिका उल्लेख योग्य है, जो इस बात की पुष्टि करती है –

अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिःसृताः

प्रतिमन्वन्तरं चैषा श्रुतिरन्या विधीयते।।

इन तीनों ही हेतुओं का मूल **मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्।** (२।२।६१।) इस सूत्र की *तात्पर्यटीका* में उपलब्ध है। यहाँ **वाचस्पति मिश्र** ने कहा है – वर्ण तथा आश्रम के आचार का व्यवस्थापक *आगम* ईश्वर के द्वारा प्रणीत है, महाजनों के द्वारा मान्य होने से। ईश्वर ही सब का आप्त है वह किसी का अकल्याण नहीं शोचता है न करता है। जैसे ईश्वर के द्वारा प्रणीत होने से मन्त्र तथा आयुर्वेद का प्रामाण्य निर्धारित होता है।

मन्त्र तथा आयुर्वेद के वचन सर्वज्ञ ईश्वर द्वारा उक्त है, महाजनों के द्वारा मान्य होने से तथा अलौकिक अर्थों के प्रतिपादक होने से। जो सर्वज्ञकर्तृक नहीं है, वह प्रमाण नहीं हो सकता है, जैसे वात्सीपुत्र के वाक्य।

सर्वज्ञ की रचना होने से आप्त द्वारा वेद उक्त होता है, अतएव वह प्रमाण होता है। जैसे भोजन से तृप्ति की प्राप्ति हेतु भोजन बनाने का विधान है इसी तरह इष्टसिद्धि एवं आरोग्य रूप फल की प्राप्ति से मन्त्र एवं आयुर्वेद का

प्रामाण्य सिद्ध होता है। **वाचस्पति मिश्र** ने आगे यहाँ कहा है कि महाप्रलय के पश्चात् ईश्वर ने सृष्टि के आदि में वेद की रचना करके उसका प्रचार-प्रसार किया। **वाचस्पति मिश्र** ने वेदवक्ता के रूप में ईश्वर का उपपादन जैसे *तात्पर्यटीका* में किया है इसी प्रकार *योगभाष्य* की उनकी व्याख्या *तत्त्ववैशारदी* में भी देखा जाता है।

ईश्वर की सिद्धि में यहाँ हेतुरूप में संख्या विशेष कहा गया है। प्रलय के पश्चात् सृष्टि के आरम्भ में द्व्यणुक परिमाण के निर्माण हेतु परमाणुगत द्वित्व संख्या के कारण अपेक्षाबुद्धि की अपेक्षा होती है। उसका आश्रय परमेश्वर ही होता है। उस समय में अन्य किसी चेतन का विद्यमान रहना ही संभव नहीं है। इस हेतु का मूल, कार्यरूप ईश्वर साधक हेतु के मूल निर्देश में ही गतार्थ होता है। अतः उसका अलग से उपपादन की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती है।

न्यायकुसुमाञ्जलि के अदृष्ट की सिद्धि करके उसके अधिष्ठाता के रूप में ईश्वर की सिद्धि की गयी है –इसका मूल *न्यायवार्त्तिक* में उपलब्ध है। यथा **'धर्माधर्मौ बुद्धित्कारणाधिष्ठितौ पुरुषस्योपभोगं कारयतः कारणत्वात् वास्यादिवत्' इत्यादि** (न्या०वा० पृ० ९४७ कलकत्ता संस्करण)

कुसुमाञ्जलि में प्राचीन आचार्यों का परोक्ष प्रभाव भी परिलक्षित होता है। अन्वय तथा व्यतिरेक के आधार पर कार्यकारणभाव की सिद्धि इनसे पहले न्यायाचार्य **वित्तोक** ने की थी। *ज्ञानश्रीमित्रनिबन्धावली* में पूर्वपक्षरूप में उद्धृत **वित्तोक** के मत से इसकी पुष्टि होती है।

दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्तिक में भेद दिखाकर साधन की अयुक्तता का प्रतिपादन संगत नहीं है। अन्यथा अनुमात्र का उच्छेद हो जायेगा – *कुसुमाञ्जलि* के पञ्चम स्तबक में कहा गया यह सन्दर्भ– *न्यायभूषण* में इससे पहले आचार्य **भासर्वज्ञ** द्वारा उक्त है, अतः उसका प्रभाव यहाँ दृष्टिगोचर होता है।

इससे एक ओर यदि **उदयनाचार्य** की मौलिक युक्ति का अभाव यहाँ देखा जाता है तो दूसरी ओर उनमें सम्प्रदाय की संरक्षणतत्परता भी उपपन्न होती है। **वाचस्पति** की उक्ति – **'संविदेव हि भगवती वस्तूपगमे नः शरणम्'** के अनुसार अनुभव में व्यतिक्रम ही दोष होगा। पूर्वाचार्यों के साथ उदयनाचार्य का समान अनुभूति वस्तु के उपगम का साधन की सबलता ही सिद्ध करती है।

पूर्वप्रतिष्ठापितयोजनासु मूलप्रतिष्ठाफलमामनन्ति

अभिनवगुप्त की *अभिनवभारती* मे उक्त इस पद्य के अनुसार आचार्य **उदयन** की मौलिकता ही सिद्ध होती है।

अपि च **धर्मकीर्ति** के द्वारा ईश्वर बाधक प्रमाण के कहने पर उसके अनुगामी **ज्ञानश्रीमित्र** तथा **रत्नकीर्ति** आदि के द्वारा उनकी व्याख्या में प्राचीन नैयायिकों के मतों का निराकरण करने पर पुनः आचार्य **उदयन** द्वारा उन नैयायिकों के मतों का साधन एवं **बौद्ध** द्वारा उठाये गये पूर्वपक्षों का युक्ति एवं प्रमाणों के आधार पर निराकरण इस ग्रन्थ का निरतिशय महत्त्व प्रमाणित करता है और इसका श्रेय केवल आचार्य **उदयन** को प्राप्त है। **ज्ञानश्रीमित्र** ने अपने निबन्ध में कहा है –

दुर्नीताश्रमवेदिकादृढतरस्तम्भानमून् शङ्कर

न्यायालङ्करणत्रिलोचन वाचस्पत्याह्वयान् हेलया

उन्मूल्य क्षणभंग एष विहितः .... आदि पद्य

यहाँ **वाचस्पति मिश्र**, इनके गुरु आचार्य **त्रिलोचन** *न्यायभूषणकार* **भासर्वज्ञ** तथा तत्काल प्रख्यात रहने पर भी आज अपरिचित नैयायिक **शङ्कर** न्यायविद्यावेदिका के स्तम्भ रूप में उल्लिखित हुए हैं। इन आचार्यों के साथ **वित्तोक**, **शतानन्द** तथा **नरसिंह** नामक न्यायाचार्यों के मत भी यहाँ पूर्वपक्ष रूपमें प्रस्तुत हुए हैं।

न्यायकुसुमाञ्जलि में **ज्ञानश्रीमित्र** की ईश्वरबाधक युक्तियों का खण्डन करने में आचार्य **उदयन** का कौशल अवश्य प्रशंसनीय है। इसी प्रकार मीमांसक **प्राभाकर के मत** का खण्डन भी यहाँ सप्रमाण प्रस्तुत हुआ है।

५. न्यायकुसुमाञ्जलि के पश्चात् ईश्वरवाद की स्थिति

आचार्य **उदयन** के पश्चात् न्यायदर्शन में ईश्वरवाद चार प्रकार से पल्लवित हुआ है। मूल *कुसुमाञ्जलि* का स्वरूप गद्यपद्यात्मक है। पद्य में संक्षिप्त रूप से उक्त युक्तियों का गद्य में विशद एवं विस्तृत विचार किया गया है।

१. ख्रीष्ट द्वादश शतक से बीसवीं शताब्दी तक निरन्तर इसकी व्याख्या

का प्रणयन होता रहा है। इससे इसकी लोकप्रियता तथा अध्ययन–अध्यापन की निरन्तरता सिद्ध होती है।

२. जनश्रुति के अनुसार प्राचीन समय में मैथिल आचार्य मैथिलेतर छात्रों को मूल *कुसुमाञ्जलि* ग्रन्थ पढ़ाते तो थे किन्तु इस ग्रन्थ की प्रतिलिपि करना उनके लिए वर्जित था। फलतः बहुत दिनों तक इसका प्रचार–प्रसार मिथिला में ही मर्यादित रहा। पक्षधर प्रसिद्ध जयदेव मिश्रक परवर्ती बंगाभिजन **हरिदास भट्टाचार्य** ने *कुसुमाञ्जलि* की कारिकाओं को कण्ठस्थ करके इसको मिथिला से नवद्वीप ले गये और इस पर अपनी व्याख्या लिखी, जो *हरिदासी कुसुमाञ्जलि* के नाम से प्रसिद्ध हुई। कालक्रम से इस *हरिदासी कुसुमाञ्जलि* की एक स्वतन्त्र धारा प्रवाहित हुई। इस *कुसुमाञ्जलि* कारिका की **हरिदास भट्टाचार्य** कृत व्याख्या की व्याख्या होने लगी। अवधेय है कि इससे मूल *कुसुमाञ्जलि* का अध्ययन–अध्यापन या उसकी व्याख्या का प्रणयन अवरुद्ध नहीं हुआ। दोनों ही *कुसुमाञ्जलि* की धारा समानरूप से प्रवाहित होती रही।

३. नव्य न्याय के प्रवर्तक **गङ्गेश उपाध्याय** ने *तत्त्वचिन्तामणि* ग्रन्थ में ईश्वरवाद विषयक युक्तियाँ नवीनरूप धारण कर आविर्भूत हुई। किन्तु *तत्त्वचिन्तामणि* के इस भाग का अध्ययन-अध्यापन तथा व्याख्यान अपेक्षाकृत सीमित रहा।

४. मैथिल नैयायिक **चित्रधर उपाध्याय** ने (१८श०) *प्रमाण प्रमोद* नामक सारसंग्रह ग्रन्थ में तथा काशी एवं नवद्वीप के प्रसिद्ध विद्वान् **जयनारायण तर्कपञ्चानन** ने *तर्करत्नावली* नामक सारसंग्रह ग्रन्थ में स्वतन्त्र रूप से ईश्वर साधक युक्तियों का संकलन किया है। प्रसिद्ध मैथिल नैयायिक **दुःखमोचन झा** ने (२० श०) *प्रमाण प्रमोद* की व्याख्या का प्रणयन किया है।

(क) उदयनाचार्य के प्रति अधिक श्रद्धालु आचार्य **वरदराज मिश्र** ने मूल *कुसुमाञ्जलि* की *बोधनी* व्याख्या का (१२ श०) प्रणयन किया है। ग्रन्थ को समझाने के लिए यह व्याख्या नितान्त उपयोगी है और हम लोगों को उपलब्ध भी है। इसी शतक के मैथिल नैयायिक **दिवाकर उपाध्याय** की *परिमल* व्याख्या सुनी जाती है। यह कालकवलित होने से अनुपलब्ध है। महादार्शनिक **शङ्कर मिश्र** ने इसका उल्लेख किया है।

त्रयोदश शतक के मैथिल नैयायिक **त्वन्त्व उपाध्याय** ने **मकरन्द** नामक व्याख्या कर प्रणयन किया था, जो अनुपलब्ध है।

चतुर्दश शतक में **गङ्गेश उपाध्याय** के अनुरूप पुत्र **वर्धमान उपाध्याय** ने इस ग्रन्थ की *प्रकाश* नाम से पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या नव्यन्याय की शैली में लिखी है, इसमें अपने पिता के विचार एवं *चिन्तामणि* के सन्दर्भ यत्र तत्र उद्धृत हैं। अतएव इसका विस्तृत होना स्वाभाविक है तथापि इसका प्रचार-प्रसार अधिक हुआ। हमलोगों को यह व्याख्या उपलब्ध है। विद्या के बलपर मिथिलाराज्योपार्जक **महेश ठक्कुर** के अग्रज **मेघ प्रसिद्ध भगीरथ ठक्कुर** ने इस *प्रकाश* की *प्रकाशिका* व्याख्या लिखी है, जो *जलद* नाम से भी प्रसिद्ध है। **पक्षधर प्रसिद्ध जयदेव मिश्र** का अन्तेवासी **रुचिदत्त उपाध्याय** ने *मकरन्द* नाम से इस *प्रकाश* की व्याख्या लिखी है। *प्रकाश* के गाँठों को खोलने में दोनों ही व्याख्याकारों का प्रयास सफल हुआ है।

पञ्चदश शतक में **शंकर मिश्र** ने *आमोद* नाम से मूल *कुसुमाञ्जलि* की व्याख्या की है। अपने पिता **अयाची प्रसिद्ध भवनाथ मिश्र** के पाण्डित्य के प्रति अधिक आदर एवं दृढ़ आत्मविश्वास के कारण मूल *कुसुमाञ्जलि* की पूर्ववर्ती व्याख्या से अपनी व्याख्या का वैलक्षण्य प्रतिपादित करते हुए इन्होंने कहा है–

मकरन्दे प्रकाशे या व्याख्या परिमलेऽथ वा।
ततोऽधिकां पितुर्व्याख्यामाख्यातुमयमुद्यमः।।

ग्रन्थ के अभिप्राय के प्रकाशन में तथा शास्त्रान्तर के पूर्वपक्षीय सिद्धान्तों के विशदतापूर्वक उपपादान में यह व्याख्या नितान्त उपादेय है। इसी शतक में बङ्गाभिजन **रघुनाथ शिरोमणि** ने *दीधिति* नाम से इसकी व्याख्या की रचना की है। पश्चात् षोडश शतक में **राधामोहन गोस्वामी** ने इसकी व्याख्या की, जो उपलब्ध नहीं है। सप्तदश शतक में **गदाधर भट्टाचार्य** ने *गादाधरी*, **गुणानन्द विद्यावागीश** ने *तात्पर्यविवेक* तथा **गोपीनाथ मौनी** ने *विलास* नाम से व्याख्या की रचना की, जो उपलब्ध है। इनमें से *आमोद* के साथ *तात्पर्यविवेक* कलकत्ता विश्वविद्यालय तथा काशी से प्रकाशित है। इसके अतिरिक्त उन्नीसवीं शताब्दी के नैयायिक **गंगाधर कविराज कविरत्न** ने इसकी *शोधना* नामक व्याख्या

लिखी है। बीसवीं शताब्दी के नैयायिक **सोमशेखर शास्त्री** ने आमोद नाम से, **उत्तमूरुवीर राघवाचार्य** ने *विस्तरा* नाम से **टी०डी० देवनाथाचार्य** ने .... व्याख्या लिखी है। इसी शतक के मूर्धन्य विद्वान् पुण्यश्लोक **नकछेदराम त्रिपाठी** के अन्तेवासी महाहोपाध्याय **हरिहर कृपालु द्विवेदी** ने *परिमल* नाम से इसकी व्याख्या की है, जिसका *कुसुमाञ्जलि* की अन्य अनेक व्याख्याओं के साथ **प्रो० महाप्रभुलाल गोस्वामी** ने सम्पादित एवं प्रकाशित किया है। इसी समय के नैयायिक श्रेष्ठ सर्वतन्त्र स्वतन्त्र **धर्मदत्त बच्चा झा** ने मूल *कुसुमाञ्जलि* पर टिप्पणी लिखी, जो प्रकाशित है। मैथिल पण्डित **लक्ष्मीनाथझा**, बङ्गाभिजन **तारानाथ तर्कतीर्थ** तथा **सतीन्द्रनाथ तर्कतीर्थ** ने भी इस मूल *कुसुमाञ्जलि* की टिप्पणी की है। **प० श्यामाकान्त तर्कपञ्चानन** ने *बोधनी* व्याख्या के अनुसार सम्पूर्ण ग्रन्थ का वङ्गभाषा में अनुवाद किया है। चेन्नई के प्रसिद्ध विद्वान् प्रो० **सी०के० राजा** ने अपने छद्म नाम **रवितीर्थ** रखकर इसका अंग्रेजी अनुवाद किया है, बीसवीं शताब्दी के पण्डित **दुर्गाधर झा** ने हिन्दी में मूल *कुसुमाञ्जलि* का अनुवाद किया है, जो सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से प्रकाशित है।

केवल *कुसुमाञ्जलि* कारिका की **हरिदास भट्टाचार्यकृत** *व्याख्या* की नौ व्याख्याएँ उपलब्ध हैं। सत्रहवीं शताब्दी के **रामभद्र सार्वभौम**, **रघुदेव भट्टाचार्य**, **जयराम न्यायपञ्चानन**, अठारहवीं शताब्दी के **रुद्रन्याय वाचस्पति**, **चन्द्रनारायण भट्टाचार्य**, उन्नीसवीं शताब्दी के **चन्द्रकान्त तर्कालंकार**, **शिव चन्द्र सार्वभौम**, **कामाख्या नाथ तर्कवागीश** तथा **रामकृष्ण तर्कतीर्थ** ने व्याख्या की है। **इ०बी० कावेल** तथा **पारेख महाशय** ने मिलकर इस *हरिदासी कुसुमाञ्जलि* की अंग्रेजी में एवं **आचार्य विश्वेश्वर** तथा बी.एच.यू. के पूर्व संस्कृत विभागाध्यक्ष **प्रो० नारायण मिश्र** ने स्वतन्त्र रूप से हिन्दी में इसका अनुवाद किया है।

६. ग्रन्थकार तथा इसके व्याख्याकार का परिचय

आचार्य उदयन का परिचय

आचार्य उदयन दार्शनिक गगन-मण्डल के प्रकाशमान नक्षत्र के समान विराजमान हैं। इन्होंने *आत्मतत्त्वविवेक* के उपसंहार में कहा है कि न्याय

(शास्त्र) ने लोक-व्यवहार तथा *आगम (वेद)* के ऊपर छाये हुए प्रतिपक्षियोंके सिद्धान्त रूप सघन कुहाशे का निराकरण कर न्यायशास्त्र सम्मत मुक्ति का मार्ग प्रशस्त किया है –

बहुतरपरतन्त्रप्रान्तरध्वान्तभीते:-
स्तिमितपथिकरक्षासार्थवाहेन यत्नात्।
तदिदमुदयनेन न्यायलोकागमानां
व्यतिहतिमवधूय व्यञ्जितं वर्त्म मुक्ते:।।

प्राचीन विद्वानों का स्वभाव रहा है कि ये कहीँ भी अपना परिचय लिपि-बद्ध नहीं करते। भले ही इन्होंने शास्त्रीय अनेक ग्रन्थों का प्रणयन कर सारस्वत भण्डार की अभिवृद्धि की हो, शिखरोपम वैदुष्य की ऊँचाई प्राप्त कर ली हो। **आचार्य उदयन** भी इसी कोटि में आते है। इसलिए इनके जीवन-परिचय हेतु हमलोगों को जनश्रुति पर ही निर्भर होना पड़ता है। कोई दृढ प्रमाण उपलब्ध नहीं है। मिथिला में प्रसिद्ध विद्वानों के द्वारा चिरकाल से समादृत अनेक किंवदन्तियाँ इस प्रसंग में हमलोगों के समक्ष उपलब्ध हैं। **आचार्य उदयन** के यत्किञ्चित् परिचय की उपलब्धि इन्हीं जनश्रुतियों के आधार पर संभव है।

जनश्रुति के आधार पर *मिथिलातत्त्वविमर्श* में (पूर्वार्द्ध पृ० १०६) **महामहोपाध्याय परमेश्वर झा** ने (बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में) कहा है कि मिथिला के प्रसिद्ध **करियन** ग्राम में **आचार्य उदयन** का जन्म हुआ था। यह ग्राम दरभंगा जिला के उत्तर, कमतौल रलवे स्टेशन के पास, आज भी विद्यमान है, जहाँ आचार्य उपाधिधारी इनके वंशज रहते हैं। इसी को आधार मानकर *हिस्ट्री ऑफ नव्यन्याय इन मिथिला* (History of Navya Nyaya in Mithila) में **प्रो० दिनेश चन्द्र भट्टाचार्य** ने आचार्य **उदयन** की जन्मभूमि के रूप में इस स्थान का उल्लेख किया है। (द्रष्टव्य पृ० ५)। चूँकि ख्रीष्टीय त्रयोदश चतुर्दश शतक से मिथिला की पञ्जी व्यवस्था उपलब्ध है। अतः ग्यारहवीं शताब्दी के **आचार्य उदयन** का वंश-परिचय तथा माता पिता का नाम हम लोगों को किसी भी स्रोत से विदित नहीं है। *आर्या सप्तशती* के उपसंहार में एक पद्य है –

उदयनबलभद्राभ्यां सप्तशती शिष्यसोदराभ्यां मे।
द्यौरिव रविचन्द्राभ्यां प्रकाशिता निर्मलीकृत्य।।७०१।।

इसके आधार पर इस *आर्यासप्तशती* के प्रणेता आचार्य **गोवर्धन** को **उदयनाचार्य** का गुरु कहा जाता है तथा **बलभद्र** को इनका सोदर। किन्तु इससे बहुत विद्वान् असहमत हैं। यद्यपि समय दोनों का एक ही है। **गोवर्धन**, धोयी तथा **जयदेव** (गीत गोविन्द के रचयिता) एक ही राजा **लक्ष्मण सेन** के आश्रित थे, जो खीष्टीय एकादश शतक में विद्यमान थे। **आचार्य उदयन** का भी यही समय रहा होगा। खीष्टीय दशम शतक का बौद्ध आचार्य **ज्ञानश्रीमित्र** तथा **रत्नकीर्ति** ने **वाचस्पतिमिश्र** की *तात्पर्यटीका* के विषयों का खण्डन किया है और उक्त दोनों बौद्ध दार्शनिकों का नामोल्लेखपूर्वक उनके मत का खण्डन *आत्मतत्त्वविवेक* में तथा अन्यत्र **आचार्य उदयन** ने किया है।

यद्यपि एक करियन गाँव समस्तीपुर रोसरा (उत्तर बिहार) के निकट भी है, जहाँ इस आचार्य के नाम पर बीसवीं शताब्दी के द्वितीय तृतीय चरण में एक महाविद्यालय भी स्थापित हुआ है। इस परिसर के लोग यहीं उनका वासस्थल मानते हैं। यहाँ मान्यता के अनुसार उनके निर्दिष्ट वासस्थल की मिट्टी लेकर वसन्त पञ्चमी के दिन अभिभावक अपने बच्चों को अक्षरारम्भ कराते हैं। इनकी धारणा है कि उस स्थल की मिट्टी से अक्षरारम्भ कराने पर बालक मेधावी, प्रसिद्ध विद्वान् तथा बुद्धिमान् होता है। यहाँ इनको छन्दोग अर्थात् सामवेदी तथा शाण्डिल्य गोत्रीय ब्राह्मण कहते हैं। तथापि विद्वज्जन **म०म० परमेश्वर झा** के प्रति आदरातिशय से इनके कथन पर ही विश्वास करते हैं अर्थात् उदयन को कमतौल रेलवे स्टेशन के निकट के करियन ग्राम का ही वासी मानते हैं।

इसका विपरीत मत महामहोपाध्याय **शतीश चन्द्र विद्याभूषण** का *हिस्ट्री औफ इण्डियन लौजिक* में (History of Indian Logic) में मिलता है। इन्होंने **उदयन** को मधुबनी मण्डल कार्यालय से तीन किलोमीटर उत्तर पूर्व में विद्यमान **मङरौनी** गाँव का कहा है। यह भी यहाँ कहा गया है कि यह गाँव **कमला नदी** से चार कोश पूरब में उस समय बसा हुआ था – किसी **उपपुराण** में यह उल्लिखित है। आज कल समय के अन्तराल में हजार वर्षों के बीत जाने पर भी कमला इस ग्राम के पूरब दिशा में बहती है किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी तक **मङरौनी** से पश्चिम होकर ही कमला की धारा प्रवाहित हो रही थी। अब पश्चिम दिशावाली धारा मृतप्राय हो गयी है।

कमतौल रेलवे स्टेशन के निकट **करियन** गाँव **वागमती** नदी के तट पर

बसा हुआ है। इस धारा की भी पवित्रता कमला नदी से कम नहीं है। अत: यदि **उदयन** इस **करियन** के होते तो **वागमती** की चर्चा होती **कमला** की नहीं। इस विषय में अधिक विचार *मिथिला की सारस्वत सुषमा* नामक ग्रन्थ में विद्वद् वर श्री **विनयानन्द झा** ने तर्कपूर्ण रीति से किया है, जो हृदयङ्गम होता है। इनकी युक्तियाँ **म०म० शतीशचन्द्र विद्याभूषण** के मत की पुष्टि करती है।

दूसरी जनश्रुति इनके पाण्डित्य के प्रसङ्ग में है कि कान्यकुब्ज के राजा जयचन्द्र के समय में उनके द्वार पण्डित वेदान्त में निष्णात **श्री हीर** नामक विद्वान् को **आचार्य उदयन** ने शास्त्रार्थ में परास्त किया था। इस अपमान को सहन करने में असमर्थ वह विद्वद्वर **श्री हीर** ने अपने वैकुण्ठवास के समय शिशु पुत्र **श्रीहर्ष** (नैषधीयचरित महाकाव्य तथा खण्डन खण्ड खाद्य के रचयिता) से कहा कि जिसने मुझे शास्त्रार्थ में परास्त किया है, उस नैयायिक को इसी राजसभा में तुम परास्त करना।

समय के अन्तराल में चिन्तामणि मन्त्र की उपासना से सकल शास्त्रों में निष्णात होकर **श्रीहर्ष आचार्य उदयन** के साथ शास्त्रार्थ की प्रतीक्षा करते रहे। जब उन्हें यह ज्ञात हुआ कि उस दार्शनिक का स्वर्गवास हो गया तो न्याय सिद्धान्तों का खण्डनपरक तथा अद्वैतवेदान्त का प्रतिष्ठापक *खण्डनखण्ड खाद्य* नामक विख्यात ग्रन्थरत्न का प्रणयन कर उन्होंने अपने पिता के वचन का अनुपालन किया। **उदयनाचार्य** द्वारा किये गये प्रमा के लक्षण – **तत्त्वानुभूतिः प्रमा** – का खण्डन यहाँ देखा जाता है।

अपि च खण्डन खण्ड खाद्य के अनुमान खण्डन के प्रस्ताव में श्री हर्ष ने **उदयनाचार्य** के *कुसुमाञ्जलि* की सिद्धान्त प्रतिपादक कारिका का खण्डन उसी कारिका में दो एक पदों का परिवर्तन करके किया है –

तस्मादस्माभिरप्यस्मिन्नर्थे न खलु दुष्पठा।
त्वद्गाथैवान्यथाकारमक्षराणि कियन्त्यपि।।

व्याघातो यदि शङ्कास्ति न चेच्छङ्का ततस्तराम् ।
व्याघातावधिराशङ्का तर्कः शंकावधिः कुतः।।

वङ्ग नव्यन्याय चर्चा के आरम्भ में उदयनाचार्य के प्रसङ्ग में **प्रो. दीनेशचन्द्र भट्टाचार्य** ने तीन बातें कहीं है। उनमें से दो तो मान्य हैं किन्तु

एक मान्य नहीं हो सकता है। तात्पर्य परिशुद्धि के द्वितीय अध्याय में एक पद्य उपलब्ध होता है, जिससे ज्ञात होता है कि **श्रीवत्स** नामक किसी अपिरिचत नैयायिक से आचार्य ने न्याय विद्या अधिगत की होगी।

संशोध्य दर्शित रसा मरुकूपरूपा
ष्टीकाकृत प्रथम एव गिरो गभीरा।
तात्पर्यतो यदधुना पुनरुद्यमो नः
श्रीवत्स! वत्सल! तवैव कृपा तु कापि।।

इससे सिद्ध होता है कि आचार्य के गुरु यह **श्रीवत्स** आचार्य रहे होंगे।

किन्तु परीक्षा करने पर यह मत भ्रान्त सिद्ध होता है। क्योंकि परिशुद्धि में तीन स्थलों पर इनके मतों का उद्धरण देकर आचार्य ने सयुक्तिक उनका खण्डन किया है।

दूसरी बात यह है कि प्राचीन न्याय तथा नव्य न्याय के सन्धि के समय में आविर्भूत होकर **आचार्य** ने *आत्मतत्त्व विवेक*, *न्यायकुसुमाञ्जलि* रूप प्रकरण ग्रन्थों में तथा *प्रशस्तपादभाष्य* की व्याख्या *किरणावली* में नव्यन्याय के बीज का प्रचुर रूप में निक्षेप किया है। *तत्त्वचिन्तामणि* के विवेच्य पदार्थों का बीज **उदयनाचार्य** की कृतियों में प्रचुर रूप में उपलब्ध है।

तीसरी बात यह है कि *लक्षणावली* के पद्य में तर्काम्बराङ्क के स्थान पर तर्कस्वराङ्क पाठ के उपलब्ध होने से और उसको शकाब्द मानने से ईस्वी में परिवर्तित करने पर ग्यारहवीं शताब्दी इनका समय संगत होता है।

अन्य जनश्रुति भी इनके पाण्डित्य से संबद्ध है। एक बार बौद्ध दार्शनिक के साथ शास्त्रार्थ में उनकी युक्ति को अप्रमाण कहकर आचार्य ने अपनी प्रतिभा से उद्‌भूत युक्तियों से अर्थात् तत्काल स्फूर्त तर्कों से **बौद्धाचार्य** को परास्त कर दिया। आपके तर्क में क्या प्रमाण है – बौद्ध दार्शनिक के द्वारा पूछे जाने पर उदयनाचार्य ने कहा कि मेरा तर्क स्वयं प्रमाण होता है'। हमलोग *व्याकरण*, *मीमांसा* तथा *तर्कशास्त्र* को जिस रास्ते से ले जायेंगे, वही रास्ता होगा, भले ही वह कुपथ हो। जिस दिशा में सूर्य उदित होता है, वही पूर्व दिशा कहलाती है। उदय के लिए सूर्य दिशा के अधीन नहीं होता है।

वयमिह पदविद्यां तर्कमान्वीक्षिकीं वा
यदि पथि विपथे वा वर्तयामः स पन्थाः।
उदयति दिशि यस्यां भानुमान् सैव पूर्वा
नहि तरणिरुदीते दिक्पराधीनवृत्तिः।।

भविष्य पुराण के परिशिष्ट में **आचार्य उदयन** से संबद्ध एक कथा उपलब्ध है, जो इस प्रकार है – एक दिन बौद्ध दर्शन तथा माया तन्त्र में निष्णात एक बौद्ध संन्यासी अनेक शिष्यों के साथ मिथिला की राजधानी आया और दूत के माध्यम से मिथिला नरेश को अपना संवाद भेजा कि वेद आदि शास्त्रों के प्रति श्रद्धा या आदर व्यर्थ है, इन शास्त्रों के अभ्यास से केवल गला सूखता है, फल की प्राप्ति नहीं होती है। अतः बौद्ध दर्शन का अध्ययन करना चाहिये, तदनुकूल आचरण करने से ही जीवन की सफलता प्राप्त होती है। उसी दूत के द्वारा आस्तिक मिथिलाधिपति ने उनको अपना संवाद भेजा कि कल प्रातः सभा में आवें तथा अपना पक्ष प्रस्तुत करें, वहाँ इसका निर्णय हो जायेगा।

उस दूत के वापस लौटने के पश्चात् मिथिलेश ने **उदयनाचार्य** आदि पण्डितों को बुलबाया और कहा कि आप सब बाहर से समागत इस बौद्ध संन्यासी से इस शर्त पर शास्त्रार्थ करें कि जो हारेगा वह विजयी के मत का स्वीकार करेगा। राजा का आदेश सुनकर सभी मैथिल पण्डित चुप्पी लगा गये। तब **उदयनाचार्य** ने कहा कि शास्त्रार्थ में जय पराजय तो भगवदिच्छा पर निर्भर है किन्तु हम सब उस बौद्ध संन्यासी के साथ शास्त्रार्थ अवश्य करेंगे।

प्रातः राजसभा में मैथिल विद्वद्वृन्द एकत्रित हुए। वह बौद्ध संन्यासी भी आया। संन्यासी ने कहा कि बौद्धदर्शन के बहिर्भूत विद्वान् के साथ हम बौद्ध दार्शनिकों का शास्त्रार्थ कैसे हो सकता है। इस पर **आचार्य उदयन** ने बौद्ध सिद्धान्तों का पूर्वपक्ष रूप में प्रस्तुत कर अपने अनुकूल न्यायशास्त्र की दृष्टि से उन सिद्धान्तों का खण्डन कर दिया। इस तरह शास्त्रार्थ में अनेको दिन बीत गये। बौद्ध संन्यासी अपना पराजय तो मन में समझ ही रहा था फिर भी उसने राजा से कहा कि मेरे प्रतिपक्षी मेरे शास्त्र के अनुसार नहीं कहते हैं तथापि मैं अपने शास्त्र की श्रेष्ठता के सिद्ध्यर्थ आपके आराध्य विष्णुरूप में विद्यमान शालग्राम शिला को अपना सिद्धान्त कहकर आप सबके समक्ष जलमय कर देता हूँ पश्चात् बौद्ध मत को प्रामाणिक मानकर आप सब बौद्ध मत का अनुसरण

करें। वेद के प्रामाण्य के समर्थक सनातनी विद्वान् यदि जलरूप में परिणत शालग्राम शिला को अपना सिद्धान्त कहकर पूर्ववत् शिलामय बना देंगे तो मैं इनकी मान्यता का स्वीकार कर लूँगा। **आचार्य उदयन** ने कहा – ये माया में चतुर हैं, अपनी माया की महिमा से हम लोगों को परास्त करना चाहते हैं। हम लोग भी माया तन्त्र जानते हैं, इनका शर्त हम लोगों को मञ्जूर है। संन्यासी ने शिलामय शालग्राम को जलमें परिणत कर दिया। फिर आचार्य उदयन ने इस जलमय शालग्राम को शिला में परिवर्तित कर दिया। इस अपूर्व घटना से सभा के अन्य सदस्य विस्मित एवं आनन्दित हो गये। **आचार्य उदयन** की प्रशंसा होने लगी तथा साधुवाद मिलने लगा।

अवसर की अनुकूलता देखकर **आचार्य उदयन** ने राजा तथा सभासद से कहा कि आप सब जो मेरी प्रशंसा कर रहे हैं, वह मुझे समुचित नहीं प्रतीत होता है। मेरे प्रतिपक्षी ने शालग्राम शिला को जलमय किया और मैंने पुनः इसे शिलारूप में स्थापित किया – इसमें तो हम दोनों का मत बराबर पर ही स्थिर रहा। मैं राजा के समक्ष एक प्रस्ताव रखता हूँ। राजद्वार पर आकाश का स्पर्श करता हुआ जो यह ताड़ का पेड़ है, इस पर आरूढ होकर मैं 'वेद प्रमाण है' कहकर और मेरे प्रतिपक्षी वेद प्रमाण नहीं है – कहकर नीचे गिरेंगे, इसमें जीवित रहनेवाले के मत का अनुगमन आप सब करेंगे, उसी मत को समीचीन मानेंगे। इस प्रस्ताव से बौद्ध संन्यासी तो प्रसन्न हो गया किन्तु इस परीक्षा में प्राण का संकट देखकर राजा असमञ्जस में पड़ गये। तब पक्ष एवं प्रतिपक्ष के विद्वानों ने कहा कि इस शर्त में आपका कोई दोष नहीं होगा। क्योंकि इस शर्त में हम दोनों का स्वेच्छा से ऐकमत्य है।

अब उत्सुकता, आशंका तथा आश्चर्य से सभा एवं सभापति इन दोनों की ओर देखने लगे। दोनों ही यथानियम उस वृक्ष पर आरूढ होकर नीचे गिरे। शिर के बल गिरने से बौद्ध संन्यासी का प्राणान्त हो गया और **आचार्य उदयन** को खरोंच तक नहीं लगा। अब वेदस्वरूप परमेश्वर का वाचातीत माहात्म्य के दर्शक लोगों के समक्ष वेद पर श्रद्धा और भक्ति बढ़ने लगी। राजा एवं सभा के सदस्यों के द्वारा आचार्य **उदयन** का सम्मान, अभिनन्दन तथा विविध उपहार मिला। आचार्य **उदयन** पूर्ववत् अपने घर पर आकर शास्त्र का अध्ययन-अध्यापन तथा तत्त्व-चिन्तन में लगकर समय-यापन करने लगे।

आचार्य उदयन भगवान् जगन्नाथ के दर्शन हेतु पुरी धाम पहुँचे। जैसे ही प्रभु के दर्शन हेतु मन्दिर के प्राङ्गण में इन्होंने पदार्पण किया, मन्दिर के खुले हुए सब दरबाजा बन्द होने लगे। यह देखते ही आचार्य के मन में तामस भाव जग गया। इन्होंने प्रभु से वहीँ कहा – प्रभो! आप ऐश्वर्य के मद से मत्त हो गये हो। मुझे दर्शन नहीं देकर मेरा अपमान करते हो। किन्तु जान लो जब बौद्ध दार्शनिक आएगा तो मेरे ही अधीन आप का अस्तित्व रहेगा –

ऐश्वर्यमदमत्तोऽसि मामवज्ञाय वर्तसे।
समायाते पुनर्बौद्धे मदधीना तव स्थितिः।।

उसी समय लोगों के देखते ही देखते मन्दिर के सभी दरबाजे खुल गये। आचार्य **उदयन** भगवान् जगन्नाथ का दर्शन कर कृतार्थ हुए और कुछ दिनों तक भगवान् की पूजा प्रार्थना करते रहे। इस बीच भगवान् जगन्नाथ ने प्रधान पुजारी को स्वप्न दिया कि यह (**आचार्य उदयन**) मेरा ही अंश–अवतार है। इसने कुतार्किक बौद्धों को शास्त्रार्थ में पराजित कर मेरा अस्तित्व समर्थित किया है। इसको मेरा परिधान पीताम्बर देकर सत्कृत करो। भगवान् के आदेश का तत्काल पालन किया गया। आचार्य **उदयन** ने भी भगवान् का प्रसाद पाकर अपने को निरतिशय सौभाग्यशाली माना।

इनके शिष्य एवं उपशिष्यवृन्द अध्यापन के द्वारा शास्त्रों के प्रचार प्रसार में लगे रहे एवं सनातन धर्म को समृद्ध किया।

वार्धक्य पाकर आचार्य काशीधाम आकर गंगा के तट पर मणिकर्णिका तीर्थ में इस जीर्ण शरीर का त्यागकर परमात्मा में विलीन हो गये। इस **पुराण** कथा से इतना तो अवश्य माना जा सकता है कि भगवान् विष्णु के अंशावतार यह **आचार्य उदयन** मिथिला में आविर्भूत हुए तथा *वेद* एवं *शास्त्र* की रक्षा हेतु सन्नद्ध रहकर कुतार्किक *बौद्ध आचार्यों* को परास्त किया। (भविष्य पुराण का परिशिष्ट, उदयन चरित, अध्याय ३० श्लोक १ से ८४)

एक जनश्रुति के अनुसार बंगाल के वारेन्द्रकुल में आचार्य उदयन का जन्म हुआ। ये उदयन भादुरी के नाम से प्रसिद्ध हुए। किन्तु इस जनश्रुति की विश्वसनीयता नहीं है। बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में बंगाल में राजा वल्लाल सेन द्वारा ब्राह्मणों का श्रेणी विभाग हुआ है। अत एव एकादश शतक के आचार्य

उदयन का वारेन्द्रकुल संभूत होना कथमपि संभव नहीं है। मिथिला में भी तेरहवीं शताब्दी में *पञ्जीप्रबन्ध* की व्यवस्था राजशासन के अन्तर्गत हुई है। अतएव इस आचार्य के पूर्वज एवं सन्तति के विषय में *पञ्जीप्रबन्ध* में कुछ उपलब्ध नहीं है।

विद्वानों की धारणा रही है कि **आचार्य उदयन** का काल ख्रीष्टीय दशम शतक रहा है। क्योंकि –

'तर्काम्बराङ्कप्रमितेष्वतीतेषु शकान्ततः।

वर्षेषूदयनश्चक्रे सुबोधां लक्षणावलीम्।।

इस पद्य के अनुसार ९०६ शकवर्ष में उन्होंने *लक्षणावली* का प्रणयन किया, जिसे ईस्वी वर्ष में परिवर्तित करने पर ९८४ ई० दशम शतक होता है।

किन्तु ख्रीष्टीय दशम शताब्दी के बौद्ध आचार्य **ज्ञानश्रीमित्र** तथा इनके शिष्य **रत्नकीर्ति** के उपर्युक्त श्लोक में तर्क स्वराङ्क पाठ करने पर ९७६ शक होता है उसको इस्वी में परिवर्तित करने पर १०५४–५ ई० होता है। बहुत विद्वान् जनों ने इसी तरह का पाठ यहाँ स्वीकार किया है। इनके *निबन्धावली* के प्रकाशन के पश्चात् **उदयन** की कृतियों में इन दोनों ही बौद्ध दार्शनिकों की मान्यताओं के खण्डन से सिद्ध होता है कि ख्रीष्टीय एकादश शतक के उत्तरार्ध में **आचार्य उदयन** के पाण्डित्य का प्रसार हुआ होगा। क्योंकि **ज्ञानश्रीमित्र** ने **तात्पर्य टीकाकार वाचस्पति मिश्र** के मतों का खण्डन नाम निर्देश पूर्वक किया है और उनका समय *न्यायसूची निबन्ध* में –

न्यायसूचीनिबन्धोऽसावकारि सुधियां मुदे।

श्रीवाचस्पतिमिश्रेण वस्वङ्कवसुवत्सरे।।

वस्वङ्कवसु वत्सर अर्थात् ८९८ शकाब्द के अनुसार ख्रीष्टाब्द ९७६ होता है। अतएव मध्य में **ज्ञानश्रीमित्र** के रहने से ख्रीष्टीय एकादश शतक का पूर्वार्ध इस बौद्ध दार्शनिकों का समय मानना होगा और इनका खण्डन *आत्मतत्त्व विवेक*, *न्यायकुसुमाञ्जलि* तथा *किरणावली* में उपलब्ध रहने से उक्त शतक का उत्तरार्ध ही **आचार्य उदयन** का समय मानना सङ्गत होगा। *मिथिला के नव्यन्याय का इतिहास* में (पृ० ५२ में) प्रो० **दीनेशचन्द्र भट्टाचार्य** ने भी यही कहा भी है। इस तरह मिथिला के अलङ्कारभूत पण्डित **उदयनाचार्य** का समय ख्रीष्टीय

एकादशशतक ही युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

न्यायदर्शन में तात्पर्याचार्य से **वाचस्पति मिश्र** (तात्पर्यटीकाकार) का और केवल आचार्य से **उदयनाचार्य** का उल्लेख ग्रन्थों में उपलब्ध है। इस आचार्य के तीन व्याख्या ग्रन्थ, दो लक्षण ग्रन्थ तथा दो प्रकरण ग्रन्थ उपलब्ध हैं। न्याय दर्शन के पञ्चम अध्याय के सूत्रों की वृत्ति *न्यायपरिशिष्ट* या *प्रबोधसिद्धि* नाम से प्रसिद्ध है। *तात्पर्यटीका* की व्याख्या *परिशुद्धि* जो *न्यायनिबन्ध* नाम से भी प्रसिद्ध है एवं *प्रशस्तपादभाष्य* (पदार्थ धर्म संग्रह) की व्याख्या *किरणावली* प्रसिद्ध है। *न्यायदर्शन* के सोलह पदार्थों के लक्षण *लक्षणमाला* में तथा वैशेषिक दर्शन के सात पदार्थों के लक्षण *लक्षणावली* में किये गये हैं। *आत्मतत्त्वविवेक* में *न्यायदर्शन* के अनुमत आत्मा की और *न्यायकुसुमाञ्जलि* में ईश्वर की सिद्धि की गयी है। *न्यायकुसुमाञ्जलि* के दो प्रकार उपलब्ध हैं। एक स्वोपज्ञव्याख्या के साथ कारिका उपलब्ध है। यहाँ इसी का प्रकाशन चार व्याख्याओं के साथ हो रहा है। इनकी अनेक व्याख्याएँ हुई हैं। अन्य में कारिका मात्र है, जिसकी सर्वप्रथम व्याख्या **हरिदासभट्टाचार्य** ने की है। पश्चात् उनकी भी अनेक उपव्याख्याएँ हुई।

दार्शनिक शङ्करमिश्र का संक्षिप्त परिचय

इस आमोद व्याख्या के प्रणेता दार्शनिक **शङ्कर मिश्र** का जन्म मिथिला के सिद्धपीठ स्वरूप भगवती सिद्धेश्वरी एवं सिद्धेश्वर शिव के सान्निध्य में सरिसब नामक ग्रामरत्न (मधुवनी मण्डल) में ख्रीष्टीय पञ्चदशशतक में 'सोदरपुर सरिसब मूलक' प्रसिद्ध कुलमें हुआ है – इसमें किसी की विचिकित्सा नहीं है। आरंभ से ही **शङ्करमिश्र** का कुल पाण्डित्य के लिए विख्यात रहा है। पण्डितराज **भानुदत्तमिश्र** ने *कुमारभार्गवीय* नामक कृति में अपने पूर्वजों के पाण्डित्य एवं सच्चारित्र्य का यथार्थ वर्णन किया है। प्रायः अन्य किसी कुल के विद्वानों में पाण्डित्य की इतनी दीर्घ-परम्परा उपलब्ध नहीं है।

इसी **भानुदत्त** के पौत्रीपुत्र **कवीन्द्र गंगानन्द** ने अपनी कृति *भृङ्गदूत* के उपक्रम में इस सरिसब ग्राम के प्रसंग में कहा है

मीमांसायां श्रवणसुमुखी शेमुषी तावकी चेत्
चित्ते चेत्ते किमपि कविताकर्णने कौतुकं वा।

तत्र भ्राम्यन् बुधजनचतुःपाठिकासु प्रयत्नात्
शोभाशालि प्रियसरिसबग्रामरत्नं परीयाः।।

तर्कानर्घप्रातिमकृतिभिर्जल्पितानल्पकालं
चैत्यारूढो मधुकर यदि श्रोष्यसि श्रोत्रपेयम्।
जाड्यं जन्मावधि मतिभवं ते तदा संप्रणश्येत्
न स्यात् कस्य प्रियसख गुणः सत्समाजाश्रयेण।।

शङ्कर मिश्र का सौभाग्य रहा है कि इन्होंने अपने पिता **अयाची** इस उपनाम से प्रसिद्ध **भवनाथ मिश्र** से ही सभी विद्याओं को अधिगत किया। अतएव अपनी कृतियों में इन्होंने पिता के लिए सर्वत्र श्रद्धातिशय व्यक्त किया है। इनको अपनी विद्या एवं अपने गुरु के अध्यापन पर इतना विश्वास रहा है कि *कल्पलता* के उपसंहार में एवं अपनी अन्य कृतियों में भी स्पष्ट लिखा है –

स्वभ्रातुर्जीवनाथस्य व्याख्यामाख्यातवान्मयि।
मत्पिता भवनाथो यां तामिहालिखमुज्ज्वलाम्।।

अश्रुत्वा मत्पितुर्व्याख्यामदृष्ट्वा मत्कृतामिमाम्।
आत्मतत्त्वविवेकस्य कस्य व्याख्यानकौशलम्।।

इनकी व्याख्या का वैशिष्ट्य है कि बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में प्रकाशित *ज्ञानश्रीमित्रनिबन्धावली* का पूर्वपक्ष **शङ्कर मिश्र** को पन्द्रहवीं शताब्दी में ही पाँच सौ वर्ष लगभग पहले परम्परा से ज्ञात था। अतएव इनकी व्याख्या ग्रन्थ के अभिप्राय प्रकाशन में सर्वथा उपयोगी है।

मनुस्मृति में उक्त है कि तपस्या और ज्ञान ऐहिक अभ्युदय एवं अपवर्ग का साधक होता है, एक से पाप का नाश होता है और दूसरे से अमृत की प्राप्ति।

तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरावुभौ।
तपसा कल्मषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते।।

अयाची उपनाम से प्रसिद्ध **भवनाथ** का घराना ही इस पर विश्वास करता रहा है। इनमें एक और गुण जुड़ गया अप्रतिग्रह व्रत। अतएव इनका आसन इसमें और अधिक ऊँचा हो गया। *कुमारभार्गवीय* चम्पू में पण्डितराज **भानुदत्त मिश्र** ने दो पद्यों में इनका परिचय इस प्रकार प्रस्तुत किया है –

बहुविधगुणधामा श्रौतसौजन्यसीमा
समजनि भवनाथो भूषणं भूतधात्र्याः।
प्रसरति बहिरन्तः पूरयित्वा मुरारेः
स्मितचयवचनापच्छद्मना यस्य कीर्तिः।।२४।

स्वामी त्रिभुवनवन्द्यः श्रीवत्सं लाञ्च्छनं कृतवान्।
इति किं पतिव्रतासौ भवनाथलक्ष्म मेदिनी विदधे।।२५।।

आचारतरङ्गिणी में दुर्गानाथ मिश्र ने इनके विषय में लिखा है –

हरिहरपदलीनः कर्मकाण्डे प्रवीणः
सदसि गुणिगणानां वेदवादे धुरीणः।
सुरपुरगतकीर्तिर्याचनाशून्यवृत्तिः
प्रविदितमिथिलायां कोऽपि दूबे बभूव।।

तीन भाइयों में दूसरा (मध्यम) होने से इनका घर में पुकारने का नाम 'दूबे' रहा होगा – ऐसी प्रसिद्धि है। स्वयं शंकर मिश्र ने *गौरी दिगम्बर प्रहसन* में इनके प्रसंग में लिखा है –

यस्यान्ते वासिभिः प्राज्ञैरासमुद्रं वसुन्धरा।
विद्याविनोदव्यसनव्यापारैकपरा कृता।।

इस प्रकार तपस्वी एवं अप्रतिग्रहव्रती असाधारण विद्वान् के घर में यदि भगवदवतार नहीं हो तो वह अन्यत्र कैसे संभव हो सकता है।

जनश्रुति के अनुसार शङ्करमिश्र के पिता के अप्रतिग्रह का प्रमाण यह भी है कि पाँच वर्षों का शिशु शङ्कर समवयस्क बच्चों के साथ गाँव के राज-पथ पर खेल रहा था। उस समय मिथिला नरेश (कुछ विद्वानों के मतानुसार शिवसिंह और कुछ विज्ञों के मत से भैरव सिंह) उस रास्ते से जा रहे थे। इस शिशु के भव्य एवं उन्नत ललाट को देखकर महाराजा ने उसे अपने निकट बुलवाया और परिचय पूछा। फिर उससे श्लोक सुनाने का आग्रह किया। बालक ने राजा से जिज्ञासा की कि स्वरचित श्लोक सुनाऊँ या दूसरे का। राजा ने कहा एक अपनी रचना सुनाओ और एक ऐसा सुनाओ जिस में आधा पद तुम्हारा हो और आधा दूसरे का। यह दोनों ही पद्य मिथिला में प्रसिद्ध है –

बालोऽहं जगदानन्द न मे बाला सरस्वती।
अपूर्णे पञ्चमे वर्षे वर्णयामि जगत्त्रयम्।।

सहस्त्रशीर्षा पुरुषः सहस्त्राक्षः सहस्त्रपात्।
चलितश्चकितश्छन्नः प्रयाणे तव भूपते।।

इस पर प्रसन्न होकर राजा ने स्वर्ण मुद्राओं से बालक की अँजुरी भर दी। घर वापस लौटने पर बालक **शंकर** ने अपनी माँ को उन सारी स्वर्णमुद्राओं को देने लगा तो माँ ने उसे रोक दिया। माँ ने उन स्वर्णमुद्राओं का स्पर्श तक नहीं किया, घर ले जाने की तो बात ही दूर रही। तत्काल उस शिशु के नाल काटने बाली दगरिन बुलायी गयी और सारी स्वर्णमुद्राएँ उसको दे दी गयी। क्योंकि बालक **शंकर** के जन्म के समय अर्थाभाव के कारण दगरिन को कुछ भी पारिश्रमिक एवं पारितोषिक नहीं दिया जा सका था। उस समय शिशु की पहली कमाई देने की प्रतिश्रुति शिशु की माँ के द्वारा की गयी थी। उसी वचन का पालन इस तरह दगरिन को स्वर्ण मुद्राएँ देकर किया गया था। दगरिन ने भी उस धन से गाँव के उत्तर भाग में अपने आवास के निकट एक तालाब बनबा कर पूर्त कर्म स्वरूप धर्माचरण संपन्न किया, जो आज भी 'चमैनियाँ डाबर' के नाम से प्रसिद्ध एवं विद्यमान है।

चूँकि स्वयं बाबा वैद्यनाथ (स्वयंभूज्योतिर्लिङ्ग) श्रेष्ठ तपस्वी **अयाची प्रसिद्ध भवनाथ मिश्र** के घर में अवतरित हुए थे। अतः उनके मुख से **'बालोऽहं जगदानन्द'** श्लोक का उच्चारण एवं उसकी रचना अत्युक्ति या विस्मय जनक नहीं माना जा सकता है। पाँच सौ से अधिक वर्षों के बीत जाने पर भी अपनी सन्तति के मेधाकामी पिता आज भी **'बालोऽहं जगदानन्द'** श्लोक अपने बच्चों को रटाते हुए देखे जाते हैं। बच्चों को इस श्लोक का अभ्यास कराना मैथिलों की संस्कृति में रच बस गयी है।

दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय के पूर्व प्रति कुलपति तथा राष्ट्रपति सम्मानित **डा० त्रिलोकनाथ झा** ने *'शंकर मिश्र'* नामक एक निबन्ध का मैथिली में प्रणयन किया है। इसमें इन्होंने कहा है कि **भवनाथ मिश्र** के आवास के निकट अपनी छोटी सी पुष्पवाटिका में कोड़ाइ गोराई करते समय **भवनाथ मिश्र** को सुवर्ण मुद्राओं से भरा हुआ एक ताम्र घट मिला। अर्थ की दृष्टि से स्वयं नितान्त विपन्न रहने पर भी **भवनाथ मिश्र** ने वह पूर्णघट शासक को सौंप दिया।

धर्मशास्त्र के अनुसार भूमिगत द्रव्य पर राजा का ही अधिकार होता है। इस प्रकार चरित्र संपन्न निर्लोभ तथा अप्रतिम विद्वान् के घर में भगवान् शंकर स्वरूप दार्शनिक **शंकर मिश्र** का जन्म होना स्वाभाविक जैसा ही प्रतीत होता है।

क्षेत्र तथा बीज की शुचिता, वातावरण तथा परिसर का वैशद्य, संस्कार संपन्न कुलपरम्परा का अनुकरणीय आदर्श इनको जन्म से ही घर में उपलब्ध था। विद्या तथा सदाचार से संपन्न पिता से ही विद्याओं के अधिगत होने से वैदुष्य में प्रौढ़ि एवं आत्मविश्वास इनको उपलब्ध था, जो ग्रन्थ के प्रणयन एवं उपादेय दुरूह ग्रन्थों के व्याख्यानों में प्रतिफलित हुआ है।

इनकी इक्कीस कृतियाँ सुनी जाती हैं। इनमें न्याय तथा वैशेषिक से संबद्ध ग्यारह कृतियाँ हैं, धर्मशास्त्र के तीन तथा शेष साहित्यविद्या से संबद्ध हैं। यथा – *कणादरहस्य, भेदरत्न, वादिविनोद* इनकी मौलिक कृति के रूप में परिगणित हैं। *वैशेषिक सूत्रों* की व्याख्या *उपस्कार, आत्मतत्त्वविवेक* की व्याख्या *कल्पलता, न्यायकुसुमाञ्जलि* की व्याख्या *आमोद, न्यायलीलावती* की व्याख्या *कण्ठाभरण, खण्डनखण्ड खाद्य* की व्याख्या *आनन्दवर्धिनी* या *शाङ्करी, किरणावली* की *निरुक्ति प्रकाश, त्रिसूत्रीनिबन्धव्याख्या* तथा *तत्त्वचिन्तामणिमयूख* – दार्शनिक ग्रन्थों की व्याख्या है। *छन्दोगाह्निक उद्धार, प्रायश्चित्तप्रदीप* तथा *श्राद्धप्रदीप* धर्मशास्त्र परक ग्रन्थ हैं, शेष *रसार्णव, गौरीदिगम्बरप्रहसन, मनोभवपराभवनाटक, कृष्णविनोदनाटक, रसकल्लोलसारोद्धार, दुर्गासप्तशतीव्याख्या* तथा *पण्डितविजय* साहित्यविद्या में परिगणित है। *रसार्णव* के उपक्रम में इन्होंने कहा है कि तर्क के अभ्यास से परिश्रान्त मन के विश्राम (विनोद) हेतु मैंने जिन श्लोकों की रचना की, उन्हीं का संग्रह है यह *रसार्णव* –

तर्काभ्यासपरिश्रान्तस्वान्तविश्रान्तिहेतवे।
ये श्लोका विहितास्तेषां संग्रहोऽयं विधीयते।।

तत्त्वचिन्तामणिमयूख, किरणावली निरुक्ति प्रकाश तथा *न्यायत्रिसूत्रीनिबन्ध* (परिशुद्धि) की व्याख्या को छोड़कर सभी दार्शनिक ग्रन्थ एवं उपादेय ग्रन्थों की इनके द्वारा की गयी व्याख्याएँ प्रकाशित एवं उपलब्ध है। *रसार्णव* के दो संस्करण प्रकाशित हुए हैं। एक वार प्रसिद्ध शिक्षाविद् **डा० अमरनाथ झा** – कुलपति इलाहाबाद विश्वविद्यालय द्वारा सम्पादित, इण्डियन प्रेस इलाहाबाद से

१९२० ई० में प्रकाशित हुआ। पुनश्च गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ से १९९१ ई० में प्रकाशित हुआ है। *गौरीदिगम्बरप्रहसन* भी **म०म० मुकुन्द झा** बक्सी द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित है। **पण्डितराज जगन्नाथ** की कृति *भामिनीविलास* से लगभग दो सौ वर्ष पहले इस *रसार्णव* में अन्योक्तिमूलक काव्य दृष्टिगोचर होते हैं, जो अप्रस्तुतप्रशंसा के अच्छे उदाहरण हैं। किन्तु प्रचार के अभाव में इस काव्यविधा का प्रवर्तक के रूप में **पण्डितराज जगन्नाथ** ही सहृदय समाज में प्रसिद्ध हैं। इनकी ख्याति दार्शनिक रूप में ही हुई। अन्य ग्यारह कृतियाँ या तो मातृकागारों में उपलब्ध हैं या काल कवलित हैं। इनके उद्धरण यत्र तत्र इनकी प्रकाशित कृतियों में उपलब्ध है।

अवधेय है कि बौद्धदार्शनिक **ज्ञानश्रीमित्र** ने जैसे क्षणभंगवाद के उपसंहार में **वृद्धवाचस्पति मिश्र** आदि चार नैयायिकों का उल्लेख न्यायविद्या वेदिका के स्तम्भ रूप में किया है। (द्रष्टव्य यहीं पृष्ठ १६ में उद्धृत पद्य) इसी प्रकार पन्द्रहवीं शताब्दी में भी न्यायविद्यावेदिका के स्तम्भ रूप में एक ही परिसर में चार नैयायिक हमलोगों को उपलब्ध होते हैं – ज्येष्ठ समसामयिक **यज्ञपति उपाध्याय**, **शङ्कर मिश्र**, इनके समसामयिक **पक्षधर प्रसिद्ध जयदेव मिश्र** तथा **नवीन वाचस्पति मिश्र**। इन चारों ही दार्शनिकों का वैशिष्ट्य है कि अपने घर में ही पिता या पितृव्य से इन लोगों ने विद्या अधिगत की, किसी दूसरे के घर जाकर या किसी विद्यालय (चतुष्पाठी) में अध्ययन नहीं किया। रुचि के अनुसार इनका कार्यक्षेत्र भिन्न भिन्न रहा है। नव्यन्याय में **यज्ञपति** तथा **जयदेव मिश्र** अधिक विख्यात हुए । तीन चार पीढी तक इन दोनों की सारस्वती प्रतिस्पर्धा अभिवृद्ध होती रही, दोनों की शिष्यपरम्परा एक दूसरे के खण्डन मण्डन में लगी रही। *तत्त्वचिन्तामणि* की **यज्ञपतिकृत** *प्रभा* का खण्डन **जयदेवमिश्र** कृत *तत्त्वचिन्तामणि* की व्याख्या *आलोक* में, पुनश्च *आलोक* का खण्डन **नरहरि उपाध्याय** के *दूषणोद्धार* में एवं इस *दूषणोद्धार* का खण्डन तथा *आलोक* का मण्डन **मधुसूदन ठक्कुर** कृत *कण्टकोद्धार* में देखा जाता है। दाक्षिणात्य, बंगाभिजन तथा मैथिल नैयायिक इस *आलोक* की व्याख्या करना अपनी प्रतिष्ठा समझते थे। अतएव प्रत्येक प्रान्त में इस *आलोक* का अध्ययन-अध्यापन तथा व्याख्या का प्रणयन बहुत दिनों तक होता रहा। पश्चात् **रघुनाथ शिरोमणि** की *दीधिति* एवं इसकी *जागदीशी* तथा *गादाधरी* व्याख्या का अध्ययन-अध्यापन

होने लगा। किन्तु **यज्ञपति** के स्वतन्त्र चिन्तन को सब ने सम्मान किया है। पक्षता प्रकरण में **सार्वभौम मत, मिश्रमत (पक्षधर मिश्र मत)** तथा उपाध्याय **मत (यज्ञपति उपाध्याय का मत)** विशद रूप में उल्लिखित है, भले **रघुनाथ शिरोमणि** की मान्यता यहाँ मान्य हुई है। **द्वितीय वाचस्पति मिश्र** की ख्याति धर्मशास्त्रीय निबन्धकार के रूप में अधिक मिली। अपनी अन्तिम कृति *पितृभक्तितरङ्गिणी* के उपसंहार में इन्होंने लिखा है –

शास्त्रे दश स्मृतौ त्रिंशन्निबन्धाः येन यौवने।
निर्मितास्तेन चरमे वयस्येष विनिर्ममे।।

न्यायदर्शन में *तत्त्वचिन्तामणिप्रकाश* तथा *न्यायतत्त्वालोक* नामक न्यायसूत्रवृत्ति इनकी कृति अधिक विख्यात हुई। इन्होंने न्यायतत्त्वालोक में उस सेतुका निर्माण किया है, जिससे प्राचीन एवं नवीन न्याय की चिन्तनधारा जोड़ी जा सकती है। गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ इलाहाबाद से १९९२ ई० में यह *न्यायतत्त्वालोक* प्रकाशित है।

किन्तु **शङ्कर मिश्र** का पाण्डित्य इन चारों में भी अधिक उत्कृष्ट प्रतीत होता है। इनकी मौलिक कृति एवं व्याख्यानों में ग्रन्थकार के अभिप्रायों को समझाने के लिए पूर्वपक्षों के मूल की उद्धरण के साथ प्रस्तुति से उत्तरपक्ष का परिज्ञान सुलभतया हो जाता है। वागाडम्बर भी इनको पसन्द नहीं है, जिससे पाठक का मन उलझता नहीं है। इनकी दृष्टि में विस्तृत उक्ति से मति मारी जाती है और संक्षिप्त उक्ति से अभिप्राय का ज्ञान नहीं होता है। अतः व्याख्याकार संक्षेप एवं विस्तार को छोड़कर अपेक्षित वक्तव्य के द्वारा अभिप्राय प्रकाशित करना चाहता है –

विस्तरोक्तं मतिं हन्ति समासोक्तं न गृह्यते।
समासविस्तरौ हित्वा वक्तव्यं यद् विवक्षितम्।।

इसका अनुपालन इन्होंने सर्वत्र किया है। भाषा, विषय तथा इसकी प्रस्तुति के सन्दर्भ में महाकवि **भारवि** की उक्ति से दार्शनिक शङ्कर मिश्र सहमत प्रतीत होते हैं। **भारवि ने** कहा है –

विविक्तवर्णाभरणा सुखश्रुतिः प्रसादयन्ती हृदयान्यपि द्विषाम्।
प्रवर्तते नाकृतपुण्यकर्मणां प्रसन्नगम्भीरपदा सरस्वती।।

भवन्ति ते सभ्यतमा विपश्चितां मनोगतं वाचि निवेशयन्ति ये।
नयन्ति तेष्वप्युपपन्ननैपुणा गम्भीरमर्थं कतिचित् प्रकाशताम्।।

स्तुवन्ति गुर्वीमधेयसम्पदं विशुद्धिमुक्तेरपरे विपश्चितः।
इति स्थितायां प्रतिपूरुषं रुचौ सुदुर्लभा सर्वमनोहरा गिरः।।

(सर्ग १४।४-६ श्लोक)

वर्द्धमान उपाध्याय का संक्षिप्त परिचय

खृष्टीय चतुर्दश शतक में विद्यमान **गङ्गेश उपाध्याय** के औरस पुत्र एवं शिष्य **वर्धमान उपाध्याय** ने अध्यापन तथा टीका प्रणयन के माध्यम से सबसे पहले *तत्त्वचिन्तामणि* के सम्प्रदाय को आगे बढ़ाया। इस पर अपनी व्याख्या लिखी। पुनश्च आचार्य **उदयन** तथा **श्रीवल्लभ** की कृतियों की व्याख्या की। इनकी शैली है कि ग्रन्थ के प्रासङ्गिक अभिप्राय को समझाकर '**अस्मत् पितृचरणास्तु**' कहकर स्वतन्त्र रूप से ये अपनी लम्बी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। *तत्त्वचिन्तामणि* के वक्तव्यों से पदार्थ का परिष्कार हो जाता है। *तत्त्वचिन्तामणि* के प्रत्येक प्रतिपाद्य-विषय यथाप्रसङ्ग इनकी व्याख्याओं में अवश्य समाहित हुआ है।

आचार्य **उदयन** की प्रायः सभी कृतियों पर इन्होंने व्याख्या लिखी है। इनकी व्याख्या का नाम '**प्रकाश**' है, किन्तु नैयायिक समाज में वह 'उपाय' नाम से अधिक विख्यात है। परवर्ती न्यायग्रन्थों में उपायकार के रूप में इनका परिचय मिलता है।

१. *परिशुद्धि-प्रकाश* या *न्यायनिबन्ध-प्रकाश*, २. *किरणावली-प्रकाश*, ३. *आत्मतत्त्वविवेक-प्रकाश*, ४. *न्यायकुसुमाञ्जलि-प्रकाश*, ५. *परिशिष्ट-प्रकाश*, ६. *लीलावती-प्रकाश*, ७. *खण्डनखण्डखाद्य-प्रकाश* तथा ८. *तर्कभाषा-प्रकाश* – इनकी कृतियाँ प्रसिद्ध हैं। न्यायसूत्र पर इनकी विस्तृत वृत्ति ९. *अन्वीक्षानयतत्त्वबोध* का पञ्चम अध्याय गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद से हाल में प्रकाशित हुआ है। इसी ग्रन्थ का त्रिसूत्री प्रकरण आरंभिक तीन सूत्रों की व्याख्या मातृका में सुरक्षित है। शेष अंश का परिचय या सन्धान कहीं नहीं मिलता है। **रामभद्र सार्वभौम** ने *न्यायरहस्य* में तथा **द्वितीयवाचस्पति मिश्र** ने *न्यायतत्त्वालोक* में आदरपूर्वक इस वृत्ति का उल्लेख किया है। इससे

इसकी प्रामाणिकता तथा लोकप्रियता सिद्ध होती है। इन्होंने १०. *खण्डनोद्धार* नामक मौलिक प्रकरण ग्रन्थ का प्रणयन कर अद्वैत मत का खण्डन किया था, जिसका अनुसरण **शङ्कर मिश्र** ने *भेदसिद्धि* लिखकर तथा **द्वितीय वाचस्पति मिश्र** ने *खण्डनोद्धार* लिखकर किया। किन्तु *न्यायतत्त्वालोक* में तथा अन्यत्र उपलब्ध इसका उल्लेख ही इसके अस्तित्व का साधक है, मातृका इसकी भी अनुपलब्ध है।

नव्य न्याय के क्षेत्र में **वर्धमान उपाध्याय** इतना अधिक प्रतिष्ठित हुए कि *तत्त्वचिन्तामणि* के व्याख्याकार अपनी व्याख्या में इनका उल्लेख करके आत्म-गौरव का अनुभव करते रहे।

ध्यातव्य है कि मिथिला में दो वर्धमान हुए। उनमें *प्रकाश व्याख्या* के प्रणेता **नैयायिक वर्धमान** प्राचीन हैं। *पञ्जी प्रबन्ध* से ज्ञात होता है कि आगे इनकी वंशवृद्धि प्रायः नहीं हुई, कन्या पक्ष में इनकी सन्ततियाँ बढ़ती रही। विद्वानों की दृष्टि में इनका समय त्रयोदश शतक है। अपर **वर्धमान** *दण्डविवेक*कार के रूप में धर्मशास्त्र के विद्वान् हुए हैं। अपने ग्रन्थ में इन्होंने दार्शनिक श्रेष्ठ **शङ्कर मिश्र** तथा **द्वितीय वाचस्पति मिश्र** का गुरु के रूप में उल्लेख किया है। इनका समय पञ्चदश शतक माना गया है।

रुचिदत्त का संक्षिप्त परिचय

खृष्टीय पञ्चदश शतक के चतुर्थ चरण में विद्यमान आलोक व्याख्याकार **जयदेव मिश्र** के शिष्य एवं सगोत्र (सोदरपुर कुल संभूत) **देवदत्त मिश्र** के पुत्र **रुचिदत्त मिश्र** *तत्त्वचिन्तामणि* की व्याख्या *प्रकाश* का प्रणयन किया है, जो सम्पूर्ण भारतवर्ष में परिचित एवं लब्धप्रतिष्ठ है। राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ तिरुपति (आन्ध्रप्रदेश) से इसके प्रत्यक्ष एवं अनुमान खण्ड का प्रकाशन हुआ है। बहुत पहले इसका शब्दखण्ड काशी की विद्यासुधानिधि पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। इसके अतिरिक्त इनकी तीन कृतियाँ – *कुसुमाञ्जलि प्रकाश मकरन्द*, *द्रव्य किरणावली प्रकाश विवृति* तथा *न्याय लीलावती प्रकाश* उपलब्ध है। *किरणावली प्रकाश विवृति* आंशिक रूप से एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता से कभी प्रकाशित हुआ था। *कुसुमाञ्जलि प्रकाश* की व्याख्या *मकरन्द* चौखम्बा संस्कृत सिरीज से प्रकाशित हुआ था। अभी इस संस्करण में भी उसका

समावेश किया गया है।

दाक्षिणात्य विद्वानों में इसका अधिक आदर हुआ है। दाक्षिणात्य विद्वानों के द्वारा इनकी कृति की व्याख्या के द्वारा प्रचार-प्रसार किया गया। **धर्मराजाध्वरीन्द्र**, इनके पुत्र **रामकृष्ण अध्वरि**, **वैद्यनाथ दीक्षित** तथा **ताक्ष्र्य नारायण** आदि ने इनकी कृति *तत्त्वचिन्तामणि* की व्याख्या *प्रकाश* की व्याख्या की है। इनमें से **रामकृष्ण अध्वरि** की *न्यायशिखामणि* उक्त विद्यापीठ से प्रकाशित हुई है।

वरदराज मिश्र का संक्षिप्त परिचय

न्यायकुसुमाञ्जलि की प्राचीनतम व्याख्या बोधनी रामदेव मिश्र के पुत्र मैथिल नैयायिक वरदराज मिश्र की कृति चिरकाल से प्रसिद्ध है। इनका वैयक्तिक परिचय उपलब्ध नहीं है। वैयक्तिक परिचय मिथिला के पञ्जी प्रबन्ध से ज्ञात हो सकता था किन्तु पञ्जी प्रबन्ध से लगभग दो सौ वर्ष पहले इनका आविर्भाव होने से हम लोग यहाँ निरुपाय हैं। किन्तु शास्त्रीय परिचय इनकी दो कृतियों में उपलब्ध है। प्रकरण ग्रन्थ तार्किक रक्षा तथा न्यायकुसुमाञ्जलि की व्याख्या बोधनी में। पदवाक्य प्रमाणज्ञ वरदराज मिश्र अपने समय में सुधीवृन्द के द्वारा समादृत रहे हैं। अपने विषय में इन्होंने तार्किक रक्षाके अन्त में कहा है –

न्यायविद्याविदग्धस्य मीमांसा पारदृश्वनः
एवं आलोड्य दुस्तरगभीरतरान् प्रबन्धान,
वाचस्पतेरुदयनस्य तथा परेषाम् ।।

इससे प्रतीत होता है कि **वरदराज मिश्र आचार्य उदयन** तथा *तात्पर्यटीका* कार **वाचस्पति मिश्र** के अधिक प्रशंसक रहे हैं। अतएव *न्यायकुसुमाञ्जलि* की व्याख्या का प्रणयन इन्होंने किया है तथा *तार्किक रक्षा* में अनेकत्र इनका तथा इनके मतों का प्रचुर उल्लेख किया है। *बोधनी* व्याख्या लिखने का प्रयोजन प्रदर्शित करते हुए इन्होंने कहा है कि उदयनाचार्य की युक्तियों के गहन (बीहर) मार्ग में मैथिलेतर पाठकों का डेग-डेग पर गिरने की संभावना है। अतः उनकी सुविधा के लिए मैं इस व्याख्या की रचना कर रहा हूँ।

औदयने पथिगहने विदेशिकः प्रतिपदं स्खलति लोकः।
तस्य कृते कृतिरेषा कुसुमाञ्जलि बोधनी जयति।।

इन्होंने **उदयन** के *कुसुमाञ्जलि* के स्टाइल में अपनी *तार्किक रक्षा* का प्रणयन किया है। अत: संक्षेप में श्लोकबद्ध करके विषय कहकर गद्य में सारसंग्रह यहाँ देखा जाता है। तीन परिच्छेदों में विभक्त इस ग्रन्थ के प्रथम परिच्छेद में न्याय दर्शन के चौदह पदार्थों का विवेचन करके अन्य दो परिच्छेदों में यथाक्रम जाति और निग्रहस्थान का विवेचन हुआ है। *न्यायपरिशिष्ट* में **आचार्य उदयन** ने स्वतन्त्र रूप से इन दोनों पदार्थों का विचार प्रस्तुत किया है। प्रतीत होता है कि उन्हीं का अनुसरण इन्होंने *तार्किकरक्षा* के दो परिच्छेदों में किया है। **महामहोध्याय फणिभूषण तर्कवागीश** ने *न्यायदर्शन की अपनी बङ्ला व्याख्या* में प्रमाण रूप में इस *तार्किकरक्षा* का अधिक उपयोग किया है।

यद्यपि प्रकाशन व्यय दाता ट्रस्ट ने पहले आमोद प्रकाश तथा मकरन्द व्याख्याओं के साथ न्यायकुसुमाञ्जलि के प्रकाशन का संकल्प किया था। उन तीनों ही व्याख्याओं का मूल के साथ प्रकाशन के अन्तिम स्तर की स्थिति में *बोधनी* के प्रकाशन का भी संकल्प लिया गया। अतएव *मूल कुसुमाञ्जलि* के आद्यन्त के प्रतीक मोटे अक्षरों में देकर यहाँ *बोधनी* को जोड़ दिया गया है। इस समय यह निर्णय भी लिया गया कि उदयन ग्रन्थावली पाँच भागों में प्रकाशित किया जाये। *आत्मतत्त्व विवेक कल्पलता* का तथा *मूल न्यायपरिशिष्ट* एवं *लक्षणमाला* का प्रथम भाग में प्रकाशन हुआ। द्वितीय भाग में इसी ग्रन्थ की **रघुनाथ शिरोमणि** कृत *दीघिति* एवं **मेघ प्रसिद्ध भगीरथ ठक्कुर** की *प्रकाशिका* (जलद) व्याख्या तथा *न्याय परिशिष्ट* की **वर्धमान उपाध्याय**कृत *प्रकाश* व्याख्या का प्रकाशन संकल्पित है। तृतीय भाग मे दो स्तवक *न्याय कुसुमाञ्जलि आमोद प्रकाश मकरन्द* तथा *बोधनी* के साथ प्रकाशित हो रहा है, चतुर्थ भाग में तीन से पाँच स्तवक *न्यायकुसुमाञ्जलि* का इन चार व्याख्याओं के साथ प्रकाशन कर्तव्य है और पञ्चम भाग में लक्षणावली शेष शार्ङ्गधर तथा विश्वनाथ झा की व्याख्या के साथ प्रकाशनीय है। विश्वविख्यात दार्शनिक मित्रमणि **गोस्वामी श्याममनोहर जी** का मत है कि पूर्वजों का ऋण उनके ग्रन्थों के अध्यापन तथा प्रकाशन से ही उतर सकता है। न्याय दर्शन के मूर्धन्य **आचार्य उदयन** की कृतियों का व्याख्या के साथ प्रकाशन में उक्त ट्रस्ट की रुचि उत्पन्न हुई। मैं आत्म गौरव का अनुभव करता हूँ कि उक्त विद्वद्वरेण्य **श्रीमान् श्याम मनोहर जी** के संकेत पर उक्त ट्रस्ट ने इस ग्रन्थों के संपादन का भार मुझ पर सौंपा।

अतएव मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ कि **वल्लभ विद्यापीठ श्री विट्ठलेश प्रभु चरण आ०हो० ट्रस्ट वैभव कोऑपरेटिभ सोसाइटी कोल्हापुर** के सदस्यवृन्द का तथा अधमर्णता ज्ञापित करता हूँ विद्यावदातान्तःकरण **गोस्वामी श्रीमान् श्याममनोहर जी** के प्रति। एकेडमी प्रेस इलाहाबाद के व्यवस्थापक **श्रीमान् सुरेन्द्रमणि त्रिपाठी** तथा उनके सहयोगी वृन्द विशेषकर **श्री ब्रह्मानन्द मिश्र** के प्रति मेरी असीम शुभकामनायें अर्पित हैं। इन लोगों ने मेरा भरपूर सहयोग किया। सुहृदवर प्रोफेसर **श्री श्रीनारायण मिश्र** (बी.एच.यू.) के प्रति मेरा नमोवाक अर्पित है। आशीर्वाद करता हूँ राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान (मानित विश्वविद्यालय) गङ्गानाथ झा परिसर इलाहाबाद की प्राचार्या चि० सौ० श्रीमती **शैलकुमारी मिश्र** तथा उसी संस्था के उपाचार्य डा० **बनमाली विश्वाल** को। इन लोगों ने इस सारस्वत अनुष्ठान में अनेक स्तर पर मेरा सहयोग किया है। आशा एवं विश्वास है कि इसी तरह आगे भी ये मित्र वृन्द मेरे सारस्वत अनुष्ठान में सदा सहयोग करते रहेंगे। इन लोगों की अभ्युन्नति माँ जगदम्बा से प्रार्थित है।

सुधी पाठकवृन्द से विनीत प्रार्थना है कि मानव सुलभ मेरी अज्ञानता एवं अनवधानता जन्य त्रुटियों का गजनिमीलन कर शिव की तरह गुण का ग्रहण तथा दोष का परिमार्जन करेंगे। शिवजी चन्द्रमा को शिर पर रखते हैं और विष का निगिरण कर लेते हैं।

गुणदोषौ बुधो गृह्णन्निन्दुक्ष्वेडाविवेश्वरः।

शिरसा श्लाघते पूर्वं परं कण्ठे नियच्छति।।

द्वितीय वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि – **को न मुह्यति वचः पथे चरन्**। श्लोक वार्त्तिक में भट्ट कुमारिल ने कहा है, **तद्विद्वांसोऽनुगृह्णन्तु चित्तश्रोत्रैः प्रसादिभिः**। यही मेरी भी शरण है।

बिट्ठो (मिथिला) सुधीजनों का आश्रव

मौनी अमावस्या २५।१।०९ ई० **किशोरनाथ झा**

❑❑

कुसुमाञ्जलेर्विषयावतरणम्

न्यायकुसुमाञ्जलिः

प्रथमः स्तबकः

सत्पक्षप्रसरः सतां परिमलप्रोद्बोधबद्धोत्सवो
विम्लानो न विमर्दनेऽमृतरसप्रस्यन्दमाध्वीकभूः।
ईशस्यैष निवेशितः पदयुगे भृङ्गायमाणं भ्रम-
च्चेतो मे रमयत्वविघ्नमनघो न्यायप्रसूनाञ्जलिः।।१।।

आमोदैः परितोषिताः परिषदः प्रत्येकमाशाभृतां
सान्द्रैः पिञ्जरिताः परागपटलैराशावकाशा दश।
आहूता मकरन्दबिन्दुनिकरैः पुष्पन्धयश्रेणयो
येनाका[1]रि(?) स वः पुनातु नटतः शम्भोः प्रसूनाञ्जलिः।।

प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यङ्गमभिधेयसम्बन्धमभिदधान एवेष्टदेवताकीर्तनरूप मङ्गलमाचरन्नाह – **सत्पक्षेति**। एष ममानघन्यायप्रसूनाञ्जलिः। सतां मुमुक्षूणां सुधियां वा चेतो **रमयतु** सुखयतु। दुःखनिदानहीनं करोतु। अनघो निर्दोषः। **न्यायः** पञ्चरूपोपेतलिङ्गप्रतिपादकं वाक्यजातं तादृशवाक्यप्रतिपाद्यं लिङ्गजातञ्च। नीयतेऽभिमतसिद्धिरनेनेति योगबलात्। तदेवाह्लादकत्वात् प्रसूनं, तेषामेव बहूनामञ्जलिरिवा**ञ्जलिः** समूहः। अनघत्वमेवाह–**सदिति**। सति प्रामाणिके **पक्षे प्रसरः** प्रकृष्टं ज्ञानं प्रमारूपं यस्मात् यस्य वा, तेनाश्रयासिद्धि भागासिद्धिस्वरूपासिद्धिसिद्धसाधनानां निरासः। व्याप्यत्वासिद्धिव्यभिचारविरोधान् परिहर्तुमाह – **परिमलेति**। सतां **परिमलप्रोद्बो**धेन व्याप्तिनिश्चयेन **बद्ध** उत्पादित **उत्सवो** येन स तथा। असत्प्रतिपक्षितत्वमाह – **विम्लान इति**। समबलत्वाभिमतोपस्थाने **न विम्लानः** न हीनबलः। न्यायस्य प्रयोजनमाह – **अमृतेति**। **अमृतं** मोक्षस्तस्य **रसो**ऽभिलाषस्तदधीनेच्छाविषये मोक्षोपाये निदिध्यासने साक्षात्कारे च प्रणिधानं **प्रस्यन्दः** स एव **माध्वीकं** तस्य

१– येनाह्वाय इति पाठः समुचितः प्रतिभाति।

प्रकाशः

भक्तानां कामदस्तुष्टो रुषा कामं दहन्नपि।
अपि ज्ञानमयः स्थाणुर्यस्तमीशं स्तुवीमहि।।१।।

यतः प्रकाशते ज्योतिरपि वाचामगोचरः।
कायेन मनसा वाचा परां वाचं नमामि ताम्।।२।।

न्यायाम्भोजपतङ्गाय मीमांसापारदृश्वने।
गङ्गेश्वराय गुरवे पित्रेऽत्रभवते नमः।।३।।

सदाचारानुमितश्रुतिबोधितकर्त्तव्यताकं प्रारिप्सितप्रतिबन्धविघ्नविघातकमिष्टदेवताकीर्त्तनरूपं सच्छब्दप्रयोगरूपञ्च मङ्गलमाचरन्नेव प्रयोजनाभिधेयसम्बन्धानाह **सत्पक्षेति। एषोऽनघो** वाक्यदोषरहितः। विषयाशुद्धेः पूर्वार्द्धेनैव निरासात्। नीयते प्राप्यते विवक्षितार्थसिद्धिरनेनेति **न्यायः।** समस्तरूपोपपन्नलिङ्गबोधकवाक्यजातम्। स एवाह्लादकतया **प्रसूनम्;** तदेवावान्तरवाक्यघटितत्वेन **अञ्जलिः। मम चेतः, अविघ्नं** यथा स्यादेवं **रमयतु** दुःखसामग्रीविहीनं करोतु। **ईशस्य पदयुगे रमयतु** तदेकाग्रं करोत्विति वा। मनः कीदृशम्? **भृङ्गायमाणम्,** भृङ्ग इव मकरन्दे संसारिणां दुःखविगमोपाये सतृष्णम् **भ्रमद्** अनुसरत्। दुःखविगमोपायम् इत्यर्थात्। तत्र सतृष्णस्य तदन्यानुसरणानौचित्यात्, तत्साधनानुसरणस्यापि तदर्थतया तदनुसरणरूपत्वात्। परदुःखं दृष्ट्वा दुःखितस्य कारुणिकस्य तन्निदानोच्छेदे तृष्णा भवत्येवेत्यनुभवसिद्धम्।

मकरन्दः

भूतप्रभूतविकटध्वनिभीतिमत्या मानग्रहं मनसि धर्तुमपारयन्त्या।
आलिङ्गितो गिरिजया चिरमस्मदादेरङ्गेषु मङ्गलमनङ्गरिपुर्दधातु।।१।।

कुसुमाञ्जलि**मकरन्दः श्रीरुचिदत्तेन** भण्यते कृतिना।
स्तवकोपमर्द्दभाजां बुधमधुपानां विनोदाय।।२।।

कामं दहन्नपि कामद इति विरोधाभासः। कामः=काम्यम्, अर्श आदित्वात् कर्मणि प्रत्ययाद्वा। **स्थाणुः**=स्थिरः। अथ च स्थाणोर्दारुविशेषस्य ज्ञानसम्बन्धो विरुद्ध इति विरोधाभासः। यद्यपि वृक्षादेरपि चेतनत्वं, तथापि दारुविशेषे न तथात्वम्। यद्वा **ज्ञानमय** इत्यभिव्याप्तौ मयट्, भगवज्ज्ञानस्य व्याप्यवृत्तित्वादिति विरोधाभासः।

प्रकाशः – यद्वा, **मम चेतो रमयतु** सफलयतु। परोपकारकरणाद्, **भृङ्गायमाणम्** उपकारलुब्धम्। **भ्रमत्** दुःखितमुपकर्तुं व्याप्रियमाणमित्यर्थः।

तथापि भूयसो धूमादिविषयस्य न्यायस्य सत्त्वात् किमनेनेत्यत आह- **ईशस्य पदयुगे** पद्यते ज्ञायतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या प्रत्यायकयुगे प्रमाणतर्करूपे। **निवेशितः** तद्विषये उत्पादितः। अन्वयि व्यतिरेकि वा पदयुगम्। *वेदस्य* पौरुषेयत्वे केवलस्य व्यतिरेकिणोऽपि दर्शयिष्यमाणत्वात्। यद्वा, **पदं** ज्ञानं तद्युगं तदुभयोत्पादितम्, निमत्तसप्तम्या ज्ञानद्वयार्थमित्यर्थः। प्रमाणान्तरव्युत्पादनस्याप्यत्र तदर्थत्वादिति भावः। न तु शब्दानुमानरूपं पदयुगमत्र विवक्षितम्। श्रुतो हि- इत्यादिना तदतीतत्वोपदर्शनविरोधात्, ग्रन्थे च शब्दोपदर्शनस्यानुमाने तदविरोधमात्रप्रदर्शनतात्पर्य्यकत्वात्।

मकरन्दः:- अनघत्वमपापत्वमत्राप्रकृतमित्यत आह **वाक्यदोषेति**। **वाक्येति** स्वरूपनिर्वचनम्। तथा च दोषराहित्यमात्रमत्र विवक्षितम्। तत्र दोषो द्विविधो वाक्यस्य, अर्थगतो वाक्यगतश्च। तत्र पूर्वार्द्धश्लोकेन आद्ये निरस्तेऽपि, अन्त्यस्य निरासो न लभ्यत इत्यर्थः। नन्वेवमर्थदोषनिबन्धनदोषविशेषाभावे लब्धेऽपि तत्सामान्याभावो न लब्धः, शब्ददोषात्मकविशेषाभावस्याप्राप्तत्वादित्यत आह **नीयत इति**। तथा च बोधकत्वेन सोऽपि सूचित इति भावः।

नचैवं **समस्तेत्यादिना** विषयशुद्धेरपि लब्धत्वात् पूर्वार्द्धवैयर्थ्यम्। तत्त्वेन बोधकस्याभाससाधारणस्य विवक्षितत्वादिति भावः। *केचित्तु* एकविशेषाभावस्य पूर्वार्द्धेनैव लब्धत्वादपरविशेषाभावमात्रलाभार्थं **वाक्यपदम्**। नचैवमनघत्वमित्याद्यग्रिमग्रन्थविरोधः। अनघपदेन विषयाशुद्धेरप्रतिपादितत्वात्, अर्थदोषनिरासार्थमित्यस्यैव वक्तुमौचित्यात्। शब्ददोषद्वैविध्ये- नार्थदोषनिबन्धनशब्ददोषाभावस्य ततः सम्भवादित्याहुः। अनघत्वपदं यत् कवित्वेऽस्ति तद्भिन्नमनघत्वं स्वातन्त्र्येण लिखितं परग्रन्थे। तत्रापि सामान्यशब्दस्यानघत्वमित्यस्य वक्ष्यमाणस्यार्थदोषरहितत्वमिति विशेषपरत्वादित्यर्थः।

अवान्तरघटितत्वमात्रं प्रयोजकं, वाक्येति प्रकृताभिप्रायकम्। विशिष्टस्य प्रसूनाञ्जलावभावात्। रागित्वनिरासार्थमाह **दुःखेति**। तर्हि तत्साधनं नानुसरेदित्यत आह **तत्साधनेति**।

आमोदः- भूरुत्पत्तिस्थानम्। यद्वा अमृतरसो रस्यमानममृतम् 'कृदभिहितो भावो द्रव्यवत् प्रकाशते' इति न्यायात्। तदेव प्रस्यन्द उत्पत्तिस्तदेव माध्वीकं तस्य भूरुत्पत्तिस्थानम्। एतस्मान्न्यायान्मनने सति मुक्तिरिति भवति प्रयोजनवान् न्यायः। अमृतं मोक्षस्तस्य रस इच्छा तस्य प्रस्यन्द उत्तरोत्तरानुवृत्तिस्तदेव माध्वीकं तस्य भूरित्यन्यः। भवति हि यथा यथा सन्निहितोपायप्राप्तिस्तथा तथा फलोत्कण्ठोद्रेक इति तेषामाशयः। न्यायान्मनने सति संक(शङ्क?)सुकतानिवृत्तौ निर्भरं निदिध्यासनादावसङ्गो न्यायप्रयोजनं, फलेच्छाया उपायेच्छां प्रति हेतुत्वात्। **ईशस्येति।** **ईशः** कर्ता तस्य **पदयुगं** स्थानद्वयं जीवात्मस्वरूपं परमात्मस्वरूपं च, तत्र **निवेशितः**, तत्साधनाय प्रयुक्तः 'द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये' इति **श्रुतेः**।

प्रकाशः

अनघत्वं न्यायानामुपपादयन्नाह **सत्पक्षेति।** **सति** प्रामाणिके, **पक्षे** सिषाधयिषितसाध्यधर्म्मके धर्म्मिणि, **प्रकर्षेण सरो** ज्ञानं यस्मात्। अनेनाश्रयासिद्धिबाधसिद्धसाधनस्वरूपासिद्धिभागासिद्धयो निरस्ताः। तर्कपक्षे **सन्** निर्दोषः। **पक्षप्रसरः** पक्षव्यापकोऽनिष्टप्रसञ्जनरूपस्तर्को यस्मात्। **सतां** परामर्शकुशलानाम्। **परितः** सपक्षे सत्तया विपक्षे चासत्तया यो **मलः** सम्बन्धो व्याप्तिरूपस्तस्य यः **प्रोद्बोधः** अबाधितप्रतिबन्धनिश्चयः। साध्यसाधनयोः, साध्याभावसाधनाभावयोर्वा, आपाद्यापादकयोश्च। तेन **बद्धः** स्थिरीकृत **उत्सव** आनन्दो येन स तथा। नित्यसापेक्षत्वादसमर्थेऽपि समासः। तेनान्वयव्यतिरेकिणि सपक्षासपक्षयोः सत्त्वासत्त्वे केवलव्यतिरेकिणि च विपक्षासत्त्वं दर्शितमिति व्याप्यत्वासिद्धिसव्यभिचारविरुद्धनिरासः। **विमर्दनं** तद्विषयीभूतप्रमाणविरोधि प्रमाणप्रदर्शनम्, तेन **न विम्लानो** न कार्य्यक्षम इति सत्प्रतिपक्षविरहो दर्शितः।

मकरन्दः- ननु तर्कविषयो न न्याय इत्यरुचेराह **अन्वयीति।** **वेदस्येति।** इदञ्च सम्भवसौकर्यादुक्तम्। वस्तुतोऽन्वयव्यतिरेकिणोऽपि उदाहरणादिभेदेन न्यायभेदस्य सर्वसम्मतत्वादिति वदन्ति। तच्चिन्त्यम्। एवमपि विषयिणो भेदेऽपि विषयस्यैक्यमेवेति युगत्वानुपपत्तेः। व्यक्तिभेदविवक्षया तथात्वेऽप्यनुपपत्तेः। आनन्त्यात्। **निमित्तेति।** न च कर्मयोगाभावान्नेयं सप्तमी साधुरिति वाच्यम्। **निवेशितो** निवेशनां प्रापित इत्यन्तर्भूतकर्मतया तद्योगबलादुपपत्तेरित्याहुः। **प्रामाणिक इति।** पक्षतावच्छेदकवतीत्यर्थः। तेन पक्षविशेषणाप्रसिद्ध्याश्रयासिद्धिः परिहृता। अन्यथाऽव्यावर्त्तकतापत्तेः। अप्रामाणिकपक्षत्वेऽपार्थकतयाऽनघपदादेव व्यावृत्तेः। *प्राचीन*मतेनेदमि*त्यन्ये*।

आमोदः–पद्यतेऽनेनेति पदं प्रमाणं, तद्युगमनुमानागमरूपं वा, संवादार्थमागमस्यापि दर्शनीयत्वात्। तर्कानुमानरूपं वा **पदयुगम्**। अन्वयव्यतिरेकानुमानरूपं वा। वेदकर्तृत्वक्षितिकर्तृत्वानुमानद्वयरूपं वा। चरमलिङ्गपरामर्शानुमितिरूपं वा पदयुगं, ज्ञानद्वयम्। तदर्थं **निवेशितः** प्रतिज्ञाद्यानुपूर्व्या प्रयुक्तः। निमित्तसप्तम्याः प्रयोगः। **भृङ्गायमाणमिति**। भृङ्ग इव आत्मानमाचरत्। यथा कुसुमलुब्धा भृङ्गास्तथा न्यायलुब्धं चेतः। अतएव भ्रमत् मोक्षोपायं न्यायमनुसरत्।

कुसुमपक्षे तु **सत्पक्षो** विदग्धानुकूलः **प्रसवो** विकाशो यस्य। **सतां** विदग्धानां, **परिमलः** सौरभविशेषः, तस्य **प्रोद्बोध** उत्कर्षस्तेन **बद्ध उत्सवो** येन। नित्यसापेक्षत्वात् समासः। **विमर्दने** करसंश्लेषे **न विम्लानो** न मालिन्यावस्थां गतो**ऽमृतरसवत् प्रस्यन्दमानं** यन्**माध्वीकं** मधु तस्य **भूः** स्थानम्। **तस्य** धातुः परमेश्वरस्य वा।।१।।

प्रकाशः–ननु तथाविधप्रमाणव्युत्पादनं न स्वतः प्रयोजनं, प्रयोजनवत्सन्निधाव श्रवणाच्च न तदङ्गमित्यत आह **अमृतेति**। **अमृतं** मोक्षः, तत्र **रस** इच्छा। रस्यमानममृतमिति यावत्। 'कृदभिहितो भावो द्रव्यवत् प्रकाशते' इति न्यायात्, तस्य **प्रस्यन्दः** असम्बद्धसम्बन्धोपहिता क्रिया, उत्पत्तिरिति यावत्। तदेव **माध्वीकं** मधु, तस्य **भूरुत्पत्तिस्थानम्**। रसपदेन स्वरूपत इष्यमाणतां दर्शयता दुःखाभावोऽपि नावेद्यः पुरुषार्थ इति निरस्तम्। **माध्वीक**पदेन चोत्कटेच्छाविषयत्वं दर्शयता सुखहानावपि तुल्याऽऽयव्ययतया नायमपुरुषार्थ इति दर्शितम्। **अमृतं** मोक्षः, तस्य **रस** इच्छा, तस्य **प्रस्यन्दः** प्रवाह उत्तरोत्तरानुवृत्तिः, स एव **माध्वीकम्**,

---

मकरन्दः–सिद्धसाधनवारणायाह **सिषाधयिषितेति**। सिषाधयिषितं साध्यं धर्मो यस्येति बाधव्युदासः। **धर्मिणि** हेतूभूतधर्मवतीति स्वरूपासिद्धिव्युदासः। **प्रकर्षेण** व्याप्त्या, तेन भागासिद्धिव्युदासः। ज्ञानं हेतोरित्यर्थात्। न चाबाधितेऽपि बाधावतारात् तन्न्यायाभासस्य न व्युदास इति वाच्यम्। व्यतिरेकनिश्चये सिषाधयिषाविरहेण पक्षपदादेव तन्निरासात्। तस्य न्यायत्वादेव वा।

निर्दोष इति। न चाग्रे आपाद्यापादकव्याप्तिप्रदर्शनेन मूलशैथिल्यस्य विमर्दनाभावेन मिथोविरोधस्य च निरसनात् पुनरुक्तिरिति वाच्यम्। विशेषाभावस्य सामान्याभावोपपादकतया हेतुहेतुमद्भावेनान्वयादि*त्येके*। निर्दोषपदं तदतिरिक्तदोषाभाववत्परमि*त्यन्ये*। एतावता पर्यवसितमर्थमाह। **अबाधितेति**। अन्यथा प्रतिबन्धपदार्थानन्वयापत्तेः।

प्रकाशः– तस्य **भूरुत्पत्तिस्थानम्**– इति तु न व्याख्यानम्। मोक्षेच्छायाः पूर्वं मोक्षज्ञानादेव सञ्जातत्वाद्, उत्तरोत्तरानुवृत्तेरपि उत्तरोत्तरज्ञानसाध्यत्वात्। एतावता मोक्षजनकेश्वरविषयकानुमितिकरणलिङ्गपरामर्शविषयलिङ्गप्रतिपादनद्वारा मोक्षानुकूलत्वमस्य दर्शितम्।

अथ च न्याय इव **प्रसूनाञ्जलिः** अञ्जलिस्थानि कुसुमानि, तत्रानघत्वं न्यायोपात्तत्वमपर्य्युषितत्वादि च। रूपकपक्षेऽपि न साधर्म्यं विना तदिति तदुभयसाधर्म्यमाह– **सत्पक्षेति**। पचि व्यक्तीकरणे इति धात्वनुसारात् पक्षशब्दो दलवचनः। सत्पक्षाणां प्रसरो यत्र, सता पक्षेणानुकूलेन रविकिरणादिना विकाशो यस्येति वा। तेन हस्तादिना कलिकाप्रकाशो निषिद्धः। यद्वा, **सत्पक्षप्रसरः** सदनुकूलविकाशः। **सतां** सुकृतिनामनुपहतघ्राणानां, **परिमलः** सौरभविशेषः, तस्य यः **प्रोद्बोधः** प्रकृष्टज्ञानम्। तेन **बद्धः** स्थिरीकृत **उत्सवो** येन स तथा। **विमर्दने** करपुटसम्पर्के, **न विम्लानो** नान्यथाभूतसंस्थानः। अमृतप्रायो रसः, तं प्रस्यन्दते इति **प्रस्यन्दः**। कर्मण्यण्। **अमृतरसप्रस्यन्द** एव **माध्वीकम्**, तस्य भूरुत्पत्तिस्थानम्। यद्वा, अमृतमिव रसो यस्य। प्रस्यन्दते इति प्रस्यन्दः। अनयोः कर्मधारयः।।१।।

मकरन्दः– नित्येति। सामर्थ्ये समासात् सापेक्षमसमर्थं भवतीति यद्यपि सापेक्षे न समासः, तथापि नित्यसापेक्षे तदनिषेधादस्य च तथात्वादत्र समास इत्यर्थः। **कृदभिहित इति**। कृदभिहितो भावो द्रव्यवत् प्रकाशते, कृदभिहितद्रव्यवद् भासते। तेन रस्यमानममृतमिति यथा कृदभिहितद्रव्ये प्रत्ययस्तथा द्रव्यसमभि व्याहृतकृदभिहितभावेऽपीत्यर्थः। इदञ्च तात्पर्य्यवशादित्यवधेयमित्याहुः।

असम्बद्धेति। आद्यक्षणेत्यर्थः। इहापि कृदभिहित इति न्यायात् प्रस्यन्दमानेत्यर्थः। तेन तस्य माध्वीकपदादुत्कटेच्छाविषयत्वमिति नाग्रिमग्रन्थविरोधः। अन्यथोत्पत्तेरुत्कटेच्छाविषयत्वप्रदर्शनप्राप्तौ तद्विरुद्ध्येतेत्यवधेयम्। **रसपदेनेति**। एतच्चोपलक्षणम्। प्रस्यन्दपदेनोत्पन्नत्वं दर्शयताऽत्यन्ताभावत्वादिना अपुरुषार्थत्वशङ्का निराकृतेत्यपि बोध्यम्। संयुक्तकरद्वयात्मकस्याञ्जलेर्माध्वीकोत्पत्तिस्थानकत्वादिकमसम्भवीत्यत आह **अञ्जलिस्थानीति**।१।

स्वर्गापवर्गयोर्मार्गमामनन्ति मनीषिणः।
यदुपास्तिमसावत्र परमात्मा निरूप्यते।।२।।

आमोदः- न्यायविषयं विविच्य दर्शयति - **स्वर्गेति**। स्वर्गयोरिव दुःखासम्भिन्नतयाऽ**पवर्गयो**र्जीवन्मुक्तिपरममुक्त्योर्**मार्ग**मुपाय**मामनन्ति** कथयन्ति। **उपास्तिम्** उपासनाम्। 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' 'द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये' इत्यादिश्रुतिभ्यां परमात्मवेदनस्यापि साक्षाद्वा स्वात्मगोचरसाक्षात्कारद्वारा वा मोक्षहेतुत्वात् तन्निरूपणमपि सफलमिति भावः।।२।।

प्रकाशः- ननु कर्मसु विद्यमानेषु जन्मानुच्छेदात्, तेषां चाभुक्तानामक्षयाद् भोगेन च तद्धेतुना पुनः कर्मान्तरार्जनात् क्वाशेषविशेषगुणोच्छेदो मोक्षः। नापीश्वरे प्रमाणव्युत्पादनस्य मोक्षहेतुत्वे मानमिति तन्निष्फलम्। किञ्च, ईश्वरमननस्य मोक्षहेतुत्वे मानाभावः 'आत्मा वा अरे श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः सक्षात्कर्तव्य' इति *श्रुतौ* सामानाधिकरण्याद् यद्विषयकः साक्षात्कारो मोक्षजनकस्तद्विषयकं मननं मोक्षहेतुः। साक्षात्कारश्च न जीवात्ममात्रगोचरो, न वेश्वरविषयकस्तथा। मिथ्याज्ञानध्वंसद्वारा ह्यस्य तद्धेतुत्वम्। न च जीवात्ममात्रगोचरमीश्वरगोचरं वा मिथ्यज्ञानं संसारहेतुर्येन तदुच्छेदस्तद्द्वारं स्यात्। किन्तु स्वात्मगोचरं मिथ्याज्ञानमिति तत्तत्त्वसाक्षात्कार एव मोक्षहेतुरित्यत आह **स्वर्गेति**। स्वर्गयोरुत्कटरागगोचरयोः, अपवर्गयोरपरपरयोर्मुक्त्योः, मार्गमुपायमित्यर्थः। तथा च परापरमुक्त्योरेकानुष्ठानसाध्यतां दर्शयता जीवन्मुक्तिसहिता परममुक्तिः साध्येति दर्शितम्। तेन च न प्रवृत्तिः प्रतिसन्धानाय हीनक्लेशस्य देहिन इत्यपूर्वकर्म्मोपार्ज्जनशङ्का निरस्ता। ईश्वरमननञ्च न तद्गोचरं प्रमाणमव्युत्पाद्य शक्यं व्युत्पादयितुमिति तद्बोधकप्रमाणव्युत्पादनमपि मोक्षहेतुः। प्रमाणव्युत्पादने च तत एव मननसिद्धौ न मननपर्य्यन्तं ग्रन्थव्यापारः, धूमोऽस्तीति वाक्यस्य यथा वह्निविषयानुमितिपर्य्यन्तव्यापारत्वमिति। ईश्वरमननाङ्गतया तत्प्रमाणव्युत्पादनमपि प्रयोजनवदिति सूचितम्। ईश्वरमननञ्च मोक्षहेतुः। 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति' इति *श्रुत्या* स्वात्मज्ञानस्येव ईश्वरज्ञानस्यापि

मकरन्दः- किञ्चेति। तथा चेश्वरमननद्वारापि तद्व्युत्पादनं न मोक्षप्रयोजनमिति भावः। ननु प्रमाणव्युत्पादनरूपग्रन्थस्य शब्दात्मकस्येश्वरानुमितिजनकत्वे जातिसङ्कर इत्यत आह **प्रमाणव्युत्पादने चेति**।

तमेवेति। प्रकरणादीश्वरस्यैव तत्पदादुपस्थितेरिति भावः। ननूक्तयुक्त्येश्वरज्ञानस्य मुक्त्यहेतुत्वेनायोग्यतया तदपरामर्शे स्वात्मैव तेन

प्रकाशः– तद्धेतुत्वप्रतिपादनात्। 'द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये' इत्यत्र वेदनमात्रस्याकाङ्क्षितत्वेन प्रकृतत्वात्। श्रोतव्यो मन्तव्य इत्यादेरन्वयाच्च। ईश्वरमननञ्च यद्यपि मिथ्यज्ञानोन्मूलनद्वारा नोपयोगि, तथापि स्वात्मसाक्षात्कार एवोपयुज्यते। यदाहुः–'स हि तत्त्वतो ज्ञातः स्वात्मसाक्षात्कारस्योपकरोति' इति। यद्वा, *श्रुत्या* तद्धेतुत्वे प्रमापिते तदनुपपत्त्याऽदृष्टमेव तद्द्वारं कल्प्यते। *केचित्तु* मोक्षस्यात्र प्रस्तुतत्वात् स्वर्गपदं मुख्यमेव दृष्टान्तार्थमुपात्तमित्याहुः। **उपास्तीत्यत्र**, "ण्यासश्रन्थो युच्" (पा०सू० ३।३।१०७) इति युज् न भवति। 'क्वचिदपवादविषयेऽप्युत्सर्गः प्रवर्त्तते'– इति न्यायाद्, बहुलवचनाद्वा। **यद्वा धातुनिर्देशे श्तिपोऽयं प्रयोगः**। तस्य च धातुरूपशब्दाभिधायकत्वेऽप्यर्थे द्विरेफपदवल्लक्षणा।२।

मकरन्दः– परामृष्यत इति यदि ब्रूयात्तत्राह **द्वे इति**। नन्वेवमपि मननं नायातमित्यत आह **वेदनमात्रस्येति**। वेदनसामान्यस्येत्यर्थः। नन्वनुपदं स्वात्मसाक्षात्कारानुत्पत्तेरदृष्टद्वारा तद्धेतुत्वं तस्य वाच्यम्, एवञ्च तद्द्वारा मुक्तावेव तद्धेतुत्वमस्तु लाघवात्, तदुपकारश्च तत्सहकारितयाऽप्युपपद्यत इत्यरुचेराह **यद्वेति**। **केचित्त्विति**। उक्तबाधकान्मुक्त्यसम्भव इत्याशङ्कायां नैवं समाधानमित्यस्वरसो बोध्यः।

तस्येति। ननु श्तिपस्तत्र न लक्षणा, तस्य प्रकृतेः स्वपरत्वतात्पर्यग्राहकत्वमात्रेणोपपत्तावुपसर्गवदशक्तत्वात्। किञ्च, तस्यार्थशक्तत्वे किं लक्षणया, शब्दशक्तत्वे तस्योपासूपदादेव स्वलक्षणया लाभे तच्छक्त्यकल्पनात्। अन्यथा पौनरुक्त्यापत्तेः। तत्तद्धातुसमभिव्याहारे तत्तदनन्तशक्त्यापत्तेश्च। नचोपासूपद एव लक्षणा। तस्योपासनारूपार्थशक्तत्वादेव। प्रत्युत स्वलक्षणाभ्युपगमादिति चेत्, अत्राहुः। उपास्तीत्यादिना उपास्धातुरित्यादिप्रत्ययाद् धातुत्वेन धातौ श्तिपः शक्तिः। तदिदमुक्तं, **धातुरूपशब्दाभिधायकत्वेऽपीति**। तथा च न शक्त्यानन्त्यादिदोषः। अन्यथा धातुत्वप्रकारकप्रत्ययानुपपत्तेः। न च धातुत्वं नानुगतमिति वाच्यम्। क्रियावाचित्वस्य तथात्वात्। नचैवं यागपाकपदादपि तत्प्रयोगापत्तिः। केवलस्यासाधुत्वात्। धातुसमभिव्याहारे च तत्तद्धात्वन्वयबोधजनननियमेन तदप्रतिपादकत्वात्। अत एव **परमते** कार्यत्वं लिङः प्रवृत्तिनिमित्तम्। अस्तु वा क्रियावाचित्वे धर्ममात्र एव शक्तिः, धर्मिणः प्रकृतिलभ्यत्वात्। एवञ्च प्रकृतिप्रत्ययाभ्यां स्वलक्षणया शक्त्या च उपास्धातुरिति

मकरन्दः– विशिष्टानुभवे जनिते स्वज्ञाप्यधातुत्वविशिष्टोपास्सम्बन्धिनि उपासनारूपेऽर्थे गभीरनदीतीरे तीरपदस्येव शितप्पदे लक्षणा। ज्ञाप्यसम्बन्धमात्रस्य लक्षणात्वात्। एवञ्च धातुशक्तत्वेऽपि लक्षणया धात्वर्थमात्रलाभः स्यान्न तूपासनारूपार्थलाभ इति निरस्तम्। नचैवमेकलक्षणैव, न तु लक्षितलक्षणेति द्विरेफपददृष्टान्तोपादानमसङ्गतमिति वाच्यम्। शब्दोपस्थापकस्यार्थे लक्षणेत्यत्र दृष्टान्तात्। किञ्च, द्विरेफपदेऽप्येकलक्षणैव परम्परासम्बन्धेनार्थोपस्थापिका। यदि च तत्र भ्रमरपदं लक्षयित्वाऽर्थो लक्ष्यते इति लक्षणाद्वयं, तदा प्रकृतेऽप्युपासपदं लक्षयित्वैवार्थो लक्ष्यते इति तुल्यम्। इयांस्तु विशेषो यत्तत्रैकमेवोभयलक्षकमत्र तु न तथेति। न हि सर्वप्रकारेण दृष्टान्तत्वम्, असम्भवात्। नचान्यपदार्थोपस्थितभ्रमरपदादेव भ्रमरपदार्थोपस्थितिसम्भवे द्विरेफपदे कथमर्थलक्षणेति वाच्यम्। तथात्वे द्विरेफपदोत्तरविभक्त्यर्थस्य तत्रानन्वयापत्तेरिति दिक्।।२।।

इह यद्यपि यं कमपि पुरुषार्थमर्थयमानाः, शुद्धबुद्धस्वभाव इत्यौपनिषदाः, आदिविद्वान् सिद्ध इति कापिलाः, क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टो निर्माणकायमधिष्ठाय संप्रदायप्रद्योतकोऽनुग्राहकश्चेति पातञ्जलाः, लोकवेदविरुद्धैरपि निर्लेपः स्वतन्त्रश्चेति महापाशुपताः, शिव

आमोदः– धर्मिणि संशयाभावेऽपि मननानुकूलन्यायपूर्वाङ्गसंशयमुपपादयन्नाह **इह यद्यपीति**। **इह** न्यायेन निरूपणे कर्तव्ये संशयो नास्त्येव। तथा च **किं निरूपणीयं**, कुत्र न्यायः प्रवर्तनीय इत्यन्वयः। अत्र यद्यप्येवमुपासते तथापि सन्देह एव प्रकारभेदादिति शेषः। यद्वा **संशय एव** संशये सत्येव **किं निरूपणीयमिति** कुत इत्यन्वयः। संशयस्तु नानाप्रकारेणैव *श्रुतिभ्यः* श्रवणात्, कुत्र तात्पर्यमित्यनिर्णयात्, प्रामाण्यसन्देहाद्वा, मध्यस्थादिवदाहार्य एव वा। **शुद्धः** केवलः। **बुद्धः** स्वप्रकाशबोधात्मकः। **औपनिषदा** वेदान्तिनः। **आदीति**। **आदौ** सर्गादौ **विद्वान्** चेतनः, न तु चेतनच्छायया प्रकृत्यादिवच्चेतनः। **सिद्धः** कूटस्थनित्यः। **कापिलाः** सांख्याः। **क्लेशेति**। अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः। **अस्मिता**ऽहङ्कारः। **अभिनिवेशो** मरणभयम्। **कर्म** यागहिंसादि। **विपाको** जात्यायुर्भोगादिः। फलपर्यन्तमाशेत **इत्याशयो** धर्मोऽधर्म(श्च?), एतैर**परामृष्टः**। **निर्माणकायो** वेदनिर्माणार्थं कायः, **तदधिष्ठानं** तदुपग्रहः। **सम्प्रदायो** वेदः, तस्य नित्यत्वात् **प्रद्योतकः** प्रवर्तक इत्यर्थः। **अनुग्राहकश्च** घटादिनिर्माणोपदेष्टा। **लोकविरुद्धै**र्विषभक्षणविषधरधारणादिभि**र्वेदविरुद्धै**र्ब्रह्मवधादिभि**र्निर्लेपो** दृष्टादृष्टदोषशून्यः। **स्वतन्त्रः** परमाण्वदृष्टादिसाहित्यमन्तरेणापि जगत्कर्ता।

प्रकाशः- भगवदुपासना फलवती, निरूपणञ्च क्रियते इत्यसङ्गतिं परिहरन् वादिनां विप्रतिपत्त्यभावेन न्यायाङ्गं संशयमाक्षिपति **इहेति**। **इह** विचारे। **सन्देह** एव न्यायपूर्वाङ्गं कुतः। अत्र हेतुः **प्रसिद्धानुभावे**। **अनुभावः** असाधारणीं कारणतामाह- **यं कमपीति**। **यं कमपि** मोक्षादिकं स्वाभिमतं **पुरुषार्थ**मर्थयमानाः, **यमीश्वरमुपासते** मननविषयीकुर्वन्तीत्यौपनिषदा इत्यादौ सर्वत्र सम्बन्धः। **शुद्धः** एको, द्वितीयाभावात्। **बुद्धः** स्वप्रकाशज्ञानात्मकः। द्वितीयाभावेन परप्रकाश्यत्वानुपपत्तेः, एतदुभय*वेदान्ति*साधारणम्। **आदीति**। **आदौ** प्रथमतो, **विद्वांश्चिद्रूपः** स्वभावतश्चेतनो, न तु प्रकृतिवच्चेतनोपरागादौपाधिकं चैतन्यं तस्येत्यर्थः। **सिद्धो** नित्यो, न तु बुद्ध्यादिवत् साध्यः। तेन कूटस्थनित्यो, न तु प्रकृतिवत् परिणामिनित्य इत्यर्थः। एतच्च सकलक्षेत्रज्ञसाधारणत्वान्न परमात्मोत्कर्षाभिधायकमित्यन्यथा व्याख्येयम्। **आदौ** सर्गादौ। **विद्वान्** ज्ञानवान्, **सिद्धो** योगर्द्धिसम्पदुत्पादिताष्टविधैश्वर्य्यसम्पद्युक्त इत्यर्थः। यथोक्तं *तत्त्वकौमुद्यां* **वाचस्पतिमिश्रैः** – "सर्गादावादिविद्वानत्रभवान् कपिलो महामुनिर्धर्म्मज्ञान-वैराग्यैश्वर्य्यसम्पन्नः प्रादुर्बभूवेति स्मरन्तीति"। **क्लेशेति**। अविद्यास्मिता-रागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः। **कर्म** धर्म्माधर्म्महेतुर्भावनासाध्यं यागहिंसादि। **विपाको** जात्यायुर्भोगाः। फलपर्य्यन्तमाशेरत इत्याशया धर्म्माधर्म्माः। तै**रपरामृष्टोऽ**सम्बद्ध इत्यर्थः। शरीरैकनिष्पाद्य*वेदा*दिनिर्म्माणार्थं कायो **निर्म्माणकायः**। सम्प्रदीयते गुरुणा शिष्यायेति **सम्प्रदायो** *वेदः*। स चानादिरेव भगवता द्योत्यते। भगवतश्चादृष्टाभावेऽपि तच्छरीरसाध्यघटादिजन्यभोगजनकास्मदाद्यदृष्टैरेव तन्निष्पाद्यते। **अनुग्राहको** घटदिनिर्म्माणे शिक्षाद्वारेत्यर्थः। **लोकेति**। लोकविरुद्धैः सर्पदहनधारणादिभिः। **वेदविरुद्धैः** दारुवनद्विजवधूविध्वंसनैरुपलक्षितः। इत्थम्भूतलक्षणे तृतीया। सोऽयमित्थम्भूतोऽपि **निर्लेपः** पापरूपलेपरहित इत्यर्थः। करणे वा तृतीया।

मकरन्दः- ननु माऽस्तु सन्देह इत्यत आह **न्यायेति**। *त्रिदण्डिमतमेकदण्डि-मतञ्चेत्यु***भयम्**। बुद्ध्यात्मनोरेकत्वेन ज्ञानमस्मितेत्*येके*। अहङ्कार *इत्यन्ये*। *वेदे* नित्यपाल्यत्वमुच्चार्यत्वं, न तूत्पाद्यत्वम्। स चेत्याद्यग्रिमग्रन्थानुरोधात्। ननु लेप शब्दस्य पापपरत्वे तृतीयायाः करणार्थत्वमयुक्तम्। लोकविरुद्धहेतु-कलेपस्याप्रसिद्धेरित्यत आह **उपलक्षित इति**। लेपपदे दुःखसाधारणतया व्याख्याते लोकविरुद्धकरणकलेपत्वं दुःख एव प्रसिद्धमित्याह **स चेति**।

इति शैवाः, पुरुषोत्तम इति वैष्णवाः, पितामह इति पौराणिकाः, यज्ञपुरुष इति याज्ञिकाः, सर्वज्ञ इति सौगताः, निरावरण इति दिगम्बराः, उपास्यत्वेन देशित इति मीमांसकाः, लोकव्यवहारसिद्ध इति चार्वाकाः, यावदुक्तोपपन्न इति नैयायिकाः, किं बहुना, कारवोऽपि यं विश्वकर्मेत्युपासते, तस्मिन्नेवं जातिगोत्रप्रवरचरणकुलधर्मादिवदासंसारं प्रसिद्धानुभावे भगवति भवे सन्देह एव कुतः? किं निरूपणीयम्? तथापि –

आमोदः- पाशुपता महाव्रतीयाः। **शिव इति** प्रमहसि पदे निस्त्रैगुण्ये वर्तमानः। **पुरुषोत्तमो** नित्यसर्वज्ञत्वादिभिः। **पितामहो** जनकस्यापि जनकः। **यज्ञपुरुषो** यज्ञे प्राधान्येन इज्यः। **सर्वज्ञः** क्षणिकसर्वज्ञः। **निरावरणो** निराकारः, निष्पापो वा। **उपास्यत्वेन देशितो** विधिबोधितमन्त्रमय इत्यर्थः। **लोकव्यवहारसिद्ध** इति प्रतिमाद्याकार इत्यर्थः। यावद्भिरुक्तैरुपपन्नो यावद्भिरुक्तेऽप्युपपन्नैरुक्तैरुपपन्नो वा मध्यपदलोपी समासः। सामान्ये संशयाभावेऽपि विशेषमादाय संशयमुपपादयन्नाह – **विश्वं** कार्यजातं **कर्म** यस्य **विश्वकर्मा। जातिर्ब्राह्मणत्वादिः। गोत्रं** काश्यपादि। **प्रवराश्च्यवनादयः। चरणं** वेदभागः। **अनुभावो**ऽसाधारणं कार्यं क्षित्यादि। (भवत्य?)स्मादिति **भवः**। तथा चेश्वरकर्तृकतया क्षित्यादिकार्ये श्रुतेऽपि ईश्वर एकोऽनेको वा, स्वतन्त्रः परतन्त्रो वा, शरीरी अशरीरी वा इत्यादयः सन्देहाः सन्त्येव। यद्यपि सर्वे धर्मा वेदे श्रुतास्तथापि तात्पर्यसन्देहात् प्रामाण्यसन्देहाद्वा सन्देह इति प्रागुक्तम्।

प्रकाशः– वेदविरुद्धहेतुकभोगजनकविशेषगुणरहित इत्यर्थः। स च सुखं दुःखं धर्म्माधर्म्मौ चेति। मिथ्याज्ञानसलिलावसिक्तायामात्मभूमौ कर्म्मबीजं धर्म्माङ्कुरमारभते, न तु तत्त्वज्ञाननिदाघनिपीतसलिलतयोषरायामिति भावः। **स्वतन्त्रो** जगत्कर्ता। **शिवो** निस्त्रैगुण्यः। **पुरुषेषूत्तमः** सर्व्वज्ञत्वात्। **पितामहो** जनकस्यापि जनकः। यज्ञे प्रधानमिज्यं **यज्ञपुरुषः। सर्वज्ञः** क्षणिकसर्वज्ञः। **निरावरण इति**। आवरणमदृष्टमविद्या स्वकर्म्मोपार्ज्जितञ्च शरीरमस्य नास्तीत्यर्थः। **उपास्यत्वेनेति**। वेदोपदिष्टोपास्यभावः कश्चिन्मन्त्रादि रित्यर्थः। **लोकेति**। यथा लोके व्यवह्रियते चतुर्भुजाद्युपेतदेहवान्, नत्वदृश्य इत्यर्थः। **यावदुक्तेति**। यावदुक्तेषु यदुपपन्नं युक्तिमत् सर्वज्ञत्वादि, **तेनोपपन्नः** सम्पन्न इति मध्यमपदलोपी समासस्तत्पुरुषः। यावदुक्तेषु उपपन्नः प्रामाणिको धर्म्मो यस्येति बहुव्रीहिर्वा। न

प्रकाशः- तु यावद्भिरुक्तैरुपपन्नः सहित इत्यर्थः। अद्वैताद्यनङ्गीकारेण यावद्यथाव्याख्यातार्थस्य नैयायिकैरनङ्गीकारात्।

यद्वा **सन्देह एव कुत** इत्युपसंहारात् सर्वाण्येव दर्शनान्येकार्थपरतया व्याख्यायन्ते। **शुद्धो** दोषहीनः, **बुद्धस्वभावो** घटादिभिन्नत्वे सत्यौपाधिकचैतन्यरहितः, **आदौ** सर्गादौ, **विद्वान्** ज्ञानवान्, **सिद्धो** नित्यः, **सम्प्रदायप्रद्योतको** वेदं प्रणीय सर्गादिसमुत्पन्नाध्यापकः, **अनुग्राहकः** कुलालादिकृतेऽपि घटादौ सहकारीत्यादिक्रमेण। नचैवमैकमत्येन दर्शनभेदानुपपत्तिः। फलैक्येऽपि प्रकारभेदात्। सर्वथा विरोधाभावे विचारोपयोगिसंशयस्याप्यभावप्रसङ्गात्। यद्यपि

मकरन्दः- कर्मधारये उत्तमपदस्य विशेषणपदतया पूर्वनिपातापत्तिः। षष्ठीसमासश्च न निर्द्धारणे (पा०सू० २।२।१०) इति निषिद्ध एवेति सप्तमीसमासमालम्बते। **पुरुषेष्विति**। यद्यपि षष्ठीसप्तम्योरभेदात् सोऽपि निषिद्ध एव। अन्यथा तत्र तत्र सप्तमीसमासेनैवोपपत्तौ षष्ठीसमासनिषेधवैयर्थ्यापत्तेः। तथापि निर्द्धारणस्याविवक्षायामयं समास इति *ऋजवः*। वस्तुतो जातिगुणक्रियाभिः समुदायादेकदेशस्य पृथक्करणं निर्द्धारणम्। यथा नराणां क्षत्रियः शूरतम इत्यत्र। तच्चात्र नास्तीति न निषेधः। तथाच समुदायसमुदायिवाचकपदयोः समासनिषेधस्यैव तत्सूत्रार्थत्वान्न निर्द्धारणप्रयोजकगुणादिविशेषवाचिपदसमासनिषेधोऽपीति तात्पर्यम्। एवञ्च षष्ठीसमासेऽप्यदोष इत्यवधेयम्। इज्यत्वमात्रमतिप्रसक्तमत आह **प्रधानमिति**। न्यायमतसाधारण्यमपाकरोति। **क्षणिकेति**। **एकार्थेति**। अविरुद्धार्थेत्यर्थः। **घटादीति**। औपाधिकं चैतन्यमन्यत्रोपाधिभूतं चैतन्यं घटादिभिन्नत्वसमानाधिकरणौपाधिकचैतन्यशून्यत्वमित्यर्थः। तथा च *परमते* विशेषणाभावात्, *स्वमते* च विशेष्याभावाद् विशिष्टाभावोऽविशिष्ट इति भावः। *मिश्रास्तु* औपाधिकं चैतन्यं जन्यचैतन्यम्, एवं च विशिष्टाभावस्तन्मत उभयाभावादस्मन्मते च विशेष्याभावादिति वदन्ति। तच्चिन्त्यम्। तथा सति विशेष्याभावस्यैवोभयमतसाधारणत्वे विशेषणवैयर्थ्यापत्तेः। यत्तु घटाद्यतिप्रसङ्गवारणार्थमेव सत्यन्तमिति। तच्चिन्त्यम्। तदतिप्रसङ्गस्यादोषत्वात्। अन्यथा दोषहीनत्वनित्यत्वादावपि तथात्वप्रसङ्गादिति। **फलैक्येति**। उक्तप्रकारावच्छिन्नधर्मिण्यैकमत्येऽपि प्रकारान्तरभेदेन दर्शनभेदादित्यर्थः। तदेवोपपादयति **सर्वथेति**।

न्यायचर्चेयमीशस्य मननव्यपदेशभाक्।
उपासनैव क्रियते श्रवणानन्तरागता।।३।।

श्रुतो हि भगवान् बहुशः श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणेष्विदानीं मन्तव्यो भवति। 'श्रोतव्यो मन्तव्य' इति श्रुतेः।

आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च।
त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम्।। इति स्मृतेश्च।

आमोदः- ननु अपवर्गोपायश्च उपासना, तदा न्यायचर्चा मननं वा किमर्थमत आह – **न्यायेति**। उपासना–न्यायचर्चा–मनननामिहैकात्मतैव विवक्षिता। तथा च यदुपास्तिमपवर्गोपायमामनन्ति, स निरूप्यते। उपासनैव क्रियत इति न्यायचर्चाया मननात्मिकायाश्च कोऽयमवसर इत्यत आह – **श्रवणेति**। श्रवणानन्तर–परिप्राप्तेत्यर्थः। मननस्य श्रवणानन्तर्यं चेत् तदा श्रवणमेव न जातमस्तीति पुनः स एवानवसर इत्यत आह – **श्रुतो हीति**। स्मृत्यादीनां संवादार्थमुपादानम्। "श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः' इत्यत्र श्रुतितः श्रवणस्य विहितत्वात्। अन्यथा शूद्रादीनामप्यधिकारापत्तेः। **इदानीमिति** मननावसर इत्यर्थः। **मन्तव्य इति** मननात्मक–प्रतिपत्तिविषयीकर्तव्य इत्यर्थः। श्रवणमननयोः सामानाधिकरण्ये–नैकविषयता, सा च धर्मिणि न तु प्रकारेऽपीति न सन्देहानुपपत्तिः।

श्रवणादीनां क्रमं फलञ्चाह – **आगमेनेति**। **रसो** रसन(म्) एकतानतेति यावत्। **प्रज्ञां** प्रतिपत्तिं, **प्रकल्पयन्** उत्पादयन्, **उत्तमो योग** आत्मसाक्षात्कारा–व्यवहितपूर्ववर्त्यात्ममनःसंयोगः।।३।।

प्रकाशः- मीमांसकानीश्वरसांख्यमते नेश्वरे सम्प्रतिपत्तिः, तथाप्युपास्यत्वेन धर्म्मिणि सम्प्रतिपत्तिरस्त्येव। **कारुः**शिल्पी। **विश्वं** सर्व्वमुत्पत्तिमत् **कर्म्म** कार्य्यं यस्य स तथा। **जातिः** ब्राह्मणत्वादि। **गोत्रं** काश्यपादि। ऋषय एव यज्ञे व्रियमाणाः **प्रवराः**। **चरणं** शाखा। **अनुभावो**ऽसाधारणं कार्यं *वेदादि* । अत एव भवत्यस्मादिति **भवः**। तथा च जातिगोत्रादिवत् संसारमभिव्याप्य *श्रुत्यादि*प्रमाणसिद्धे परमात्मनि न सन्देहः। अतस्तत्रश्वरे किं निरूपणीयमित्यर्थः। तथापि धर्मिणि भगवति विहितमनने प्रकाराकाङ्क्षायां तत्र विप्रतिपत्त्या सन्देहोऽस्तीति मनसिकृत्य मननरूपोपासनैव क्रियते इति समाधत्ते**तथापीति**। न्यायेन चर्च्चा **न्यायचर्च्चा** अनुमितिरूपा, **उपासनैवेति** सम्बन्धः। **श्रवणानन्तरागते**त्यनेन *श्रुति*प्रामाण्यग्राहकन्यायनिरूपणमपि सूचितम्।

तादिह संक्षेपतः पञ्चतयी विप्रतिपत्तिः। अलौकिकस्य परलोकसाधनस्याभावात्। अन्यथापि परलोकसाधनानुष्ठानसंभवात्। तदभावावेदकप्रमाणसद्भावात्। सत्त्वेऽपि तस्याप्रमाणत्वात्। तत्साधकप्रमाणाभावाच्चेति।

आमोदः- तदिहेति। यस्माद्विप्रतिपत्तिजन्मा सन्देह एव तस्मादत्र। **पञ्चतयी विप्रतिपत्तिरिह** ग्रन्थे निरस्यत इति शेषः। एतन्निरासादेव च वेदान्त्यादि-विप्रतिपत्तयोऽपि निरस्ता भवन्तीति भावः। अत्र ल्यब्लोपे पञ्चमी, परलोकसाधनाभावं प्राप्य विप्रतिपत्तिरित्यर्थः। एवमग्रेऽपि। *वेदानाम्* आप्तोक्तत्वाधीनं प्रामाण्यं यागादिगोचरप्रवृत्तिप्रयोजकम्। आप्तश्चेश्वर इत्यनुपपन्नं नित्यनिर्दोषत्वादेव वेदप्रामाण्यसिद्धेरिति *मीमांसक*विप्रतिपत्तिमाह - **अन्यथापीति**। नित्यनिर्दोषवेदप्रामाण्येऽपीत्यर्थः। क्षित्यादेः सकर्तृकत्वेन ईश्वरसाधने प्रत्यक्षादिप्रमाणबाध इत्याह - **तदभावावेदकेति**। सन्नपीश्वरो न प्रमाणम्। तथा च कुतस्तदधीना प्रमा। कथञ्च तामन्तरेण क्षित्यादिकर्तृत्वं वेदवक्तृत्वं वा इत्याह - **सत्त्वेऽपीति**। यद्वा तस्येश्वरज्ञानस्य अप्रमाणत्वात् गृहीतग्राहित्वात्। क्षित्यादिकर्तृत्वग्राहकं वेदवक्तृत्वग्राहकं प्रमाणमेव नास्ति, वक्ष्यमाणानामाभासत्वादित्याह - **तत्साधकेति**।

प्रकाशः- श्रवणानन्तरागतेति संगृहीतं विवृणोति **श्रुतो हीति**। *श्रुति*मूलकत्वात् *स्मृते*रपि तत्समानविषयतया स्वबोधदार्ढ्यार्थं श्रवण उपयोग उक्तः। **उत्तमो योगः** आत्मतत्त्वसाक्षात्कारः।३।

ननु भगवति सन्देहाभावेन सिद्धसाधनात् कथमनुमितिः?। सिद्धसाधनं हि

मकरन्दः- श्रुतिमूलकत्वादिति। एतच्च 'श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्य' इति नियमविध्यवष्टम्भेनोक्तम्। वस्तुतस्त्वात्मप्रतिपादकप्रमाणवाक्यपरमेव श्रुतिपदम्। अन्यथा अदृष्टार्थकतापत्तेः।

पूर्वपूर्वप्रतिपत्तौ हि उत्तरोत्तरप्रतिपत्तिद्वारकता। सा च श्रुतिमात्र-जनितश्रवणसाध्यतायां नियमापूर्वकल्पनया भज्येत। द्रष्टव्य इति अदृष्टद्वारकताभयेन पाठिकक्रमोल्लङ्घनमपि नोचितं तस्य स्यादिति *पुराणस्मृत्यादिना* श्रुते मननादभिमतसिद्धिर्भवत्येवेत्याहुः। ननु योगो निदिध्यासनमेवेत्यनन्वय इत्यत आह **उत्तम इति**।।३।।

प्रकाशः– स्वार्थानुमाने न दोषः प्रमाणसंप्लवस्य संस्थापनादिति चेत्, न। विनिगमकाभावात्। ग्रन्थस्य परार्थानुमानरूपत्वाच्च। यथा 'अग्निहोत्रं जुहोति, यवागूं पचती'त्यत्राऽऽर्थेन क्रमेण शाब्दः क्रमो लङ्घ्यते, तथा 'श्रोतव्यो मन्तव्य' इत्यत्रापि मननानन्तरं श्रवणे *श्रुते*स्तात्पर्य्यमिति चेत्, न। दृष्टान्ते, होमे द्रव्यान्तरसाधनत्वं यवागूपाकस्यादृष्टार्थत्वञ्च कल्प्यमिति गौरवात्तथास्तु, प्रकृते त्वनुपपत्त्यभावः। श्रवणानन्तरं मननस्यान्यथोपपाद्यत्वात्। **श्रवणानन्तरागतेति** ग्रन्थविरोधाच्च। 'श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्य' इति बहुवचनं, 'कपिञ्जलानालभेतेति'वत् त्रित्वपरम्। अतो रूपान्तरेण मननमविरुद्धमिति चेन्न। 'श्रोतव्यो मन्तव्य' इति सामानाधिकरण्य*श्रुते*र्लाघवाच्च।

येनैव रूपेण श्रवणं तेनैव रूपेण मननस्योचिततत्वात्। न वा रूपान्तरेण श्रुतस्य रूपान्तरेण मननेऽश्रद्धामलक्षालनं शास्त्रव्यापारो निर्वहति, *श्रुतस्या*मननात्। अत एव धर्मिस्वरूपे सन्देहाभावेऽपि क्षितिकर्तृत्वादौ धर्मे सन्देहात्तत्रानुमेत्यपास्तम्। तथापि धर्मिणि सन्देहानुपपादनाच्च। न वा तद्रूपमस्तीश्वरे, यन्न *वेदे* श्रुतमस्ति। तथा च 'श्रोतव्यः *श्रुतिवाक्येभ्य*' इत्यत्रासङ्कोचादीश्वरपरसर्ववाक्येभ्य एव

मकरन्दः– विनिगमकेति। सिद्ध्यभावरूपायाः पक्षताया अनुमितिहेतुत्वे तदभावादनुमित्यभावस्योभयत्र तुल्यत्वादित्यर्थः। ननु नोक्तरीत्या सिद्धसाधनस्य दोषत्वं, किन्त्वर्थान्तरतया। तच्च शब्ददोषतया स्वार्थानुमाने न दोष इति यदि ब्रूयात् तत्राह **ग्रन्थस्येति**। क्रमे शाब्दत्वं, पाठकत्वं न तु शब्दप्रतिपाद्यत्वम्, क्रमप्रतिपादकाभावात्। ननु सिद्धसाधनान्मननानुपपत्तिरेवेत्यत आह **श्रवणेति**। **अन्यथेति**। सिषाधयिषयेत्यर्थः। ननु सिद्धसाधनात् कथमनुमितिरिति स्वपक्षः साधु समर्थित इत्यरुचेराह। **श्रवणेति। कपिञ्जलेति**। यावत्परत्वासम्भवेन कतिपयपरतया बहुवचनस्य प्रथमोपस्थितत्रित्वपरत्वं, यथा तथा प्रकृतेऽपीत्यर्थः। धर्मिमात्रविषतयापि सामानाधिकरण्यसम्भव इत्यरुचेराह **लाघवाच्चेति**। श्रवणप्रकारस्योपस्थितत्वेनानुपस्थितप्रकारकल्पनायां गौरवादिति भावः। ननु सिद्धसाधनादेव प्रामाणिकं गौरवं न्याय्यमित्यत आह **न वेति। अत एवेति**। श्रुतस्यामनने उक्तशास्त्रव्यापारानिर्वाहादेवेत्यर्थः। **तथापीति**। तथा च परमात्मा निरूप्यत इत्यसङ्गतमेवेति भावः। ननूक्तधर्मिनिरूपणस्यैव पक्षीभूतेश्वरविषयतां विनाऽसम्भवान्नासङ्गतिरित्यत आह **न वेति**। तथा च धर्मेऽपि न सन्देह इति भावः। **तथा चेति**। कपिञ्जले यावत्परत्वासम्भववदत्रासम्भवाभावेन

प्रकाशः– श्रवणे सति कथं मननम्। एतेन **भगवति भवे सन्देह एव किं निरूपणीयमिति**। **कुतः** पृथिवीतः कर्तृजन्यत्वसंशयात्तत्र संशय एवेत्यपि योजनामात्रमपास्तम्। यत्तु श्रुतेऽपि भगवति *श्रुतेः* प्रामाण्यसन्देहात्तत्प्रति-पादितेऽपीश्वरे सन्देह इति। तन्न। 'श्रोतव्यो मन्तव्य' इति सामानधिकरण्यविरोधात्। मननस्य प्रामाण्यविषयकत्वात्। यदि च *श्रुति*रनवधृतप्रामाण्यैव, तदा कथं ततः श्रवणेऽपि बह्वायाससाध्ये प्रवृत्तिः। तथात्वेऽपि वेदप्रमाण्यानुमानमात्रौचित्या दीश्वरानुमानानुपपत्तिः। अथ सिद्धसाधनं न हेत्वाभासः। उभयथा हि हेत्वाभासता, करणविघटकत्वाद्विरुद्धानैकान्तिकयोरिव, तद्विघटनमकुर्वतः स्वत एव प्रतिबन्धकत्वाद्, बाधप्रतिरोधवत्, सिद्धसाधनन्तु न व्याप्तिज्ञानविघटकं, न वा स्वत एव प्रतिबन्धकम्। अतो न हेत्वाभासः, दूषकता त्वर्थान्तरान्तर्भावादिति मतम्। तन्न। व्याप्तिज्ञानस्येव पक्षधर्मताज्ञानस्यापि तत्कारणत्वात् तद्विघटक-सिद्धसाधनस्यापि तदौचित्यात्। पक्षधर्मताज्ञानं न तत्करणं किन्तु

मकरन्दः– त्रित्वपरत्वाभावादिति भावः। **एतेनेति**। उक्तरीत्या धर्मिणि धर्मे वा सन्देहाभावेनेत्यर्थः। ननु कथं सन्देह इत्यत आह **कुत इति**। **योजनामात्रमिति**। अत्र मात्रपदेनापदार्थव्याख्यानं सूचितम्। मूले, इति कुत इति पदाभावाद् योजना कृता, न तु संशयोपपादकं किञ्चिदुक्तमिति, तेन सूचितमि*त्यन्ये*। **श्रोतव्य इति**। ननु संशयस्योभयत्र तुल्यतया श्रुतिबलेन ईश्वरविषयकमेव मननं स्यान्न तु प्रामाण्यविषयकमतो नोक्तविरोध इति चेन्न। प्रामाण्यसंशये जागरूके कुतोऽपि न विषयसंशयव्युदासः, तन्निदानानुच्छेदादिति प्रामाण्यानुमानानुसरणावश्यंभावात्। अनन्तरञ्च तत एव विषयनिश्चयात् किं पुनर्विषयनिरूपणेनेति भावः। **श्रवणेऽपीति**। श्रोतव्य इत्यादिश्रुतावपि प्रामाण्यसन्देहसम्भवादित्यर्थः। यद्यपि श्रुतिभेदादन्यत्र तन्निश्चयेऽप्यन्यत्र संशयो नासम्भवी, तथापि प्रवृत्तिसंवादाद्यभावे आप्तोक्तत्वमेव तन्निश्चायकं, तच्चोभयत्राविशिष्टमिति भावः। वस्तुतस्तु एतदस्वरसादेव प्रागुक्तं सामानाधिकरण्यविरोधं स्मारयति **तथात्वेऽपीति**। **विरुद्धेत्युपलक्षणं**, स्वरूपासिद्ध्यादेरपि द्रष्टव्यम्। **स्वत एवेति**। साक्षादित्यर्थः। **अर्थान्तरेति**। तच्च पुरुषदोषो न हेतुदोष इति न्यायोपदेष्टरि सापराधेऽप्यात्ममननसिद्धिरप्रत्यूहैवेति भावः। **पक्षधर्मतेति**। यद्यपि पक्षधर्मतायाः स्वातन्त्र्येण पृथक्कारणत्वात् तद्विघटकत्वेऽपि न ज्ञानविघटकत्वं, तथापि यः पक्षस्तद्धर्मताज्ञानत्वेन हेतुत्वमिति पक्षताया अवच्छेदकत्वाभ्युपगमेन यादृशज्ञानस्य हेतुत्वं तादृशज्ञानस्य

प्रकाशः– व्याप्तिज्ञानमिति चेन्न। लाघवात् कारणमात्रस्य प्रयोजकत्वात्। *श्रुति*बोधितेऽपि भगवति बहुविधकर्तृत्वकौटस्थ्यनिरञ्जनादि *श्रुतेः*। कुत्र *श्रुति*र्मुख्यार्था, कुत्र वोपचरितार्थेति तात्पर्य्यसन्देहात् सन्देह इति चेन्न। तथापि धर्मिस्वरूपे संशयानुपपादनात् तात्पर्य्यग्राहकन्यायाभिधानमात्रस्योचितत्वात्। कर्तृत्वादौ सन्देहादुत्कटकोटिको धर्मिण्येव सन्देहः, अन्यथा धर्मी क्वापि संशयविषयो न स्यादिति चेन्न। 'श्रोतव्यो मन्तव्य' इत्यत्रात्मज्ञानस्य मोक्षहेतुत्वं न तु तद्धर्मिककर्तृत्वादिनिश्चयस्येति तत्सन्देहस्यानुच्छेद्यत्वात्। तथापि निर्धर्मकस्य तस्य ज्ञातुमशक्यत्वात्तद्धर्मनिश्चयोऽप्यादरणीय इति चेन्न। परस्पराविरुद्धप्रकारेण तच्चिन्तनोपपत्तेरिति दिक्।

अत्रोच्यते। साध्यज्ञानं न स्वतः साध्यज्ञानविरोधि, धारावाहिकसत्त्वात्। नापि साध्यानुमितिविरोधि, प्रत्यक्षाधिगतस्याप्यनुमितिदर्शनात्, किन्तु सिषाधयिषाघटितपक्षत्वविघटनद्वारा। सिषाधयिषा च साध्यज्ञानेच्छा, सा च द्वयी साध्यज्ञानमात्रे तद्विशेषे च। तत्र या साध्यज्ञानमात्रेच्छा सा श्रौतज्ञानान्निवर्त्तताम्, यत्किञ्चिद्विशेषसिद्ध्यैव हि सामान्येच्छाविच्छेदः। अन्यथा सकलविशेष सिद्धेरसम्भवेन तद्विच्छेदः क्वापि न स्यादेव। या त्वनुमितिरूपसाध्यज्ञानविशेषेच्छा सा कथं निवर्त्तेत, तद्विषयस्य ज्ञानविशेषस्यासिद्धेः। इच्छायाः स्वविषय

मकरन्दः– विघटकत्वमस्त्येवेति भावः। **कारणमात्रस्येति**। तथा च पक्षतायाः पृथक्कारणत्वपक्षे तद्विघटकतयापि तदौचित्यमित्यपि ध्वनितम्। न च ज्ञायमानप्रतिबन्धकत्वाभावान्न सिद्धसाधनं हेत्वाभास इति वाच्यम्। *प्राचीनमते*ऽनुमित्यसाधारणदोषस्यैव तथात्वात्। एवमपि साध्यज्ञानमादाय साध्यस्य तथात्वे बाधकाभावाच्चेति भावः।

तात्पर्य्येति। यत्र सन्देहस्तत्रैव न्यायाभिधानस्योचितत्वादित्यर्थः। तात्पर्यसन्देहादपि धर्मसन्देहो न धर्मिणीति, तत्र न्यायाभिधानमनुचितमेवेति भावः। **परस्परेति**। तथा च न संशयः, विरुद्धप्रकारकस्यैव संशयत्वादिति भावः। न चासङ्कोचादीश्वरपरसर्वश्रुतिबोधिततावत्प्रकारेण मननं मोक्षहेतुः। तत्र च विरोधप्रतिसन्धाननिबन्धनसंशयावश्यम्भावान्मननमस्त्विति वाच्यम्। अविरुद्धप्रकारे संशयाभावादेवमपि तावत्प्रकारकमननासम्भवात्। एतदेवाभिसन्धायोक्तं **दिगिति**।

इच्छाया इति। ननु विषयसिद्धिनिवर्त्या नेच्छा, किन्तु तद्धीनिवर्त्या। अन्यथा प्राप्तधनस्यापि तत्प्राप्तिमजानतस्तदिच्छाविच्छेदापत्तेः। एवञ्च

प्रकाशः— सिद्धिनिवर्त्यत्वात्। अत्र च 'श्रोतव्यो मन्तव्य' इति *श्रुत्या* मननस्येष्टसाधनत्वावगतेः श्रौते ज्ञाने वृत्तेऽपि मननस्यासिद्धत्वात् तत्रेच्छा भवत्येवेति न सिषाधयिषाविघटन द्वारकदूषणभावस्य सिद्धसाधनस्यावकाशः। इच्छाविषयत्वावच्छेदकरूपवत्सिद्धेः, सिद्धपदेन विवक्षितत्वात्। अत एव सिद्धसाधनं दशाविशेषे दोषः, पृथक् च न दूषणम्, असिद्ध्युपजीव्यत्वेऽपि बाधवत् स्वतो दूषकत्वाभावात्। किन्तु दूषकतायामुपाधेरिव परमुखनिरीक्षकत्वात्। भवेदेवं यदि सिषाधयिषाघटितं पक्षत्वम्। तदेव न, तस्य विशेषणतोपलक्षणतयोरुभयत्रापि दोषात्। योग्यतायाश्च तदवच्छेदकरूपपरिचेयत्वादिति चेन्न। सिषाधयिषाविरहसहकृतसाधकप्रमाणाभावस्य

मकरन्दः— सिद्धसाधनस्थलेऽप्युत्पन्नसिद्धेरग्रहे तदिच्छाया अनिवृत्तेः पक्षता स्यादिति चेत्।

अत्राहुः विषयसिद्धिः साक्षान्नेच्छानिवर्त्तिका, उत्पन्नायास्तस्या विरोधिगुणनिवर्त्यत्वात्। तस्मात्तद्धेतोरसिद्धत्वज्ञानस्य विघटनद्वारा इच्छान्तरोत्पत्तिप्रतिबन्धकत्वेन तथात्वं वाच्यम्। ततः प्रकृते सिद्ध्युत्पादमात्रेणैव सिद्धौ सत्यां तदसिद्धत्वभ्रमसंशयाभावात्। धनादिस्थले च तत्सम्भवेन ज्ञप्तिपर्यन्तानुसरणमिति।

इच्छेति। न चैवं निरन्तरानुमितित्वेनेच्छायां निरन्तरानुमित्यापत्तिः, इष्टत्वात्। न चानुमित्यानन्त्यम्। तृतीयक्षणे परामर्शस्यैव विनाशात्। न च लिङ्गोपधानमतेऽनुमित्यात्मकपरामर्शमादाय तदापत्तिः। अनुमितिद्वयस्येष्टत्वात्। उत्तरकालं च सिषाधयिषानाशादेव तदापत्त्यभावात्।

यत्तु विषयान्तरसञ्चारसामग्रीबलवत्त्वान्न तथाऽनुमितिरिति, तच्चिन्त्यम्। भिन्ने विषये प्रत्यक्षसामग्रीतोऽनुमितिसामग्र्या बलवत्त्वात्। अत एव परामर्शानन्तरं न परामर्शान्तरं, तदनुव्यवसायो वा। अन्यथा सिद्धसाधनस्थले तत्सामग्र्या एव प्रतिबन्धकत्वसम्भवे सिद्धेरप्रतिबन्धकत्वे तदभावरूपपक्षताया हेतुत्व एव मानाभावात्।

अत एवेति दूषणत्वप्रयोजकसिषाधयिषाविघटनस्यासार्वदिकत्वादेवेत्यर्थः। द्वितीये हेतुमाह **असिद्धीति**। वस्तुतो ज्ञायमानप्रतिबन्धकत्वाभावादेव न हेत्वाभासत्वम्। साध्यञ्च न यथा हेत्वाभासस्तथोक्त*मनुमानप्रकाशे* । **विशेषणेति**। लिङ्गदर्शनादिना तन्नाशाद् न विशेषणत्वं, सिद्धसाधनस्थलेऽप्यति प्रसङ्गान्नोपलक्षणत्वमित्यर्थः। साधकप्रमाणपदं सिद्धिपरम्। तेन घनगर्जितस्थले परामर्शात्मकसाधकप्रमाणमादाय नाव्याप्तिः। सिद्ध्युपहितप्रमाणपरं तदि*त्यन्ये* ।

प्रकाशः– तत्त्वात्। स च विशिष्टाभावो यत्र साधकप्रमाणसिषाधयिषे स्तः तत्र विशेषणाभावात्। यत्रोभयाभावस्तत्र विशेष्याभावात्, यत्र साधकप्रमाणाभावे सिषाधयिषामात्रमस्ति तत्र द्वयाभावात् सर्वत्राविशिष्टः। यत्र साधकप्रमाणे सत्यसति वा सिषाधयिषाया अभावस्तत्र नास्तीत्य*स्मत्पितृचरणाः*।

मकरन्दः– सिषाधयिषायाश्च विशेषणत्वमेव, तदुत्तरस्मरणलक्षणपरामर्शादनुमितौ विनश्यदवस्थसिषाधयिषायास्तथात्वात्।

ननु सिषाधयिषा तत्पुरुषीयतया तत्कालीनतया तत्साध्यीयत्वादिना चावश्यं विशेषणीया। अन्यथा व्यधिकरणामन्यकालीनामन्यसाध्यलिङ्गपक्षीयाञ्च सिषाधयिषामादाय पक्षतासत्त्वे सिद्धसाधनेऽप्यनुमित्यापत्तिः। एवञ्च तादृशसिषाधयिषाया घनगर्जितस्थलादावप्रसिद्धेः कथं तद्घटिता तत्र पक्षतेति चेन्मैवम्। व्यधिकरणाया अन्यकालीनायाश्च तस्यास्तदा तत्पुरुषे विरह एवेति तामादायातिप्रसङ्गाभावात्तल्लिङ्गकतत्साध्यकतत्पक्षकानुमितिगोचरेच्छाया एव विवक्षिततत्वात्। तादृश्याश्च घनगर्जितस्थलेऽपीश्वरेच्छाया एव प्रसिद्धत्वात्। तादृशानुमित्यसम्भवे पक्षत्वाभावेऽपि न क्षतिः। नचैवं बाधादेरनुमितिप्रतिबन्धकत्वं न स्यात्, तत्र तादृशानुमित्यसम्भवे पक्षताविरहादेव तदनुत्पत्तेरिति वाच्यम्। बाधाद्यनवतारदशायामन्यदा तादृशानुमितिसम्भवे तद्घटितपक्षतासत्त्वे तदा बाधादेरेव प्रतिबन्धकत्वात्। ननु तत्कालिकत्वेनाप्यनुमितिरवश्यं विशेषणीया। अन्यथाऽन्यकालिकानुमितिगोचरेच्छामादायातिप्रसङ्गादिति चेत्। अस्त्वेवं, तथापि पक्षताविरहेऽपि बाधादेरेव तत्रोपजीव्यत्वात्। अन्यथाऽनुमितिसत्त्वे तद्घटितपक्षताया अप्यावश्यकत्वात्। पक्षताविरहादेवानुमित्यभावेऽन्योन्याश्रयात्।

एतेन सिषाधयिषा न सिद्धित्वप्रकारिकेच्छा, प्रकृते तदभावात्। नापि सिद्धिविषयेच्छामात्रम्, प्रत्यक्षेण जानीयामितीच्छायामपि तदापत्तेः। नाप्यनुमितित्वप्रकारिकेच्छा। एकलिङ्गावगते लिङ्गान्तरेणानुमित्सायां तदनापत्तेरित्याद्यपास्तम्। निरुक्तानुमितिगोचरेच्छाया एव विवक्षिततत्वात्। अधिक*मनुमानप्रकाशे* विपञ्चितम्।

सत्यसति वेति। समीचीनेऽसमीचीने वेत्यर्थः। सतीति शेषः। तथाच भ्रमप्रमासाधारणसिद्धिमात्रस्य प्रतिबन्धकतया तस्मिन् सति यत्र सिषाधयिषाया अभावस्तत्र नास्तीति भावः। यत्तु सत्यसतिपदं स्वरूपार्थकमिति स्वरूपसतीत्यर्थ इति। तन्न, वाशब्दस्यासङ्गतत्वापत्तेः।

प्रकाशः- तथापि संशयं विना कथं न्यायावतार इति चेदित्थम्। संशयो हि न्यायाङ्गं न तावद् न्यायकारणतया, तस्य लिङ्गपरामर्शात्मनः संशयं विनापि सम्भवात्। कारणत्वासिद्धौ फलवैजात्यस्यापि कल्पने मानाभावात्, अन्योन्याश्रयाच्च। नापि सहकारित्वेन। तद्धि न साक्षात्, लिङ्गपरामर्शादिना तन्नाशात् शाब्दलिङ्गपरामर्शे तत्कारणत्वासंभवाच्च संशयस्य कारणत्वासिद्धौ तत्कल्पनेऽपि मानाभावात्। अत एव परम्परयापि तत्सहकारित्वमपास्तम्। नाप्यश्रयतावच्छेदकत्वेन, पर्वतत्वादेरेव तथात्वात्। अन्यथा पक्षतावच्छेदकधर्मसाध्ययोः सामानाधिकरण्यभाननैयत्येन पर्वतत्वादेरिंव सन्दिग्धत्वस्याप्यनुमितौ भानापत्तेः। अथ संशयेन स्वयोग्यतोपलक्षणात् साधकबाधकमानाभावो न्यायाङ्गमिति चेन्न। तथापि संशयस्यातत्त्वात्। संशययोग्यतायास्तदङ्गत्वाद्। विशिष्टस्य तद्ग्राहकमानेन विशेषणस्यापि तत्त्वं विषयीकृतमिति चेन्न। मिलिताभावस्य प्रत्येकसत्त्वेऽपि सत्त्वात्। प्रत्येकञ्च न योग्यता। केवलान्वयिनि बाधकाप्रसिद्धेश्चेत्यन्यत्र विस्तरः।

तथापि संशयस्यानुमितिमात्राहेतुत्वेऽपि जिज्ञासितार्थानुमितौ जिज्ञासाद्वारा संशयस्यानुमितिहेतुत्वम्। यद्वा सङ्कसुकतानिवृत्तये न्यायोपासने संशयोऽङ्गमिति संशयं विना यो न परितुष्येत् तं प्रति 'श्रोतव्यो मन्तव्य' इति *श्रुते*रनन्यगत्या

मकरन्दः- तस्येति। यद्यपि न्यायो न लिङ्गपरामर्शात्मा, किन्तु पञ्चावयववाक्यम्। तथापि तत्रापि तद्धेतुत्वे मानाभावात् परामर्शपरत्वाभिप्रायेण दूषितमिति मन्तव्यम्। **तदिति**। तत्सहकारित्वासम्भवादित्यर्थः। तस्यैवासत्त्वेनेति भावः। **अत एवेति**। व्यभिचारादेवेत्यर्थः।

परामर्शादिना तन्नाशादित्यत्र शङ्कते **अथेति**। उक्तबाधकादेव संशयस्यात्र न विशेषणत्वं किन्तूपलक्षणत्वमिति दोषे सत्येवाऽऽह **मिलितेति**। ननु प्रत्येकाभावद्वयं योग्यता, तच्च प्रत्येकसत्त्वे नास्तीत्यत आह **प्रत्येकमिति**। प्रत्येकाभावद्वयमित्यर्थः। साधकमानाभावमात्रस्य तथात्वे लाघवादिति भावः। अन्यथा पक्षताविरहादेवानुमितिप्रतिबन्धे बाधो हेत्वाभासो न स्यादित्यपि बोद्धव्यम्। **केवलेति**। साध्याभावसाधकस्य बाधकत्वमित्यभिप्रायेणेदम्। यद्यपि पक्षनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वग्राहकमानाविषयत्वं बाधकाभाव इति विवक्षिते तत्र नाप्रसिद्धिः, तथापि लाघव एव तात्पर्यम्। एतदेवाभिसन्धायोक्तम् **अन्यत्रेति**।

संशयवज्जिज्ञासाऽपि न तावत्कालस्थायिनीति मतान्तरमाह **यद्वेति**। तथा च निवर्त्त्यत्वेन संशयस्य न्यायाङ्गत्वमिति। **य इति**। तथा च प्रबोधनार्थं

प्रकाशः– भिन्नविषयक एव धर्मविषयकसंशयो धर्मिविषयकन्यायप्रवृत्ति–हेतुरित्यास्थेयमिति विभावयंस्तत्कारणं विशेषविप्रतिपत्तिमादर्शयति **तदिहेति**। **तदिति** वाक्योपक्रमे। संक्षेपोऽवान्तरविप्रतिपत्त्यविवक्षा। विरुद्धा प्रतिपत्तिर्ज्ञानमभिलाषो वा विप्रतिपत्तिः। विप्रतिपत्तौ विषयिण्यां विषयस्य प्रयोजकत्वं विवक्षित्वा पञ्चमीनिर्देशः। तत्रालौकिके तावत्, साक्षात्कारकारणेन्द्रियसन्निकर्षाश्रयत्वं प्रमेयत्वव्यापकं न वा? इन्द्रियस्य तु न सन्निकर्षाश्रयत्वं, किन्तु प्रतियोगित्वमिति न विप्रतिपत्तिः। य एव चक्षुषा रूपस्य संयुक्तसमवायः स एव गुरुत्वस्यापीति तस्यापि लौकिकत्वापत्तेः। किन्तु सामान्यलक्षणप्रत्यासत्त्यजन्ययोगजधर्माजन्यजन्य स्वविषयकसविकल्पकाजन्य जन्यसाक्षात्कारविषयत्वं प्रमेयत्वव्यापकं न वा? अभावसमवाययोस्तादृशप्रतियोगिसम्बन्धिसविकल्पकजन्यसाक्षात्कार

मकरन्दः– संशयबीजविप्रतिपत्तिप्रदर्शनम्। न तु तद्विना मननासम्भव एवेति तात्पर्यम्। **प्रयोजकत्वमिति**। शब्दात्मकविप्रतिपत्तौ विषयस्य हेतुत्वाभावादिति भावः। यस्या अविवक्षा तामवान्तरविप्रतिपत्तिमाह **साक्षादिति**। अलौकिकपरमाण्वादावतिप्रसक्तिर्व्यतिरेके च बाध इत्यत उक्तं **साक्षात्कारकारणेति**। संयोगाद्यन्यतमप्रत्त्यासत्ति जन्यसाक्षात्कारकारणेत्यर्थः। न च तन्मते व्यावर्त्याप्रसिद्धिः। पक्षे उपरञ्जकस्यापि दानात्। अत एव साक्षात्कारत्वपर्य्यन्तमपि तज्जातित्वे वैयर्थ्यमपि नेति ध्येयम्। न च गर्भवर्तिनष्टे व्यभिचारादिदमुक्तमिति वाच्यम्। तन्मते प्रमाविषयत्वस्याप्यभावात्। भावे वाऽवश्यमिन्द्रियसन्निकृष्टत्वम्। प्रमाणान्तरात्तदसम्भवात्। योग्यतापरत्वे वा सन्निकर्षत्वेऽपि तथेति भावः। विधिनिषेधकोटिप्रसिद्धिः, अभिधेयत्वघटत्वयोः सुलभेति। ननु घटसाक्षात्कारकारणघटचक्षुः संयोगरूपसन्निकर्षाश्रयत्वं चक्षुष्यपि, न च तल्लौकिकमित्यत आह **इन्द्रियस्येति**। यद्यपि संयोगस्य द्विष्ठत्वादिदमयुक्तं, तथापि नेन्द्रियविशिष्टसन्निकर्षाश्रयत्वमिन्द्रियस्य अंशत आत्माश्रयात्, किन्तु तदुपलक्षितसन्निकर्षाश्रयत्वम्। तदिदमुक्तं, किन्तु **प्रतियोगित्वमिति**। तत्र तत्प्रतियोगिकसन्निकर्षाश्रयत्वेऽपि तस्योपलक्षणत्वमित्यर्थः। **य एवेति**। एतच्च यथाश्रुते। स्वसाक्षात्कारविवक्षायान्तु तावन्मात्रविषयत्वमेवास्तु, कृतं स्वपदकारणादिगर्भत्वेनेति तथैव सिद्धान्तमाह **किन्त्विति**। न च तन्मते साक्षात्कारस्यैव प्रमात्वेन व्याप्यव्यापकाभेदात् कथं व्याप्यव्यापकताग्रह इति वाच्यम्। उपाधिभेदेन भेदात्। तादृशानुमितिविषयत्वं सर्वेषामिति सिद्धसाधनं, व्यतिरेके च बाध इत्यत उक्तं–**साक्षात्कारेति**।

प्रकाशः- विषयत्वेऽपि प्रत्यक्षत्वात्, तत्सङ्ग्रहार्थं स्वविषयकेति विशेषणम्। अत्र यद्यपि घटोऽयमिति सविकल्पके घटत्वस्य तत्कारणज्ञानविषयतास्ति, तथापि तज्ज्ञानजन्यनिर्विकल्पकविषयताप्यस्ति। न हि तज्ज्ञानजन्यज्ञानगोचरत्वं तज्ज्ञानाजन्यज्ञानगोचरताविरोधि। एकत्र ज्ञानद्वयस्य भावादित्याहुः।

अलौकिकविशेषे त्वदृष्टे, प्रयत्नकारणात्मविशेषगुणनिरुपाधिविषय कारणात्मविशेषगुणत्वं लौकिकमानसप्रत्यक्षाविषये वर्त्तते न वा? यद्वा,

---

मकरन्दः- ईश्वरसाक्षात्कारमादाय दोषतादवस्थ्यादाह, **चरमजन्यपदम्।** अलौकिक-प्रत्यासत्तित्रयजन्यसाक्षात्कारमादाय दोषतादवस्थ्यादाह, पूर्वप्रतीकम्। तत्राजन्यपदमीश्वरज्ञानजन्यतया जगतोऽप्रसिद्धिवारणार्थम्। स्वविषयक-पदव्यावृत्तिस्तु मूल एव। स्वपदेन च यत्र यः साक्षात्कारविषयत्वेनाभिमतः, स एव तत्र ग्राह्यः। सविकल्पकपदञ्च यद्यपि प्रकृतेऽकिञ्चित्करम् ज्ञानपदेनैव सङ्गतेः। तथापि उपरञ्जकस्यापि दानादखण्डाभावघटितस्य न व्यर्थत्वम्।

केचित्तु लौकिकसाक्षात्कारविषयत्वस्य प्रकृतेऽभिमतत्वेन विशिष्टोपादानम्। अन्यथा विशिष्टप्रत्यक्षस्य स्वविषयकनिर्विकल्पकजन्यस्य तत्रासंग्रहापत्तेः। न चैवमपि विशिष्टवैशिष्ट्यप्रत्यक्षाव्याप्तिः।

जन्यस्वविषयकसविकल्पकत्वेन जनकत्वाभावस्य विवक्षिततत्वात्। अत्र जन्यादिपदमप्रसिद्धिवारकमित्याहुः, तच्चिन्त्यम्। अत्र **यद्यपी**त्यग्रिमग्रन्थविरोधात्। तथा सति सविकल्पकविषयतयापि सामञ्जस्ये तदनुत्थानप्रसङ्गः। यद्यपि तन्मते योगजादीनामप्रसिद्धतया तदजन्यत्वस्यापि तथात्वात् तदुपरक्तबुद्धेरप्य-भावादुपरञ्जकत्वेनापि तदुपादानमसङ्गतम्। तथापि असत्ख्यातिरूपा तदुपरक्तबुद्धिरस्त्येव इति नोक्तदोष *इत्येके*। संयोगाद्यन्यतमप्रत्यासत्ति-जन्यसाक्षात्कारविषयत्वमनेनोपलक्षितमि*त्यन्ये*।

सविकल्पक इति। धारावाहिक इत्यर्थः। **प्राथमिकसविकल्पकस्या** जनकत्वान्निर्विकल्पक इत्युपलक्षणम्। प्राथमिकसविकल्पक इत्यपि द्रष्टव्यम्। **प्रयत्नेति।** प्रयत्नकारणात्मविशेषगुणाविच्छाद्वेषौ तयोर्निरुपाधिविषयौ सुखदुःखे तत्कारणत्वविशिष्टात्मविशेषगुणत्वं लौकिकमानसप्रत्यक्षाविषये वर्त्तते न वेत्यर्थः। न च मानसेति व्यर्थम्। मानसप्रत्यक्षपदेन मनःप्रयोज्यजातिविशेषाश्रयस्योक्त-त्वात्तस्य व्यर्थत्वाभावादखण्डाभावे वा न वैयर्थ्यम्। लौकिकपदञ्चाप्रसिद्धिवारणार्थम्।

मकरन्दः– अत्र प्रयत्नकारणं गुण ईश्वरज्ञानादिस्तन्निरुपधिविषयो विशिष्टप्रत्यक्षं तत्कारणात्मविशेषगुणत्वं तादृशनिर्विकल्पके वर्त्तत एवेति सिद्धसाधनमत आह, **प्रथमात्मविशेषपदम्**, आत्मविशेषस्य संसार्यात्मनो गुण इत्यर्थः। ज्ञानमादाय पूर्वोक्तसिद्धसाधनतादवस्थ्यादाह **प्रयत्नकारणेति**। प्रयत्नसाक्षात्कारणेत्यर्थः। तेन न दोषतादवस्थ्यम्।

ननु साक्षाज्जनकत्वं यदि व्यक्तेस्तदा इच्छाद्वेषयोरप्युपायेच्छाद्वेषद्वारा जनकत्वमित्यसम्भवः, तज्जातीयस्य चेत्तदा ज्ञानेऽप्यतिप्रसङ्गः। उपादानप्रत्यक्षस्य साक्षात्प्रयत्नहेतुत्वादिति चेत्। न, फलेच्छायाः स्वरूपसत्याः साक्षादेव प्रयत्नहेतुत्वेन व्यक्तिपक्षस्यैव क्षोदक्षमत्वात्। विजातीयाव्यापारकजनकजातीयस्यैव वा साक्षाज्जनकत्वेन विवक्षितत्वादित्याहुः। तच्चिन्त्यम्। फलेच्छायाः प्रयत्नजनकत्वाभ्युपगमेऽपि साक्षाज्जनकत्वे मानाभावात्। चिकीर्षादिसत्त्वे तां विना तदुत्पत्तौ विलम्बाभावात्। चिकीर्षोपादानप्रत्यक्षाभ्यां सह युगपदनवस्थानाच्च। क्षणद्वयमात्रस्थायित्वात्। चिकीर्षाद्वारेणैवोपपत्तौ समूहालम्बनकल्पने प्रमाणाभावाच्च। भावे वा तद्विषयत्वे न प्रयत्नजनकत्वं, गौरवान्मानाभावाच्च। अन्यथोपादानप्रत्यक्षेऽपि उपनीतविशिष्टप्रत्यक्षविषयत्वसम्भवान्निर्विकल्पकमादाय दोषापत्तेः। फलेच्छां विनोपायचिकीर्षाविरहात्तद्धेतुत्वस्यावश्यकत्वात्।

वस्तुतस्तु न तस्याः प्रयत्नं प्रति जनकत्वं, किन्त्ववच्छेदकत्वमित्युक्तमस्माभिरन्यथाख्यातिवादे। विजातीयेत्याद्यप्ययुक्तम्। साक्षाज्जनकत्वेनैव विजातीयाव्यापारकं यद् उपादानप्रत्यक्षं तज्जातीयं ज्ञानमादायोक्तसिद्धसाधनतादवस्थ्यात्। न च विजातीयव्यापारजनकजातीयभिन्नत्वं विवक्षितं, ज्ञाने च विजातीयेच्छाव्यापारकत्वमेवेति वाच्यम्। ज्ञानादीनामदृष्टद्वारा कार्यमात्रहेतुत्वाभ्युपगमेनेच्छाया विजातीयव्यापारकप्रयत्नजनकजातीयत्वात्। किञ्च द्वेषस्य प्रयत्नकारणत्वे मानाभावः, यथा चैतत्तथा प्रपञ्चित*मनुमानप्रकाशे*। मूले त्वग्रेतनं *प्राचीनमत*मनुपादेयम्। *चिन्तामणि*स्वरसोऽप्येवमेव।

यच्चोक्तं निरुपधिपदं सोपाधीच्छाविषयकामिनीविशिष्टज्ञानकारणाऽऽत्मविशेषगुणत्वस्योक्ते सत्त्वेन सिद्धसाधनवारकमेव। अग्रिमात्मविशेषगुणपदयोः कामिनीरूपात्ममनोयोगादिवृत्तित्वेन सिद्धसाधनवारणे तात्पर्य्यमिति। तदपि चिन्त्यम्। निदिध्यासनजन्यभावना तत्त्वसाक्षात्कारद्वारा इच्छानिरुपधिविषयदुःखाभावरूपमोक्षहेतुरिति तामादाय सिद्धसाधनतादवस्थ्यात्। न च निदिध्यासनजन्यमदृष्टमेव। दृष्टेनैवोपपत्तेः। न च तज्जन्यत्वे स्मृतित्वापत्तिः।

मकरन्दः- स्वसमानविषयकसंस्कारत्वेनैव हेतुत्वे तथात्वात्। अत्र चात्मविषयकभावनात्वेनैव हेतुत्वात्। तत्त्वसाक्षात्कारस्य विश्वविषयकत्वाच्च। अन्यथा संस्कारध्वंसे का गतिः। अत एव मूले वक्ष्यति, अतीन्द्रियार्थदर्शनाभ्युपायो भावनेत्यभ्युपगमेऽपि नासौ सत्यमेव साक्षात्कारमुत्पादयतीति अदृष्टवत् तस्यापि प्रत्यासत्तित्वे विरोधाभावः।

अस्तु वा तथा। तथापि देवप्रतिमादिदर्शनत्वेनैव स्वर्गहेतुत्व श्रुतेस्तन्निर्विकल्पकस्यापि तथात्वाविशेषात्तमादाय सिद्धसाधनम्। सुखदुःखकारणाऽऽत्मविशेषगुणत्वमीश्वरज्ञानादावपीति तदादाय सिद्धसाधनम्। न ह्यग्रिमात्मपदमपि संसारिपरतया व्याख्यातम्। तत्परत्वेऽपि पूर्वदोषानुद्धारात्। जीवनयोनियत्नमादाय सिद्धसाधनतादवस्थ्याच्च। न च तस्य न सुखदुःखजनकत्वं, किन्तु जनकजनकतेति वाच्यम्। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां तद्धेतुत्वात्। अन्यथा प्राणादेरपि तथात्वे तद्धेतुत्वं न स्यात्। एतेन प्रयत्नेत्यादिना विषयान्तेन सुखदुःखयोरेव विवक्षितत्वात्। सुखदुःखान्यतरकारणात्मविशेषगुणत्वे तात्पर्यमित्यपास्तम्।

अत्र ब्रूमः। सुखदुःखान्यतरकारणात्मविशेषगुणत्वं लौकिकमानस-प्रत्यक्षविषयजातीयभिन्ने वर्त्तते न वेति विवक्षितम्। साजात्यञ्च गुणत्वसाक्षाद्व्याप्यजात्या। धर्माधर्मोभयसाधारण्यार्थमुभयगर्भत्वम्। यथाश्रुतेऽपि सुखदुःखयोरनुगमे तदेव बीजम्। प्रत्येकगर्भतया प्रत्येकं विप्रतिपत्तिद्वयमेव वा विवक्षितम्। एवञ्चेश्वरज्ञानादिकं निर्विकल्पकं जीवनयोनियत्नञ्चादाय सिद्धसाधनानवकाशः। सर्वेषां तज्जातीयत्वात्। धर्माधर्मौ तु न तथा। न चैवं विशेषपदवैयर्थ्यं, संयोगमात्रस्यैव तादृशप्रत्यक्षाविषयतयाऽऽत्ममनोयोगमादाय सिद्धसाधनापत्तेः। कामिनीरूपवृत्तित्वेन सिद्धसाधनवारणायात्मपदम्। भावनावृत्तित्वेन तद्वारणाय कारणान्तम्। यदि च निदिध्यासनजन्यभावना कायव्यूहादिद्वारा सुखादिकारणं, तदा तदन्यत्वमपि सुखदुःखविशेषणम्। न च लौकिकत्वं योगजधर्माद्यजन्यत्वगर्भं, तच्च तन्मतेऽप्रसिद्धम्। साध्ये उपरञ्जकस्याप्यदानाद् व्यर्थत्वञ्चेति वाच्यम्। संयोगाद्यन्यतमप्रत्यासत्तिजन्यत्वस्य विवक्षितत्वात्। अखण्डाभावे साध्ये चावैयर्थ्यादिति।

प्रकाशः–लौकिकप्रत्यक्षाविषयगुणत्वसाक्षाद्व्याप्यजात्यधिकरणत्वमात्मगुणे वर्त्तते, न वा? भावनात्वन्तु न गुणत्वसाक्षाद्व्याप्यम्, अदृष्टत्वन्तु न जातिः। परलोके तु, समानकालीनानेकावृत्तिशरीरवृत्तिजातित्वं दुःखावच्छेदकत्वासमानाधिकरणवृत्ति न वा? इति स्वर्गे। नरके तु दुःखपदस्थाने सुखपदप्रक्षेपात् संशयः। तादृशी च जातिर्बाल्यादिभेदभिन्नानेकशरीरवृत्तिरसाधारणी चैत्रत्वादिः प्रसिद्धेति विशेषतः।

मकरन्दः– वस्तुतः पूर्वापरितोषादाह **यद्वेति**। प्रत्यक्षाविषयत्वमप्रसिद्धमिति लौकिकत्वं विशेषणम्। परमते चोपरञ्जकमेतद् बोध्यम्। सुखत्वादिकमादाय सिद्धसाधनवारणायाविषयान्तम्। गुरुत्वादिना सिद्धसाधनवारणायात्मपदम्। गुणपदं स्पष्टार्थम्। साक्षात्पदव्यावर्त्यमाह भावनात्वन्त्विति।

नन्विदं बाधितं, धर्मत्वाधर्मत्वयोः परस्पराव्याप्यत्वाददृष्टत्वस्य च जातित्वाभावादित्यत आह **अदृष्टत्वञ्चेति**। यत एवादृष्टत्वं न जातिरत एव तद्व्याप्यजात्यव्याप्यतया धर्माधर्मत्वे साक्षाद् व्याप्ये इति भावः।

समानेति। अत्र विधिकोटि *नैयायिकानाम्*। नेति *बौद्धानाम्*। यद्यपि तादृशजातिर्दुःखावच्छेदकत्वासमानाधिकरणेत्येतावतैव दुःखानवच्छेदक-शरीरसिद्धाविष्टसिद्धिस्तथापि चैत्रत्वादेस्तादृशजातेः पक्षीकरणे बाधाद् अन्यस्याश्चाप्रसिद्धेरिति पक्षविकल्पभिया तादृशजातित्वं पक्षीकृतम्। दुःखावच्छेदकत्वासमानाधिकरणवृत्तित्वं दुःखावच्छेदकत्वानधि-करणाधिकरणवृत्तित्वं विवक्षितम्। एवञ्च सत्तावृत्तित्वेन सिद्धसाधनवारणार्थमाह, **अवृत्त्यन्तम्**। अनेकावृत्तिजातित्वमप्रसिद्धमिति **समानकालीनपदम्**। तदर्थश्च समानकालोत्पत्तिकत्वम्। एवञ्चात्मत्वमनस्त्वादिवृत्तित्वेन सिद्धसाधनवारणार्थं शरीरवृत्तीति।

केचित्तु कारणविशेषप्रयोज्यशब्दवृत्तिजातेस्तथात्वेन सिद्धसाधनवारणाय शरीरवृत्तिपदमित्याहुः।

यद्यपि जातिपदं व्यर्थम्। न चैहिकसुखमात्रावच्छेदकशरीरवृत्ति धर्ममादायार्थान्तरवारणाय तदिति वाच्यम्। ऐहिकशरीरस्य दुःखावच्छेद-कत्वनियमाद् बाधेनासिद्धेः। अन्यथा जातिपददानेऽप्यप्रतीकारादिति। यदि च दुःखावच्छेदकत्वं तत्स्वरूपयोग्यत्वं, तदा तुल्यम्। एवञ्च समानकालीनपदमपि व्यर्थम्। तथापि पक्षे उपरञ्जकस्यापि दानाज्जातिपदमप्रसिद्धिवारकतया तदपि

प्रकाशः– परलोकमात्रे तु सुखदुःखोभयजनक-मच्छरीरातिरिक्तशरीरवानहं न वेति संशयः। चैत्रस्तथा प्रसिद्धः। साधने तु प्रागभावत्वाद्यप्रतियोगिकार्यम् प्रतियोगित्व प्रागभावान्यप्रागभावाविषयकप्रतीत्यविषयप्रतियोगि न वा? यद्वा, कार्यप्रतियोगित्वं प्रतियोगित्वप्रागभावान्यप्रागभावाविषयबुद्ध्यविषयवृत्ति न वा। द्वयोरपि प्रागभावत्वे प्रसिद्धिः। यद्वा कार्य्यपूर्ववर्त्तिनि तन्नियतत्वं वर्त्तते न वा? यद्वा, तज्जातीयोत्पत्ति-प्राक्क्षणत्वप्रतियोगि-व्यापकतावच्छेदकत्वमत्यन्ताभावप्रतियोगिवृत्ति न वा?।

मकरन्दः– सार्थकमिति। वस्तुतस्तु एतच्छरीरभाविघटाद्यन्यतमत्वादिकमादा-यार्थान्तरवारणाय जातिपदम्। तस्य दुःखावच्छेदकस्वरूपयोग्यत्वानधिकरण-घटाद्यधिकरणत्वादिति। विधिनिषेधप्रसिद्धिश्च शब्दत्वादौ चैत्रत्वादौ चेति बोध्यम्। **सुखेति।** सुखदुःखोभयजनक-मच्छरीरातिरिक्तत्वमुभयथा सुखदुःखोभय-जनकत्वविशेषणाभावान्मदीयत्वविशेषणाभावाच्च। तच्चान्त्यनिबन्धनमन्यत्र प्रसिद्धम्। आद्यनिबन्धनञ्च पक्षधर्मताबलात् पक्षे सिद्ध्यतीति भावः। **साधने त्विति।** साधनत्वे त्वित्यर्थः। तत्रैवाग्रे विप्रतिपत्तिदर्शनात्। धर्मिणस्तु दण्डादेः प्रागभावाविषयप्रतीतिविषयत्वात्। साधनञ्च न तथा, तस्य प्रागभावगर्भतया प्रमेयत्वादिनापि ग्रहे प्रागभावविषयत्वनियमादिति प्रागभावविषयप्रतीति-विषयप्रतियोगित्वे साध्ये सिद्धसाधनं, कार्य्यस्य घटादेः प्रागभावघटान्योन्याभावाविति समूहालम्बनविषयान्योन्याभावप्रतियोगित्वादिति नञ्द्वयम्। प्रागभावतत्प्रतियोगित्वाभ्यां तादृशप्रतीतिविषयाभ्यां सिद्धसाधनवारणार्थं **प्रतियोगित्वप्रागभावान्येति।** तादृशप्रतीत्यविषयविशेषणम्। प्रागभाव-प्रतियोगित्वप्रागभावान्येत्यर्थः।

केचित्तु सामान्यत्वेन विशेषोऽपि वारित इति यथाश्रुतेऽप्यदोष इत्याहुः। न च कार्यान्योन्याभावमादाय सिद्धसाधनम्। तस्य कार्यत्वावच्छिन्नप्रतियोगितया कार्यत्वस्य च प्रागभावप्रतियोगित्वरूपतया तादृशप्रतीत्यविषयत्वादिति वाच्यम्। अनेन हि रूपेणाभावग्रहे प्रतियोगितावच्छेदकग्रहध्रौव्यं, न त्वन्यथापीति प्रकारान्तरेण तद्ग्रहे प्रागभावाविषयप्रतीतिविषयत्वात्। अत एव ध्वंसस्य जन्याभावतया जन्यत्वस्य प्रागभावगर्भतया तत्प्रतियोगित्वेन सिद्धसाधनमपास्तम्। ध्वंसस्य प्रकारान्तरेण तादृशबुद्धिविषयत्वात्। ध्वंसत्वस्य तादृशप्रतीत्यविषयत्वेऽपि कार्यस्य तदप्रतियोगित्वात्। तदिदमुक्तं **प्रागभावत्वाद्यप्रतियोगीति।** तथा च बाधान्न ध्वंसत्वप्रागभावत्वादिप्रतियोगित्वेनार्थान्तरमिति बाधस्फोरणाय पक्षविशेषणमिति मन्तव्यम्।

मकरन्दः–ननु प्रागभावत्वादेरिव प्रागभावप्रतियोगित्वस्यापि न प्रतियोगि कार्यं, किन्त्वाश्रयः। तथा च तमादाय सिद्धसाधनानवकाशात्तदन्यत्वं विशेषणमयुक्तम्। न हि प्रतियोगित्वं सम्बन्धित्वमात्रं विवक्षितम्। तथा सति परम्परासम्बन्धेन प्रागभावत्वादेरपि तथात्वात्तदन्यत्वमपि साध्यविशेषणं स्यात्। पक्षविशेषणं चासिद्धं स्यात्। तथा च स्वरूपसम्बन्धविशेषो वाच्यः। स च तत्र नास्ति। किञ्च कारणतया समं स्वरूपसम्बन्धविशेषोऽन्यः प्रागभावादिना च समं कार्यस्यान्यः स इति शब्दमात्रसाम्यादनुमानाप्रवृत्तिः। न च स्वरूपसम्बन्धत्वेनैवानुगम इति वाच्यम्। तस्य परम्परासम्बन्धसाधारण्येनोक्तदोषानिवृत्तेः। न च तत्र परम्परासम्बन्धस्यैव सत्त्वात् सम्बन्धान्तरमन्तरेणेत्यादिरूपं तन्न तत्रेति वाच्यम्। तस्य संयोगसमवायौ विनेत्यर्थात्। अन्यथा परम्परासम्बन्धस्य सर्वत्र सत्त्वादसम्भवापत्तेरिति चेन्न। साक्षात् सम्बन्धित्वस्य विवक्षितत्वात्। न च कारणतया समं कार्यकारणद्वारक एव सम्बन्धस्तथा च बाध इति वाच्यम्। घटाभाव इत्यत्रेव घटकारणतेत्यत्रापि साक्षात्स्वरूपसम्बन्धानुभवात्। एवञ्च यद्यपि कारणताभिन्नं तादृशं प्रागभावगर्भं पूर्ववर्त्तित्वादिकं नानाधर्ममादायार्थान्तरं सिद्धसाधनं वा भवत्येव। तथापि तत्तदन्यत्वेनापि तादृशप्रतीतिविषयो विशेषणीय इति युक्तमुत्पश्यामः।

कार्यप्रतियोगित्वमिति। यद्यपि पूर्वेण कार्यस्य सप्रतियोगित्वमभिप्रेतमनेन च कारणतायाः तथापि साक्षात्सम्बन्धित्वमेव प्रतियोगित्वमभिप्रेतं तच्चोभयनिरूपितत्वमुमयत्र तुल्यमित्यविरोध इति भावः। अत एव प्रागभावादिवृत्तित्वेन नार्थान्तरशङ्का, कार्यसाक्षात्सम्बन्धित्वस्य तत्र बाधात्। अन्यच्च पूर्ववत्। **द्वयोरपीति**। ननु प्रथमविप्रतिपत्तौ प्रागभावत्वमादाय प्रसिद्धि सम्भवेऽपि द्वितीयायामसम्भवः। न हि प्रागभावत्वस्य प्रागभावत्वे वृत्तिरपि तु प्रागभाव एव। स च न प्रागभावान्य इति चेत्। प्रागभावत्वपदेन प्रागभावत्वत्वस्य विवक्षितत्वात्। तस्य च तादृशबुद्ध्यविषये प्रागभावत्वे वृत्तेः। तत्प्रतियोगित्वाच्चेत्येके। प्रागभावत्वपदेन प्रागभावधर्मः प्रमेयत्वादिर्विवक्षित इत्यन्ये।

यत्तु व्यासज्ज्यप्रतियोगिकाभावाश्रयणे प्रतियोगित्वप्रागभावान्यः केवलः प्रागभावोऽपीति तद्वृत्तित्वेन यथाश्रुतमेव सम्यगिति। तत्तुच्छम्। प्रागभावमादाय सिद्धसाधनस्यैवमपरिहारात्। तथा च तदन्यत्वविशेषणं व्यर्थमापद्येत। वस्तुतस्तु कार्यपदं तद्विशेषपटादिपरम्। तथाच तत्प्रागभावतत्प्रागभावप्रतियोगित्वान्य प्रागभावविषयप्रतीत्यविषयपटादिप्रागभाववृत्तित्वादिना प्रागभावत्वे प्रसिद्धिरिति यथाश्रुतमेव सम्यगिति।

प्रकाश:- विशिष्टे तु, अलौकिके परलोकसाधनत्वं वर्त्तते न वा? परलोकाधने-ऽलौकिकत्वं वर्त्तते न वेति विप्रतिपत्ति:। तथा च कार्य्यकारणभावाभावे क्षित्यादि-कर्त्तृत्वान्नेश्वर सिद्धि:। परलोकाभावे च तत्साधनयागादिद्रष्टुरभावे तदुपदेशकतयापि नेश्वरसिद्धि:। अदृष्टासिद्धौ तदधिष्ठातृतयापि नेश्वरसिद्धिरिति *चार्वाका*भिप्राय:।

अन्यथेति। अदृष्टादिसत्त्वेऽपि *वेदाना*माप्तोक्तत्वेन प्रामाण्यावधारणं विना तद्बोधितस्वर्गादिसाधनयागादौ बहुवित्तव्ययायाससाध्ये न प्रवृत्तिरित्याप्तो *वेद*कार: सिद्ध्यतीति नास्ति। अन्यथापि *वेदानां* नित्यनिर्दोषत्वेन स्वत: प्रामाण्यावधारणात्। परत: प्रामाण्येऽपि कर्मयोगसिद्धसर्वज्ञपूर्वकत्वात्तेषां परलोकसाधन-यागाद्यनुष्ठानसम्भवादित्यर्थ:। **तदभावेति**। भवतु *वेदानां* पौरुषेयत्वाद् योगसिद्धसर्वज्ञपूर्वकत्वेनाश्वासाच्चाप्तोक्तत्वम्। तथापि तत्र, क्षित्यादे: कर्तृजन्यत्वे च प्रत्यक्षादिबाधान्न तत्सिद्धिरित्यर्थ:। **सत्त्वेऽपीति**। बाधकाभावात्तत्सिद्धावपि स न प्रमाणम्, प्रमाणपदं हि भावकरणकर्त्तृव्युत्पत्त्या प्रमातत्साधनतदाश्रयेषु वर्त्तते। यथार्थानधिगतार्थाधिगतिश्च प्रमा। तथा च यदीश्वर: कर्त्ता स्यात्, प्रमावांस्तत्करणेन्द्रि-यादिमांस्तत्समवायिकारणञ्च स्यात्। न चायं तथेति विपर्य्ययानुमानादित्यर्थ:। अप्रमाणपुरुषस्य वच: क: श्रद्धास्यतीति भाव:। **तत्साधकेति**। कार्यत्वादेरुपाधिदुष्टत्वात् क्षिति*वेदादे:* कर्त्तृजन्यत्वसाधकमेव नास्तीत्यर्थ:।

मकरन्द:- कार्येति। अनन्यथासिद्धकार्यपूर्ववर्त्तिनीत्यर्थ:। विशिष्टस्याप्रसिद्धत्वेऽपि खण्डश: प्रसिद्धेरिति भाव:। एवं ब्रह्मैव कारणमेकजातीयं प्रधानं वेत्यत्र संशयमाह **यद्वेति**। तज्जातीयोत्पत्तिप्राक्क्षणत्वं यत्र, तत्र ब्रह्माधिकरणत्वं प्रधानाधिकरणत्वं वेत्यत्र व्यापकीभूताधिकरणत्वेऽवच्छेदकं विशेषणीभूतं ब्रह्मैव प्रधानं वा नात्यन्ताभावप्रतियोगि व्यापकनित्यत्वादिति निषेधकोटि: *परेषां*, विधिकोटि*रस्माकम्*। अत्यन्ताभावप्रतियोगिनो दण्डादेरपि तादृशत्वाभ्युपगमादिति बोध्यम्। यद्यपि व्यापकनित्यत्वेऽप्याकाशवदत्यन्ताभावप्रतियोगित्वं ब्रह्मादेरविरुद्धं, तथापि तद्वदवृत्तित्वानभ्युपगमात् प्रत्युत सकलदेशकालवृत्तित्वादिदमध्यवसेयम्।

विशिष्टे त्विति। विप्रतिपत्तिरिति शेष:। एवं प्रागपि बोध्यम्। अविशिष्टप्रत्येकप्रसिद्धिदशायामेवैतदभिमतमिति प्रसिद्धिरिति भाव:। **तदिति**। तत्साधनत्वेन यागादिद्रष्टुरभाव इत्यर्थ:। **प्रमाणपदं हीति**। तथाचाप्रमाणत्वादिति मूलोक्तस्य बहुव्रीहितत्पुरुषाभ्यां प्रमितिशून्यत्वात् तत्करणेन्द्रियादिशून्यत्वात् तत्समवायिभिन्नत्वादित्यत्र तात्पर्यम्**तदिति** तस्य साधनत्वसाधनेऽपीत्यर्थ:।

तत्र न प्रथमः कल्पः। यतः–

सापेक्षत्वादनादित्वाद्वैचित्र्याद्विश्ववृत्तितः।
प्रत्यात्मनियमाद्भुक्तेरस्ति हेतुरलौकिकः।।४।।

न ह्ययं संसारोऽनेकविधदुःखमयो निरपेक्षो भवितुमर्हति। तदा हि स्यादेव, न स्यादेव वा, न तु कदाचित् स्यात्।४।

आमोदः– तत्रेति। तासु विप्रतिपत्तिषु मध्ये **प्रथमः कल्पो न**, प्रथमः पक्षो नेत्यर्थः। कथमेवमित्यत आह – **यत इति।** यतो हेतुरस्ति, स चालौकिक इत्यन्वयः। तदेव कथमित्यत आह – **सापेक्षत्वादिति।**

हेतुर्दण्डादिरस्ति घटादिकार्यनियतपूर्वसन्निति प्रतिज्ञा, मृद्दण्डचक्रादीनां परस्परसापेक्षत्वात्। न ह्येषां परस्परापेक्षाऽनुभूयमाना घटादिकार्यमन्तरेण सम्भवति। यद्वा कार्यं सहेतुकं सापेक्षत्वात् दण्डाद्यपेक्षोत्पत्तिकत्वादित्यर्थः। अनुमानप्रामाण्यं च व्यवस्थापयिष्यते। हेत्वनभ्युपगमे परप्रतिपत्त्यर्थं वाग्व्यवहारो व्याहत इति भावः। ननु हेतुरपि दण्डादिः कादाचित्क इति सहेतुको वाच्य एव, तत्रापि सहेतुकत्वमित्यनवस्था इत्यत आह – **अनादित्वादिति।** बीजाङ्कुरवत्। ननु भवतु साधनं तच्च दृष्टमस्मदाद्यधिष्ठेयमिति नादृष्टं साधनमस्ति, येन तदधिष्ठानार्थमीश्वरापेक्षेत्यत आह – **वैचित्र्यादिति।** दृष्टमात्रेण वैचित्र्यं कार्याणामनुपपन्नमतोऽदृष्टं कल्पनीयमित्यर्थः। तथापि दृश्यमेव तथास्तु किमन्येनेत्यत आह – **विश्ववृत्तित इति। विश्वेषां** प्रामाणिकानां **वृत्तिर्यागादौ** प्रवृत्तिर्धर्मार्थाऽतो न कथमदृष्टसिद्धिरित्यर्थः। तथापि तददृष्टं साधारणमस्तु, किं प्रत्यात्मनिष्ठतया भिन्नं कल्पनीयमित्यत आह – **प्रत्यात्मनियमादिति।** हेतुभिः साध्यं विशिष्टमर्थमाह – **अस्तीति।** 'हेतु'रस्ति, स चालौकिकोऽपीत्यर्थः। हेतुसत्त्वे यत् प्रमाणमुक्तं तत्र तर्कमाह – **न हीति। अनेकविधदुःखमय इति** जगद्वैचित्र्यार्थम्। **संसार** इत्यदृष्टसिद्ध्यभिप्रायेण। निरपेक्षत्वे विपक्षदण्डमाह – **तदा हीति। स्यादेव** नित्यः स्यादिति *स्वमतेन,* स्यादित्यलीकं स्यादिति *परमते* आपादनम्। तेन नित्यानभ्युपगमात् आपादकञ्च निरपेक्षत्वमेव, तच्चाहेतुकत्वम्। अहेतुकस्य मतभेदे द्वयी गतिः। नित्यत्वमलीकत्वं वा, न तु कादाचित्कः स्यादिति उभयथापि कादाचित्कत्वमनुभूयमानं हेतुः स्यादित्यापाद्यद्वयस्य तृतीय–मापादनम्।।४।।

प्रकाशः- तत्र *चार्वाक*स्यायं भावः। कार्य्यकारणभावे प्रत्यक्षं न तावन्मानं, धर्मिस्वरूपप्रत्यक्षेऽपि तत्र संशयात्। नचान्वयव्यतिरेकानुविधानज्ञानसहकारिविरहात् स इति वाच्यम्। तन्मात्रस्य व्यभिचारिसाधारण्यात्। नियमानन्यथासिद्ध्योश्च शङ्काकलङ्कितत्वेनानवधारणात्। नाप्यनुमानं, तस्य मया मानत्वेनानभ्युपगमात्। तत्साधने क्वचिदसिद्धावन्वयिनोऽसम्भवात्। तदसिद्धौ व्यतिरेकाज्ञानात् केवलव्यतिरेक्यनवतारात्। मम त्वप्रामितस्यासत्ख्यात्यभ्युपगमान्न निषेध्याप्रसिद्धिरित्यत आह **तत्रेति**। तेषु मध्ये न **प्रथमः** पक्षः **कल्पो** यतः, कल्पनाऽसत्ख्यातिस्तद्विषयः।

तथाहि कार्य्यकारणभावानभ्युपगमे परप्रतिपत्तिफलकवचनप्रयोगानुपपत्तेः। यथा यथा तन्निराकरणाय प्रयत्नस्तथा तथा तस्यैवापत्तेरिति व्याघात एवेत्यर्थः। तथापि साधकं विना न तत्सिद्धिरिति चेत्, तत्राह **सापेक्षत्वादिति**। विवादपदस्य **सापेक्षत्वात्** सहापेक्षया वर्त्तमानत्वात् कादचित्कत्वादित्यर्थः। तच्च किञ्चित्कालासंबन्धित्वे सति किञ्चित्कालसंबन्धरूपं कार्य्याणां प्रत्यक्षसिद्धमित्यनन्यथासिद्धमेतत्। एतस्मादनन्तरमिदं भवत्येतदभावे नेति

मकरन्दः- तदिति। कारणत्वासिद्धावित्यर्थः। प्रत्यक्षेण तद्ग्रहस्य निषिद्धत्वादिति भावः।

न प्रथमः पक्ष इति। न प्रथमः कल्प इति सामानाधिकरण्ये प्रथमकल्पस्य हेत्वभावरूपतया तदभावरूपस्य साध्यस्य हेतुरस्तीति पर्यवसाने यतो हेतुरस्तीत्यत्र साध्याविशेषेण हेतुत्वानुपपत्तिः स्यात्। यदि च न प्रथमः कल्प इत्यस्य हेत्वभावकल्पो न प्रामाणिक इत्यर्थः। तथापि यतो हेतुरस्तीति व्यधिकरणम्। तथा च हेत्वभावकल्पो न प्रामाणिकः असत्ख्यातिविषयत्वादित्यत्र नोक्तदोष इति, तदर्थपरतया व्याख्यातमिति मन्तव्यम्। यद्यपि पक्षादेरप्रसिद्धौ नोक्तानुमानमपि सम्भवति, तथापि तन्मतेनैव तत्पक्षाभावसाधनमुपन्यस्तमिति मन्तव्यम्। यद्वा एतदस्वरसादेव व्याघातमालम्बते **तथाहीति**।

यत्तु, यतः सापेक्षत्वादिति पञ्चमीद्वयमसंलग्नमिति कुसृष्टिव्याख्यानमिति। तन्न। यतो हेतुरस्तीति हेतुहेतुत्वेन सापेक्षत्वादित्यस्य सङ्गतत्वात्। सुहृद्भावेनाह **तथापीति**। एतावन्मात्रं प्रागभावसाधारणमतः प्रत्यक्षं विशिनष्टि **एतस्मादिति**। तत्फलमाह **अत एवेति**। उक्तप्रत्यक्षस्य तत्रासम्भवादेवेत्यर्थः। प्रत्यक्षपरतायां प्रागभावे कादाचित्कत्वस्य व्यभिचारेऽप्यदोषः। लिङ्गत्वेनाप्यग्रे तदभिधानात्।

प्रकाशः– प्रत्यक्षमेव कार्य्यकारणभावे मानम्। अत एव प्रागभावस्य कादाचित्कत्वेऽपि न तत्र तत्सिद्धिः। प्रागसत्त्वस्य विवक्षितत्वाद्वा। अपि च, इदमस्मान्नियतपूर्वं सदित्यपि प्रत्यक्षं तत्र मानम्। प्रत्यक्षे चानन्यथासिद्धि–नियमांशावधारणहेतुशङ्कानिवर्त्तकस्तर्को दर्शयिष्यत इति भावः। यद्वा, प्रत्यक्षसहकारित्वेनानुमानमेवोपन्यस्तम्। यद्वा, प्रथमतोऽनुमानप्रामाण्यं प्रसाध्य, कार्यं सहेतुकं कादाचित्कत्वात् यन्नैवं तन्नैवम्,यथाऽऽकाशम्। न च साध्याप्रसिद्धिः। कियद्भागे प्रत्यक्षेणैव तत्सिद्धौ तदविषयेऽनुमानात्। नचोत्पत्तेः कादाचित्कत्वेऽपि न सहेतुकत्वम्, तथात्वे वोत्पत्तिमत्त्वापत्तावनवस्थेति वाच्यम्। कार्य्यस्याद्यक्षणेन सह स्वरूपसम्बन्ध एव हि उत्पत्तिः, कार्य्यक्षणस्वरूपयोश्चोत्पत्तिमत्त्वेन हेतुमत्त्वात्। यद्वा, उत्पत्तिगर्भः किञ्चित्समयम्बन्धः कादाचित्कत्वम्। अत एव न प्रागभावे व्यभिचारः। न चोत्पत्तेरुत्पत्तिमत्त्वेन हेतुमत्त्वात् स इति न तया व्यभिचारः। एतेनानुमानपक्षे, हेतुरस्ति सापेक्षत्वाद्– इत्यत्र हेतोरसिद्धावाश्रयासिद्धिः। सापेक्षत्वस्य कार्य्यधर्मत्वेन हेताववृत्तौ स्वरूपासिद्धिश्च। कार्य्यस्यैव पक्षत्वे, सापेक्षत्वादित्यस्य हेतुमत्वादित्यर्थे साध्याविशेषः कादाचित्कत्वादित्यर्थे च प्रागभावेन व्यभिचार इत्यपास्तम्।

मकरन्दः– तदभिप्रायेणाह **प्रागिति**। प्रकारान्तरेण प्रागभाव व्यावृत्तं प्रत्यक्षमाह **अपि चेति**। अनन्यथासिद्धनियतपूर्वसदित्यर्थः। नियमानन्यथासिद्ध्योरित्यत्र समाधिमाह **प्रत्यक्षे चेति**। ननु परं प्रति प्रत्यक्षमुपन्यासानर्हमेव, अनुमानच्छाययैव तत्र तस्य गमकत्वाङ्गीकारात्। किञ्च कादाचित्कत्वमुपन्यस्तमलग्नकमेवैवं स्यादित्यत आह **यद्वा प्रत्यक्षेति**।

नन्वनुमानप्रामाण्ये किं सहकारितया? स्वतन्त्रस्यैव समर्थत्वात्। अप्रामाण्ये सहकारित्वमपि न स्यात्। किञ्चैवं प्रत्यक्षानुमितित्वयोः सङ्करापत्तिरित्याशयेनाह **यद्वेति**। सूर्यस्पन्दात्मकक्षणेन समं घटादेः सम्बन्धान्तराभावादाह **स्वरूपेति**। ननु यथाश्रुतं कादाचित्कत्वं प्रागभावे व्यभिचारि, प्रागसत्त्वविशेषितञ्च व्यर्थविशेष्यत्वग्रस्तमित्यरुचेराह **यद्वेति**। नन्वेवमुत्पत्तिमात्रमेव हेतुरस्तु, अधिकस्य व्यर्थत्वादिति चेन्न। इष्टत्वात्। उत्पत्तिपदेनोत्पत्तिरूपत्वस्य विवक्षितत्वात्। तथा चाद्यसमयसम्बन्धस्य हेतुत्वपर्यवसानम्। यद्वा, उत्पत्तिगर्भ उत्पत्तिघटकः किञ्चित्समय आद्यसमयस्तत्सम्बन्ध इत्यर्थः। तत्रैव पर्यवसानं विसर्गशून्य–पाठादित्याहुः।

प्रकाशः- ननु हेतुरपि यदि सदातनस्तदा तत्सापेक्षस्य कार्य्यस्यापि तथात्वापत्तिरिति कादाचित्कत्वमहेतोरिवाकाशादेः सहेतोरपि सपक्षात् व्यावृत्तमित्यसाधारणं स्यादिति हेतुः कादाचित्को वाच्यः। तथा च तस्यापि कादाचित्कत्वं हेत्वपेक्षयेत्यनवस्थापत्तिः। अहेतुकत्वे च तद्वदेव कार्यमप्यहेतुकं कादाचित्कं स्यादित्यत आह- **अनादित्वादिति**। हेतोरपि कादाचित्कत्वं स्वहेतुकादाचित्कत्वादेव, प्रामाणिकी चेयमनवस्था बीजाङ्कुरवन्न दोषायेत्यर्थः।

ननु कारणमात्रसिद्धावप्येकमेकजातीयं वा कारणमस्तु कार्य्यजातस्य। तच्चास्मदादिनैव शक्यज्ञानमिति न तदर्थमुपदेशो, न वा विलक्षणसामग्रीजन्यं कार्य्यं सिद्ध्यतीत्यत आह **वैचित्र्यात्**। भिन्नजतीयकारणानन्तरं तथाभूतकार्य्यविषयकं प्रत्यक्षमेव विचित्रे साधने मानमुपन्यस्तम्। यद्वा, वैचित्र्यं कार्य्यस्य विचित्रहेतुकत्वे लिङ्गमेव। उभयत्राप्यभिन्नत्वाभिन्नजातीयत्वयोर्हेतोः कार्य्यस्य भेदविजातीयत्वे आकस्मिके स्यातामिति तर्कः सहकारीत्यर्थः।

तथापि दृश्यमानविचित्रहेतुकमेव कार्य्यमस्त्विति नादृष्टसिद्धिरित्यत आह **विश्ववृत्तितः**। **विश्वेषां** प्रेक्षावतां **वृत्तिः**- परलोकर्थितया यागादौ प्रवृत्तिः प्रेक्षावत्प्रवृत्तित्वेन सफला, फलसाधनत्वञ्च यागादेराशुविनाशित्वेन न स्यादिति तज्जन्यफलानुकूलमदृष्टं कल्प्यत इत्यर्थः।

तथापि तददृष्टं भोग्यनिष्ठमुत भोक्तृनिष्ठम्? अन्त्येऽपि किं प्रतिभोक्तृनियतं, साधारणं वा? इत्यत आह **प्रत्यात्मेति**। **भुक्तेः** सुखदुःखसाक्षात्कारस्य प्रत्येकात्मनियतत्वाल्लाघवाच्च तदुपपादकं प्रतिभोक्तृनियतमेवादृष्टं कल्प्यत इति, **अस्ति हेतुरलौकिक** इत्याद्यस्तबकार्थसंग्रहः।

यथोक्तप्रत्यक्षानुमानयोरन्यथासिद्धिनिरासाय तर्कमाह **न ह्ययमिति**। **अनेकविधेति**। मुमुक्षुवैराग्यार्थं कार्य्यवैचित्र्यस्फोरणार्थं वा। तच्च -

---

मकरन्दः- यद्यप्यत्रापि स्वरूपस्यैव तत्सम्बन्धत्वे तत्र पूर्ववदुत्पत्तिमत्त्वेन चोत्पत्तेरित्यग्रिमग्रन्थविरोधः, तथापि स्वरूपातिरिक्तसम्बन्धस्योत्पत्तिरूपत्वं, तत्र चात्माश्रयादनवस्थानाच्च नोत्पत्तिमत्त्वमिति मताभ्युपगमानुसारेणेदम्।

असाधारणं स्यादिति। अगमकं स्यादित्यर्थः। ननु तद् ब्रह्माऽऽत्मकं प्रधानात्मकं वाऽतीन्द्रियं, नास्मदादीनां शक्यज्ञानमिति यदि ब्रूयात्तदा दोषान्तरमाह **न वेति**। **अभिन्नत्वेति**। हेतोरभिन्नत्वेऽभिन्नजातीयत्वे चेत्यर्थः। हेत्वोरिति पाठेऽप्यर्थः स एवेति।

प्रकाशः– विचित्रादृष्टसाधनोपयुक्तम्। निरपेक्षत्वञ्च किञ्चित्पदार्थावधिकोत्तरत्वाव्याप्यकालसम्बन्धित्वम्। न च प्रतियोग्यप्रसिद्धिः। तस्यासत्ख्यातिवादिनः सांव्यवहारिकस्य सापेक्षत्वस्यापि स्वीकारात्।

ननु, निरपेक्षत्वेनैकेन व्याप्येन स्यादेव, न स्यादेवेति द्विरूपं व्यापकद्वयं विरुद्धं कथमापाद्यते? न ह्येकं मिथोविरोधिद्वयव्याप्यम्। तुशब्दश्चासङ्गतः। कादाचित्कत्वाभावस्य स्वतन्त्रस्यैवानिष्टापादनार्थत्वात्। अत्राहुः, निरपेक्षत्वेन कादाचित्कत्वव्यतिरेक एवापाद्यः। स च स्यादेव, न स्यादेवेति पक्षद्वये पर्य्यवस्यति। अत एव तुशब्दोऽपि सङ्गच्छते। यद्वा, कार्य्यं यदि निरपेक्षं स्यात्, स्यादेव नित्यं स्यादाकाशवदिति *स्वमते*। *तन्मते* तु न स्यादेव केवलान्वय्यत्यन्ताभावप्रतियोगि स्यात् खपुष्पवत्। उभयत्र तु कादाचित्कत्वं न स्यादिति। यद्वा, एतदुत्तरकालानुत्पत्तिकोऽयं घटो यद्येतदुत्तरकालानुत्पत्तिकत्वे सत्येतत्पूर्वकालोत्पत्तिकानपेक्षोत्पत्तिकः स्यादेतत्पूर्वकालवृत्तिः स्यात्। यद्वा,

---

मकरन्दः – किञ्चिदिति। अनन्यथासिद्धकिञ्चित्पदार्थावधिकोत्तरत्वव्याप्यकालसम्बन्धित्वाभाव इत्यर्थः। **न चेति**। परसिद्धमापादकं भवति, न च कारणत्वपर्यवसन्नप्रतियोगिनस्तन्मते प्रसिद्धिरित्यर्थः। स्वमते प्रत्यक्षेणैव तत्प्रसिद्धेरुक्तत्वादिति भावः। अत एव तन्मतेनैवोत्तरमाह **तस्येति**। **तुशब्द इति**। परस्पराङ्गाङ्गिभावस्य तुशब्दार्थत्वादिति भावः। **पक्षद्वय इति**। नित्यत्वालीकत्वान्यतरपक्ष इत्यर्थः।

नन्व*स्मन्मते* नित्यत्वपक्ष एव पर्य्यवस्यति, न त्वलीकत्वमसत्ख्यात्यनभ्युपगमे सांव्यवहारिकस्यापि तस्य तत्रानभ्युपगमादित्यरुचेराह **यद्वेति**। **एतदुत्तरकालेति**। एतत्तु पक्षविशेषणमुत्तरकालोत्पत्तिकघटांशे आपादकासिद्धिवारणाय। पूर्वकालीनघटेंऽशतः सिद्धसाधनवारणायायमिति। पूर्वकालावृत्तिरित्यर्थः। एतत्कालवृत्तिसर्वपक्षत्वे आपादके व्यर्थविशेष्यता स्यात्। पक्षीयव्यभिचारवारणायोगादतो विशिष्य पक्षयति **घट इति**। उत्तरकालोत्पत्तिके व्यभिचारादाह सत्यन्तम्। तद्घटसमसमयोत्पत्तिकपटादौ व्यभिचारादाह **एतत्पूर्वकालेति**। अव्यवहितपूर्वकालेत्यर्थः। तथा च चिरतरपूर्वकालोत्पन्नो दृष्टान्तः। अन्यथा यथाश्रुतस्याप्रसिद्ध्या तदसिद्धिरित्यवधेयम्। तेनापि तादृशकालाद्यपेक्षणात् दृष्टान्तासिद्धिरेवेत्यत आह **प्रथममुत्पत्तिपदम्**। चरममुत्पत्तिपदं चिन्त्यम्।

प्रकाशः- यद्ययमेतत्कालीनोत्पत्तिको घटः सहेतुको न स्यादेतत्पूर्वकालीनः स्यात्। यद्वा, घटो यदि घटव्यवहितकालानधिकरणपदार्थानधिकरणक्षणोत्तरत्व-व्याप्योत्पत्तिर्न स्याद्, घटव्यवहितकालः स्यात् तत्कालवृत्तिघटादिवदिति, तत्र तत्र सत्त्वापादानं **स्यादेवे**त्यस्यार्थः। अन्यकालानुत्पत्तिकोऽयं घटो यद्येतत्पूर्व-कालानपेक्षोत्पत्तिकः स्यादेतत्कालोत्पत्तिको न स्यात्। यद्वा, सकलकालावृत्तिरयं घटो यदि निरपेक्षः स्यात् किञ्चित्कालावृत्तित्वे सति किञ्चित्कालवृत्तिर्न स्यात्। तेन पक्षविशेषणमहिम्नाऽलीकत्वं सिद्ध्यति। यद्वा, एतावत्कालपूर्वापरकालावृत्तिर्घटो

मकरन्दः- *केचित्तु* वृत्तिपदेन संयोगस्य, कालस्य कालावृत्तित्वात् तत्र व्यभिचारवारणाय तदुपादानम्। न चैवं प्रागुत्पन्नगुणादौ व्यभिचारः। आपादके द्रव्यत्वस्यापि विवक्षितत्वादित्याहुः। वस्तुतस्तु नञ्व्यत्यासेन एतत्पूर्वकालोत्पत्तिक सापेक्षोत्पत्तिकत्वाभावो विवक्षितः। तथाच नाव्यवहितत्वविवक्षा, न वा अखण्डाभावे वैयर्थ्यशङ्का, न वा नित्यस्य दृष्टान्तत्वे तदसिद्धिरिति।

यद्ययमिति पूर्वकालोत्पत्तिक इष्टापत्तिवारणाय पक्षविशेषणम्। **घटो यदीति।** घटव्यवहितकालानधिकरणत्वं घटाव्यवहितकालाधिकरणत्वं पर्य्यवस्यति। यत्तु आकाशादेरपि तथात्वे तदादायापादकासिद्धिः स्यादिति घटव्यवहित कालानधिकरणत्वं यथाश्रुतमेवाभिमतमिति। तन्न। अनन्यथासिद्धत्वस्य पदार्थविशेषणस्यावश्यकत्वात्। अन्यथा दण्डरूपादिकमादाय दोषतादवस्थ्यापत्तेः। तस्मादुभयथाऽप्यदोष इति। रासभाद्युत्तरत्वसामानाधिकरण्याद्विपर्ययानुमाने कारणत्वं न सिद्ध्येदिति व्याप्यत्वपर्य्यन्तम्। न चानन्यथासिद्धत्वेनैव तद्वारणमिति वाच्यम्। रासभादेरपि तथात्वात्। अन्यथा कारणतालक्षणे नियमांशोपादानमनर्थकं स्यात्। तत्र च तस्याविवक्षितत्वे प्रकृतेऽपि तथास्त्विति। प्रतियोगी चासत्ख्यात्युपनीत इति स्मर्त्तव्यम्। घटव्यवहितकालत्वं घटानधिकरण-कालवृत्तित्वमापाद्यम्। **अन्येति**। अन्यकालोत्पत्तिके इष्टापत्तिवारणाय पक्षविशेषणम्। उत्तरकालोत्पत्तिको दृष्टान्तः। **सकलेति**। एतच्च पक्षविशेषणं नित्यत्वेनेष्टापत्ति-वारणाय अलीकत्वेन तद्वारणाया**यमिति**। प्रामाणिक इत्यर्थः।

किञ्चित्कालवृत्तिर्न स्यादित्येव कृते व्योमादौ व्यभिचार इत्यत आह **किञ्चिदिति**। प्राक्कालावृत्तित्वे सतीत्यर्थः। तेन न प्रागभावे व्यभिचारः। यद्यपि सत्यन्तमेव समर्थमिति व्यर्थविशेष्यत्वं, तथाप्यखण्डाभाव आपाद्य इति ध्येयम्। **तेनेति**। विशिष्टाभाव उभयथा सकलकालवृत्तितया सकलकालावृत्तितया च।

प्रकाशः– यद्येतावत्कालपूर्वकालवृत्तित्वे सति एतत्कालाव्यवहितपूर्वकाल-वृत्तिपदार्थाधिकरणक्षणोत्तरत्वव्याप्यकालो न स्यादेतावत्कालवृत्तिर्न स्यादिति, **न स्यादेवेत्यस्यार्थः**। अत एव कालान्तरावृत्तित्वे सत्येतत्कालवृत्तिः स्यादिति कादाचित्कत्वाभावापादनमपीति *सम्प्रदायविदः*।।४।।

मकरन्दः– तच्चाद्यस्य पक्षविशेषणमहिम्नाऽभावे द्वितीयस्य पर्यवसानम्। तच्चानिष्टमिति सापेक्षत्वसिद्धिरिति भावः।

एतावदिति। पूर्वापरकालमात्रवृत्तिघटांशे सिद्धसाधनवारणाय पक्षविशेषणम्। एतावत्कालवृत्तौ पूर्वकालोत्पन्ने व्यभिचारादाह सत्यन्तम्। एतावत्पदं कालविशेषणमात्रासिद्धिवारकम्। एतत्कालीनोत्पन्ने घटादौ सत्यन्यमात्रं व्यभिचारीत्यत आह **एतत्कालाव्यवहितेत्यादि**। ननूत्तरकालोत्पत्तिक एव दृष्टान्तः, अन्यत्रापादकवैकल्यात्। तत्र चैतत्पूर्वकालवृत्तिनित्यदिगादिसापेक्षत्वा दापादकवैकल्यमित्यत आह **अव्यवहितेति**। नञ्व्यत्यासेन एतत्कालव्यवहित पूर्वकालावृत्तीत्यर्थः। नित्यन्तु व्यवहितेऽपि वर्त्तते इत्यदोष इति वदन्ति। तत्तुच्छम्। उत्तरकालोत्पन्नचरमकारणमादाय दोषतादवस्थ्यापत्तेः। *वयन्तु*, पूर्वकालवृत्तिपदं पूर्वकालोत्पत्तिकपरमिति न नित्यमादाय दृष्टान्तासिद्धिः। न च तादृशाऽदृष्टादि सापेक्षत्वाद्दोषतादवस्थ्यम्। उत्तरकालोत्पन्नादृष्टसापेक्षस्य दृष्टान्तत्वे तथाप्यविरोधात्। अव्यवहितपदेनैव तद्वारणाद्वा। यदव्यवहितपूर्वकालोत्पत्तिकादृष्टेन नोत्तरकालीनकार्योत्पादनम्, एतत्कालपदेन तस्यैव कालस्य विवक्षितत्वात्। प्रथमकल्पेऽव्यवहितपदं स्फुटार्थमिति युक्तमुत्पश्यामः। व्याप्यत्वं पूर्वत्वञ्च विपर्यये नियमादिगर्भकारणत्वलाभाय। एवञ्चानन्यथासिद्धत्वमपि पदार्थे विशेषणमित्याहुः।

अत एवेति। यत एव किञ्चित्कालावृत्तित्वे सतीत्यादौ न स्यादेवेत्यस्यैव कादाचित्कत्वाभावपदेन पर्य्यवसानम्। अत एव मूले कदाचित् स्यादिति मूलोक्तकादाचित्कत्वाभावापादनं *साम्प्रदायिका* अन्यादृशमाहुः। अन्यथा पौनरुक्त्यापत्तेरित्यर्थः। तत्र पक्षविशेषणमहिम्नाऽलीकत्वसिद्धिरित्येव भेदो नोक्तदोष इत्यस्वरसोद्भावनं सम्प्रदायपदेनेतीति वदन्ति। *केचित्तु* **सम्प्रदायविद** इति प्रकरणान्वयीत्याहुः।४।

अकस्मादेव भवतीति चेन्न -

हेतुभूतिनिषेधो न स्वानुपाख्यविधिर्न च।
स्वभाववर्णना नैवमवधेर्नियतत्वतः।।५।।

हेतुनिषेधे भवनस्यानपेक्षत्वेन सर्वदा भवनमविशेषात्। भवनप्रतिषेधे प्रागिव पश्चादप्यभवनमविशेषात्। उत्पत्तेः पूर्वं स्वयमसतः स्वोत्पत्तावप्रभुत्वेन स्वस्मादिति पक्षानुपपत्तेः। पौर्वापर्यनियमश्च कार्यकारणभावः। न चैकं पूर्वमपरञ्च। तत्त्वस्य भेदाधिष्ठानत्वात्। अनुपाख्यस्य हेतुत्वे प्रागपि सत्त्वप्रसक्तौ पुनः सदातनत्वापत्तेः।

स्यादेतत्। नाकस्मादिति कारणनिषेधमात्रं वा, भवनप्रतिषेधो वा, स्वात्महेतुकत्वं वा, निरुपाख्येहतुकत्वं वाभिधित्सितम्। अपि त्वनपेक्ष एव कश्चिन्नियतदेशवन्नियतकालस्वभाव इति, ब्रूमः। निरवधित्वे

आमोदः– "अहेतुका [अनिमित्ततो] भावोत्पत्तिः कण्टकतैक्ष्ण्यादिदर्शनादिति (न्या.सू. ४।१।२२।) सूत्रानुसारेण शङ्कते**ऽकस्मादिति**। तदेतद्विकल्प्य दूषयति – **हेत्विति**। किंशब्दस्य हेत्वर्थत्वे हेतुनिषेधः पर्यवस्यति, प्रतिषेधवाचकासमस्त-शब्दस्य भवत्यन्वये भवनप्रतिषेधः। तथा च कस्मादपि न भवतीत्यर्थः। यद्वा किं-शब्दोऽन्यपरः, तथा चान्यस्मान्न भवति, किन्तु स्वस्मादेव भवतीत्यर्थः। अथवा किंशब्दः प्रामाणिकपरः। तथा च प्रामाणिकान्न भवति, किन्त्वप्रामाणिकादनुपाख्याद् भवतीत्यर्थः। यद्वा अकस्मादित्यव्युत्पन्न एवायं शब्दः स्वभावमाह – तथा च स्वभावादेव भवदीदृशम्, न हेतुवैचित्र्यमपेक्षत इत्यर्थः। सर्वत्र परिहारमाह – **अवधेरिति**। घटादीनां दण्डादेरवधेर्नियत-पूर्वसत्त्वस्यान्वयव्यतिरेकगम्यत्वेन दुष्परिहरत्वादित्यर्थः।

विकल्पितपक्षेषु विशेषदूषणमाह – **हेतुनिषेध इति**। हेतुनिरपेक्षं चेद् भवनं तदा सर्वदा घटादेर्भवनं प्रसक्तम्। तथा च कादाचित्कत्वमनुभूयमानमनुपपन्नं स्यादित्यर्थः। भवनप्रतिषेधबाधकमाह – **भवनेति**। कार्यस्य भवनमेव नास्तीति यद्युच्येत तदा कदाचिदपि कार्यं नोत्पद्यते। तथापि कादाचित्कत्वं न स्यादिति भावः। **पक्षानुपपत्तेरिति** विरोधादिति भावः। विरोधं स्फुटयति – **पौर्वापर्येति**। **प्रागपि सत्त्वप्रसक्ता**वित्यापाततः, वस्तुतो निरुपाख्यस्यार्थकारित्वाभ्युपगमे तस्य सत्त्वप्रसक्तौ निरुपाख्यत्वानुपपत्तेः।

स्यादेतदिति। यदि पूर्वोक्तं दूषणमुद्धृतं तदाग्रे वक्ष्यमाणमेतत् स्यादित्यर्थः। कारिकार्थं स्फुटीकर्तुं वृत्तमनुकीर्तयति – **नाकस्मादिति**। **नियतदेशवदिति**। यथा घटस्य कपालमेव, पटस्य तन्तुरेव देशः, तथा कालविशेषोऽपि घटादीनां

प्रकाशः— कार्य्यकारणभावग्राहकमाने, कादाचित्कभावो निर्हेतुको भावत्वाद् व्योमवदिति सत्प्रतिपक्षं शङ्कते **अकस्मादिति**। अत्र किंशब्दो यदा हेतुमात्रपरस्तदा तस्य नञा संबन्धाद्धेत्वभावे भवनं लभ्यते। यदा तु भवनक्रियया नञः संबन्धस्तदा प्रसज्यप्रतिषेधे भवननिषेधोऽर्थः, किंशब्दसमस्यमानेनापि नञा भवतीत्यस्यान्वयात्। असामर्थ्येऽप्यसूर्य्यम्पश्या राजदारा इतिवत् समासः। अ-शब्दस्यैव वाऽयं समासं विना प्रयोगः। अ मा नो ना प्रतिषेधवचना इति कोषात्।

तदुभयं निरस्यति **हेतुभूतीति**। अथ हेतुभवनयोर्निषेधस्य शेषाभ्यनुज्ञा फलकत्वात् पर्य्युदासनञा हेतुव्यतिरिक्ताद् भवनं लभ्यते, अहेतुश्च कार्यस्वरूपमवस्तु च तदा **स्वानुपाख्यविधिः**, तं निषेधति **स्वानुपाख्येति**। **स्वं** कार्य्यम्, **अनुपाख्यो** निर्द्धर्म्मकोऽलीकः। अथाश्वकर्णादिवदव्युत्पन्न एवायमकस्माच्छब्दः, किंशब्दोऽस्वभावपरो वा तदा स्वभावादेव कार्य्यस्य कादाचित्कत्वमित्यर्थः। तत्राह **स्वभावेति**। सर्वत्र हेतुमाह **अवधेरिति**। नियतावधिसम्बन्धित्वेनैव विवादपदस्य कादाचित्कस्य कार्यस्य सतर्केण प्रत्यक्षेण विषयीक्रियमाणत्वादित्यर्थः। क्रमेण तर्कमेवाह **हेत्विति**। भवनस्य सत्त्वस्याविशेषात् सदातनत्वे कार्य्यस्य कादाचित्कत्वव्याघात इत्यर्थः। **भवनेति**। भवनस्योत्पत्तेः सदा प्रतिषेधे प्राक् पश्चादिव मध्येऽप्यभवनप्रसङ्गात् कदाचिद्भवनग्राहिप्रत्यक्षबाध इत्यर्थः। **उत्पत्तेरिति**। स्वोत्पत्तेः पूर्वं यदि स्वं भवेत् तदा नियतकालोत्पत्तौ हेतुः स्यात्। न चैवम्। असतोऽपि हेतुत्वे प्राक् पश्चादपि कार्य्यसत्त्वप्रसङ्गेन तदनुपलब्धिविरोध इत्यर्थः। कार्यकारणयोरभेदे विरोधान्तरमाह **पौर्वापर्य्येति**। पटार्थिनः पटमेव नोपाददते किन्तु तत्पूर्वकालवर्त्तिनस्तन्तूनिति लोकव्यवहारसिद्धकार्य्यकारणभावविरोध इत्यर्थः। **तत्त्वस्य** पौर्वापर्यस्येत्यर्थः। अनुपाख्यस्यार्थक्रियाजनकत्वाभावेऽप्यनिष्टप्रसङ्गान्तरमाह **अनुपाख्यस्येति**।

मकरन्दः— **हेतुभवनयोरिति**। यद्यपि हेतोर्यद्भवनं तस्यैव विशिष्टस्यैकस्य निषेधात् तल्लभ्यत इति द्विवचनमयुक्तम्। तथापि विशिष्टमपि तदुभयात्मकमेवेति तथोक्तमिति ध्येयम्। **अहेतुश्चेति**। हेतुव्यतिरिक्तश्चेत्यर्थः। हेतुनिषेधभवनमुत्पत्ति रूपमसम्भवीत्यत आह। **सत्त्वस्येति**। **अकारणकत्वेऽपीति**। अकारण-कत्वाविशेषेऽपीत्यर्थः। **नियतेति**। नियतदेशतद्वृत्तित्वमित्यर्थः। परमाणोर्देशत्वमपरस्य तद्वृत्तित्वमिति स्वभावादेव यथा यथा नियम इति भावः। नियतदेशवृत्तिनियतसम्बन्धित्वं विवक्षितमित्यन्ये। परमाणुपदं भावप्रधाननिर्देशेन

अनियतावधिकत्वे वा कादाचित्कत्वव्याघातात्। न ह्युत्तरकालसिद्धित्वमात्रं कादाचित्कत्वं, किन्तु प्रागसत्त्वे सति। सावधित्वे तु स एव प्राच्यो हेतुरित्युच्यते। अस्तु प्रागभाव एवावधिरिति चेन्न। अन्येषामपि तत्काले सत्त्वात्। अन्यथा तस्यैव निरूपणानुपपत्तेः। तथा च न तदेकावधित्वम् अविशेषात्। इतरनिरपेक्षस्य प्रागभावस्यावधित्वे प्रागपि तदवधेः कार्यसत्त्वप्रसङ्गात्। सन्तु ये केचिदवधयो, न तु तेऽपेक्ष्यन्त इति स्वभावार्थ इति चेत् – नापेक्ष्यन्त इति कोऽर्थः? किं न नियताः? आहोस्विन्नियता

आमोदः- नियतः स्यात्, किमत्र कारणापेक्षयेत्यर्थः। कालनियमे कारणापेक्षावश्यकी, अन्यथा कादाचित्कत्वमनुभूयमानं व्याहन्येत, एवं देशनियमोऽपि कारणापेक्ष एव, अन्यथा यत्र किञ्चित् क्वचिदुत्पद्येतेति भावः। देशनियमेन गोत्वादिकं परमाणुपरिमाणत्वाद्दृष्टान्तीक्रियते, तदाह – **निरवधित्व इति**। निरवधित्वकादाचित्कत्वयोर्विरोधादिति भावः। ननूत्तरकालसंसर्गित्वमात्रं कादाचित्कत्वं, तच्चाकाशादौ निरवधावपि दृष्टमेव। तथा च कुतो विरोध इत्यत आह – **न हीति**। तथा च घटाकाशयोः कादाचित्कत्वात् कादाचित्के त्वव्यवहारोऽपि निर्वहतीति भावः। नन्ववधिमङ्गीकुर्मो, न तु कारणमत आह – **सावधित्व इति**। पूर्वावधित्वमेव सहेतुकत्वमित्यर्थः। नानुपमृद्य प्रादुर्भावादिति (न्या.सू.४।१।१४।) पूर्व- पक्षिणमभावोपादानकं जगदिति वादिनमुत्थापयति – **अस्त्विति**। कपालादीनामपि प्रागभाववदेवान्वयव्यतिरेकावधित्वमावश्यकमित्याह – **अन्येषामपीति**। यदि कपालादीनां नियतपूर्वसत्त्वं न स्यात्, तदा प्रागभावोऽपि दुर्निरूपः सामग्रीक्षण एव तन्निरूपणात्। तथा च तस्यावधित्वाभ्युपगमो स्यान्न वेत्याह – **अन्यथेति। तथा चेति**। तन्निरूपकस्यापि रूपादेरवधित्व-सम्भवादित्यर्थः। ननु प्रागभावनिरूपकत्वेऽपि यथावज्जरादीनां नावधित्वं तथा कपालादीनामप्यवधित्व-मस्तु, को दोष इत्यत आह – **इतरेति**। यदि प्रागभावमात्रमवधिः स्यात्, तदा तदधीनमात्रोत्पत्तिकस्य कार्यस्यानुभूयमानं कादाचित्कत्वं भज्येतेत्यर्थः। ननु कार्येण योऽवधिरपेक्षणीयः स्वोत्पत्तौ तत् कारणं भवेत्, न त्ववधिमात्रमेव कारणमित्याह – **सन्त्विति। किन्नियता इति**। अनियतावधिकमेव कार्यमित्यर्थः। **आहोस्विदिति**। दण्डादयोऽवधयोऽपि कार्ये घटादौ नोपकारमादधतीति, न च कारणमित्यर्थः।

प्रकाशः– एतत्पटानुत्पत्तिक्षणो यद्येतत्पटोत्पादकानुपाख्योत्तरक्षणः स्याद् एतत्पटाधिकरणं स्यादित्यर्थः। यद्यपि स्वभावः कार्य्यं तद्धर्म्मो वा। आद्यः अकस्मादिति निरासेनैव निरस्तः। अन्त्ये धर्म्मस्य कारणत्वमङ्गीकृतमेव। तथापि यथा परमाणुतत्परिमाणयोर-कारणकत्वेऽपि स्वभावादेव नियतदेशवृत्तित्वं, यथा वा कारणत्वाविशेषेऽपि पटस्य तन्तुदेशवृत्तित्वं न तु वेमादिदेशवृत्तित्वमिति स्वभावादेव नियमः। तथा कार्य्यस्याहेतुकत्वेऽपि तत्तत्कारणत्वाभिमत-नियतोत्तरकालवृत्तित्वं न तु कालान्तरवृत्तित्वमिति स्वभावादेव कादाचित्कत्वं स्यादिति शङ्कते **अपि त्विति**। ये ये निरवधयो दृष्टास्तेषां नियमेन कादाचित्कत्व-स्वभावविरहान्निरवधिकत्व-कादाचित्कत्वयोर्विरोधान्निरवधित्वे कादाचित्कत्व-स्वभाव एव न निर्वहेदित्यभिप्रेत्य परिहरति **निरवधित्व इति**। अयं क्षणो यद्येतत्पट-ध्वंसानाश्रयः सन्नेतत्पट-प्रागभावाश्रयो न स्यादेतत्पटाधिकणं स्यादिति भाव इत्य*न्ये*।

ननूत्तरकालसंसर्गित्वं कादाचित्कत्वम्, तच्च निरवधित्वेऽप्याकाशवत् स्यादित्यत आह **न हीति**। तथा सति घटाकाशयोः कादाचित्कत्वाकादाचित्कत्व लोकव्यवहारविरोध इति भावः।

न च सावधित्वेऽपि न हेतुमत्त्वस्वीकारः पर्य्यायत्वादनयोरित्याह **सावधित्वे त्विति**। नन्वेतावताऽपि प्राचीनोऽवधिः प्रागभाव एव न तु भावोऽपीति स एव हेतुर्न भाव इति न प्रागभावातिरिक्ते कारणत्वं वर्तते इति शङ्कते **अस्त्विति**। किं प्रागभावकाले भावस्यासत्त्वादेवानवधित्वं कार्य्येणानपेक्षिततत्वाद्वा?। आद्यं परिहरति **अन्येषामपीति**। भावानामपि अनन्यथासिद्धान्वयव्यतिरेकवत्तया

मकरन्दः– परमाणुत्वपरमित्य*परे*। **ये ये निरवधय इति**। अकादाचित्कत्व-माकाशादिषु न तत्तद्धर्माधीनमननुगमादिति निरवधित्वनिबन्धनमेव मन्तव्यमन्यस्यासम्भवादिति परस्परविरोधावधारणेन निरवधित्वे कादाचित्कत्व-स्वभावविरोध इत्यर्थः। अत एवाननुगमप्रदर्शनार्थं, ये य इत्युक्तमिति वदन्ति।

अयं क्षण इति। अत्र च कालत्वमापादकविशेषणम्। तेन घटरूपादौ न व्यभिचार इति ध्येयम्। *अन्ये* इत्यस्वरसोद्भावनम्। तद्बीजन्तूक्ततर्कावष्टम्भे यथोक्तमेव युक्तम्। तदनवष्टम्भे त्वेतदप्यप्रयोजकमित्याहुः। **न हीति**। भावकादाचित्कत्वमिति न प्रागभावाव्याप्तिर्दोषः। नन्वेवं गौरवमित्यत आह **तथा सतीति**। अन्यथा द्वयोरपि कादाचित्कत्वे घटस्य कादाचित्कत्वव्यवहार आकाशस्याकादाचित्कत्वव्यवहारश्च लोकानां विरुद्ध्येतेत्यर्थः। तथा च गौरवमपि

प्रकाश:– प्रागभावतुल्यत्वादवधित्वम्। अन्यथा प्रागभावस्यापि तन्न स्यादिति भाव:। **अन्यथेति**। अनिरूपितस्य प्रागभावस्य प्रतिपादयितुमशक्यत्वादवश्यं घटादिप्राक्कालेऽनन्यथासिद्धान्वयव्यतिरेकिण: कपालादयस्तन्निरूपका: स्वीकार्य्या इत्यर्थ:। ननु प्रागभावनिरूपकस्य चक्षुरादेर्न कारणत्वं यथा; तथा तन्निरूपक– भावान्तरस्याऽपि। न च प्रागभाव: प्रतियोगिसमवायि कारणमात्रनिरूप्यस्तच्च कारणमेवेति युक्तम्। शब्दाभावप्रत्यक्षतायां तस्य निरस्यत्वात्। मैवम्, चक्षुरादेरधिकरणग्रह एवान्यथासिद्धत्वात्। चक्षुरादिव्यापाराभावेऽप्यनुमितेऽधिकरणे प्रागभावप्रतीतेरिति भाव:। अत्रैवार्थे कादाचित्कत्वव्याघातं प्रागुक्तं विपक्षबाधकं स्मारयति **इतरेति**। यद्ययं घट: प्रागभावान्यावधिको न स्यात् सकलकालीन: स्यादित्यर्थ:। द्वितीयं शङ्कते **सन्त्विति**। प्रागभावादन्येषामवधित्वेऽपि तैर्घटादिसत्ताया अनियमनान्न तानि कारणानीत्यर्थ:।

मकरन्द:– प्रामाणिकमिति भाव:। **नन्विति**। घटप्रागभावनिरूपकस्य चक्षुरादेर्न घटकारणत्वं यथेत्यर्थ:। **न च प्रागभाव इति**। अधिकबलत्वेन प्रागभावनिरूपकत्वं कारणत्वव्याप्यमिति भाव:। **तस्येति** प्रतियोगिसमवायिकारणमात्रनिरूप्य इत्यस्येत्यर्थ:। **चक्षुरादेरिति**। तथाच न तस्य प्रागभावनिरूपकत्वं यस्य तु तन्निरूपकत्वं कपालादेस्तस्य हेतुत्वमेवेति नोक्तदोष इत्यर्थ:।

नन्विदमनुपलब्धिगम्याभाववादिमतम्, *अस्माकन्तु* चाक्षुष एवाभाव इत्यपसिद्धान्त:। न च प्रागभावो न चाक्षुष इति न *वयं* ब्रूम:, किन्तु प्रागभावत्वप्रकारकनिरूपणत्वावच्छिन्नं प्रत्यजनकं चक्षुर्व्यभिचारादिति। तदिह सामग्रीनिविष्टाधिकरणस्य परम्परानिरूपणकारणता प्रागभावप्रतियोगिजनकता चेति युक्तो नियम इति वाच्यम्। शब्दादिना तत्प्रकारकनिरूपणसम्भवेन व्यभिचारादधिकरणत्वस्याप्यतथात्वात्। प्रत्यक्षनिरूपणमादाय व्यभिचारश्च तुल्य:। चक्षुष्ट्वेन व्यभिचारेऽपीन्द्रियत्वेनाव्यभिचाराद् विशिष्याधिकरणेऽपि व्यभिचारात्। अस्तु वैवं, तथाप्यनन्यथासिद्धस्य प्रागभावनिरूपकस्याधिकरणग्रहादेर्यथा न घटकारणत्वं, तथानादेरपि न तथात्वमिति दोषस्तदवस्थ एव। एतेन *परमत*माश्रित्यैव चक्षुरादेरनन्यथासिद्धत्वाभिधानमित्यपास्तम्। अधिकरण–ग्रहमादायोक्तदोषानिवृत्ते:। किञ्च यदि चक्षुरादिव्यापाराभावेऽपि तत्प्रतीतेस्तदन्यथासिद्धं, तदाऽधिकरणग्रहणमपि तथा स्यात्। शब्दादिना तद्विनापि तत्प्रतीते:। घटोऽप्येवं चाक्षुषो न स्यात्, तद्व्यापाराभावेऽप्यनुमानादिना तत्प्रतीते:।

अप्यनुपकारकाः? प्रथमे धूमो दहनवद्गर्दभमप्यवधीकुर्यात्, नियामकाभावात्। द्वितीये तु किमुपकारान्तरेण, नियमस्यैवापेक्षार्थत्वात्, तस्यैव च कारणात्मत्वात्, ईदृशस्य च स्वभाववादस्येष्टत्वात्। नित्यस्वभावनियमवदेतत्। न ह्याकाशस्य तत्त्वमाकस्मिकमिति सर्वस्य किं न स्यादिति वक्तुमुचितमिति चेन्न। सर्वस्य भवतः स्वभावत्वानुपपत्तेः।

आमोदः– धूम इति। धूमस्यानियतावधित्वे धूमार्थी दहनवद् गर्दभेऽपि प्रवर्तेत। यद्वा दहनासमवधानेऽपि कदाचिद् गर्दभादपि धूमो दृश्येतेत्यर्थः। यद्वा धूमत्वावच्छिन्नं प्रति दहनत्वावच्छेदेन गृहीता कारणता भज्येतेत्यर्थः। अत्र सर्वत्र हेतूपवर्णनम्। **नियामकाभावादिति।** यदि कारणानियमः स्यात्, तदेदमनिष्टं स्याद् इत्यत्र तात्पर्यम्। ननु तर्कविधानादेष्टव्या, किमुपकारान्तरेणापि? अनाहितोपकारोऽपि यन्नियतपूर्ववर्तिजातीयः स एव तत्कारणमित्यर्थः। अन्यथोपकारे–ऽप्युपकारान्तराधानेऽनवस्था स्यादिति भावः। **तस्यैवेति।** नियतपूर्ववर्तिजातीयस्यैव कारणपदवाच्यत्वादित्यर्थः। ननु नाहितोपकारत्वाविशेषात् कथं कस्यचिदेव नियतपूर्वभावनियमः स्वभाववादं विनेत्यत आह – **ईदृशस्य चेति। नित्येति।** यथाकाशादीनां शब्दाश्रयत्वं स्वभावो न तु सर्वस्य, तथा घटादीनामेव कादाचित्कत्वं स्वभावान्न त्वाकाशादीनामपीति न कादाचित्कत्वानुरोधेन सहेतुकत्वाभ्युपगमः। तदुक्तं *दिङ्नागेन* –

नित्यसत्त्वा भवन्त्येके नित्यासत्वाश्च केचन।
विचित्राः केचिदित्यत्र तत्स्वभावो नियामकः।।

वह्निरुष्णो जलं शीतं समस्पर्शस्तथाऽनिलः।
केनेदं रचितं तस्मात् स्वभावात्तद्व्यवस्थितिः।। इत्यर्थः।

न च 'नियतदेशवदि'त्यादिना पौनरुक्त्यं, यत्र यन्नियतं तन्न कारणनियम्यमित्युक्तं, सम्प्रति तु यस्य यः स्वभावः स केनापि न नियम्य इत्यपौनरुक्त्यम्।

केचित्तु, ननु 'नियतदेशवदिति यन्मया पूर्वमुक्तं तवोद्धतम'हेतुकत्वेऽपि यथा नियतदेशत्वं तथा नियतकालतापि स्यात्, को विरोध इत्याह – **नित्येति। न हीति। तत्त्वम्** आकाशत्वं परम्परासम्बन्धेन शब्दत्वमेव, अस्य द्रव्यभिन्नत्वं वा। न ह्याकाशस्य तत्त्वमिति दूषयति – **सर्वस्येति।** एकमात्रनियतो धर्मः स्वभावः, स यद्यन्यस्यापि स्यात्, तदा स्वभावत्वव्याघात इत्यर्थः। किञ्चैवं

प्रकाशः- प्रथम इति। ननु यो दहनव्यभिचारी स रासभानन्तरं भवतीत्यत्रा-पादकाभावः। स्वयमपि व्याप्तेरनभ्युपगमात्। न च धूमत्वं यदि दहनव्यभिचारिवृत्ति स्यात् दहनासमवहितसामग्र्युत्तरकालोत्पत्तिकवृत्ति स्यादित्यर्थः। परस्येष्टापत्तेः। मैवम्, धूमो यदि रासभसमवधानोत्पत्तिकतावच्छेकरूपवान् स्याद् रासभसम वधानान्तरोत्पत्तिकः स्यात्। धूमत्वं वा यदि दहनव्यभिचारिवृत्ति स्याद् दहनासमवहितदेशवृत्ति स्यादित्यापादनार्थत्वात्। वस्तुतो यद्यग्निर्धूमकारणं न स्यात्, तदा कथं धूमार्थी नियमतोऽग्निमुपादत्ते न रासभमिति तद्ग्राहिप्रत्यक्षव्याघात

मकरन्दः– प्रतीतिविशेषे वा व्यभिचारस्तुल्य एवेति चेत्।

अत्र ब्रूमः। अधिकरणत्वेन प्रागभावनिरूपकस्य तत्प्रतियोगिजनकत्वमिति नियमः। कपालादेश्च तथात्वात्तज्जनकत्वं न चक्षुरादेरित्यत्र तात्पर्यम्। निरूपकञ्च प्रत्यक्षनिरूपण एवेत्यवधेयम्। न च तत्राप्यधिकरणस्य न निरूपकत्वं, किन्तु तद्बुद्धेरिति वाच्यम्। प्रयोजकत्वमात्रस्यैव विवक्षितत्वात्। न च प्रतियोगिसमवायिभिन्नस्य देशकालादेरपि तन्निरूपकत्वाभ्युपगमाद् व्यभिचार इति वाच्यम्। तस्यापि हेतुत्वाभ्युपगमात्। ननु देशकालयोः का गतिरिति चेत्। न, तयोरपि स्वरूपयोग्यत्वात्। वस्तुतोऽधिकरणत्वेन निरूपकजातीयं किञ्चिदवश्यं कारणमिति नियम इति *केचित्*। उपस्थिते प्रागभावे घटकारणत्वग्रहः, उपस्थितिश्च तस्य न कपालाद्युपस्थितिमन्तरेणेति कारणताग्राहकमानेन प्रथमोपस्थितकपालादेरेव कारणत्वं गृह्यते, न तु प्रागभावस्यापि। उत्पन्नानुत्पत्त्या तु तस्य तथात्वग्रहो, न तु प्रत्यक्षात्। चक्षुरादिकञ्च न तदोपस्थितं न वा कपालादिवदनन्यथासिद्धमिति न कारणमित्यत्र तात्पर्यम्। आपादके विशेषणमि*त्यन्ये*। न च नित्यत्वमुपाधिः। तस्याप्यापाद्यत्वादिति भावः। **न च धूमत्वमिति**। न च परमाण्वादौ व्यभिचारः, जन्यवृत्तित्वे सतीत्यापादकविशेषणादित्याहुः। तन्न, परमाणुधूमान्यतरत्वादौ व्यभिचारात्। तस्माद्दहनव्यभिचारिभूतजन्यवृत्ति स्यादित्यापादकमतो नोक्तदोषः। दहनासमवहितत्वं तदसहकृतत्वं तदघटितत्वं वाभिप्रेत्याह **परस्येति। धूमो यदीति**। धूममात्रस्य पक्षत्व आपादकासिद्धिः, धूममात्रस्य तत्समवधानोत्तरोत्पत्ति-कत्वाभावेन धूमत्वादेस्तदनवच्छेदकत्वात्। रासभोत्तरभाविधूमस्य पक्षत्वे सिद्धसाधनं, तद्धूमत्वावच्छिन्नस्य तथाभावादिति चेन्मैवम्। धूमस्य समवधानोत्तरोत्पत्तिकत्वनियमेऽपि दहनस्य तदनियतत्वं परेणाभिप्रेतमिति तद्व्यभिचारित्वमेव तदुत्तरोत्पत्तिकतावच्छेदकत्वेन पराभिप्रेतमिति

प्रकाशः– इति भावः। **द्वितीये त्विति**। न ह्युपकारव्याप्ता कारणता येन तदभावे न स्यात्, उपकारेऽपि कर्त्तव्ये उपकारान्तरापेक्षयानवस्थितेः। किन्तु स्वरूपविशेषव्याप्ता, तन्निवृत्तावेव निवर्त्तत इत्यर्थः। **नियमस्यैवेति**। नियतान्वयव्यतिरेकवज्जातीयस्यैवापेक्षणीयपदवाच्यतया लोकप्रसिद्धत्वादित्यर्थः। **नित्यस्वभावेति**। यथा नित्यस्याकाशस्य यः स्वभावो धर्मः शब्दाश्रयत्वम्, आत्मनश्चात्मत्वमाकस्मिकमिति सर्वस्य तदन्यस्यापि धर्मः कुतो न स्यादिति न वक्तुमुचितम्, प्रामाणिकत्वात्। तथा आकस्मिकत्वाविशेषेऽपि सदातनत्वमाकाशादीनां, कादाचित्कत्वं घटादीनां स्वभावो, न त्वन्यस्य धर्मोऽन्यस्येत्यर्थः। यथाहुः–

नित्यसत्त्वा भवन्त्येके नित्यासत्त्वाश्च केचन।
विचित्राः केचिदित्यत्र तत्स्वभावो नियामकः।।

वह्निरुष्णो जलं शीतं समस्पर्शस्तथानिलः।
केनेदं रचितं तस्मात् स्वभावात्तद्व्यस्थितिः।। इति।

न च नियतदेशवन्नियतकालस्वभाव इत्यनेनास्य पौनरुक्त्यम्। पूर्वं हि सापेक्षत्वादित्यत्र यथा परमाणुतत्परिमाणादीनां निरपेक्षत्वेऽपि नियतदेशवृत्तित्वं तथा घटादीनां नियतकालत्वं स्यादित्यप्रयोजकत्वमुक्तम्। सम्प्रति तु कादाचित्कत्वस्वभावो निर्हेतुकः स्वभावनियतत्वात् नित्यस्वभाववदिति सत्प्रतिपक्षत्वमित्यर्थभेदात्। पूर्वं यन्नियतं तन्न कारणनियम्यं, यथा जातेः क्वाचित्कत्वमित्युक्तम्। सम्प्रति तु स्वभावो न नियम्य इत्युच्यत इत्यपौनरुक्त्यमित्*यन्ये*।

न सर्वस्येति। एकनियतो धर्मः स्वभाव इत्युच्यते। तद् यदि सर्वस्य सम्भवेत् तदा स्वभावत्वमसाधारणत्वं नोपपद्यते सत्तादेरिवेति स्वभावत्वव्याघात इत्यर्थः। **नन्वेवमिति**। यद्याकाशस्याकाशत्वं न सर्वस्य तत्त्वव्याघातादिति विपरीतमनाशङ्कनीयं, तदा कादाचित्कत्वस्वभावस्याहेतुकत्वे सदातनत्वमप्यनाशङ्कनीयम्, कादाचित्कत्वस्वभावभङ्गप्रसङ्गादित्यर्थः।

मकरन्दः– धूममात्रस्य पक्षत्वेऽप्यदोषादित्याहुः। **स्वभावनियतत्वादिति**। अत्र नियतपदं चिन्त्यम्।

तत्त्वेति। स्वभावत्वव्याघातादित्यर्थः। **अनियतावधयश्चेति**। यद्यपि अवधित्वं कारणत्वं नियतस्यैवेत्यनियतावधित्वमप्रसिद्धम्, प्रसिद्धत्वे

न ह्येकमनेकस्वभावं नाम, व्याघातात्। नन्वेवमिहापि सर्वदा भवतः कादाचित्कत्वस्वभावव्याघात इति तुल्यः परिहारः। न तुल्यः। निरवधित्वेऽनियतावधित्वे वा कादाचित्कत्वव्याघातात्। नियतावधित्वे हेतुवादाभ्युपगमात्।

स्यादेतत्। उत्तरस्य पूर्वः पूर्वस्योत्तरो मध्यमस्य उभयमवधिरस्तु। दर्शनस्य दुरपह्नवत्वात्। त्वयाप्येतदभ्युपगन्तव्यम्, न हि भाववद-भावेऽप्युभयावधित्वमस्ति। तद्वद्भावेष्वप्यनुपलभ्यमानैकैककोटिषु स्यात्। न स्यात्, अनादित्वात्।५।

आमोदः– सत्येकमनेकस्वभावं स्यात्तदाह – **न ह्येकमिति**। कादाचित्कत्वस्वभावस्य घटादेः सदातनत्वापादनेऽपि स्वभावव्याघातस्तवापीति शङ्कते – **नन्विति**। परिहरति – **न तुल्य इति**। देशनियमेऽवध्यपेक्षा नास्ति, कालनियमेऽवश्यमवध्यपेक्षा। स एवावधिः कारणं पर्यवस्येदिति भावः। एतदेव व्याघातमुल्लिख्य स्फुटयति – **निरवधित्व इति**।

ननु निरवधित्वमनियतावधित्वं वा न ब्रूमो येन कादाचित्कत्वं व्याहन्येत, किन्तु नियतावधित्वमेवाचक्ष्महे, न तु कारणत्वं तत्राह – **नियतावधित्व इति**। ननु नियतावधिकत्वेन सहेतुकत्वं वा साध्यते सोपादानकत्वं वा। आद्ये प्रागभावे व्यभिचारः। अन्त्ये तु ध्वंसेऽपि व्यभिचारः। किञ्च सामग्र्याः कादाचित्कत्वेऽपि न सहेतुकत्वमनवस्थानादिति यथा कादाचित्कापि सामग्री न सहेतुका तथा घटादिरपि न सहेतुकः स्यात्। किञ्च दृष्टान्वयव्यतिरेकाणामपि तृणारणिमणीनां व्यभिचारान्न कारणत्वम्, एवं धूमादीनामपि कारणनियमो न भवेत्, इत्याद्येकवारेणाशङ्कते – **स्यादेतदिति**। *केचित्तु* ननु सावधित्वमङ्गीक्रियत एव, किन्तु सावधिर्न कारणम्। तत्रापि सावधित्वेन सहेतुकत्वेऽनवस्थानात्, किन्तूदासीन एव कश्चिदिति हृदि निधायाह '**स्यादेतदिती**'त्याहुः। **उत्तरस्य** ध्वंसस्य **पूर्वः** प्रतियोगी। **पूर्वस्य** प्रागभावस्य **उत्तरः** प्रतियोग्येव, **मध्यमस्य** दृष्टोभयावधेर्घटादे**रुभयं** प्रागभावो ध्वंसश्चावधिरस्तु। स्वीकारे बीजमाह – **दर्शनस्येति**। अनेनैव बीजेन सिद्धान्तिनमपि स्वीकारयति – **त्वयापीति**। स्वीकृतं मया, किं तत इत्यत आह – **न स्यादिति**। **न हीति**। अनुपलभ्यमानैकैककोटिषु तरुमहीरुहादिषु। तथा च कार्यत्वान्न सकर्तृकत्वसिद्धिरिति नेश्वरसिद्धिरिति भावः। तत्र कादाचित्कत्वं सहेतुकत्वे साध्ये सामग्र्यां व्यभिचारीति यदुक्तं तत्राह – **अनादित्वादिति**। सामग्र्यपि सामग्र्यधीना,

आमोदः– एवं साऽपीत्यनादित्वमेवात्र परीहारः। दृष्टान्वयव्यतिरेकाणामपि तृणादीनां व्यभिचारपरिहारो मण्वचिन्तन (तन्निबन्धन ?) एवानादित्वादिति।।५।।

प्रकाशः– कादाचित्कत्वस्वभावसिद्धौ तद्विपरीतकल्पनायां व्याघातः स्यात्। तत्सिद्धिश्च निरवधित्वस्वभावत्वे वा सावधित्वस्वभावत्वे वा प्रकारान्तराभावात्। द्वितीयेऽप्यनियतावधित्वे तद्विपर्यये वा, तत्र प्रथमद्वितीययोराह **निरवधित्व इति**। ये ये निरवधयोऽनियतावधयश्च भावा दृष्टास्तेषां नियमतः कादाचित्कत्वस्वभाव विरहाद्निरवधिस्वभावस्य अनियतावधिस्वभावस्य वा कादाचित्कत्वस्वभाव विरोधः। न हि विरुद्धयोरुष्णशीतयोरेकस्वभावत्वम्। तथा च **कादाचित्कत्वव्याघातः** तत्स्वभावत्वव्याघात इत्यर्थः।

तृतीयमाशङ्क्य सम्प्रतिपत्तिमुत्तरमाह **नियतावधित्व** इति। वस्तुतोऽस्मिन् सतीदं भवति, असति न भवतीति प्रत्यक्षेण नियतपूर्वभावस्य ग्रहात् प्रत्यक्षमेव कारणत्वे मानम्, तस्य चानन्यथासिद्धत्वग्राहकस्तर्कः **स्यादेवे**त्यादिना दर्शित इति रहस्यम्।

ननु कादाचित्कत्वं सापेक्षनिरपेक्षाभ्यां व्यावृत्तत्वेनासाधारणम्। तथा हि न सामग्रीनिरपेक्षं कार्यं, सदातनत्वापत्तेः। नापि तत्सापेक्षं, सामग्र्यपि हि न तन्निरपेक्षा, तत्सदातनत्वे तत्कार्यसदातनत्वापत्तेः। नापि तत्सापेक्षा, अनवस्थानात्। ततः प्रागभाववद् यथा सामग्री निरपेक्षापि कादाचित्की तथा भावोऽपि घटादिः स्यादित्याशयवानाह– **स्यादेतदिति**। **उत्तरस्य** ध्वंसस्य। **पूर्वो** घट एवावधिर्न तु ध्वंसः। **पूर्वस्य** तु प्रागभावस्य **उत्तरः** प्रतियोग्येवावधिर्न तु प्रागभावः। मध्यमस्य तु घटादेः प्रागभावो ध्वंसश्चेत्युभयमवधिर्निरूपकोऽस्त्वित्यर्थः। **दर्शनस्येति**। सर्वलोकसिद्धत्वादित्यर्थः। दर्शनेन चेत्कारणं सिद्ध्यति, तदा क्षित्यादौ कर्तुरदर्शनाद्धर्मादेश्चादर्शनात्तदसिद्धौ न तदधिष्ठातृसिद्धिरिति निगर्वः। अनङ्गीकारे दण्डमाह **न हीति**। अन्यथा प्रागभावप्रध्वंसयोरप्यनुपलभ्यमानपूर्वोत्तरावधिकल्पन

मकरन्दः– वाकाशादेरवधित्वमात्रस्याभावाद्धटादावेव तदभ्युपगम इति तेषां कादाचित्कत्वस्वभावविरहादिति विरुद्धम्। तथापि नियतावधिशून्यत्वे तात्पर्यम्। विशिष्टाविशिष्टप्रतियोगिकत्वेन च भेद इत्याहुः। अनियतावधिपदेन शशशृङ्गादयस्तन्मतेनोक्ता *इत्यन्ये*। **न हीति**। यद्यपि यथा विरुद्धयोरपि प्रमेयैकस्वभावत्वं, तथा कादाचित्काकादाचित्कयोरपि निरवधिस्वभावत्वमविरुद्धं, तथापि तत्तत्कार्यार्थं तत्तत्कारणोपादानानुपपत्त्या सावधित्वसिद्धिरिति भावः।५।

प्रकाशः– प्रसङ्ग इति भावः। तद्वदिति। तथाचावधिसिद्धावपि न तत्प्राच्यत्वनियमसिद्धि रिति न तावतैव कारणसिद्धिरंशतः सिद्धसाधनं चेति भावः।५।

प्रवाहोऽनादिमानेष न विजात्येकशक्तिमान्।
तत्त्वे यत्नवता भाव्यमन्वयव्यतिरेकयोः।।६।।

आमोदः– हेतुं विवरितुं कारिकयोपगृह्णाति– **प्रवाह इति**। कार्यकारण-प्रवाहोऽनादिरेव। अनादित्वं च ध्वंसव्याप्यप्रागभावप्रतियोगित्वम्। तथापि व्यक्त्योरेव कार्यकारणभावोऽस्तु न जातिगर्भो येन कार्यत्वावच्छेदेनैव सकर्तृकत्वं सिध्येत्। अथ नियतजातीयकार्यान्यथानुपपत्त्या सामान्यगर्भ एव कार्यकारणभावो-ऽननुगतस्तु तृणादावेकशक्तिमत्त्वेन समाधेय इत्यत आह – **न विजातीति**। **विजातिषु** विरुद्धजातिषु तृणारणिमणिषु वह्न्यनुकूलशक्तिमत्तया कारणत्वमित्यपि नास्ति इत्यर्थः। नन्वेवं तृणारणिमणीनां कारणत्वं परस्परव्यभिचारेण कथं ग्राह्यमित्यत आह – **तत्त्व इति**। अन्वयव्यतिरेकयोस्तत्त्वे नियतत्वे ग्राह्ये पुरुषेण **यत्नवता भाव्यम्**। तथा च वह्न्यवान्तरजातिकल्पनया तृणादावन्वयव्यतिरेकनियमो ग्राह्य इति भावः।

प्रकाशः– प्रवाह इति। **एष** कार्यकारणप्रवाहः। **अनादिमान्**। तत्तत्सामग्रीमान्, तत्तत्सामग्र्यपि स्वसामग्रीपरम्पराधीनेति न तज्जन्यकार्यस्यानादित्वप्रसङ्गः। न चानवस्था। बीजाङ्कुरवदनादितया प्रामाणिकत्वादित्यर्थः। प्रागभावध्वंसयोस्तु पूर्वोत्तरकोटिकल्पने भावोन्मज्जनमेव बाधकमिति भावः। अनादित्वं च ध्वंसव्याप्यप्रागभावप्रतियोगित्वम्। तथापि यद्व्यक्तितो यत्कार्यं सैव व्यक्तिस्तत्र कारणं, न तु तज्जातीयमिति नैतावता कार्यजातीये कर्तृजातीयं कारणम्। अव्यवहितप्राक्कालीनव्यक्तेरेव कारणत्वापत्तौ यागादीनामकारणत्वान्नालौकिक साधनसिद्धिः, अतो न क्षित्यादिकर्तृत्वेनादृष्टाधिष्ठातृत्वेन वेश्वरसिद्धिः। न चैवं नियतजातीयकार्यानुत्पत्तिः। एकजातीयकार्यानुकूलशक्तिमत्त्वेन तदुपपत्तेरत्राह **न विजातीति**। विलक्षणजातीयेष्वेका या शक्तिस्तद्वान्न प्रवाह इति सम्बन्धः। **विजातिर्वि**रुद्धजातिरेकशक्तिमांश्चेति वा। वक्ष्यमाणयुक्तेरित्यर्थः। तर्हि तृणादौ व्यभिचारेणाग्निकारणत्वं कथं ग्राह्यमिति तत्राह **तत्त्व इति**। सामान्यविशेषाक्रान्त गोचरयोरन्वयव्यतिरेकयो**स्तत्त्वे** नियतत्वे ग्राह्ये **यत्नवता** पुरुषेण **भाव्य**मित्यर्थः।

मकरन्दः– अनादित्वादित्यस्य परिहारस्यासङ्गतत्वनिरासार्थमाशयं पूरयति **नन्विति**। तथा चाशयस्थितानवस्थापरिहारपरत्वेन तत्सङ्गतिरिति भावः। नन्वनवस्थाभयात् प्रागभाववन्निरपेक्षापि सामग्री कादाचित्कीत्यनेन विपक्षगामितया साधारणानैकान्तिकप्रदर्शनात् कथमसाधारण्यम्?

अत एव *परिमले* तदेवोक्तमिति चेत्, मैवम्। अनवस्थाभिया सामग्री निरपेक्षा आकाशादिवन्न कादाचित्की। तथा च निरपेक्षसामग्रीरूपविपक्षा-द्व्यावृत्तिरुक्ता। आकाशादिविपक्षव्यावृत्तेश्च स्फुटत्वादप्रदर्शनम्। निरपेक्षसामग्रीसापेक्षं कार्यमप्यकादाचित्कमिति सपक्षाद्व्यावृत्तं कादाचित्कत्वमसाधारणं स्यात्। तथा च तद्भयेन निरपेक्षस्यापि कादाचित्कत्वस्वीकारेण साधारणानैकान्तिकतया नायं हेतुः सापेक्षत्वसाधक इत्याशयवानाहेत्यत्र तात्पर्यात्। न च प्रागभावरूपविपक्षव्यावृत्तत्वाभावान्नासाधारण्यं स्यादिति वाच्यम्। प्रागसत्त्वादिघटितकादाचित्कत्वस्य प्रागेव निरुक्तेः। तद्विपक्षत्वानिश्चयदशायां वा तथात्वात्। यद्यप्येवं पक्षवृत्त्यापि न कादाचित्कत्वमित्यप्रसिद्धं, न त्वसाधारणं तथापि विशेषादर्शनदशायां तदि*त्येके*। अगमकत्वमेव तेनोपलक्षितमि*त्यन्ये*। *केचित्तु* असाधारणमित्यत्र अ-पदं निषेधवाचकं विभिद्य व्यावृत्तपदेन योजनीयम्। तथा च सपक्ष-विपक्षाभ्यामव्यावृत्तेः साधारणमित्यर्थः। अत एव साधारण्यमेवाग्रे व्युत्पादितम्। तथाच *परिमल*संवादोऽपीति वदन्ति। सामग्र्याः सापेक्षत्वेऽनवस्था, निरपेक्षत्वे व्यभिचारादसाधारणं न पक्षदृष्टान्तसाधारणमव्याप्यमिति यावदित्यर्थ इत्याहुः।

अंशत इति। अवधेर्मयापि स्वीकारेण तदंशस्य सिद्धस्यैव साधनादित्यर्थः। **तत्तदिति**। तथा च नासाधारण्यमित्यर्थः। ननु बीजाङ्कुरादेः सादितया कथमनादित्वमित्यत आह **अनादित्वञ्चेति**। ध्वंसव्याप्यत्वं सजातीयध्वंसव्याप्यत्वम्। तथा च तद्घटत्वेन सादित्वेऽपि घटत्वेन तद्घटस्याप्यनादित्वमिति ध्येयम्।

प्रागभावो ह्युत्तरकालावधिरनादिः, एवं भावोऽपि घटादिः स्यात्। अनुपलभ्यमानप्राक्कोटिकघटादिविषयं नेदमनिष्टमिति चेन्न।

तावन्मात्रावधिस्वभावत्वे तदहर्वत्पूर्वेद्युरपि तमवधीकृत्य तदुत्तरस्य सत्त्वप्रसङ्गात्, अपेक्षणीयान्तराभावात्। एवं पूर्वपूर्वमपि। भावे तदेव सदातनत्वम्। तदहरेवानेन भवितव्यमित्यस्य स्वभाव इति चेन्न। तस्याप्यह्नः

आमोदः– सावधिकत्वस्य सहेतुकत्वे व्यभिचारं निरस्यति – **प्रागभावो हीति**। तस्योत्तरैकावधित्वम्। तच्च न सहेतुकत्वे हेतुर्येन व्यभिचारः स्यात्। न हि यत् सावधित्वं प्रागभावे, तदेव घटादावपीति। वैषम्यमसहमान आह – **अनुपलभ्यमानेति**। घटादिर्यदि पूर्वावधिशून्यः स्यात्, तदा तन्मात्राधीनं तत्कार्यमपि पूर्वावधिशून्यं सत् सदातनं स्यादिति कादाचित्कत्वभङ्गप्रसङ्ग एवेत्याह – **तावन्मात्रेति**। **तदहर्वदिति**। समासान्तविधेरनित्यत्वेन समाधेयम्। **अनेनेति**। अनुपलभ्यमानप्राक्कोटिकस्य घटादेर्यत् कार्यं तेन च तस्मिन्नेव दिने भवितव्यमिति तत्त्वभावाभ्युपगमे कथं सदातनत्वमित्यर्थः। अहस्तावत् कालः कालोपाधिर्वा, उभयथापि तत्कार्यस्योक्तन्यायेन सदातनत्वमित्याह – **तस्यापीति**।

प्रकाशः– प्रागभावो हीति। यद्यदृष्टप्राक्कोटितयैव भावरूपमपि कार्यं पूर्वावधिशून्यं स्यादिति शेषः। अत्रेष्टापत्तिमाह **अनुपलभ्यमानेति**। यत्र **प्राक्कोटिः** सामग्री नोपलभ्यते, तत्रानादित्वमिष्टमेवेत्यर्थः। **तावन्मात्रेति**। अदृष्टपूर्वकोटित्वेनानादि-भावमात्रावधिस्वभावत्वे यथा तत्र दिवसे तस्य सत्त्वं तथा गतदिवसेऽपि तदित्यनादिभावोत्तरस्य तत्कार्यस्य सत्त्वप्रसङ्गः। एवं तत्पूर्वपूर्वदिनवृत्त्यपि तत्कार्यं स्यादित्यर्थः। तथाचागन्तुकादेव तस्मात् कार्यस्य कादाचित्कत्वं निर्वहतीति भावः। **तदहर्वदिति**, समासान्तविधेरनित्यत्वात् समाधेयम्। तदवधिस्वभावत्वे यत्र दिनेऽयमध्यक्षस्तत्रैवानेनोत्पत्तव्यमित्येषोऽपि तस्य स्वभाव इति शङ्कते **तदहरेवेति**। अत्राहःपदेन कालमात्रमभिप्रेतम्। तदनादित्वे तावन्मात्रावधेर्घटादेरप्यनादित्व प्रसङ्गादित्यनाद्यनित्यप्रवाहसिद्धये तथाविध एव कालोपाधिर्वाच्यः। तथा च

मकरन्दः– व्याप्तिश्च कालगर्भा। ननु घटादेः प्रागभाववत् तदुत्तरैकावधित्वं परानभ्युपगतमेवेति कथमापादनमित्यत आह **यद्यदृष्टेति**। तथा च तद्वद्भावेष्वित्यादिना तदभ्युपगतमिति भावः। **अदृष्टपूर्वकोटित्वेनेति**। नन्वत्रेष्टापत्तिः। अदृष्टपूर्वकोटिकेऽनादित्वाभ्युपगन्तारं प्रत्येवापादनात्। न च पूर्वदिने सत्त्वापादनेन प्रत्यक्षत्वापादनमभिमतमिति वाच्यम्। तथापि तस्योत्तरै-कावधित्वाभ्युपगमेन पूर्वावधिशून्यतयानादिभावमात्रावधिस्वभावत्व इत्यसङ्गतापातादिति चेन्मैवम्। दृष्टप्राक्कोटिकघटाभिप्रायेणैव प्रकृतापादनात्। नचादृष्टपूर्वकोटित्वेनेत्यसिद्धम्। अदृष्टपूर्वकोटित्वेनानादिर्यो भावः सामग्रीरूपस्तावन्मात्रावधिस्वभावत्व इत्यर्थात्। तथा च नादृष्टप्राक्कोटि तयैवानादित्वम्। अन्यथा कस्याश्चिद् घटसामग्र्या अपि तथात्वेनानादितया तदुत्तरस्य

पूर्वन्यायेन पूर्वमपि सत्त्वप्रसङ्गात्। तस्मात्तस्यापि तत्पूर्वकत्वमेवं तत्पूर्वस्यापीत्यनादित्वमेव ज्यायो, न त्वपूर्वानुत्पादे कस्यचिदपूर्वस्य सम्भव इति। तथापि व्यक्त्यपेक्षया नियमोऽस्तु, न जात्यपेक्षयेति चेन्न। नियतजातीयस्वभावताव्याघातात्। यदि हि यतः कुतश्चिद्भवन्नेव तज्जातीयस्वभावः स्यात्, सर्वस्य सर्वजातीयत्वमेकजातीयत्वं वा स्यात्। एवं तज्जातीयेन यतः कुतश्चिद्भवितव्यमित्यस्य स्वभावः, तदापि सर्वस्मात् सर्वजातीयमेकजातीयं वा स्यात्। कथं तर्हि तृणारणिमणिभ्यो भवन्नाशुशुक्षणिरेकजातीयः? एकशक्तिमत्त्वादिति चेन्न। यदि हि विजातीयेष्वप्येकजातीयकार्यकारणशक्तिः समवेयान्न कार्यात्कारणविशेषः क्वाप्यनुमीयेत। कारणव्यावृत्त्या च न तज्जातीयस्यैव कार्यस्य व्यावृत्तिरवसीयेत। तदभावेऽपि तज्जातीयशक्तिमतोऽन्यस्मादपि तदुत्पत्तिसम्भवात्।

आमोदः– कार्यकारणभावप्रवाहस्यानादित्वाभ्युपगममन्तरेण न निस्तार इत्युपसंहरति – **तस्मादिति**। कार्यकारणभावप्रवाहानादितामेव द्रढयति – **न त्विति**। घट आगन्तुकहेत्वधीन एवं सोऽपीत्यनादित्वमेवेत्यर्थः। **तथापीति**। या दण्डव्यक्तिर्घटपूर्वसती दृश्यते सैव तद्घटव्यक्तिं प्रति कारणं, न तु घटजातीयं प्रति दण्डजातीयमित्यर्थः। एवं सति नियतजातीयं कार्यं न स्यादित्याह – **नियतेति**। ननु कार्यस्यायं स्वभावो यद् **यतः कुतश्चिदपि भवन्नि**यतजातीयं भवेत्। तत्राह – **यदि हीति**। कार्यपक्षकं तर्कद्वयमाह – **सर्वस्येति**। अयं घटो यदि घटजनकयावज्जन्यः स्यात्, घटजातीयः स्यात्। एवं धूमादिजातीयत्वमपि घटस्यापाद्यमित्येव सर्वजातीयत्वापादनार्थः। घटभिन्नं कार्यं यदि घटजनकयावज्जन्यं स्यात्, घटजातीयः स्यादित्येकजातीयत्वापादनम्। कारणपक्षकं तदाह – **एवमिति**। यदि घटसामग्री घटसामग्र्यभिन्ना स्यात् पटजननी स्यात्। एवं धूमजन–नत्वादिकमापाद्यम्। घटान्यकार्यसामग्री यदि पटसामग्र्यभिन्ना स्यात् पटजनिका स्यादित्येकजातीयत्वापादनम्। ननु कार्यसाजात्यं यदि कारणसाजात्यनिबन्धनं तदा तृणादिवैजात्येऽपि वह्निसाजात्यं न भवेदित्याह – **कथमिति**। *मीमांसकः* प्रत्यवतिष्ठते – **एकशक्तिमत्त्वादिति**। वह्न्यनुकूलैकशक्तिमज्जन्यतयैव वह्निजातीयत्वमित्यर्थः। एवं सति वह्नेस्तृणानुमानभङ्गवद् धूमाद्वह्न्यनुमानभङ्गः। तृणव्यावृत्त्या वह्निव्यावृत्त्यनुमानभङ्गवत् वह्निव्यावृत्त्या धूमव्यावृत्त्यनुमानमपि भज्येत इत्याह – **यदि हीत्यादि**। उभयत्रापि हेतुमाह – **तदभावेऽपीत्यादि**।

प्रकाशः– तस्याप्यनादिरूपादृष्टावधि स्वभावत्वे तदुत्तरस्यापि दिनस्यानादित्वप्रसङ्गो घटस्येवेति परिहरति **तस्यापीति**। वस्तुतस्तु, उत्पत्तिगर्भकादाचित्कत्वानुरोधादवधि स्वीकारः। न चोत्तरेण उत्पत्तिर्नियम्यत इत्यवधेः प्राच्यत्वनियतत्वसिद्धौ कारणत्वं सिद्धम्। तथाचोत्पत्तिर्यदि किञ्चिदुत्तरत्वनियता न स्यादनादिः स्यादिति निगर्वः। **न त्वपूर्वेति**। आगन्तुककारणघटितसामग्र्यजन्यं कार्यं नियतकालोत्पत्तिकं न स्यादित्यर्थः। **तथापीति**। जात्यपेक्षया कारणत्वे निरस्ते व्यक्त्यपेक्षया व्यभिचारेण तत्सुनिरसमिति पूर्वोक्त एवाभिसन्धिः। **नियतेति**। कार्यनियतजातीयत्वे कारणजातिनियमस्य हेतुत्वादित्यर्थः।

अथ स्वभावादेव कार्यं नियतजातीयं स्यात्, तत्राह **यदि हीति**। किमयं कार्यस्यैव महिमा, यद्भिन्नजातीयेभ्योऽपि जायमानं सजातीयमेव भवति, हेतोरेव वा यद्भिन्नजातीयमपि सजातीयमेव जनयति? आद्ये कार्यपक्षकं तर्कद्वयमाह **सर्वस्येति**। अयं घटो यदि पटजनकयावज्जन्यः स्यात् पटजातीयः स्यात्। एवं यदि यावद्धूमजनकजन्यः स्याद् धूमजातीयः स्यात्। एवमन्यजातीयत्वमप्यापाद्यम्। पटादावपि तत्तज्जातीयत्वमापाद्यमिति सर्वजातीयत्वापादनार्थः। घटभिन्नं कार्यं यदि यावद्घटजनकजन्यं स्याद् घटजातीयं स्यादित्येकजातीयत्वापादनार्थः।

द्वितीये कारणपक्षकं तर्क्कद्वयमाह **एवमिति**। घटसामग्री यदि पटप्रयोजकयावद्रूपवती स्यात् पटजातीयजननी स्यात्। एवं धूमादिजातीय जनकत्वमप्यापाद्यम्। घटान्यकार्यसामग्री यदि घटप्रयोजकयावद्धर्मवती स्याद् घटजातीयजनिका स्यादिति क्रमेणापादनीयम्। ननु यद्येकजातीयकारणनियमात् कार्यजातिनियमस्तर्हि भिन्नजातीयेभ्यः कारणेभ्यो नाभिन्नजातीयं कार्यं जायेतेत्याह

मकरन्दः– घटस्यानादित्वं स्यादिति भावः। **अदृष्टावधीति**। अदृष्टप्राक्कोटि-कावधीत्यर्थः। घटसामग्रीवद्दिनसामग्र्या अप्यदृष्टप्राक्कोटिकत्वेनानादित्वसम्भवात् तदुत्तरदिनस्यानादित्वप्रसङ्ग इति भावः।

एवमित्यग्रेतनेन पौनरुक्त्यमाशङ्क्याह **किमयमिति**। सर्वजातीयत्वा-प्रसिद्धेरन्यथा तर्कमाह **अयमिति**। यद्यपि व्यक्त्यपेक्षया नियमेऽपि पटजनकतद्व्यक्तिजन्यत्वस्य घटेऽनभ्युपगमादिदमयुक्तम्। तथापि पूर्ववर्तिव्यक्तित्वेनैव तथात्वे घटपूर्ववर्त्तिपटजनकमेवादिव्यक्तेरपि घटजनकत्वाभ्युपगमादिदमिति ध्येयम्। **वैयधिकरण्यादाह** घटभिन्नमिति।

यावद्दर्शनं व्यवस्था भविष्यतीति चेन्न। निमित्तस्यादर्शनात्, दृष्टस्य चानिमित्तत्वात्। **एतेन सूक्ष्मजातीयादिति निरस्तम्।** अवह्नेरपि तत्सौक्ष्म्याद् धूमोत्पत्त्यापत्तेः। **कार्यजातिभेदाभेदयोः** समवायिभेदाभेदावेव तन्त्रं, न निमित्तासमवायिनीति चेन्न। तयोरकारणत्वप्रसङ्गात्। न हि सति भावमात्रं तत्, किन्तु सत्येव भावः। न च जातिनियमे समवायिकारणमात्रं निबन्धनम्, अपि तु सामग्री। अन्यथा द्रव्यगुणकर्मणामेकोपादानकत्वे विजातीयत्वं न स्यात्। न च कार्यद्रव्यस्यैषा रीतिरिति युक्तम्। आरब्धदुग्धैरेवावयवैर्दध्यारम्भदर्शनात्।

आमोदः– दृष्टव्यभिचारस्थले तृणादावेव तत्कल्पनं, न तु सर्वत्र, येनोक्तदोषः स्यादित्याशङ्कते **यावदिति।** तृणादावप्येकशक्तिमत्त्वं न दृश्यते, शक्तेरतीन्द्रियत्वात्। अनुमानं त्वन्योन्याश्रयपरमाह। तत्तृणादेः कारणत्वग्रहे शक्तिकल्पनं, तत्कल्पने च व्यभिचाराग्रहात् कारणत्वग्रह इति निमित्तस्यादर्शनं, तृणत्वादिकं च दृष्टत्वावच्छेदकं व्यभिचारादित्याह – **निमित्तस्येति। एतेनेति।** सौक्ष्म्यञ्च योग्यव्यक्ति–वृत्तित्वेऽप्यतीन्द्रियत्वम्। वह्निकुर्वद्रूपत्वजात्या तृणादिकमेकजातीयं कृत्वा कारणत्वग्रह इत्यप्यन्योन्याश्रयादिग्रस्तमित्यर्थः। कार्यलिङ्गकानुपलब्धि–लिङ्गकानुमानद्वयभङ्गश्चात्रापीत्याह – **अवह्नेरपीति।** रासभादेरपि कुर्वद्रूपतो वह्निसम्भावनायां क्वानुमानमित्यर्थः। ननु वह्नेरैकजात्यं समवायिकारण–वह्न्येकजात्यधीनम्, न तु निमित्तकारणसाजात्याधीनमतः किं तत्साजात्यचिन्तयेत्याह – **कार्येति।** यदि **तद्भेदः** कार्यभेदः प्रयोजको न स्यात्, तदा तयोरसाधारण–कारणत्वाभावप्रसङ्ग इत्याह – **तयोरिति।** यद्वा यदि सामान्यं कारणतावच्छेदकं न स्यात्तदा 'तयोः' कारणत्वमेव न स्यात्, ग्रहीतुमशक्यत्वादित्याह – **तयोरिति।** नन्वेकस्यां दण्डव्यक्तौ सत्यां घटोत्पत्तिदर्शनात् कथं न सा कारणमत आह – **न हीति। किन्त्विति।** तां विनापि घटरूपकार्यान्तरदर्शनात्, व्यभिचारात् सा कथं हेतुः स्यात्। न हि तस्यां सत्यामेव घटो भवतीति नियमः। तथा चायातं तज्जातीयत्वं तन्त्रमित्यर्थः। समवायिकारणसाजात्यमात्रनिबन्धनं तत्साजात्यमित्यत्र व्यभिचारमाह – **न चेति।** द्रव्यसमवायिकारणानां द्रव्यगुणकर्मणां वैजात्यदर्शनात्। तर्हि कार्यसाजात्यं किं निबन्धनं तत्राह – **अपि त्विति।** एकजातीयकारणमेलकाधीनं कार्यसाजात्यमित्यर्थः, न तु द्रव्यरूपकार्यसाजात्यं समवायिकारण–साजात्यनिबन्धनमत आह – **न चेति।** व्यभिचारमाह – **आरब्धेति।**

प्रकाशः– **कथमिति**। अत्र *मीमांसक*मुत्तरयति **एकेति**। कार्यानुपलब्धिलिङ्गकानुमानद्वयभङ्गप्रसङ्गेन तन्निराकरोति **यदि हीति**। **यावदिति**। यत्र क्लृप्तकारणभावं विनाप्यन्यस्मादेकजातीयं दृश्यते तत्र विजातीयेष्वेककार्यानुकूला शक्तिः कल्प्यते, न त्वन्यत्रापि। ततो नोक्तदोष इत्यर्थः। **निमित्तस्येति**। तृणादिषु कारणतावच्छेदकरूपस्यादर्शनात्। न च शक्तिरेव तथा। अन्योन्याश्रयात्। कारणत्वग्रहे तत्कल्पनम्, अन्यथा रासभेऽपि तदापत्तेः, तत्कल्पनेन च कारणत्वग्रहः। तस्यान्वयव्यतिरेकावच्छेद्यत्वात्, **दृष्टस्य** च तृणत्वादेः, **अनिमित्तत्वात्** कारणतानवच्छेदकत्वादित्यर्थः। तृणादिषु व्यभिचारमग्निकुर्वद्रूपत्वादतीन्द्रिय जातिविशेषाद् ये परिहरन्ति, तेऽप्यत एव निरस्ता इत्याह **एतेनेति**। ननु तृणादयोऽग्नौ निमित्तकारणानि। न च तत्साजात्यवैजात्याभ्यां कार्यसाजात्यवैजात्ये, किन्तु समवायिनस्तथात्वात्। तच्चाग्नावस्त्येवेति शङ्कते **कार्येति**। तथापि तृणादेर्व्यभिचारेण कारणत्वं न स्यादिति परिहरति **तयोरिति**। **न हीति**। व्यभिचारिणोऽपि कारणत्वापातादिति भावः। **किन्त्विति**। तृणादौ चैकैकाभावेऽप्यग्नेर्भावात् कारणत्वं न स्यादित्यर्थः। न च समवायिकारण साजात्यादिकमपि कार्यस्य तथात्वे तन्त्रम्। तदभावेऽपि कार्यवैजात्यदर्शनादित्याह **न चेति**। **अपि त्विति**। सामग्री च तृणादिघटिता भिन्नैवेति भावः। **अन्यथेति**। न च समवायिनो द्रव्यस्याभेदेऽपि कारणतावच्छेदकधर्मभेदाद् द्रव्यादीनां जातिभेदः स्यात्। तथाहि द्रव्यजनने स्पर्शवत्त्वमवच्छेदकं, गुणकर्मजनने तु द्रव्यत्वमूर्त्तत्वे तथेति वाच्यम्। द्रव्यत्वेनैकेनैव रूपेण संयोगाविभागौ प्रति कारणत्वेऽपि तयोर्जातिभेदात्। कारणतावच्छेदकस्याकरणत्वाच्चेति भावः। न च कार्यमात्ररीतिरेषा, अपितु द्रव्यस्य सतः। अतो न द्रव्यादिभिः समानोपादानैर्व्यभिचार इत्याह **न चेति**। एवं सति समवाय्यभेदे कार्यद्रव्यं दधिदुग्धरूपं न भिद्येत क्षीरपरमाणव एवाम्लसंयोगान्नष्टकार्यद्रव्या दध्यारभन्ते। अत एव, क्षीरं नष्टं दधि जातमिति लौकिकोऽयमनुभव इत्याह **आरब्धेति**।

मकरन्दः– **अनुपलब्धिलिङ्गकम्**=अभावलिङ्गकम्। अत एव मूलं-**कारणव्यावृत्त्या चेति**। **कारणतावच्छेदकस्येति**। कारणभेदस्यैव तद्भेदप्रयोजकत्वादिति भावः। **प्रत्युतेति**। तथा च तत्तत्परमाणुभिरेव तत्तदारम्भ इति नैकोपादानकत्वं तयोरिति भावः। अत्र च जातिपदं द्वित्वादौ व्यभिचारवारणाय। न च कार्यकारणोभयवृत्तित्वादित्येवास्तु कृतमवयवादिपर्यन्तेनेति वाच्यम्। रूपत्वादौ व्यभिचारात्। न चैवमपि समवायिकार्यवृत्तित्वादित्येवास्तु तत्रैव तात्पर्यादित्याहुः ।

प्रकाशः– नन्वतीन्द्रियेषु परमाणुषु दर्शनाभावाद् दध्यारम्भको योग्योऽवयवो वाच्यः। तत्र च क्षीरत्वं योग्यानुपलब्धिबाधितम्। प्रत्युतावयविवृत्तिजातित्वेन पृथिवीत्ववद् दधित्वस्य परमाणुवृत्तित्वमनुमेयम्। न च तन्तुत्वेन व्यभिचारः, तस्य पटावयवे अंशववयविनि वृत्तेरिति वाच्यम्।

तदवयविवृत्तित्वे सति तदवयववृत्तित्वस्य विवक्षितत्वात्। द्व्यणुकवृत्ति जातित्वस्य लिङ्गत्वाद्वा। न च दधित्वं न परमाणुवृत्ति पृथिवीत्वव्याप्यजातित्वात् पटत्ववदिति वाच्यम्। व्यञ्जकाभावस्योपाधित्वात्। पटत्वव्यञ्जकसंस्थानविशेषस्य परमाणावभावाद्दधित्वव्यञ्जकरसविशेषस्य च तत्र सत्त्वात्। न च रसविशेषवदवयवित्वं तद्व्यञ्जकं, गौरवात्। गन्धवदवयवित्वस्य पृथिवीत्वव्यञ्जकत्वे तस्यापि परमाणाववृत्त्यापत्तेश्च। यद्वा, दधिद्व्यणुकं दधित्वाश्रयोपादानकं, कार्यत्वे सति दधित्वात्, स्थूलदधिवत्। न च कार्यत्वं व्यर्थं, स्वतोऽनैकान्तिकपरिहारार्थत्वात्। दधिद्व्यणुकोपादानं वा न क्षीरारम्भकं, दध्यवयवत्त्वात् दध्यारम्भकदध्यवयववत्।

अत्रोच्यते। क्षीरपरमाणूनां तत्रावश्यकत्वाद् य एवावयवाः क्षीरमारब्धवन्तस्त एव सहकारिविशेषाद्दध्यारभन्ते, लाघवात्। अनुमाने चानुकूलतर्काभावः। दधित्वं यदि पार्थिवपरमाणुवृत्तिजातिः स्यात् पटवृत्ति स्यादिति प्रतिकूलतर्कप्रतिहतत्वं

मकरन्दः– दधि ससमवायिकारणकं भावकार्यत्वादित्यनुमानं लाघवाख्यतर्कसहकृतं दुग्धारम्भकपरमाणुमेव विषयीकरोति, अन्यथा गौरवात्। दुग्धं विनापि कदाचिद् दध्यापत्तेश्चेत्याशयवानाह **क्षीरपरमाणूनामिति। अनुमाने** पूर्वपक्षानुमाने। **दधित्वमिति**। जलत्वे व्यभिचारादाह **पार्थिवेति**। स्वमते दुग्धत्वे व्यभिचारादाह **परमाण्विति**। परमाणुपरिमाणादौ व्यभिचारादाह **जातिपदम्**। न च तादृशद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातित्वं पटवृत्तित्वप्रयोजकमिति वाच्यम्। साक्षात्त्वस्य गुरुत्वात्। सत्तायाः पटावृत्तित्वप्रसङ्गाच्च। नन्वेवमप्रयोजकतयाऽस्यैव तर्कस्य शिथिलमूलत्वमिति चेत्, अत्राहुः। न हि परम्परया पटारम्भके परमाणौ दध्यारम्भकपरमाणुवृत्तिदधित्ववत्तयापि जातिरङ्गीक्रियते। तस्या अपि पटे प्रत्ययापत्तेः। अवयवावयविवृत्तिजातेरवयविवृत्तित्वनियमात्। तथाचान्यस्यावच्छेदकस्याभावात् पृथिवीपरमाणुत्वादिकमेव तत्तद्द्व्यणुकजनकतावच्छेदकम्। एवञ्च दधिद्व्यणुकाद्याश्रयपरमाणवोऽपि तत्र स्वरूपयोग्या इति नित्यस्य सहकार्यवश्यम्भावे तैरपि पटजनने पूर्वोक्तयुक्त्या

प्रकाश:– च। न च लाघवोपकार्यमानाभाव:। दध्यारम्भक: परमाणुर्न दधित्वाश्रय: नित्यपार्थिवत्वात् पटारम्भकपरमाणुवदित्यनुमानस्य सत्त्वात्। न च व्यञ्जकासत्त्वमुपाधि:? दधित्वाश्रयपरमाणौ च रसविशेषवत्त्वं दधित्वव्यञ्जकमस्तीति वाच्यम्। प्रतिकूलतर्केण रसविशेषवदवयवित्वस्य तद्व्यञ्जकत्वात्। किञ्चैवं दुग्धोत्कर्षापकर्षयोर्दध्युत्कर्षापकर्षप्रयोजकत्वानुपपत्ति:। अनुपादानोत्कर्षदिरनुपादेयोत्कर्षाद्यप्रयोजकत्वात्। न चेन्धनोत्कर्षादिना वह्नेस्तथात्वेन व्यभिचार:। यस्योद्भूतरूपस्योत्कर्षार्थं तद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातीयं यदुपादीयते, तत्

मकरन्द:– तज्जाते: पटवृत्तितापत्तिरित्यत्र तात्पर्यमिति।

न चेति। यद्यपि प्रमाणविषयीभूतविषयस्य लाघवस्य सहकारितया वक्ष्यमाणस्य न लाघवोपकार्यत्वं तथाप्युक्तस्य भावकार्यस्य तथात्वम्। तथाच तेनैव तदवयवतायां सिद्धायामेतस्य कथञ्चित्तदुपकार्यत्वम्। एवञ्च लाघवोपकार्योपकार्यमानाभावो न चेति फक्किकार्थ इत्याहु:।

नित्येति। एतच्च दध्यवयविनि व्यभिचारवारणाय। काले व्यभिचारवारणाय, **पार्थिवत्वादिति**। न च समवायगर्भत्वम्, अन्यथा परम्परासम्बन्धमादाय व्यभिचारापत्तेरिति वाच्यम्। एवमपि साक्षात्सम्बन्धगर्भस्य निर्दोषत्वात्। **दधित्वाश्रयेति**। दधित्वाश्रयाभिमतपरमाणावित्यर्थ:। अवयवित्वप्रवेशे गौरवादिति भाव:। **प्रतिकूलेति**। पूर्वोक्तप्रतिकूलतर्केणेत्यर्थ:। तथाच गौरवमपि प्रामाणिकमिति भाव:। अत एव गन्धवदवयवित्वस्य पृथिवीत्वव्यञ्जकत्वे तदपि परमाणौ न वर्ततेति प्रतिबन्दि: परास्ता, तत्र गौरवस्य प्रामाणिकत्वाभावात्। किञ्चैवं गन्धसमवायिकारणतावच्छेदकपृथिवीत्वस्याभावे निर्गन्धित्वापत्तौ तदारब्धकार्यस्य निर्गन्धित्वप्रसङ्गात्। नचैवं दधित्वव्यञ्जकरसविशेषसमवायिकारणतावच्छेदकतया दधित्वं परमाणावपि, अन्यथा परमाणौ तद्रसाभावेन तदारब्धदध्न्यपि तदभावापत्तेरिति वाच्यम्। पृथिवीत्वस्यैव तदवच्छेदकत्वात्। घटादौ सहकारिविरहे तदनुत्पादात्। तदारम्भकपरमाणौ च तदुत्पत्तिरिष्टैव। अत एव तेन कदाचिद् दध्यारम्भोऽपि। अत एव मधुराम्लरससमवायिकारणतावच्छेदकतया पृथिवीत्वसिद्धिरुक्ता *वर्द्धमानचरणैरिति* दिक्।

तद्व्यञ्जकत्वादिति। तथा च साधनव्यापकत्वमुपाधेरिति भाव:। **यस्येति**। वह्न्युत्कर्षार्थमुपादीयमानेन्धने व्यभिचारादाह **तद्वृत्तीति**। सत्तामादाय

प्रकाशः– तदुपादानोपादेयमिति व्याप्तेः। इन्धने तु तद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्य–जातेरभावः। उद्भूतरूपस्येति विशेषणान्नानुद्भूतरूपवह्न्युत्कर्षार्थमुपात्तवह्न्युत्कर्षेण व्यभिचारः। उपादेयता च साक्षात्परम्परासाधारणी विवक्षितेति न पटोत्कर्षार्थो–पात्ततन्तूत्कर्षेण व्यभिचारः।

मकरन्दः– दोषतादवस्थ्यादाह **द्रव्यत्वव्याप्येति**। व्याप्तिश्च भेदगर्भेति न द्रव्यत्वमादाय दोषतादवस्थ्यमिति भावः। तथापि तैलोत्थितोद्भूतरूपदहनार्थकेऽनुद्भूत–रूपतैलस्थदहने व्यभिचारः। अनुद्भूतान्नोद्भूतमिति मतेनैवास्य कृतत्वादित्यत आह **उपादीयत इति। उपादानं** प्रवृत्तिः। तस्य चाप्रत्यक्षत्वान्न तद्योग्यतेति न दोषः। अत एव घटाद्युत्कर्षार्थके मृदारम्भके परमाण्वादौ न व्यभिचारः। न चैतन्मते अनुद्भूतरूपस्योद्भूतरूपार्थकत्वाभावादेव न व्यभिचार इति किं तद्वारणार्थं विशेषणोपादानेनेति वाच्यम्। नियमतो यदनन्तरं यद्भवति तस्यैव तदर्थकत्वेन विवक्षितत्वात्। तस्य च तत्सहचरितावयवान्तरमादाय तत्रापि सत्त्वात्। अन्यथा दुग्धस्यापि दधिप्रतिबन्धकतया तथात्वं न स्यात्। ननु धूमार्थोपादीयमानार्द्रेन्धनोत्कर्षे व्यभिचारः। न चार्द्रत्वं जलसम्बन्धो, न तद्विशिष्टे तद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिरस्तीति वाच्यम्। एवमपि शरीरोत्कर्षार्थोपादीयमानभक्ष्योत्कर्षे व्यभिचारावारणादित्याशङ्क्य उपादेयतावच्छेदकधर्मावच्छेदेन तद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वं विवक्षितम्। न च शरीरोत्कर्षार्थोपादीयमाने उपादेयतावच्छेदकावच्छिन्नं पार्थिवमात्रम्।

जलस्यापि तथाभावेनौदर्य्यानलदाह्यमात्रस्य रसवन्मात्रस्य तथाभावादिति समादधुः। तच्चिन्त्यम्। तत्र पक्षसमत्वेन व्यभिचाराभावात्तद्विवक्षाया वैयर्थ्यात्। आहारपरिणतिभेदेन शरीरभेदाभ्युपगमाच्च। किञ्चैवमपि घटोत्कर्षार्थोपादीय–मानदण्डोत्कर्षेण व्यभिचारः। यदि च योग्यताविवक्षायां दण्डारम्भकपरमाणुना कदाचिद्घटारम्भात् साध्यसत्त्वे न व्यभिचारः, तदा भक्ष्यारम्भकपरमाणुनापि शरीरारम्भाविरोधः। अपि चालोकोत्कर्षार्थोपादीयमानोत्कृष्टप्रदीपादौ व्यभिचारः। तस्मादुद्भूतस्पर्शस्येत्यपि विशेषणं देयम्। यद्यपि योग्यताविवक्षायां दण्डघटवत् कदाचित् दध्नोऽपि दुग्धोपादानोपादेयत्वे विवक्षितसाध्यस्य फलोपधानगर्भस्य न सिद्धिः। तदविवक्षायां घटोत्कर्षार्थकदण्डोत्कर्षेण व्यभिचार एव। तथापि परिमाणोत्कर्षनिबन्धन एवोत्कर्षो विवक्षितः। घटे च स न दण्डोत्कर्षनिबन्धनः, किन्त्ववयवोत्कर्षनिबन्धन एवेत्येके। एतदनुशयादेव यद्द्रव्येत्यादिकमित्यन्ये। यदर्थं यदुपादीयते तत्तदुपादानोपादेयमित्यत्र वैजात्यं गुणविरोधश्च बाधकमिति

प्रकाशः— न च यद्दधि न तद् दुग्धारभ्यमिति स्थूले दर्शनाद्दधिद्व्यणुकं न दुग्धत्वाश्रयपरमाण्वारभ्यमिति वाच्यम्। दधिद्व्यणुकारम्भके परमाणौ दुग्धत्वस्यावृत्तेः। सत्तान्यद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातेरेव परमाणौ वृत्तेः। द्रव्यत्वस्यापि द्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातित्वात्। तद्भिन्नतद्व्यप्याव्याप्यत्वे सति तद्व्याप्यत्वस्यैव साक्षाद्व्याप्यत्वरूपत्वात्। नचान्ये परमाणवस्तत्रादृष्टाकृष्टा दध्यारम्भकाः। तदुत्कर्षाद्यनुविधानानुपपत्तेरुक्तत्वात्। दध्यर्थं दुग्धोपादानुपपत्तेश्च। अपि च, यद्द्रव्यध्वंसजन्यं यद् द्रव्यं भवति तत्तदुपादानोपादेयं यथा महापटध्वंसजन्यः खण्डपट इति नियमाद्

मकरन्दः— प्रकृते तदुभयाभावोपवर्णनम्। उपलक्षणतया च बाधकाभावे सतीत्यत्र तात्पर्यमिति न व्यभिचारशङ्केत्यप्याहुः।

न दुग्धत्वेति। दुग्धत्वाश्रयस्य कालस्य जनकत्वाद् बाध इत्यत उक्तं, **परमाण्विति**। एतेन, परमाणुग्रहणं स्वरूपकथनाय। न चाग्रेतनसिद्धसाधनासम्भवः, द्व्यणुकारम्भकस्य परमाणुत्वनियमेन तत्सम्भवादित्यपास्तम्। **दधिद्व्यणुकेति**। तथा च प्रतियोग्यप्रसिद्ध्या साध्याप्रसिद्धिरिति भावः। सिद्धसाधनमिति भाव *इत्यन्ये*। तर्हि द्रव्यत्वमपि तत्र न वर्त्तेत इत्यत आह **द्रव्यत्वस्यापीति**। **तद्भिन्नेति**। तद्व्याप्यत्वमात्रं परम्पराव्याप्येऽतिव्याप्तमित्यत उक्तं सत्यन्तम्। तथापि तद्व्याप्याऽव्याप्यत्वमसम्भवि, पृथिवीत्वादेर्द्रव्यत्वादिव्याप्यीभूत द्रव्यत्वादिव्याप्यत्वात्, द्रव्यत्वादिव्याप्यीभूतपृथिवीत्वादिव्याप्यत्वाच्च। अभेदेऽपि व्याप्तिसत्त्वादित्यत उक्तं **तद्भिन्नेति**। साक्षाद्व्याप्यव्यापकाभिमतोभयभिन्नेत्यर्थः। सत्तादेरपि द्रव्यत्वादिसाक्षाद्व्याप्यत्वापत्तिरिति चरमं **तद्व्याप्यत्व**मुक्तम्। न च तदुभयभिन्नद्रव्यत्वादिव्याप्यगुणवत्त्वादिव्याप्यतया पृथिवीत्वादावसम्भव इति वाच्यम्। तद्भिन्नतद्व्याप्यजात्यव्याप्यत्वे सतीत्यर्थात्। नन्वेवं चरमजातेः स्वसाक्षाद्व्याप्यत्वं न स्यात्। स्वभिन्नस्वव्याप्यजात्यप्रसिद्धेः। न च स्वस्य स्वसाक्षाद्व्याप्यत्वं न विवक्षितमिति वाच्यम्। द्रव्यत्वस्यापि स्वसाक्षाद्व्याप्यत्वमित्युपक्रमविरोधादिति चेत्। मैवम्। द्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यत्वमात्रस्यैव प्रकृतत्वेन लक्ष्यत्वादित्याहुः। वस्तुतस्तु, तद्भिन्नतदव्यापकजात्यव्याप्यत्वे सति तद्व्याप्यत्वं विवक्षितम्। तत्पदं साक्षाद्व्याप्यत्वाभिमतमात्रपरम्। अन्यच्च व्यापकत्वाभिमतपरमित्यवधेयम्।

यद्द्रव्येति। घटध्वंसजन्ये घटरूपादिध्वंसे व्यभिचारादाह चरमद्रव्यपदम्।

प्रकाशः— दुग्धध्वंसजन्यं दधि दुग्धोपादानोपादेयम्। न च प्रतिबन्धकद्रव्यध्वंस-जन्यद्रव्येण व्यभिचारः। ध्वंसत्वेन कारणत्वस्य विवक्षितत्वात्। प्रतिबन्धकाभावस्य च संसर्गाभावत्वेन हेतुत्वात्। न च स्थूलदुग्धध्वंसजन्यं दधि न तदवयवजन्यमिति व्यभिचारः। परमाणुश्च न तदवयव इति वाच्यम्। साक्षात्परम्परा साधारणोपादानोपादेयत्वस्य विवक्षितत्वात्।

*रत्नकोषकृत*स्तु, रसविशेषवृत्तिरेव दुग्धत्वादिजातिः। द्रव्यवृत्तित्वेऽपि तद्व्यञ्जकस्य रसस्यावश्यकत्वात्। द्रव्यत्वादिसामानाधिकरण्यबुद्धिश्च परम्परासम्बन्धात्। तथा च दुग्धारम्भका एवावयवाः पाकजरसविशेषशालिनो दध्यारम्भका इति न विरोध इत्याहुः।

तृणादेरग्निं प्रति तृणाद्यन्यान्यत्वेन कारणत्वं गृह्यते, इति न व्यभिचार इति व्यावृत्तिपदार्थवादिना यत् समाहितं, तत्राप्यनुमानभङ्ग इत्यतिदिशति।

मकरन्दः— यद्द्रव्याभावजन्यमिति कृते प्रतिबन्धकद्रव्यात्यन्ताभावजन्ये द्रव्ये व्यभिचारः स्यादिति ध्वंसपर्य्यन्तमुपात्तम्। न च तद्ध्वंसस्यापि जनकत्वाद् दोषतावदवस्थ्यम्। ध्वंसत्वेन जनकत्वस्याग्रे विवक्षणात्।

नचैवं दृष्टान्तासिद्धिः, महापटस्य प्रतिबन्धकतया तदभावस्य संसर्गाभावत्वेनैव हेतुत्वादिति वाच्यम्। महापटं विनापि खण्डपटोत्पादापत्तेः। अत्यन्ताभावस्य नित्यस्य स्वरूपयोग्यस्य सहकार्यवश्यम्भावापत्तेश्च। नचैवं तत्प्रागभावस्याहेतुत्वे महापटोत्पत्तेः प्राक् खण्डपटो न स्यादिति तन्तुमात्रमुपलभ्येतेति वाच्यम्। इष्टापत्तेः। तथाविधसंस्थानयोगितया पटव्यपदेशः। यद्वा, द्वितन्तुकादिमहापटध्वंसजन्य एव त्रितन्तुकादिः पटो जायते। मूर्त्तानां समानदेशताविरोधेन वेमाद्यभिघाताद् द्वितन्तुकादिनाशे त्रितन्तुकाद्युत्पादाभ्युपगमात्। तत्र च सर्वतन्तुकमहापटप्रागभावः सन्नप्यन्यथासिद्ध एव। एवञ्च त्रितन्तुकादौ पटध्वंसजन्यपटत्वेन खण्डपटत्वं, पटजनकध्वंसप्रतियोगिपटत्वेन महापटत्वञ्च न विरुद्धम्। द्वितन्तुके च यदि खण्डपटव्यपदेशः, तदाऽग्रिमापेक्षया परिमाणापकर्षनिबन्धनो गौणः। वस्तुतः प्रथमपटन्यूनसमवायिकारणक एव खण्डपट इति त्रितन्तुकादीनामपि महापटत्वमेवेति तत्रापि गौण एव तद्व्यपदेश इति। *द्रव्यप्रकाशे* च संसर्गाभावत्वेन तस्य कारणत्वाभिधानं मतान्तरेणेति मन्तव्यम्। आद्यद्रव्यपदं किमर्थमित्यवशिष्यते। तत्र ब्रूमः। तत्त्वसाक्षात्कारजन्यमिथ्या ज्ञानध्वंसस्य ध्वंसत्वेन कायव्यूहं प्रति जनकतया व्यभिचारवारणाय तदिति।

प्रकाशः- एतेनेति। **नियमः** अविनाभावः। वह्निं विना तदन्यस्मादपि धूमसम्भवेन ततो वह्न्यनुमानाभावापातात्। तृणादिवदतद्व्यावृत्त्या तत्रापि कारणत्व ग्रहसम्भवादित्यर्थः। कार्यकारणभावासिद्धौ स्वभावनियमोऽपि दुरवगमः।

मकरन्दः- यत्तु प्रयागमरणस्य संयोगध्वंसात्मकस्य स्वर्गहेतुत्वश्रुतेः स्वर्गिशरीरजनकतया तत्र व्यभिचारवारणाय तदिति। तन्न। अदृष्टाद्वारकत्वस्य साक्षाज्जनकत्वस्य वावश्यं वाच्यतया तत एव तदुद्धारात्। अन्यथा ब्राह्मणशरीरशालग्रामध्वंसादेरधर्मद्वारा नारकिशरीरजनकतया व्यभिचारतादवस्थ्यापत्तेः। *अन्ये* तु प्रागभावध्वंसात्मक-कपालजन्यघटे व्यभिचारवारणाय तदुपादानम्। न च ध्वंसत्वेन जनकत्वविवक्षयैव तद्वारणमिति वाच्यम्। ध्वंसत्वेनेत्यस्य ध्वंसत्वनियताया जनकताया विवक्षितत्वादित्यर्थात्, तावतैव प्रतिबन्धकाभावजन्ये व्यभिचारस्य निरासात्। यद्यपि प्रागभावोपादानाप्रसिद्ध्या व्यभिचारोऽपि तत्राप्रसिद्ध इति कथं तद्वारणाय तत्, तथापि नियतसामानधिकरण्यरूपव्याप्तिग्रहौपयिकतया सार्थकत्वम्। यद्वा, यद्द्रव्यध्वंसजन्यं यद्द्रव्यं तदुभयमेकोपादानकमित्यत्र तात्पर्यम्। एकोपादानकत्वञ्चान्यत्र प्रसिद्धमिति तत्र व्यभिचारप्रसिद्धिरिति वदन्ति।

यत्तु, अवयवसंयोगध्वंसजन्यखण्डपटे व्यभिचारवारणाय द्रव्यपदम्। न च तत्र साध्यमस्त्येवेति वाच्यम्। तत्संयोगाश्रयतन्तूनामपि नाशे तद्भिन्नमात्रसमवेतखण्डपटे तथापि व्यभिचारादिति। तत्तुच्छम्। तस्य महापटध्वंसोपक्षीणत्वेन खण्डपटं प्रत्यहेतुत्वात्। अन्यथा तन्तुनाशजन्यखण्डपटमादाय दोषतादवस्थ्यापत्तेः। एतेन जन्यत्वेन प्रयोज्यत्वमात्रं विवक्षितमित्यपास्तम्।

तथा चेति। दुग्धरूपरसविशेषारम्भका एवावयवाः पाकजरसविशेषशालिनो यतोऽत एव दध्यारम्भकाः। तस्य रसविशेषात्मकत्वादित्यर्थः। यद्वा, दुग्धादिपदं द्रव्यपरमेव। दुग्धत्वादेः परम्परासम्बन्धेन द्रव्यवृत्तित्वाभ्युपगमादिति। **न विरोध इति**। नैकोपादानकत्वविरोधः।

रसविशेषात्मकयोर्दधिदुग्धयोरेकत्र प्रमाणसिद्धत्वादित्यर्थः। अनभिमतबीजञ्चात्र द्रव्यत्वादिसामानाधिकरण्यबुद्धेः साक्षात्सम्बन्धविषयकत्वे बाधकाभावान्न परम्परासम्बन्धविषयत्वम्। अन्यथा पृथिवीत्वादेरप्यभिव्यञ्जक-गन्धादिवृत्तितापत्तेरिति।

एतेनाऽपोहवादे नियमो निरस्तः। 'कार्यकारणभावाद्वे'त्यादिविप्लवप्रसङ्गात्। तस्मान्नियतजातीयतास्वभावभङ्गेन व्यक्त्यपेक्षयैव नियम इति फूत्कारेण तृणादेरेव, निर्मन्थनेनारणेरेव, प्रतिफलिततरणिकिरणैर्मणेरेवेति प्रकारनियमवत्तेनैव व्यज्यमानस्य कार्यजातिभेदस्य भावात्। दृश्यते च पावकत्वाविशेषेऽपि प्रदीपः

आमोदः– ननु तृणारणिमण्यन्योन्यत्वेन तृणादीनां कारणत्वग्रहः स्यादित्यत आह – **एतेनेति**। अत्रापि वह्निपिशाचान्योन्यत्वेन धूमं प्रति कारणता स्यादिति धूमाद्वह्न्यनुमानं न स्यात्। **नियमः** कारणता। न हि सर्वत्र कारणविशेषस्यानुमानमिति ब्रूम इति भावः। यद्यपि वह्नौ वैजात्यं योग्यानुपलब्धिबाधितम्। तथा च एकशक्तिमत्तयैव तृणादीनां कारणत्वं कल्पयितुमुचितम्। तथापि नानास्थलेष्वरणिषु, मणिषु, तथा फुत्कारादौ शक्तिनानात्वकल्पनापेक्षया वह्निवैजात्यकल्पनमेव लाघवादुचितम्। फुत्काराद्यनन्तरजायमानवह्निव्यक्तिषु तदुपलम्भोऽप्यस्ति। द्व्यणुकयोरिव श्यामकपिशयोः। न च यथा समवायिकारणासमवायिकारणध्वंसजन्यद्रव्यध्वंसे वैजात्यमन्तरेणापि कारणत्वमेकशक्तिमत्तयैव वाच्यम्, तथा प्रकृतेऽपि किं न स्यादिति वाच्यम्। तत्रापि समवायिकारणनाशानाश्यद्रव्यनाशत्वेन, असमवायिकारणनाशानाश्यद्रव्यनाशत्वेनैव तदुभयकारणत्वात्। यद्वा विद्यमानाश्रयिकद्रव्यनाशत्वेनासमवायिकारणमस्य द्रव्यनाशं प्रति कारणत्वात्। तदुभयनाशजन्यो नियमः।

कार्यकारणभावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकात्।
अविनाभावनियमोऽदर्शनान्न न दर्शनात्।।

इति त्वदभ्युपगमः। तत्र स्वभावनियमेऽपि कार्यकारणभाव एव तन्त्रम्। तद्भङ्गे तस्यापि भङ्ग इत्यर्थः। **कथं तर्हीत्या**द्याक्षेपमुपसंहरति – **तस्मादिति। व्यक्त्यपेक्षयैवेति**। पूर्वव्यक्तिरुत्तरव्यक्तौ कारणं, न तु जातिनियता कारणतेत्यर्थः। **फुत्कारेणेति**। फुत्कारादि ......(?)......नियतसहकारिसमवहित तृणादिजन्यवह्निषु वह्नित्वावान्तरजातित्रयकल्पनेन व्यभिचारविरहान्न जातिगर्भकार्यकारणभावभङ्ग इत्यर्थः। **प्रकारनियमः** सहकारिनियमः। वह्निवैचित्र्योपपादनेनावान्तरजातिभेदं साधयति – **दृश्यत इति**। विवादपदं वह्नयो

प्रकाशः– कार्यानुपलब्धिप्रसङ्गरूपविपक्षबाधकसाध्यत्वात्तस्येति भावः। तदेवं गत्यन्तराभावाद् व्यक्तीनामेव कारणत्वमित्युपसंहरति **तस्मादिति**। वह्न्यवान्तरजातीये तृणादीनां प्रत्येकं कारणत्वस्वीकारादेव सर्वं समञ्जसमित्याह **फूत्कारेणेति**। **प्रकारनियमः** सहकारिनियमः। वह्न्यनुकूलशक्तिमत्त्वेन कारणत्वे मणिफूत्कारादिस्तोमादपि कार्यापत्तेरित्यर्थः। न चानुपलब्धिबाधितं वैजात्यमित्याह **तेनेति**। विवादपदमग्नयो वह्नित्वव्याप्यजातिमन्तः नियतसहकार्यनुप्रवेशेन जायमानवह्नित्वात् प्रदीपदारुदहनवदिति कारणविशेषसम्बन्धव्यङ्ग्यत्वा त्तज्जातीनामित्यर्थः। न च दृष्टान्तः साध्यविकल इत्याह **दृश्यते चेति**। तत्र तैलादिकारणविशेषव्यङ्ग्यत्वं यथा जातीनां, तथात्रापीति नादृष्टचरकल्पनमित्यर्थः। यद्यपि दुरुहत्वान्नैष विशेष आपाततः स्फुरति, तथापि विशेषानाकलनेऽपि तदनुकूलकारणमात्रमनुमीयते।

मकरन्दः– **तदेवमिति**। नन्वेवं तवापि वह्निप्रयोज्यवैजात्यशङ्कया न धूमसामान्यमग्निं गमयेत्। यदि चोपस्थितधूमत्वावच्छेदेन व्यभिचाराग्रहात्तेनैव रूपेण कार्यत्वग्रहः, तदा यत्रोपस्थितरूपे व्यभिचारस्तत्रैव रूपान्तरेण कारणत्वकल्पनमतो न रासभमन्तर्भाव्य तत्कल्पनम्। किञ्च शक्तिवैजात्ययोरन्यतरकल्पनावसरे तयोः कल्पनीयतया लाघवेन क्लृप्तान्यान्यत्वस्यैवावच्छेदकत्वकल्पनादिति। तत्र ब्रूमः। वैजात्यस्यापि प्रमाणान्तरसिद्धतया तत्राप्यवच्छेदकत्वकल्पनैव। अन्यथा सहकारिनियमानुपपत्तेः। तदिदमुक्तं मूले, **तेनैव व्यज्यमानस्येति**। न च सामग्रीत्रयकल्पने गौरवं, तस्यावश्यकत्वात्। अन्यथा सहकारिनियमानुपपत्तिरेव। स हि कार्यतावच्छेदकभेदेन फलविरोधे सत्येव स्यात्। अन्यथा प्रत्यक्षादिप्रमाणनामपि जन्यज्ञानत्वावच्छिन्ने तदन्यान्यत्वेन हेतुतापत्तेः। यदि च सहकारिनियमानुपपत्त्या सामग्रीभेद-फलवैजात्यावश्यकत्वे गौरवान्न तथा, तदा प्रकृतेऽपि तुल्यं, तत्तत्सहकारि-सम्बन्धानामपि तदन्यान्यत्वेन हेतुत्वान्नियमोपपत्तेरित्यपि तुल्यम्। यद्विशेषयोः कार्यकारणभावग्रह इत्यादिकमपि तुल्यम्। तेन रूपेणान्वयव्यतिरेकग्रहान्न तथेति च तुल्यम्। अपि चैवं भौमत्वस्यापि विशेषतया गुरुत्वेन वह्नित्वसामान्यावच्छिन्ने औदर्यादिवह्निकारणमप्यन्तर्भाव्य तदन्यान्यत्वेन हेतुत्वापत्तिः। किञ्चैवं, जन्यतावच्छेदकमपि तत् स्यादिति घटपटान्यान्यत्वावच्छेदेन दण्डवेमान्यान्यत्वेन हेतुत्वापत्तिः। तथाचोक्तगौरवादतिप्रसङ्गाच्च न तदन्यान्यत्वमवच्छेदकमिति दिक्।

मकरन्दः– यत्तु, नैकं विरुद्धद्वयप्रयोज्यम्। भावाभावयोरेककार्यजनकतापत्तेः। अत एव न यागध्वंसेनापूर्वस्यान्यथासिद्धिः। तदिह वह्नित्वं यदि तृणाद्यन्यान्यप्रयोज्यं स्याद्, न स्यात्तदन्यवह्न्यवयवादिप्रयोज्यं विरोधादिति। तच्चिन्त्यम्। एवं हि तृणप्रयोज्यत्वेऽपि तदन्यवह्न्यवयवादिप्रयोज्यत्वं विरुद्ध्येत। यदि च तयोः परस्परविरहरूपत्वाभावात्तदुभयप्रयोज्यत्वं न विरुद्धं, तदा तुल्यम्। वह्न्यवयवत्वेनैव तस्य प्रयोजकत्वं, न तु तृणाद्यन्यान्यत्वेनेत्यपि तुल्यमिति।

विवादपदमिति। एतच्च प्रदीपादौ साध्यसिद्ध्या अंशतः सिद्धसाधनवारणार्थम्।

नियतेति। ननु वृश्चिकादौ हेतुसत्त्वेऽपि साध्यासत्त्वाद्व्यभिचार इति चेत्। मैवम्। नियतसहकारिप्रयोज्यजातिकत्वस्य साध्यत्वात्। प्रकृते च पक्षधर्मताबलेन वह्नित्वव्याप्यैव सा जातिः सिद्ध्यतीति तथा प्रतिज्ञानात्। न चैवमपि ध्वंसे व्यभिचारः। जातिपदस्य धर्ममात्रपरत्वात्। प्रदीपादिदृष्टान्तोपादाननिर्बन्धश्चा तेजस्त्वाद्युपाधेः साध्याव्यापकत्वप्रदर्शनार्थमित्याहुः। वस्तुतस्तु साध्यदृष्टान्तालोचनेन वह्नित्वादिति हेतुरभिमतः। स्फुटत्वात् कण्ठरवेण नाभिहितः। नियतेत्यादिकञ्च विपक्षबाधप्रदर्शनपरमिति युक्तमुत्पश्यामः।

प्रासादोदरव्यापकमालोकमारभते, न तथा ज्वालाजालजटिलोऽपि दारुदहनो, न तराञ्च कारीषः।

यस्तु तं नाकलयेत्, स कार्यसामान्येन कारणात्रमनुमिनुयादिति किमनुपपन्नम्? एवं तर्हि धूमादावपि कश्चिदनुपलक्षणीयो विशेषः स्याद् यस्य दहनापेक्षेति न धूमादिसामान्याद्वह्निसामान्यादिसिद्धिः।

एतेन व्यतिरेको व्याख्यातः। तथा च कार्यानुपलब्धिलिङ्गभङ्गे

आमोदः– वह्नित्वावान्तरसामान्यवन्तो नियतसहकार्यनुप्रवेशेन जायमानत्वात् प्रदीपादिवदित्यनुमानमित्यर्थः।

ननु वैजात्यं दुरूहमतः कथं कारणानुमानमत आह – **यस्त्विति।** द्रव्यनाशे तु समवायिनिरूपितयावत्कारणनाशजन्यनाशत्वेन निमित्तेतरकारणनाशजन्यनाशत्वेन वा कारणत्वमिति भावः। एवं सति धूमसामान्येन वह्निसामान्यानुमानं न स्यात्, धूमेऽपि वैजात्यशङ्कातादवस्थ्यादित्याह – **एवं तर्हीति।** न वा वह्न्यभावेन धूमाभावोऽनुमीयेत कारणान्तराधीनधूमसद्भावसम्भवादित्याह – **एतेनेति। व्यतिरेको** व्यतिरेकानुमानभङ्गः। **कार्येति। कार्यलिङ्गकं** कार्येण कारणानुमानम् **अनुपलब्धिलिङ्गकं** कारणानुपलब्ध्या कार्याभावानुमानमित्यर्थः।

प्रकाशः- तदाकलने तु विशेषोऽप्यनुमीयत एवेत्याह **यस्त्विति**। नन्वग्न्यवान्तरजातीये तृणादीनां कारणत्वं न युक्तम्, कारणगतैकशक्तिरूपमपहाय कार्यगतबहुतरजातिकल्पने गौरवात्। तृणादिजन्याग्निष्ववान्तरजातेर्योग्यानुपलम्भ बाधितत्वात्। यत्र च तत्तत्कारणप्रयोज्यं प्रदीपादौ वैजात्यमनुभूयते, तत्रैकशक्तिमत्त्वमपि कारणे नास्ति। अत एवानुमानमप्रयोजकम्। अथास्ति तृणादीनां फूत्कारादिसहकारिता। तत्र फूत्कारादीनां सहकारित्वं तृणत्वाद्यवच्छिन्नं प्रति स्यात्? तृणादिसाधारणैकशक्तिमन्तं प्रति वा। नाद्यः, तृणत्वाद्यवच्छिन्नस्य प्राक्कालनैयत्याभावेन कारणत्वाभावात् तत्सहकारित्वस्य दूरनिरस्तत्वात्। नान्त्यः, तृणादिवारणेरपि फूत्कारसमवहितादग्न्युत्पत्त्यापत्तेः। न च फूत्कारादिविशिष्टे तृणादौ शक्तिर्न केवल इति वाच्यम्। तस्य तृणादिभिन्नत्वे तृणादीनामजनकत्वापत्तेः। तदभिन्नत्वे च यत् तृणं फूत्कारेणोपधीयते, तत्र वा शक्तिः फूत्कारसमवधाने सति वा? नाद्यः, फूत्काराद्यसमवधानेऽपि तस्मात् तृणादेरग्न्युत्पत्त्यापत्तेः। नापरः, तथा सति सैव शक्तिस्तृणे फूत्कारादरणौ निर्मन्थनादिति शक्तावनियतहेतुकत्वापत्तेः। तत्राप्येकशक्तिमत्त्वेन हेतुत्वेऽनवस्थापत्तेरिति।

मैवम्। यथा ह्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां तृणफूत्कारयोरन्योन्यसहकारित्वं तथैव तच्छक्त्योरपि परस्परसहकारित्वेन वह्न्यनुकूलत्वम्। तथैव कार्यदर्शनात्। न तु मणिफूत्कारयोः सहकारित्वमिति, न तच्छक्त्योरपि परस्परसहकारित्वम्। कार्यविशेषात् कारणविशेषाननुमानं तु वह्निवृश्चिकादाविष्यत एव। निरूपितनियतवह्न्यादिकारणके धूमादौ अनुमानं स्यादेव। अन्यथा कार्य्यवैजात्येऽपि वह्नित्वेन धूमविशेष एव कारणत्वं, न धूममात्र इति शङ्कया तवाप्यनुमानं न स्यादिति।

मकरन्दः- ननु प्रागुक्तसहकारिनियम एव विपक्षबाधक इत्याह **अथेति**। **तदभिन्नत्वे चेति**। फूत्कारप्राक्काल एव तृणे शक्तिस्तत्समवधाने तज्जन्या वेति विकल्पार्थः। **तथैव तच्छक्त्योरपीति**। यद्यप्येवं कार्यवैजात्यमावश्यकम्। एकजातीयकार्ये सहकारिनियमानुपपत्तेः। तथापि तृणफूत्कारसम्बन्ध-तरणिकिरणमणि सम्बन्धादिष्वप्येकजातीयशक्तिमत्त्वं कारणतावच्छेदकम्। तथा च तदन्यतमसम्बन्धाभावे तृणनिर्मन्थनसमवधानेऽपि नाग्न्युत्पत्त्यापत्तिरिति भावः।

प्रकाशः– *अत्रास्मत्पितृचरणाः*। तृणारणिमणिफूत्कारादिव्यक्तीनामनन्तत्वेन प्रतिव्यक्ति भावहेतुजानित्यानन्तशक्तिस्वीकारे गौरवम्। तावदनन्तव्यक्तिजन्यानन्तवह्निव्यक्तिषु जातित्रयकल्पने लाघवमिति तदेव कल्प्यते। न च जातौ योग्यानुपलब्धिबाधः। गोमयवृश्चिकप्रभववृश्चिकयोरीषच्छ्यामत्वकपिलत्वव्यङ्ग्यवैजात्यस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात्। तृणादिजन्याग्निष्वपि तृणजन्यत्वज्ञानानन्तरं मणिजन्य व्यावृत्तानुगतबुद्धेर्जातिविषयत्वाद् बाधकाभावात्। ननु तृणादीनामग्नौ कारणत्वग्रहे शक्तिवैजात्ययोरन्यतरकल्पनम्। तद्ग्रहश्च नान्वयव्यतिरेकाभ्याम्, व्यभिचारात्। अथारणिमण्यभाववति स्तोमविशेषे तृणं विना न वह्निः तृणान्वयेऽवश्यं वह्निरित्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां, तत्रैव स्तोमे इतरकारणसमवधाने तृणान्वयेऽवश्यं वह्निरिति नियतेनान्वयेन वा रासभव्यावृत्तेन तृणादिकारणताग्रह इति चेन्न। तृणं विनापि वह्निरिति ज्ञाने सति वह्निनियतपूर्ववर्तित्वस्य कारणत्वस्य ग्रहीतुमशक्यत्वात्। अबाधिताभावग्रहे भावग्रहस्याभावात्।

मैवम्। उक्तग्राहकैर्वह्निनिष्ठकार्यतानिरूपितकारणतावच्छेदकरूपवत्त्वं तृणस्य तृणनिष्ठकारणतानिरूपितकार्यतावच्छेदकरूपवत्त्वं वह्नेर्वा अकार्यकारणव्यावृत्तं परिच्छिद्यते, न तु तृणत्वेन कारणत्वं, वह्नित्वेन कार्यत्वं वा। तच्चोभयथापि संभवति। वह्नित्वेन कार्यत्वमेकशक्तिमत्त्वेन कारणतया वा, तृणत्वेन कारणता वह्निविशेषत्वेन कार्यतया वा। तत्र च विनिगमकमुक्तमेव। एतेन मण्याद्यजन्यवह्नौ तृणादीनां हेतुत्वं गृह्यते इत्यपास्तम्। अन्योन्याश्रयाच्च। मणिजन्यत्वग्रहे हि तदजन्यत्वग्रहः, तृणजन्यत्वेन च तद्ग्रह इति। तथापि यत्र कार्ये वैजात्याभावः

मकरन्दः– तृणेति। ननूक्तगौरवेण मा भूच्छक्तिकल्पना, जातिकल्पनापि कुतः। यावता वह्न्यनुविधायित्वमेव धर्मिकल्पनात इति न्यायेनावच्छेदकमस्तु। नचेदमेव बह्निजनकत्वं, येनात्माश्रयान्नावच्छेद्यावच्छेदकत्वं, किन्त्वनन्यथा सिद्ध्यादिघटितमिति चेन्न। तदनुविधायित्वस्य सहकार्यन्तरसाधारणतया तत्सत्त्वे तृणाद्यन्यतमासत्त्वेऽपि वह्न्युत्पादापत्तेः। कारणतावच्छेदकावच्छिन्नयत्किञ्चित्सत्त्व एव कार्योत्पादनात्।

उक्तग्राहकैरिति। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां नियतेनान्वयेन चेति बहुवचनोपपत्तिः। अधिकञ्चा*नुमानप्रकाशे* प्रपञ्चितम्। **एतेनेतीति**। व्यवस्थापितजातीनामेव लाघवादवच्छेदकत्वेनेत्यर्थः। **अन्योन्याश्रयाच्चेति**। वह्नौ मणिजन्यत्वे गृहीत एव मणिजन्यवह्निभिन्नवह्नित्वेन तृणजन्यत्वग्रहः,

प्रकाशः— सामग्रीभेदश्च तत्र का गतिः? यथा द्रव्यनाशः क्वचित् प्रतियोग्याश्रयनाशात्, क्वचिदसमवायिकारणनाशात्। नचाश्रयनाशाजन्यद्रव्यध्वंसत्वावच्छिन्नं प्रत्यसमवायिनाशस्य नियतत्वात् कारणत्वग्रहः। उक्तरीत्याऽन्योन्याश्रयात्। उच्यते। निमित्तकारणेतरकारणनाशत्वेन कारणत्वम्। यद्वा, विद्यमानाश्रयद्रव्यनाशे असमवायिनाशो हेतुरेवं साऽसमवायिकारणकद्रव्यनाशे प्रतियोग्याश्रयनाशः। तथाप्युभयजन्ये द्रव्यनाशे का गतिः? आश्रयनाशाजन्यद्रव्यनाशं प्रत्यसमवायि नाशस्य हेतुत्वात्। तस्य चाश्रयनाशजन्यत्वात्। अत्राहुः। तत्रेतरसमवधाने

मकरन्दः— तृणजन्यत्वे च वह्नौ गृहीत एव तृणजन्यवह्निभिन्नवह्नित्वेन मणिजन्यत्वग्रह इत्यन्योन्याश्रयादित्यर्थः। अन्यथा वह्निमात्रस्यैव तदजन्यत्वेनोपस्थितौ वह्नित्वावच्छिन्न इतरव्यभिचारादेव हेतुत्वग्रहानुपपत्तेः। तथा च विशेषणोपादानायासोऽपि व्यर्थ इति भावः। **निमित्तकारणेति**। न चेन्धननाशादपि वह्निनाशादननुगमः। तत्रेन्धननाशाद्वह्न्यन्तरं नोत्पद्यते। पूर्ववह्निस्त्ववयव विभागन्यायेनैव नश्यतीत्युपगमात्। एवं शरीरनाशोऽपि नादृष्टनाशजन्य इत्यभ्युपगमेनेदम्। ननु निमित्तकारणत्वं समवाय्यसमवायिभिन्नकारणत्वमिति कारणत्वान्तर्भावे गौरवम्। तदनन्तर्भावे तदन्यान्यत्वमवच्छेदकं पर्यवस्यति। तच्चानभ्युपगतमिति चेन्न। तदन्यान्यनाशत्वस्यात्र तत्पर्यवसानात्। तथा च प्रतियोग्यनुगमकतया तत्प्रवेशे तद्घटितस्यावच्छेदकत्वं, न तु तस्यैव। अनभ्युपगतञ्च तदिति भावः। *केचित्तु*, एतदस्वरसादेवाह - **यद्वेति**।

तथापीति। न चाश्रयनाशे तदाश्रितद्रव्यतदसमवायिनोर्युगपदेव नाशादिदमसम्भवीति वाच्यम्। समवायिनाशसमकालं विभागाद् यत्रासमवायिनाशस्तत्र तत्सम्भवात्। **आश्रयनाशाजन्ये**त्युपलक्षणम्। असमवायिनाशाजन्यद्रव्यनाशं प्रत्याश्रयनाशस्य हेतुत्वात्, तस्य चासमवायिनाशजन्यत्वादित्यपि द्रष्टव्यम्। **तत्रेतरेति**। नचाविद्यमानो-भयकद्रव्यनाशत्वावच्छिन्ने असमवायिनाशसहितसमवायिनाशत्वेन हेतुत्वमस्तु। तथा च कथं व्यक्तिविशेषे व्यक्तिविशेषस्य हेतुत्वम्? अन्यथा अनन्तसामग्रीकल्पनापत्तेरिति वाच्यम्। तत्रैव तात्पर्यात्। नचात्राप्यन्यतरस्या-वच्छेदकत्वे विनिगमकाभावः। असमवायिनाशत्वादिना तदुभयोरपि हेतत्वादेव। अत एव सामग्रीभेदः। अन्यत्रान्यतरस्यैव हेतुत्वात्। नचात्राप्यन्तरस्यैव हेतुत्वमस्तु, कार्यतावच्छेदकभेदाच्च सामग्रीभेद इति वाच्यम्। विनिगमनाविरहेणोभयोरपि

प्रकाशः– तदुभयभावाभावाभ्यां व्यक्तिविशेषभावाभावाद्व्यक्तिविशेषं प्रति तदुभयव्यक्त्योरनन्यथासिद्धयोः कारणत्वं गृह्यते इत्येषा दिक्।

ननु कार्यवैजात्ये तृणस्य वह्निविशेष इव वह्नित्वेन धूमविशेष एव कारणत्वं, न धूममात्रे इति शङ्कया न कार्यात् कारणं क्वाप्यनुमीयेत। यदि चोपस्थितरूपे व्यभिचाराभावात्तेनैव रूपेण कार्यत्वग्रहस्तर्हि कारणतायामपि यत्रोपस्थितरूपे व्यभिचारस्तत्रैव रूपान्तरेण कारणताग्रह इति तुल्यमित्याह एवं तर्हीति। एवं वह्नेर्धूमविशेष एव प्रयोजकत्वाद् वह्निमात्रव्यतिरेकाद् धूममात्रव्यतिरेको नानुमीयेतेत्याह एतेनेति। निषेध्यतयेति शेषः। तथा चेति। विपक्षबाधकमानवेदनीयो हि स्वभावनियमो *बौद्धानाम्*। बाधकं च कार्यानुपलब्धी, ततस्तद्भङ्गे कथमनुपायकः सिद्धयेदित्यनुमानमात्रविलयात् त्रिधैव तदुपगमादित्यर्थः। तदेतद् दूषणं बीजत्वसामान्यं प्रत्यक्षसिद्धमङ्कुरे न प्रयोजकं, किन्तु तद्विशेषः

मकरन्दः– तुल्यत्वात्। वस्तुतस्तु समवायिकारणनाशाद् द्रव्यगुणकर्म्मणां नाशदर्शनात् तत्तन्नाशस्याननुगमादनुगतस्य सति सम्भवे त्यागायोगादविद्यमानाश्रयकासमवेतकार्यनाशत्वावच्छेदेनास्य हेतुत्वकल्पनाद् द्रव्यनाशेऽपि तथा। तथाच युगपत् समवाय्यसमवायिनाशयोरुत्पत्तावपि तन्निष्ठकार्यमात्रनाश एवाश्रयनाशो हेतुः। तथा च न सामग्रीभेदः। अत एव समवायिनाशस्थलेऽपि तज्जन्यासमवायिनाशस्यैव द्रव्यनाशकत्वं क्लृप्तत्वादित्यपास्तम्। गुणादिनाशे तस्यापि क्लृप्तत्वात्। किञ्चाविद्यमानाश्रयकद्रव्यनाशे आश्रयनाशो हेतुरविद्यमानासमवायिकारणकद्रव्यनाशेऽसमवायिनाशो हेतुरस्तु। तथाच क्लृप्तसामग्रीत एव प्रकृतकार्योपपत्तौ न सामग्रीभेदः। अविद्यमानता च द्रव्यनाशपूर्वक्षणे बोध्या। तेन सत्समकालाविद्यमानत्वमादाय न व्यभिचार इति *विद्वद्भिः* परिचिन्तनीयमिति। एतत् सर्वमभिसन्धायोक्तं दिगिति।।

स्वभावस्याप्यसिद्धेर्गतमनुमानेनेति चेत्, प्रत्यक्षानुपलम्भगोचरो जातिभेदो न कार्यप्रयोजक इति वदतो बौद्धस्य शिरस्येष प्रहारः। अस्माकन्तु यत्सामान्याक्रान्तयोर्ययोरन्वयव्यतिरेकवत्ता तयोस्तथैव हेतुहेतुमद्भाव-निश्चयः। तथा चावान्तरविशेषसद्भावेऽपि न नो विरोधः। किं पुनस्तार्णादौ दहनसामान्यस्य प्रयोजकम्? तृणादीनां विशेष एव नियतत्वादिति चेत्, तेजोमात्रोत्पत्तौ पवनो निमित्तम्, अवयवसंयोगोऽसमवायी, तेजोऽवयवाः समवायिनः।

आमोदः– **स्वभावस्यापीति**। तत्रापि कार्यकारणभावविलोपप्रसङ्ग एव विपक्षबाधक इति भावः। **प्रत्यक्षानुपलम्भगोचरो**ऽन्वयव्यतिरेकगोचरः। अङ्कुरतावच्छिन्नकार्यं प्रति बीजत्वेन न कारणता, किन्तु कुर्वद्रूपत्वावच्छेदेन कारणत्ववादिन इत्यर्थः। **एष प्रहार इति**। अनुमानमात्रभङ्गप्रसङ्ग इत्यर्थः। तन्मतेऽङ्कुरेण बीजानुमानं धूमेन वह्न्यनुमानञ्च न स्यात्। वह्नित्वादेस्तत्राप्रयोजकत्वात्, कुर्वद्रूपस्य च दुर्ज्ञेयत्वादिति भावः। स्वमतमुपपादयति – **अस्माकं त्विति**। बाधकाभावेन वह्नित्वधूमत्वावच्छेदेनैव कार्यकारणभावग्रहादनुमानमप्रत्यूहमेव। तृणादिस्थले तु व्यभिचारान्न सामान्यतः कार्यकारणभावग्रह इति भावः। **अवान्तरेति**। पाण्डरधूमत्वेन पालालकवह्नित्वेन कार्यकारणभावेऽपि सामान्यानुमानमिति भावः। ननु यदि तृणादीनां विशेषेष्वेव कारणता तदा वह्नित्वमाकस्मिकं स्यादित्याह – **किं पुनरिति**। तथा च वह्निसामान्येन कस्यापि कारणस्याप्यनुमानं न स्यादिति भावः। अस्तु तावद्वह्निसामान्यप्रयोजकनिर्वचनम्। तद्व्यापकव्याप्यधर्मावच्छिन्नस्यापि कारणं निर्वक्तुं शक्यत इति प्रौढ़िवादेनाह **तेजोमात्रोत्पत्ताविति**। कार्यतेजोमात्रेत्यर्थः। प्रदीपादौ पवनस्य कारणता गृहीतैव, निर्वाते दीपनिर्वाणदर्शनात् 'यद्विशेषयो'रिति न्यायात् सर्वत्रैव जन्यतेजसि पवनः कारणमिति

प्रकाशः– कुर्वद्रूपत्वमतीन्द्रियमिति वदतो *बौद्धस्य, नास्माकमित्याह* **प्रत्यक्षेति**। अप्रामाणिकबीजकुर्वद्रूपत्ववदप्रामाणिक एव कार्यविशेषो यस्य कारणविशेषापेक्षेति *बौद्धस्य* दोष इत्यर्थः। अस्माभिस्त्वप्रामाणिको विशेषो नोपेयत इति भावः। **अस्माकं त्विति**। यत्र कारणसामान्यं कार्यसामान्ये व्यभिचारि दृश्यते, तत्रैव विशिष्य कारणताग्रहः। यत्र तु स न दृश्यते तत्रोपस्थितसामान्येनैव कार्यकारणताग्रहः। यदि च तृणादिवद्वह्निविशेषाद् धूमविशेषः स्यादित्युच्यते, तदा नेदमनिष्टमित्यर्थः।

ननु, कार्यकारणभावग्रहो न तावद्व्यक्त्योरेव। स हि व्यक्तिमात्रमपेक्ष्य? तद्विशेषं वा?। नाद्यः। घटो यदि यावत्पटजातीयापेक्षणीयापेक्षः स्यात् पटजातीयः स्याद्, घटजातीयो न स्यादित्यत एव बाधकात्। विशेषोऽपि पूर्ववर्त्तित्वमात्रं वा? तत्तद्व्यक्तित्वं वा?। नाद्यः। यावत्पटादिजनकजन्यत्वे घटादिव्यक्तीनाम भेदाद्वैजात्यापत्तेः। रासभादिसाधारण्याच्च। अत एव नान्त्यः। व्यक्त्योरेव कार्यकारणभावे पूर्वं तदनिश्चये प्रवृत्त्याद्यनुपपत्तेश्च। नापि जात्यपेक्षया। भक्षितविनष्टबीजादिव्यक्तिष्वप्यापत्तेः। न चेष्टापत्तिः। तस्य सर्वथा

प्रकाशः– कार्याजननाच्छिलाशकलतुल्यत्वात्। मैवम्। बीजादिव्यक्तीनामेव बीजत्वादिना सामान्येनानन्यथासिद्धान्वयव्यतिरेकवत्त्वेन कारणत्वात्। क्वचित् कार्यव्यतिरेकञ्च सहकारिवैकल्यात्। अत एव शिलाशकलवैषम्यम्। न हि यस्मिन् सति कार्यं भवत्येव तत्कारणम्, अपि तु यस्मिन् सत्येव भवति। एतच्च भक्षितविनष्टेऽपि सामान्यतोऽस्त्येव। न च सामान्येनापि रूपेण या व्यक्तिः कार्यं जनयत्येव सा कारणं न त्वन्येति वाच्यम्। यागादौ बहुवित्तव्ययायाससाध्ये यागत्वसत्त्वेऽपि किमियं व्यक्तिः स्वर्गजनिका न वेति संशये प्रवृत्त्यभावापत्तेः। यदि सा पापव्यक्तिर्न जनिका, तदा कृतेऽपि प्रायश्चित्ते नरकं जनयिष्यत्येव। अन्यथा तु प्रायश्चित्तं विनापि न नरकमित्युभयथापि प्रायश्चित्ते प्रवृत्त्यनुपपत्तेश्चेति। **किं पुनरिति**। दहनगतं सामान्यं **दहनसामान्यं** तेजस्त्ववह्नित्वादि। तेन **नोत्तरविरोधः**। **तृणादीनामिति**। तथा च सामान्यमाकस्मिकं स्यादिति भावः। **तेजोमात्रेति**। तेजः पदं कार्यतेजःपरम्। न च सूर्यालोके व्यभिचाराद् न पवनस्तेजोमात्रे निमित्तमिति वाच्यम्। निर्वातस्थितस्य दीपस्य वातं विना नाशदर्शनेन तत्र पवननिमित्तकत्वनिश्चयादन्यत्रापि तेजस्त्वेन पवनजन्यत्वानुमानात्। न च वह्नित्वमुपाधिः। तैजसशरीरस्य पाञ्चभौतिकत्वेन पवनजन्यतया तत्र साध्याव्यापकत्वात्।

मकरन्दः– उभयत्र व्यक्तिमात्रापेक्षित्वेन यावत्पटापेक्षणीयापेक्षित्वं घटस्य बोध्यम्। एवं पूर्ववर्त्तिमात्रापेक्षित्वेन यावत्पटादिजनकजन्यत्वं घटादेर्बोध्यम्। **अत एवेति**। रासभादिसाधारण्यादेवेत्यर्थः। **यस्मिन् सत्येवेति**। यद्धर्मावच्छिन्ने सत्येव सहकारिसमवधानात् कार्य्यं भवति तदवच्छिन्नं कारणमित्यर्थः। तदिदमाह **सामान्यत इति**। यागादौ बहुवित्तव्ययायाससाध्ये फलावश्यम्भावनिश्चये सत्येव प्रवृत्तेरिष्टापत्तिरिति यदि ब्रूयात्, तदा दोषान्तरमाह **यदि सेति**। नचाजनकव्यक्तेरपि तज्जातीयतया द्वेषात्तन्नाशार्थं प्रवृत्तिरिति वाच्यम्। दुःखाजनकत्वे द्वेषस्याप्यभावात्, निष्प्रयोजने द्वेषमात्रात् कृतेरनुत्पत्तेश्चेति भावः। **निर्वातस्थितस्येति**। ननु नैतावता कारणत्वम्, न हि कारणाभावेन कार्यध्वंसः, किन्त्वनुत्पाद इति चेन्न। नाशपदेन प्रवाहानुत्पादेनात्यन्तोच्छेदस्य विवक्षितत्वात्। तथा चाऽऽशुनाशितया पूर्व प्रदीपनाशेऽपि वातं विनाऽग्रिमतदनुत्पादादित्यत्र तात्पर्यम्।

तेजस्त्वेन कार्यतेजस्त्वेन। **न चेति**। न च पवनध्वंसादिषु साध्याव्याप्तिः। साधनावच्छिन्नसाध्यव्यापकत्वादिति भावः। अत एवाह **तैजसेति**।

इयमेव सामग्री गुरुत्ववद्द्रव्यसहिता पिण्डितस्य। इयमेव तेजोगतमुद्भूतस्पर्शमपेक्ष्य दहनं, तत्रापि जलं प्राप्य दिव्यं, पार्थिवं प्राप्य भौमम्, उभयं प्राप्यौदर्यमारभत इति स्वयमूहनीयम्।

तथाप्येकमेकजातीयमेव वा किञ्चित्कारणमस्तु, कृतं विचित्रेण। दृश्यते ह्यविलक्षणमपि विलक्षणानेककार्यकारि। यथा प्रदीप एक एव तिमिरापहारी, वर्तिविकारकारी, रूपान्तरव्यवहारकारीति चेन्न, वैचित्र्यात्कार्यस्य।६।

आमोदः– भावः। अस्तु तावद्वह्निसामान्यप्रयोजकनिर्वचनम्। तद्व्यापकव्याप्यधर्मावच्छिन्नस्यापि कारणं निर्वक्तुं शक्यत इति प्रौढिवादेनाह **तेजोमात्रोत्पत्ताविति**। कार्यतेजोमात्रेत्यर्थः। प्रदीपादौ पवनस्य कारणता गृहीतैव, निर्वाते दीपनिर्वाणदर्शनात् 'यद्विशेषयो'रिति न्यायात् सर्वत्रैव जन्यतेजसि पवनः कारणमिति भावः। गुरुत्ववद्द्रव्यमुपष्टम्भकपार्थिवपिण्डितसुवर्णं, **दिव्यं** विद्युदादि, **भौमं** भौमेन्धनप्रभवम्, **उभयं** जलं पार्थिवञ्चेति। **एकमिति** ***वेदान्तिमतं***, तेषां ब्रह्मैवैकं प्रपञ्चस्य कारणं किमीश्वरेण। **एकजातीयमिति**। एका प्रकृतिर्नानापुरुषोपरागाद्भिन्ना, प्रकृतेरैक्याच्चैकजातीया, सकलभूतभौतिककारणं, किमीश्वरेणेति *सांख्याः*। विशिष्टभेदेऽप्यविशिष्टैक्यादेकजातीयत्वमित्यर्थः। तेषां नानापुरुषोपरक्तप्रकृतेरेव कारणत्वमिति भावः। अत्र दृष्टान्तमाह – **यथेति**। तिमिरमत्र तेजःप्रागभावः, तदपहारी तन्नाशकः। दीपेन तेजःप्रागभाव-विनाशरूपतेजोऽन्तरजननात्। वर्तिविकारो भस्मीभावो रूपपरावृत्तिर्वा, रूपान्तरं घटादिस्वरूपं, तद्व्यवहारी तत्साक्षात्कारजनक इत्यर्थः। **वैचित्र्यात् कार्यस्येति**। विचित्रं कार्यं विचित्रकारणनियम्यं, न त्वेकस्मादेकजातीयाद्वा कारणान्निर्वहतीति भावः।।६।।

प्रकाशः– *आगमोऽप्यत्रास्त्येवेत्येके*। पवनोत्कर्षेण बह्न्युत्कर्षदर्शनात्। तेजोमात्रे तस्य निमित्तत्वं न वह्निमात्रे, सामान्यस्य सामान्यं प्रति प्रयोजकत्वे विशेषस्योपाधितायामतिप्रसङ्गादि*त्यन्ये*। **पिण्डितस्य** सुवर्णस्य। **दिव्यमिति** दृष्टान्तार्थम्। तत्राप्रश्नात्। एतावता कारणमात्रे सिद्धेऽपि सापेक्षत्वादित्यत्र सिद्धसाधनं शङ्कते **तथापीति**। **एकमिति** *त्रिदण्डिमत*समुत्थानम्। तेषां ब्रह्मण एव सकलकारणत्वात्। एकजातीयमिति *साङ्ख्यमतम्*। तेषां पुरुषाणां भेदात् प्रतिपुरुषं च महत्तत्वानां

मकरन्दः– आगमोऽपीति। 'ज्योतिरुत्पद्यते वायो' रित्यादि*विष्णुपुराणरूप*इत्यर्थः। यद्विशेषयोरिति न्यायात्तावता वह्निसामान्यमात्रे तद्धेतुत्वं सिद्ध्यति, न तु तेजोमात्रे। अन्यथा द्रव्यमात्र एव तदापत्तेरित्यनुशयादाह **अन्य इति। दिव्यमितीति**। यद्यपि दिव्यस्यापि दहनतया तद्गतसामान्यमपि प्रश्नविषयः, तथापि तार्णाऽऽदिदहनसामान्यस्य प्रश्नविषयत्वादस्यातथात्वमित्याशयः। यद्यप्येवं पिण्डितस्येत्यप्ययुक्तं,

एकस्य न क्रमः क्वापि वैचित्र्यञ्च समस्य न।
शक्तिभेदो न चाभिन्नः स्वभावो दुरतिक्रमः।।७।।

न तावदेकस्मादनपेक्षत्वादनेकम्। अक्रमात् क्रमवत्कार्यानुपपत्तेः। क्रमवत्तावत्कार्यकारणस्वभावत्वात्तस्य तत्तथा यौगपद्यवदिति चेत्। अयमपि क्षणभङ्गे परिहारो, न तु सहकारिवादे। पूर्वपूर्वानपेक्षायां क्रमस्यैव व्याहतेः। क्रमनियमे त्वनपेक्षानुपपत्तेः।

आमोदः– तदुपपादयति – **एकस्येति। न क्रमो** न क्रमकारित्वमित्यर्थः। **वैचित्र्यञ्चेति।** विचित्रकार्यजनकत्वमित्यर्थः। **समस्य** एकस्य एकजातीयस्य वा **शक्तिभेदोऽपि** कार्यवैचित्र्यनियामकेनोपपद्यते। हेत्वर्थौ स यतो धर्म-धर्मभेदादभिन्न एव, एकस्य एकजातीयस्य वा स्वभावादेव कार्यवैचित्र्यं स्यादित्यपि न, दहनजनकस्वभावश्चेत्, कथमदहनं जनयेत्, **स्वभावस्य दुरतिक्रमत्वादित्यर्थः।**

अनपेक्षत्वात् स्वभावनिरपेक्षत्वात्। **अक्रमात्** अक्रमकारिणः। **क्रमवदिति।** एकस्यैव क्रमवद्कार्यजननस्वभावत्वात् तत्कार्यं तथा क्रमवदित्यर्थः। **यौगपद्यवदिति** सप्तम्यन्ताद्वतिः। यथा यौगपद्ये युगपत् कार्यजनने सामर्थ्यं तथेत्यर्थः। **क्षणभङ्ग इति।** तन्मते समर्थस्य क्षेपायोगेन एकदैव तावत्कार्यकारित्वं सम्भवति ब्रह्मवत्, क्षणिकं त्वया नाभ्युपगम्यते किन्तु स्थिरं, तस्य च क्रमवत्कार्यजननं क्रमवत्सहकारिसापेक्षमित्यर्थः। **केचित्तु** अयं परीहारः क्षणभङ्गवादे वै क्रमते, स्वभाववाद इति यावत्, न तु सहकारिवादे। स्थिरपक्षे स्वभावस्य धर्म्यभिन्नत्वे क्रमवत्कार्यानुपपत्तिः। धर्म्यभिन्नत्वे तस्यैवापेक्षायां नैकमेव ब्रह्मस्वरूपं कारणनिरपेक्षमित्यर्थ इत्याहुः। स्वभाववादस्य निरस्तत्वे सहकार्यनपेक्षायां दोषमाह – **पूर्वपूर्वेति।** आगन्तुक इत्यर्थः। यदि कार्याणि स्वपूर्ववर्त्यागन्तुककारणानपेक्षाणि स्युः, क्रमवन्ति न स्युः। क्रमवन्ति च तस्मादागन्तुककारणानपेक्षाणीत्यर्थः। **क्रमस्यैवेति।** त्वयाभ्युपगन्तुं न शक्यते क्रम इत्यर्थः। ननु मया क्रमोऽभ्युपगम्यते, सापेक्षत्वं तु कारणस्य वाभ्युपगम्यत इत्यत आह – **क्रमनियमे त्विति।** अनपेक्ष्यानुक्तत्वादिति भावः।

प्रकाशः–भेदेऽपि प्रकृतिविकारत्वात्। प्रकृतेश्चैकत्वादेकजातीयत्वात्। तथाच कारणस्यैकव्यक्तित्वेनैकजातीयत्वेन वा नेश्वरसिद्धिरस्मदादिनापि तद् द्रष्टुं शक्यत्वादिति प्रकृतसङ्गतिः। न चाविचित्राद् कारणाद्विचित्रं कार्यमदृष्टचरमित्याह **दृश्यते हीति। तिमिरमालोकाभावः। तदपहार** आलोकः। **तत्कारी** दीपः

प्रकाशः– पिण्डितरूपः। रूपान्तरं घटादिरूपम्। प्रदीपे च न स्वरूपभेदसहकारिभेदावित्यर्थः। तथा च तद्दृष्टान्तेनान्येषामपि विचित्रकार्याणामविचित्रकारणजन्यत्वमनुमेयमिति भावः न **वैचित्र्यादिति**। दृष्टान्तेऽपि अविचित्रकारणजन्यत्वमसिद्धमिति भावः।६।

एकस्येति। एकस्य कारणस्य सम्बन्धी न क्रमः कार्याणाम्। समस्यैकजातीयस्य च कारणस्य सम्बन्धि न वैचित्र्यं कार्याणाम्। शक्तिवशेषो न कार्यवैचित्र्यहेतुः, धर्म्यभिन्नो यतः। चो हेत्वर्थे विचित्रकार्यजननस्वभावादपि कार्यवैचित्र्यमुपपाद्यम्। एकत्र कार्ये यत्स्वभावो जनकस्तदितरकार्यजननेऽपि तत्स्वभावो वाच्यः। अन्यथैकस्य स्वभावभेदादेकत्वादिहानिप्रसङ्ग इत्येक स्वभावजन्यत्वेन विजातीयकार्याणामप्यैकजात्यं स्यादित्यर्थः। **अक्रमादिति**। क्रमप्रयोजकसहकारिविधुरादित्यर्थः। **क्रमवदिति**। सहकारिविरहेऽपि क्रमिककार्यार्जनशीलत्वादक्रमस्यापि क्रमिककार्यजनकत्वं स्यादित्यर्थः। **यौगपद्यवदिति** सप्तमीसमर्थाद्वतिः। यथा कार्ययौगपद्ये अयुगपत्स्वभावोऽपि दीपः कारणमेवमक्रमोऽपि क्रमिककार्य्येषु कारणं स्यादित्यर्थः। **तत्**–कार्यम्। **तथा**– क्रमवदित्यर्थः। **अयमपीति**। समर्थस्य विलम्बानुपपत्तेरनेकानि क्रमिकाणि कार्याण्युत्पत्त्यन्तरमेव कुर्यादित्यत्र समर्थोऽपि न तथा, क्रमवत्तावत्कार्यकरण स्वभावस्योत्पादादिति न विरुद्धधर्माध्यास इति क्षणभङ्गपक्षे परिहारः सम्भवी। स्थैर्य्यपक्षे तु क्रमिकसहकार्यपेक्षां विना तादृशः स्वभाव एव न स्यादित्यर्थः।

मकरन्दः– तत्राप्यप्रश्नात्। तथापि तदपि दृष्टान्तार्थमेव। एवञ्च पिण्डितस्य सुवर्णस्य दिव्यमिति दृष्टान्तार्थमि*त्येकग्रन्थो* बोध्यः। दिव्यमितीत्युपलक्षणम्, उदर्यस्यापि दृष्टान्तत्वमि*त्येके*। तार्णपदस्य पार्थिवेन्धनदहनपरतया तत्र प्रश्न एवे*त्यन्ये*।।६।।

प्रवृत्तेश्चेति। तथा चैकप्रकृतिविकारत्वान्महत्तत्त्वादीनामेक जातीयत्वमित्यर्थः। **तद् द्रष्टुमिति**। तदित्यव्ययं षष्ठ्यन्तम्। तेन, तस्य द्रष्टुं शक्यत्वादित्यर्थः।

ननु तिमिरं तेजोऽभावः, तदपहार एव प्रदीपो, न तु तत्कारी, अभेदे जन्यजनकभावानुपपत्तेरित्यत आह **तिमिरमिति**। तथा च व्यक्तिभेदमादायाविरोध इति भावः। प्रदीपे चेत्यापाततः। अत एव दूषयति **दृष्टान्तेऽपीति**। एकस्य कारणस्य क्रमो न पराभ्युपगतोऽपीत्यनाक्षिप्तसमाधानमिति पूरयित्वा व्याचष्टे **एकस्येति**। एवमग्रेऽपि। अक्रमादपि नित्यात् कालादेः क्रमेण कार्याणीत्यत आह– **क्रमप्रयोजकेति** यथाश्रुते वैयधिकरण्यादाह **अत्र चेति**। **नाप्रसिद्धिरित्युपलक्षणं**, नापि वैयधिकरण्यमित्यपि द्रष्टव्यम्।।७।।

प्रकाशः– पूर्वपूर्वक्रमिककार्यानपेक्ष उत्तरकार्योत्पादः? तत्सापेक्षो वा?। आद्ये, **पूर्वेति**। विलम्बे हेत्वभावादित्यर्थः। अन्त्ये, **क्रमेति**। तस्यैव द्वितीयस्य कारण स्यापेक्षणादित्यर्थः। एकजातीयं कारणं दहनजनकैकस्वभावं वा? अदहनजनकैकस्वभावं वा? उभयजनकस्वभावं वा?।

नाप्यनेकमविचित्रम्। यदि ह्यन्यूनमनातिरिक्तं वा दहनकारणमदहनस्यापि हेतुर्नासावदहनो दहनो वा स्यादुभयात्मको वा स्यात्। न चैवम्, शक्तिभेदादयमदोष इति चेन्न। धर्मिभेदाभेदाभ्यां तस्यानुपपत्तेः। असङ्कीर्णोभयजननस्वभावत्वादयमदोष इति चेन्न। न हि स्वाधीनमस्यादहनत्वम्, अपि तु तज्जनकस्वभावाधीनम्। तथा च तदायत्तत्वाद्दहनस्यापि तत्त्वं केन वारणीयम्? न हि तस्मिञ्जनयितव्ये नासौ तत्स्वभावः। तस्माद्विचित्रत्वात्कार्यस्य, कारणेनापि विचित्रेण भवितव्यम्। न च तत्स्वभावतस्तथा। ततः सहकारिवैचित्र्यानुप्रवेशः। न तु क्षणोऽपि तदनपेक्षस्तथा भवितुमर्हतीति।७।

आमोदः– ज्ञानकारणादन्यूनकारणं मुखं(?)न तु ज्ञानजाती(?)मत उक्तम् – **अनतिरिक्तमिति। अदहनो** दहनान्योन्याभाववान् घटादिः। तथा च घटो यदि यावद्दहनजनकजन्यः स्याद्, दहनान्योन्याभाववान्न स्यात्। **दहनो वा स्यादिति।** दहनत्वजातिमान् स्यादिति प्रकारभेदेनापादनद्वयम्। ननु दहनजनकस्वभावं यत् तत् कथमदहनं जनयेदित्यत आह – **उभयात्मक इति**। यथा तद् दहनजनकस्वभावं तथाऽविशेषाद्दहनजननस्वभावमपीत्युभयात्मकत्वमेव तज्जन्यं स्यादित्यर्थः। तथा च दहनो यद्यदहनजननस्वभावजन्यः स्यादहनः स्यादित्युभयात्मकत्वापादनम्। त्रयाणामपि तर्काणां विपर्ययपर्यवसानमाह – **न चैवमिति। अयमदोष इति।** कार्यवैचित्र्यप्रसङ्गरूप इत्यर्थः। **धर्मीति**। धर्मी यद्यभिन्नस्तदा तदधीना शक्तिरप्यभिन्नैव। यदि भिन्नस्तदा तद्भेदादेव कार्यभेदोपपत्तेः, किं शक्तिभेदकल्पनयेत्यर्थः। **असङ्कीर्णेति**। एकस्य एकजातीयस्य वा कारणस्यायमेव स्वभावो यदनेन दहनमदहनञ्च जननीयमित्यर्थः। **न हीति**। दहनजनन-स्वभावस्याप्यदहनस्वाभाव्यनिवृत्तेर्न कार्यभेदः। न वैकस्य कारणस्य विरुद्धोभयस्वाभाव्यमित्यर्थः। उपसंहरति – **तस्मादिति**। ननु कार्यं कारणं वा स्वभावादेव विचित्रमस्तु, किं सहकारिवैचित्र्येणेत्यत आह – **न चेति। तदिति।** कार्यकारणं चेत्यर्थः। सहकारिभेदं विना तदुभयमप्यनुपपन्नमित्यर्थः। ननु विचित्रकार्यकुर्वद्रूप एव क्षणः स्वलक्षणानि विचित्राणि कार्याणि कुर्यादित्याह – **न त्विति।** *बौद्धमतेऽपि* तथोत्पन्नसहकारिवैचित्र्याधीनमेव कार्यवैचित्र्यमित्यर्थः। एतेन *सांख्यवेदान्तबौद्धमतं* निरस्तमिति भावः।।७।।

अस्तु दृष्टमेव सहकारिचक्रं, किं पुनरपूर्वकल्पनयेति चेन्न। **विश्ववृत्तितः-**

विफला विश्ववृत्तिर्नो न दुःखैकफलापि वा।
दृष्टलाभफला नापि विप्रलम्भोऽपि नेदृशः॥८॥

प्रकाशः- आद्ये दोषमाह **नासाविति**। कारणाभावादित्यर्थः। भवन् वा दहनात्मको भवेदित्याह **दहनो वेति**। इतरदहनवत्तद्धेतुस्वभावप्रसूतत्वादित्यर्थः। दहनजनकैकस्वभावस्य अदहनजनकत्वे व्याघातोऽपीति भावः। द्वितीये तु यथाव्याख्यातवैपरीत्यं फक्किकार्थः। नाऽसौ दहनोऽदहनो वा स्यादिति, कृत्वा। तृतीये, **उभयात्मक इति**। अत्र च पटो यदि यावद्दहनजनकजन्यः स्यात् पटो न स्याद्, दहनो वा स्यादित्यदहनदहनत्वयोरापादनम्। दहनो वा यदि तथा स्याद् दहनः स्यादित्युभयापादनमिति नाप्रसिद्धिः। ननु, दहनजनकस्यैव धर्मभेद-मुपादायादहनजनकत्वान्नोक्तदोष इति शङ्कते **शक्तिभेदादिति**। स धर्मभेदो न धर्म्यभिन्नः, तथा सति धर्मिणोऽभिन्नत्वात्तदभिन्नस्य शक्तिरूपधर्मस्य भेदानुपपत्तेः। नापि धर्मिभिन्नः तस्यैव कारणान्तरत्वे प्रतिज्ञातैकजातीयकारणत्वव्याघातापत्तेः। नापि धर्मिणो भिन्नाभिन्नो, विरोधादिति परिहरति **धर्मिभेदाभेदाभ्यामिति**। परस्परविलक्षणानेकजनकस्वभावस्य कारणत्वमिति नोभयात्मकत्वमेकस्येत्याह **असङ्कीर्णेति**। जनितादहनस्य दहनेऽपि जनयितव्ये अदहनजनकस्वभावत्व मनुवर्त्तते न वा? आद्ये, **न हीति**। **अस्य** अदहनत्वेनाभिमतस्य। अन्त्ये पुनरेकजातीयकारणव्याघातः। तस्यैवादहनजनकस्वभावत्वमतिक्रम्य स्वभावान्तरेण दहनजनकत्वादिति भावः। **तथा चेति**। दहनो यद्यदहनजनकस्वभावजन्यः स्याददहनः स्यादिति। एवं विपरीतमप्यापाद्यमित्यर्थः। विचित्रकार्याणां विचित्रकारणजन्यत्वे प्रत्यक्षानुमाने प्रमाणमुपसंहरन्नेवाह **तस्मादिति**। ननु स्वरूपमेव विचित्रमस्तु कृतं सहकारिवैचित्र्येणेत्यत आह **न चेति**। ननु सहकारिवैचित्र्यानुप्रवेशं विनैव यथोत्पन्नक्षणस्वरूपमुपादाय कार्यवैचित्र्यमुपपत्स्यत इत्यत आह **न त्विति**। **तदनपेक्षः** सहकार्यनपेक्षः। **तथा** विचित्रकार्यार्जकः। *बौद्धमते* सहोत्पन्नविचित्रसहकारिसहितस्यैव विचित्रकार्यजनकत्वादित्यर्थः। तदेवं विलक्षणसामग्री विचित्रकार्यजनिकेति प्रसाधितम्॥७॥

सम्प्रति दृष्टकारणमेलकात्मिकैव सा तथा, तदधिष्ठानं चास्मदादिभिरेव शक्यमिति पुनरपि सिद्धसाधनमित्याक्षिपति **अस्त्विति**। **विश्ववृत्तितः** विश्वेषां

यदि हि पूर्वपूर्वभूतपरिणतिपरम्परामात्रमेवोत्तरोत्तरनिबन्धनं, न परलोकार्थी कश्चिदिष्टापूर्तयोः प्रवर्त्तेत। न हि निष्फले दुःखैकफले वा कश्चिदेकोऽपि प्रेक्षापूर्वकारी घटते, प्रागेव जगत्। लाभपूजाख्यात्यर्थमिति चेत्, लाभादय एव किन्निबन्धनाः? न हीयं प्रवृत्तिः स्वरूपत एव तद्धेतुः। यतो वानेन लब्धव्यं, यो वैनं पूजयिष्यति। स किमर्थम्? ख्यात्यर्थमनुरागार्थञ्च। जनो दातरि मानयितरि च रज्यते। 'जनानुरागप्रभवा हि सम्पद' इति चेन्न। नीतिनर्मसचिवेष्वेव तदर्थं दानादिव्यवस्थापनात्। त्रैविद्यतपस्विनो धूर्तबका एवेति चेन्न। तेषां दृष्टसम्पदं प्रत्यनुपयोगात्। सुखार्थं तथा करोतीति चेन्न, नास्तिकैरपि तथाकरणप्रसङ्गात्, सम्भोगवत्। लोकव्यवहारसिद्धत्वादफलमपि क्रियते, वेदव्यवहारसिद्धत्वात् सन्ध्योपासनवदिति चेद्, गुरुमतमेतन्न तु गुरोर्मतम्। ततो नेदमनवसर

आमोदः– अस्त्विति। विचित्रकार्यजनकमिति शेषः। किं पुनरिति। तथा च 'तदधिष्ठातृत्वेन नेश्वरसिद्धि'रिति रहस्यम्। **विश्वेषां वृत्तितो** यागदानस्नानादौ प्रवृत्तेरवश्यं कल्पनीयमित्यर्थः। यागादिप्रवृत्तेरन्यथासिद्धिं निरस्यति – **विफलेति।**

ननु भूतान्येव चेतनान्येव चेतनानि, तान्येव वासनापरिपाकवशात्तथा परिणमन्ति यथा उत्तरोत्तरशरीरनिष्पत्तिर्भोगव्यवस्था च स्यात्, किमपूर्वेणेत्यत आह – **यदि हीति। इष्टं** यागादि, **पूर्तं** खातादि। **प्रागेवेति** निपात-समुदायोऽसम्भावनावाची। तेन जगत्प्रवृत्तिरसम्भावितेत्यर्थः। यद्वा प्रागेव दूरत इत्यर्थः। **किन्निबन्धना इति।** धार्मिकत्वज्ञानं तत्रापि निबन्धनमिति भावः। एतदेवाह – **न हीयमिति।** तथा च न वापि कृष्यादिप्रवृत्तिवद् यागादिप्रवृत्तिप्रसङ्ग इत्यर्थः। **स किमर्थमिति।** तस्यापि धर्म एवोद्देश्य इत्यर्थः। **ख्यात्यर्थमिति।** असौ दाता विनीतश्चेति ख्यातिः, तन्निबन्धनश्चानुरागः। तस्यापि फलमाह – **जनानुराग इति। नीतिसचिवो** मन्त्री, **नर्मसचिवः** क्रीड़ासचिवः। **व्यवस्थापनादिति।** धर्मशास्त्र इत्यर्थः। ननु प्रतारणार्था तपस्यादौ प्रवृत्तिर्न धर्मार्था इत्याशङ्कते – **त्रैविद्येति।** त्रिवेदीवेदिनस्त्रैविद्याः त्रैविद्याश्च ते तपस्विनश्चेति ते तथा। **अनुपयोगादिति।** धूर्तताया इति शेषः। **सुखार्थमिति।** धूर्ततायाः सुखमेव किञ्चिदुत्पद्यत इत्यर्थः। एवञ्च भोजनादिवत्तवापि तपस्यादौ प्रवृत्तिः स्यादित्याह – **नास्तिकैरिति। सन्ध्योपासनवदिति।** सन्ध्योपासनादावपि फलश्रुतेर्निष्फले प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यनुप-पत्तेरिति भावः। **गुरुमतमिति। गुरोः** प्रभाकरगुरोर्मतं, न त्वस्मद्गुरोरपीत्यर्थः।

प्रकाशः– लोकानां वृत्तेः प्रवृत्तेरदृष्टं सिद्ध्यतीत्यर्थः। तदेव प्रपञ्चयति **विफलेति**। भूतचैतन्ये भूतानामेव परिणतिभेदाद्वासनात एवोत्तरकार्यमिति न परलोकसिद्धिरित्यत्र दोषमाह–**यदि हीति**। **इष्टं** यागादि। **पूर्त्तं** तडागादि। **न हीति**। बलवदनिष्टाननुबन्धीष्ट-साधनताज्ञानजन्यत्वात् प्रवृत्तेरिति भावः। **प्रागेवेति** निपातसमुदायोऽतिशयार्थः। **लाभेति**। तथा च दृष्टेष्टसाधनताज्ञानादेव तत्र प्रवृत्तिर्न पारलौकिकेष्टसाधनताज्ञानादिति भावः। **न हीति**। चिरातीतायामेव यागादिक्रियायां लाभाद्युत्पादादिति भावः। यद्वा, स्वरूपतो लाभादिहेतुत्वे, नास्तिकैरपि तत्करणप्रसङ्गादिति भावः। **यतो वेति**। लाभाद्युद्दिश्य यागादौ प्रवर्त्तमानाय परेण धनदानमदृष्टार्थमेवेति तत्सिद्धिरित्यर्थः। **ख्यात्यर्थमिति**। दृष्टार्थमेव तद्दानमिति नादृष्टमुद्देश्यमिति भावः।

नीतिनर्मेति। राजादिभिः प्रयोजनमुद्दिश्यैव दानाद्वनस्थतपस्विभ्यः प्रयोजनाननुसन्धानेन दानाभावादित्यर्थः। **त्रैविद्येति**। त्रिवेदीविदोऽपि तपस्विनः परप्रतारणार्थं तपसि प्रवर्तन्त इत्यर्थः। **तेषामिति**। दृष्टप्रयोजनमुद्दिश्यैव परप्रतारणात् तेषाञ्च दृष्टे निस्पृहत्वात् तदसम्भवः। प्रच्छन्नमपि परोपनीतधननिः–स्पृहैस्तपःकरणादित्यर्थः। **वेदेति**। सन्ध्योपासनमकरणे निन्दोपदेशात् प्रायश्चित्तोपदेशाच्च नित्यम्। नित्ये च यदि फलार्थिनः प्रवृत्तिः स्यात् तदा यागवन्नित्यताभङ्गप्रसङ्ग इत्यफलैव तत्र प्रवृत्तिः। कार्यताज्ञानं हि तत्र प्रवर्तकम्, तच्च लोके पाकादाविष्टसाधनताज्ञानात् कार्यतानुमित्या निर्वहति। वैदिके च नित्ये कार्यताज्ञानं वेदाधीनमिति किमिष्टसाधनताज्ञानेन। न च नित्यापूर्वमेव फलं, तथापि नित्यताभङ्गात्। काम्यस्थले धर्मिग्राहकमानात् काम्यसाधनत्वेनैव सिद्धेर्गौणप्रयोजनतया स्वतःप्रयोजनत्वाभावाच्च लोके प्रवृत्ताविष्टज्ञानान्वयव्यतिरेकाविष्टसाधनताज्ञानजननद्वारा कार्यताज्ञान एवोपक्षीणमिति फलज्ञानं न प्रवृत्तिहेतुः। न चान्यत्राऽपि निष्फले प्रवृत्तिप्रसङ्गः। वेदस्येष्टसाधनत्वस्य वा लिङ्गस्य

मकरन्दः – भूतचैतन्य इति। भूतस्य शरीरादेर्भस्मीभावादात्मनश्चानङ्गीकारात् कस्य परलोक इति न तत्सिद्धिरित्यर्थः। **चिरेति**। तथा च तद्धेतुत्वमप्यदृष्टद्वारैव स्यादिति भावः। **दानाभावादिति**। दानाभावापत्तेरित्यर्थः। दृष्टप्रयोजनस्य तत्राभावाददृष्टस्य चानभ्युपगमादिति भावः। निष्फलत्वेऽपि तत्र प्रवृत्तिमुपपादयति **सन्ध्योपासनमिति। काम्यस्थल** इति। अपूर्वस्येति शेषः। तथाच तद्वन्नित्यापूर्वस्यापि न स्वतः प्रयोजनत्वमिति भावः।

एव वक्तुमुचितम्। वृद्धैर्विप्रलब्धत्वाद् बालानामिति चेन्न। वृद्धानामपि **प्रवृत्तेः। न च** विप्रलम्भकाः स्वात्मानमपि विप्रलभन्ते। तेऽपि **वृद्धतरैरित्येवमनादिरिति चेत्, न तर्हि** विप्रलिप्सुः कश्चिदत्र, यतः **प्रतारणशङ्का स्यात्। इदं प्रथम एव कश्चिदनुष्ठायापि धूर्तः** परानुनुष्ठापयतीति **चेत्, किमसौ सर्वलोकोत्तर एव,** यः सर्वस्वदक्षिणया सर्वबन्धुपरित्यागेन **सर्वसुखविमुखो ब्रह्मचर्येण तपसा श्रद्धया वा** केवलपरवञ्चनकुतूहली **यावज्जीवमात्मानमवसादयति। कथञ्चैनमेकं प्रेक्षाकारिणोऽप्यनुविदध्युः। केन वा चिह्नेनायमीदृशस्त्वया लोकोत्तरप्रज्ञेन** प्रतारक इति निर्णीतः? **न ह्येतावतो दुःखराशेः प्रतारणसुखं** गरीयः। यतः पाषण्डाभिमतेष्वप्येवं

आमोदः– तथा चाप्रामाणिकमिति भावः। यद्वा गुरुमतं महन्मतमिति परीहासः। **अनवसर इति। पञ्चमस्तवके** तु सर्वमेव विचारणीयमिति भावः। प्राथमिक-विप्रलम्भपूर्वकोऽयं व्यवहार इत्याह – **वृद्धैरिति। वृद्धानामपीति।** अन्यथा ज्ञातमन्यथा बोधयन् विप्रलम्भक उच्यते। स च स्वयं तत्र कथं प्रवर्तत इत्यर्थः। तदेवाह – **न चेति। न तर्हीति।** अनादौ समाचारो वेदमूलकत्वध्रौव्यादित्यर्थः। अनादित्वं नास्तीत्याह – **इदमिति।** परध्वंसनार्थं कश्चिदाधुनिक एव तपस्यादौ प्रवर्तत इत्यर्थः। **अनुविदध्युरिति।** आद्रियेरन्नित्यर्थः। तदनुष्ठितमनुतिष्ठेयुरिति वार्थः। **ईदृश इति।** यावज्जीवमरण्यादौ तपस्यादौ प्रवृत्त इत्यर्थः। **यत इति।**

प्रकाशः– कार्यताज्ञानहेतोरभावादिति *जरन्मीमांसकमतं* दृष्टान्त इत्यर्थः। अत्र सोपहासमाह **गुरुमतमिति।** गुरोः *प्रभाकरगुरोः*, गुरु महद्वा मतमेतद्, न त्वस्मद्गुरोर्मतमित्यर्थः। निष्फले प्रेक्षावतां प्रवृत्तेरनुत्पादनियमात् प्रयोजनज्ञानस्य प्रवृत्तिहेतुत्वेन निष्फले कार्यत्वस्यायोग्यतया *वेदेन* बोधयितुमशक्यत्वात्, प्रवर्त्तकस्य कार्यत्व- ज्ञानस्यासम्भवात्। अत एव नेष्टज्ञानं कार्यताज्ञान एवोपक्षीणम्। अनन्यथा सिद्धत्वादिति भावः। **वृद्धैरिति।** तथा च निष्फल एवान्यैः प्रतारणादाकुमारं प्रवृत्तिरिति न तत्र प्रयोजनगवेषणमिति भावः। विप्रलिप्सुरन्यथाज्ञातमर्थमन्यथा बोधयति, भ्रान्तो वा?। आद्ये **वृद्धानामिति।**

मकरन्दः– उपहासबीजमाह **निष्फल इति। अनन्यथासिद्धत्वादिति।** यद्यपि फलेच्छाद्वारेष्टसाधनताज्ञानेऽपि तदन्यथासिद्धमित्युपपादितं *प्रत्यक्ष-प्रकाशे*ऽन्यथाख्यात्यवसरे। *त्रिसूत्री*स्वरसोऽप्येवमेव। तथापि तस्य प्रवृत्तिप्रयोजनकत्वान्निष्फलेऽपि प्रवृत्तिरिति मतनिराकरणमात्रे तात्पर्यम्। न चैवं

दृश्यत इति चेन्न। हेतुर्दर्शनादर्शनाभ्यां विशेषात्। अनादौ चैवम्भूतेऽनुष्ठाने प्रतायमाने प्रकारान्तरमाश्रित्यापि बहुवित्तव्ययायासोपदेशमात्रेण प्रतारणा स्यात्, न त्वनुष्ठानागोचरेण कर्मणा। अन्यथा प्रमाणविरोधमन्तरेण पाखण्डित्वप्रसिद्धिरपि न स्यात्।८।

आमोदः— पाषण्डानामपि मण्डलीकरणादौ निष्फले प्रवृत्तिदर्शनादिति भावः। **हेत्विति**। तेषामालस्यजीविकादिहेतुभिः प्रवृत्तिदर्शनादित्यर्थः। ननु यागाद्युपदेशो न प्रतारणा मण्डलीकरणोपदेशः प्रतारणेत्यत्र किं विनिगमकमित्यत आह – **अनादाविति**। यथा यागाद्यनुष्ठानं महाजनपरिगृहीतमनादि, तथा तादृशमेव यद्यन्यदेतद्विरुद्धमनुष्ठानं भवेत्तदात्रानुष्ठाने प्रतारणाशङ्का स्यान्न तु तथा परम्परा काचिदस्ति प्रकारान्तरेणेत्यर्थः। **न त्विति**। यादृशमनाद्याचरणं यागादौ तादृशानुष्ठानागोचरेण कर्मणा शङ्कैव नोदेति। मण्डलीकरणादेस्तादृशानुष्ठानाभावात्। **अन्यथेति**। यदि मण्डलीकरणादिकं तादृशमेव, तदा किमाचारवतां पाषण्डत्वं स्यादित्यर्थः। प्रमाणेन खण्डितानां पाषण्डत्वव्यवहारात्।।८।।

प्रकाशः— अन्त्ये, **कथं चैनमिति**। प्रत्युतानादिप्रवृत्तितया दृष्टफलनिरपेक्षतया चादृष्टफलत्वमेवानुमेयमिति भावः। **यत इति**। एवं पाषण्डप्रवृत्तिरपि दृष्टफलनिरपेक्षा परलोकसाधनं स्यात्। अन्यथाऽयं परिशेषस्तत्रैव व्यभिचरेदित्यर्थः। **हेत्विति**। हेतुदर्शनेन कर्मलाघवादिना तादृशी तत्प्रवृत्तिरन्यथासिद्धा। अत्र तु ब्रह्मचर्यादि दुःखमयकर्मप्रधानतया न तत्सम्भव इत्यादेर्द्वितीयस्तवके वक्ष्यमाणत्वादित्यर्थः। नन्विष्टापूर्तादीनां हेतुदर्शनशून्यत्वेऽपीदम्प्रथम एव प्रतारकस्तद्बोध*कागमस्य* प्रामाण्यं भ्रमेण ग्राहयित्वा प्रेक्षावतः प्रवर्त्तयेदित्यत आह **अनादाविति**। एवम्भूतेऽनादौ अविगीते परलोकसाधने। **प्रकारान्तरं** सादित्वं विगीतत्वञ्च। यदि वैदिक व्यवहारातिरिक्तोऽनादिरविगीतश्च व्यवहारः, प्रामाणिकः स्यात् तदायमाधुनिको वैदिकव्यवहारः परप्रतारणपर इति व्यवतिष्ठेत। यथाऽनादिसिद्धः पिपासोपशमनं

मकरन्दः— नित्यताभङ्गप्रसङ्गः। त्रिकालकाम्यस्तवनपाठवत् कामनाऽवश्यम्भावादिति भावः।

प्रत्युतेति। क्वचिददृष्टफलत्वसिद्धावेव तत्। अन्यथा साध्याप्रसिद्धेरिति ध्येयम्। **अयमिति। विफला विश्ववृत्तिरित्यादिरित्यर्थः। आधुनिक इति।** सादिरुपदेश इत्यर्थः। अविगीतश्चेत्यपि द्रष्टव्यम्। यद्यपि वेदानिषिद्धत्वमविगीतत्वं न तत्र, तथापि शिष्टव्यवहाराविषयत्वमप्रामाणिकत्वं वा तदित्*येके*। परदुःखहेतुतया सामान्यतस्तत्रापि निषेध इत्*यन्ये*।

अस्तु दानाध्ययनादिरेव विचित्रो हेतुर्जगद्वैचित्र्यस्येति चेन्न। क्षणिकत्वादपेक्षितस्य कालांन्तरभावित्वात्-

चिरध्वस्तं फलायालं न कर्मातिशयं विना।

सम्भोगो निर्विशेषाणां न भूतैः संस्कृतैरपि।।९।।

तस्मादस्त्यतिशयः कश्चित्। ईदृशान्येवैतानि स्वहेतुबलायातानि, येन नियतभोगसाधनानीति चेत्, तदिदममीषामतीन्द्रियं रूपं सहकारिभेदो वा? न तावदैन्द्रियकस्यातीन्द्रियं रूपम्, व्याघातात्। द्वितीये त्वपूर्वसिद्धिः।

आमोदः- अस्त्विति। तथा च नादृष्टं न वा तदधिष्ठातेति भावः। **क्षणिकत्वादा**- शुतरविनाशित्वात्, **अपेक्षितस्य** स्वर्गादेः।

एतदेव कारिकयोपगृह्णाति – **चिरेति। चिरध्वस्तं कर्मफलाय** चिरभावितेन **नालं** न समर्थं, तर्हि भूतान्येव शरीराण्येव यागादिभिः संस्क्रियन्ताम्। अत आह – **सम्भोग इति। निर्विशेषाणाम**नाहितापूर्वाणामात्मनां **सम्भोगः** सम्यग्भोगः प्रतिनियतो भोग इत्यर्थः।

ननु शरीराण्येव संस्कृतानि प्रतिनियतभोगसाधनानि स्युरित्याशङ्कते – **ईदृशान्येवेति। रूपं** कुर्वद्रूपत्वं जात्यन्तरं वा स्वरूपं वा, सर्वत्र दोषमाह – **व्याघातादिति**। ऐन्द्रियकस्यातीन्द्रियजातिमत्त्वस्यातीन्द्रियत्वस्य च व्याघातादित्यर्थः। *मीमांसका*भिमतशक्तिदृष्टान्तेन *बौद्ध* एवातीन्द्रियभूतधर्ममाह – **सिध्यत्विति। त्वयापि** *नैयायिकेनापि*। *बौद्धस्तु मीमांसकमत*माश्रित्य दृष्टान्तमुपपादयति – **तथा हीति**। विप्रतिपत्तिकारणतावच्छेदकत्वमतीन्द्रियमात्रवृत्ति न वा? दाहकारणतावच्छेदकत्वं वह्नित्वभिन्नं न वा? दाहकारणतावच्छेद- कमव्यासज्यवृत्ति न वा? दाहकारणतावच्छेदको धर्मोऽतीन्द्रियो न वा? प्रतिव्यक्तिमात्रविश्रान्तो न वा? दाहकारणत्वं वह्नित्वावच्छिन्नं न वा?

प्रकाशः- तोयपानमिति व्यवहारः। अन्नभक्षणं पिपासोपशमनमित्याधुनिक उपदेशः परप्रतारणपर इति निश्चीयते। न त्वेवमित्याह **न त्विति**। तस्मादयमेव व्यवहारः प्रामाणिको, न परप्रतारणपर इत्यभ्युपेयमिति भावः। अनभ्युपगमे त्वप्रामाणिकत्वा विशेषात् पाखण्डापाखण्डमतभेदो न स्यात्। तथा च प्रमाणेन खण्डिताः पाषण्डा इत्यपि न स्यादित्याह **अन्यथेति**।।८।।

मकरन्दः- इत्यपीति। असाधारण्येनेति शेषः। तथाचोभयस्यापि पाखण्डत्व- मन्यतरस्यापि वा नेति भावः।।८।।

सिध्यतु भूतधर्म एव गुरुत्वादिवदतीन्द्रियः। अवश्यं त्वयाप्येतदङ्गीकरणीयम्। कथमन्यथा मन्त्रादिना प्रतिबन्धः। तथा हि, करतलानलसंयोगाद् यादृशादेव दाहो दृष्टस्तादृशादेव मन्त्रादिना प्रतिबन्धे सति दाहो न जायते, असति तु जायते। तत्र न दृष्टवैगुण्यमुपलभामहे। नापि दृष्टसाद्गुण्येऽदृष्टवैगुण्यं सम्भावनीयम्, तस्य तावन्मात्रार्थत्वात्। अन्यथा, कर्मण्यपि विभागः कदाचिन्न जायेत। न च प्रतिबन्धकाभावविशिष्टा सामग्री कारणम्। अभावस्याकारणत्वात्। तुच्छो ह्यसौ। प्रतिबन्धकोत्तम्भक-प्रयोगकाले च तेन विनापि कार्योत्पत्तेः।

आमोदः- दाहकारणतावच्छेदकत्वमनित्यत्वसमानाधिकरणं न वा? कारणानि स्वजन्यानुकूलातीन्द्रियभावभूतधर्मवन्ति न वा? वह्निर्दाहानुकूलाद्विष्ठातीन्द्रिय-धर्मसमवायी न वा? गुणनिष्ठा कारणता जन्यधर्मावच्छेद्या न वेति शक्तावर्थापत्तिं प्रमाणयति – **यादृशेति**। तथा च सति प्रतिबन्धके दाहाभावो यद्व्यतिरेकप्रयुक्तः स धर्मोऽवश्यं वह्नौ स्वीकार्यः, स च शक्तिरेवेति भावः। **मन्त्रादिनेति**। मणिमन्त्रौषधादिनेत्यर्थः। अन्यथोपपत्तिं निरस्यति – **न च तत्रेति**। अदृष्टवैगुण्यं दाहकादृष्टनाशो, दाहप्रतिबन्धकादृष्टोत्पादो वा, तद्दाहजनकादृष्टात्यन्ताभाव एव वा। **तस्य तावन्मात्रेति**। अदृष्टस्य यावद्दृष्टसमवधानफलकत्वादित्यर्थः। दृष्टानि च प्रकृते समवहितान्येवेति भावः। दृष्टसमवधानेऽप्यदृष्टापेक्षायां दण्डमाह – **अन्यथेति। कर्मणीति**। अविनश्यदवस्थकर्मणीत्यर्थः। न च तत्र तत्रादृष्टं नियमतः समवहितमेवेति वाच्यं, नियामकाभावात्। ननु दृष्टसमवधाने यद्यदृष्टस्य प्रयोजकत्वं

प्रकाशः- अस्त्विति। न तु तज्जन्यमदृष्टमित्येवकारार्थः। तथा चादृष्टाधिष्ठातृत्वेन ईश्वरानुमानमाश्रयासिद्धमिति भावः। **क्षणिकत्वादिति** आशुतरविनाशित्वादित्यर्थः। **चिरध्वस्तमिति**। फलस्य स्वर्गादेः कालान्तरभावितया न तत्राशुविनाशिनः साक्षात्साधनत्वमिति प्रतीतसाधनत्वानुपपत्त्या तज्जन्यापूर्वकल्पनमित्यर्थः। अतिशयं विना चिरध्वस्तं कर्म्म न फलायालं समर्थमिति योजना। साक्षात्साधनत्वाभावेऽपि साधनत्वस्य फलसमयपर्यन्तस्थायिव्यापारव्याप्तत्वादिति भावः।

मकरन्दः- एकक्षणमात्रस्थायित्वमसिद्धमित्यत आह **आशुतरेति। फलसमयेति**। यद्यपि चिरध्वस्तकारणत्ववादिनः क्वचिदपि व्यापाराप्रसिद्धेर्व्याप्तिरन्यतरासिद्धा, तथापि चिरातीतदण्डादिना घटाद्यजननात् परोऽपि तथाऽङ्गीकारयितव्य इति स्वमतावष्टम्भेनोक्तमिदम्।।९।।

प्राक्प्रध्वंसादिविकल्पेन चानियतहेतुकत्वापातात्। अकिञ्चित्करस्य प्रतिबन्धकत्वायोगात्। किञ्चित्करत्वे चातीन्द्रियशक्तेः स्वीकारात्। मन्त्रादिप्रयोगे चेतरेतराभावस्य सत्त्वेऽपि कार्यानुदयात्। ततोऽतीन्द्रियं किञ्चिद्दाहानुगुणमनुग्राहकमग्नेरुन्नीयते यस्यापकुर्वतां प्रतिबन्धकत्वमुपपद्यते, यस्मिन्नविकले कार्यं जायते। यस्यैकजातीयत्वादनियतहेतुकत्वं निरस्यत इति।९।

आमोदः– तदा क्वचिदप्यदृष्टं कारणं न भवेत्। दृष्टसमवधानं हि दृष्टोत्पादनं वा, तत्सन्निधानं वा, तदुभयमपि कार्यमेव। तत्रापि दृष्टसमवधानेनैव कारणं वाच्यम्। एवं तत्र तत्रापीति चेत् – न। अदृष्टस्य सर्वत्र कार्ये साक्षादेव कारणत्वम्। न ह्यत्र कारणान्वयव्यतिरेकगम्या कारणता, किन्तु श्रुतिगम्या। श्रुतिश्चास्मात् कार्यं भवत्येवेति प्रतिपादयति। न त्वेतद्व्यतिरेकेण कार्यं न भवतीति व्यतिरेकांशमपीति गौरवात्, तावतैव प्रवृत्तेश्च। तथा च यत्र यावन्ति दृष्टानि समवहितानि तत्रादृष्टविलम्बेन विलम्बः। बन्ध्यासम्प्रयोगादौ च लोहितरेतसो रेतोपघातकल्पनात् पुत्रजन्मानुकूलमदृष्टं विद्यमानमपि जन्मान्तरे फलजनकं स्यादेवेति भावः। प्रतिबन्धकाभावेनान्यथासिद्धिमाशङ्क्य निराकरोति – **न चेति**। अभावस्याकारणत्वे हेतुमाह – **तुच्छो हीति**। तुच्छत्वमप्रामाणिकत्वमजनकत्वं वा। अभावस्य दाहहेतुत्वे व्यभिचारमप्याह – **प्रतिबन्धकेति**। **तेन विनापीति**। प्रतिबन्धकाभावेन विनापीत्यर्थः। **प्रागिति**। प्रतिबन्धककाले प्रागभावप्रध्वंसौ न सम्भवतः, प्रतियोगिमति चात्यन्ताभावात्। अन्योन्याभावस्तु प्रतिबन्धके सत्यपि तत्रास्तीति दाहप्रसङ्गः। **अनियतेति**। संसर्गाभावत्वस्य चैकस्याभावात्। प्रागभावत्वादिना च हेतुत्वेऽनुगम इति भावः। **अकिञ्चिदिति**। प्रतिबन्धकतापि मण्यादेः शक्तिविघटकत्वेनैव

प्रकाशः–ननु चादृष्टसिद्धावपि भूतधर्म्म एव तदस्त्वित्यत आह **सम्भोग इति**। **सम्भोगः** समीचीनो नियतो भोगो, निर्विशेषाणाम् अदृष्टरूपविशेषरहितानामात्मनां न स्यात्। संस्कृतानां भूतानां साधारणत्वादित्यर्थः। अत्र स्वहेतुबलोत्पन्नस्वरूप–विशेषवन्ति शरीरादीनि नियताऽऽत्मभोगसाधनानि सन्त्विति शङ्कते **ईदृशानीति**। एतद्विकल्प्य व्याघाताभिमतसिद्धिभ्यां परिहरति **तदिदमिति**। रूपं स्वरूपम्, अतीन्द्रिय स्वभावत्वमित्यर्थः। सहकारिभेदोऽतीन्द्रियसहकारी। यद्वा, रूपं धर्मो जातिरूपोऽजातिरूपो वा? आद्ये **न तावदिति**। व्यक्तियोग्यतयैव जातेर्योग्यत्वादित्यर्थः।

आमोदः– वाच्या। तथा च शक्तिसिद्धिरिति भावः। एतदेवाह – **किञ्चिदिति**। ननु मा भूत् संसर्गाभावत्वेन हेतुताऽभावत्वेन स्यादित्यत आह – **मन्त्रादीति**। तथा च व्यभिचारान्न तथेति भावः। अर्थापत्तिसिद्धमर्थमुपसंहरति – **तत इति**। अनुग्राहकत्वं कार्याभावव्याप्याभावप्रतियोगित्वं कारणतदवच्छेदकसाधारणम्। यस्येति कर्मणि षष्ठी। **अपकुर्वतामिति**। मणिमन्त्रादीनामिति शेषः। अविकलेऽकुण्ठेऽनष्टे वा। **यस्येति**। एकशक्तिमत्त्वेन कारणत्वानुगम इत्यर्थः।।९।।

प्रकाशः– अन्त्यं शङ्कते **सिद्ध्यत्विति**। नैतावताऽप्यात्मधर्मापूर्वसिद्धिः। भूतवृत्त्यतीन्द्रियधर्मादिवोपपत्तेरिति भावः। गुरुत्वादिवदित्यादिपदेन *मीमांसकाभिमत* शक्तिर्गृह्यते। तत्र शक्तावर्थापत्तिं प्रमाणयति **तथाहीति**। शक्तौ विप्रतिपत्तिः। कारणानि स्वजन्यानुकूलाद्विष्ठातीन्द्रियभावभूतधर्मवन्ति न वा? आत्मन्यदृष्टं तथा प्रसिद्धम्। यद्वा, कारणतावच्छेदकत्वमतीन्द्रियत्वव्याप्यं न वेति सामान्यतः। विशिष्य तु, वह्निर्दाहानुकूलाद्विष्ठातीन्द्रियभावभूतधर्मवान्न वा? करतलानलसंयोगो वा तादृशधर्मसमवायी न वा? आत्मा तथा प्रसिद्धः। अनुकूलत्वञ्च कार्याभाव व्याप्याभावप्रतियोगित्वं कारणतदवच्छेदकोभयसाधारणमिति नापसिद्धान्ताप्रसिद्धी। अर्थापत्तौ दृष्टादृष्टान्यतरवैगुण्येनान्यथोपपत्तिं निराकरोति **तत्रेति**। दाहकोष्णस्पर्शस्य पूर्ववत् सत्त्वादित्यर्थः। न च मन्त्रादिना स एव नाश्यते, पुरुषान्तरेणौष्ण्यानुभवादिति भावः। **तस्येति**। अदृष्टस्य दृष्टसाकल्यमात्रार्थत्वादित्यर्थः।

ननु परमाणुकर्मणि, अध्ययनतुल्यत्वेऽप्येकत्र फलाभावे, बन्ध्यासम्प्रयोगे चादृष्टविलम्बो दृष्टो दृष्टोपसंहारे सत्यपि। मैवम्, अदृष्टविलम्बो हि न तावन्नाशानुत्पादौ। मण्याद्यपसारणानुपदं दाहाभावापत्तेः। अदृष्टोत्पादकस्य तत्राभावात्। अदृष्टजनकशौचाऽऽचमनादेः साधारणस्याप्यत्रान्वयापत्तेः। अशुचेरेव च तदुत्पादे शौचे सति तदभावापत्तेः। अदृष्टात्यन्ताभावस्य च तत्राभावात्। कदाचिद्दाहात्। दाहादिकार्यविशेषे यावददृष्टसमवधानेऽवश्यमदृष्टसद्भावात्तदभिप्रेत्य एतदुक्तमि*त्यन्ये* ।

ननु मण्यादिना दाहप्रतिपक्षस्यादृष्टभेदस्योत्पादनाद्दाहस्याभावः स्यात्। न चाग्न्यन्तरेणापि तस्य दाहाभावापत्तिः। प्रतिनियताग्निसाध्यदाहप्रतिपक्ष स्यैवादृष्टस्यानेन जननात्। औषधिलिप्तकाष्ठादिषु लेपकारिपुरुषनिष्ठस्य तस्योत्पादनात्। अदृष्टविशेषार्जितप्रतिपक्षसमवधानस्य वा प्रतिबन्धकत्वम्। स च दाहाभावकल्प्यः। मैवम्, तस्योत्तेजकाभावविशिष्टमण्यजन्यत्वे

प्रकाशः– नियमेनादाहार्थिनस्तत्राप्रवृत्त्यापत्तेः। तज्जन्यत्वे तु प्रथमोपस्थितोपजीव्यत्वेन तदुत्पादकस्यैव हेतुत्वौचित्यात्। प्रतिबन्धकाभावहेतुत्वस्य तथाप्यभ्युपगमात्।

अन्यथेति। अविनश्यदवस्थकर्मण्यपीत्यर्थः। अतो यदभावात् कार्याभावस्तद्वह्न्यादावभ्युपेयम्। तेन विना तदभावाधीनदाहाद्य भावानुपपत्त्याऽर्थापत्तेः शक्तिसिद्धिरिति भावः।

ननु यत्किञ्चिद्दाहप्रयोजकाभावस्तत्र सिद्ध्यति, न तूक्तरूपः। यद्भावे दाहाभावस्तदभाव एव प्रयोजकोऽस्तु, अन्वयाद्यनुविधानादुभयसिद्धत्वाच्चेत्यत आह **न चेति**। **तुच्छो हीति**। तुच्छत्वं विधिरूपरहितत्वम्। अत्र कारणत्वं

मकरन्दः– **कारणानीति**। वस्तुमात्रपक्षत्वे भागबाधादिरजनके पण्डापूर्वादौ तन्मते स्यादिति कारणानीत्युक्तम्। नचादृष्टस्थितिस्थापकगुरुत्वादिकमादायापि पृथिव्यादिष्वंशतः सिद्धसाधनम्। तद्भिन्नकारणस्यैव पक्षत्वात्। न च पक्षतावच्छेदकैक्ये तद्दोष एव नेति वाच्यम्। *प्राचीनमते*नैवोक्तत्वात्। अन्यथा अद्विष्ठपदप्रक्षेपानुपपत्तेः। अत एव वक्ष्यमाणहेतुपक्षतावच्छेदकयोर्नाभेदः। स्वजन्यानुकूलत्वं ताद्रूप्यसिद्धये। यद्वा स्थितिस्थापकवतोऽपि पक्षान्तर्भावात् तमादायांशतः सिद्धसाधनवारणार्थं तत्। तदर्थश्च स्वनिमित्तकारणकानुकूलत्व-मित्याहुः। अद्विष्ठपदमदृष्टवदात्मसंयोगेन सिद्धसाधनवारणार्थमव्यासज्ज्यवृत्तिपरम्। अन्यथा अधिकरणभेदेनाभावभेदानभ्युपगमे तत एव प्रतिबन्धकाभावव्यवच्छेदे भावपदमनर्थकं स्यात्। उष्णस्पर्शादिना अंशतः सिद्धसाधनवारणा**यातीन्द्रियेति**। न च तत एव प्रतिबन्धकाभाववारणे भावपदवैयर्थ्यं, *भट्टमते*ऽनुपलब्धिगम्यतया तस्यातीन्द्रियत्वात्। दुरदृष्टादिप्रतिबन्धकाभावस्यातीन्द्रियत्वाच्च। यथाकथञ्चित् सम्बन्धितयाऽदृष्टेनैवार्थान्तरवारणाय **धर्मपदम्**। न हि तदन्यधर्मस्त-दनाश्रितत्वादित्याहुः। **यद्वेति**। न च प्रतिबन्धकाभावमादाय *भट्टमते*ऽर्थान्तरम्, धर्मपदस्य भावपरत्वादिति वदन्ति। दाहानुकूलत्वमत्र ताद्रूप्यसिद्ध्यर्थमेव। **तादृशेति**। दाहानुकूलातीन्द्रियेत्यर्थः। अत्र च संयोगत्वेनार्थान्तरवारणा**यातीन्द्रियेति**।

नन्वनुकूलत्वं यदि जनकत्वं, तदा तन्मतेऽपसिद्धान्तः। अथावच्छेदकत्वं, तदास्मन्मतेऽप्रसिद्धिरित्युभयानुगतमाह **कार्येति**। व्याप्तिश्च कालिकी। न च प्रागभावगर्भतया नित्यशक्तावव्याप्तिः। अनित्यकारणमात्रपक्षत्वे तथाप्यदोषात्। **लेपेति**। दैववशादौषधलेपाद्वा अदाहप्रयोजके पुरुषे तदुत्पत्तिरिति भावः।

प्रकाशः—विधित्वव्याप्यमित्याशयात्, न त्वलीकत्वम्। *मीमांसकैस्*तथानङ्गीकारात्। एतच्चाग्रे स्फुटम्। व्यतिरेकव्यभिचारमाह **प्रतिबन्धकेति**। एकप्रतिबन्धकसत्त्वे तदन्यप्रतिबन्धकाभावे कार्यानुदयादन्वयव्यभिचारोऽपीति भावः। सामान्यतो व्यतिरेकव्यभिचारमुक्त्वा विशिष्य तमाह **प्रागिति**। परस्परव्यभिचारेण प्रतिबन्धकाभावहेतुत्वस्य ग्रहीतुमशक्यत्वात् न तेनान्यथोपपत्तिरित्यर्थः। तावतामुपसंग्राहकश्चैक उपाधिर्नास्तीत्यभिमानः। अत्र प्रागभावेति वक्तव्ये प्रध्वंसपदगम्याभावविशेषणतया प्रागभावस्य प्राप्तेः प्रागित्येतावन्मात्रमुक्तम्। प्रतिबन्धकत्वान्यथानुपपत्तिरूपामप्यर्थापत्तिमाह **अकिञ्चिदिति**। प्रतिबन्धजननं विना प्रतिबन्धकत्वानुपपत्तेरित्यर्थः। अथ शक्तिनाशरूपप्रतिबन्धजनकत्वात्तत्त्वं तत्राह **किञ्चित्करत्व इति**। प्रतिबन्धकाभावमात्रकारणत्वे दूषणान्तरमाह **मन्त्रादीति**। यदि प्रागभावादिष्वनुगमकमभावत्वमेव, तदाऽन्योन्याभावेऽपि तदस्तीति प्रतिबन्धकसत्त्वेऽपि तदन्योन्याभावमादाय कार्योत्पत्तिप्रसङ्गः। संसर्गाभावत्वञ्च तद्व्यावृत्तं निर्वक्तुमशक्यमित्यर्थः। सिद्धमर्थमुपसंहरति **अतीन्द्रियमिति**।

ननु अनुगुणत्वं कार्याभावव्याप्याभावप्रतियोगित्वं सहकारिणोऽप्यस्तीति शक्तेः सहकारित्वाभ्युपगमेऽपसिद्धान्तः। शक्तिमत्कारणं न शक्तिरिति स्वीकारादिति विशिनष्टि **अनुग्राहकमिति**। कारणतावच्छेदकमित्यर्थः। **यस्यापकुर्वतामिति**। कर्म्मणः कारकस्यैव सम्बन्धमात्रविवक्षया षष्ठी। यस्येत्यनन्तरं स्वरूपमिति शेष इत्*यन्ये*। तथा च कारणतावच्छेदकशक्तेः प्रतिबन्धकेन नाशात् सति प्रतिबन्धके कार्याभाव उपपद्यते। नित्यानित्यघटितसामग्र्यां नित्यकारणशक्तेरनुत्पन्नभावत्वेना नाशेऽप्यनित्यकारणशक्तिनाशात् कार्याभावः। नचैवं पुरुषान्तरस्यापि ततोऽग्नेर्दाहानुत्पत्तिः। प्रतिनियतकरतलानलसंयोगगतदाहानुकूलशक्तेर्नाशादिति भावः। शक्तेः प्रदेशान्तरेऽप्युपयोगमाह **यस्येति**। तृणादीनां व्यभिचारात्कारणत्व मनुपपद्यमानमनुगतसामर्थ्यमतीन्द्रियं कल्पयतीत्यर्थः।।९।।

मकरन्दः— *मीमांसकैरिति।* यद्यपि तैरभावो नाङ्गीक्रियत एव, तथाप्यधिकरणात्मकस्यापि तस्याभ्युपगमादेतदुक्तमित्*येके*। तदेक*देशिमते*नेदमित्*यन्ये*। **प्रतिनियतेति**। फलबलेन तथा कल्पनादिति भावः।

अत्रोच्यते –

भावो यथा तथाऽभावः कारणं कार्यवन्मतः।
प्रतिबन्धो विसामग्री तद्धेतुः प्रतिबन्धकः।।१०।।

न ह्यभावस्याकारणत्वे प्रमाणमस्ति। न हि विधिरूपेणासौ तुच्छ इति स्वरूपेणापि तथा, निषेधरूपाभावे विधेरपि तुच्छत्वप्रसङ्गात्। कारणत्वस्य भावत्वेन व्याप्तत्वात्तन्निवृत्तौ तदपि निवर्तत इति चेन्न, परिवर्तनप्रसङ्गात्। अन्वयव्यतिरेकानुविधानस्य च कारणत्व –

आमोदः– कार्यवदिति। यथा कार्योऽभावस्तथा कारणमपीत्यर्थः। दृष्टं हि प्रायश्चित्तादौ पापनाशस्य तोयपानादौ पिपासा दुःखाभावस्य कार्यत्वमिति भावः। **विसामग्रीति।** प्रतिबन्धकाभावरूपकारणविघटकत्वेन विसामग्री, न तु शक्तिविघटकत्वेनेत्यर्थः। **तद्धेतुरिति।** मण्यादिप्रयोक्तेत्यर्थः। तेनाकिञ्चित्करस्येति प्रत्युक्तम्।

न हीति। विधिमुखप्रत्ययवेद्यत्वाभावेऽपि निषेधमुखप्रत्ययवेद्यत्वेनाभावस्यापि प्रामाणिकत्वादित्यर्थः। **स्वरूपेणापीति।** अभावत्वस्वरूपेणेत्यर्थः। अभावत्वस्य प्रमाणसिद्धत्वादिति भावः। ननु कारणत्वं भावत्वव्याप्यं कथमभावेऽपि स्यादिति शङ्कते – **कारणत्वस्येति।** कारणत्वमभावत्वव्याप्यं कथं भावेऽपि स्यादित्यपि सुवचं स्यादिति परिहारान्तरमाह – **परिवर्तनेति।** आपाततः प्रौढ़िवादेन परिवर्तनप्रसङ्ग उक्तः। वस्तुतस्तु ग्राहकतौल्यात् कारणत्वमुभयत्रेत्याह – **अन्वयेति।** यद्यपि परिवृत्तिप्रसङ्गमुक्त्वा तुल्यत्वाभिधानमयुक्तं तथापि सिद्धान्तो वक्तव्य एवेति भावः। सति शक्ते दहने प्रतिबन्धकाभावस्या–

प्रकाशः– भावो यथेति। यथा येन प्रकारेणान्वयाद्यनुविधानेन कारणत्वग्राहकेन **भावः** कारणं मतः, तेनैवाभावोऽपि कारणम्। तथात्वेऽपि भावत्वव्याप्तं कारणत्वमिति यदि ब्रूयात् तत्राह **कार्यवदिति।** तर्ह्यभावो नियतोत्तरवर्तित्वेन कार्योऽपि न स्यात्। भावत्वव्याप्यत्वात् कार्यत्वस्य। अथ वैपरीत्यस्यापि सुवचत्वान्न तथा, एवमभावः कारणमपि, तत्त्वस्य भावत्वव्याप्यत्वे मानाभावादित्यर्थः। द्वितीयामर्थापत्तिं दूषयति **प्रतिबन्ध इति।** सामग्र्यन्तर्गतमन्त्राद्यभावविगम एव प्रतियोगिरूपः प्रतिबन्धः, तत्कारणञ्च प्रतिबन्धकः पुरुषो न तु मण्यादिः, स च किञ्चित्कर एवेत्युभयसिद्धमित्यन्यथोपपत्तिरित्यर्थः। ननु तुच्छत्वमेव तत्र मानमुक्तमित्यत आह **न हीति।** तुच्छत्वं हि भावनिषेधरूपत्वमुक्तम्। तच्चाप्रयोजकम्।

निश्चयहेतोर्भाववदभावेऽपि तुल्यत्वात्। अभावस्यावर्जनीयतया सन्निधिर्न तु हेतुत्वेनेति चेत्, तुल्यम्। प्रतियोगिनमुत्सारयतस्तस्यान्यप्रयुक्तः सन्निधिरिति चेत्, तुल्यम्। भावस्याभावोत्सारणं स्वरूपमेवेति चेदभावस्यापि भावोत्सारणं स्वरूपान्नातिरिच्यते। तस्माद् यथा भावस्यैव भावो जनक इति नियमोऽनुपपन्नस्तथा भाव एव जनक इत्यपि। को ह्यनयोर्विशेषः? प्रतिबन्धकोत्तम्भकप्रयोगकाले तु व्यभिचारस्तदा स्यात्, यदि यादृशे सति कार्यानुदयस्तादृश एव सत्युत्पादः स्यात्। न त्वेवं,

---

आमोदः— काशादेरिवान्यथासिद्धत्वमिति शङ्कते – **अभावस्येति**। सति प्रतिबन्धकाभावे शक्तिरप्यतन्त्रमिति परिहरति – **तुल्यमिति**। प्रतियोगी शक्तिपदार्थ-स्तदपनयनद्वारेणैव तस्य मण्यादेः सन्निधिर्न तु स्वाभावोत्सारणद्वारा, येन तदभावो हेतुः स्यादित्याह – **प्रतियोगिनमिति**। प्रतियोगी शक्तिविरोधी मण्यादिस्तदुत्सारणद्वारा तस्य शक्तिरक्षायामुपक्षीणत्वम्, न तु दाहहेतुत्वमिति प्रतिबन्धस्य स्वाभावोत्सारणमेव द्वारं किं न स्यादिति परिहरति – **तुल्यमिति**। ननु प्रतिबन्धकेन स्वाभावोत्सारणं न क्रियते स्वाभावोत्सारणस्वरूपत्वात्तस्येति शङ्कते – **भावस्येति**। एवं प्रतिबन्धकाभावोऽपि प्रतिबन्धकोत्सारणद्वारा नान्यथासिद्धः, किन्तु प्रतिबन्धकाभावरूपतया दाहं प्रति कारणमेवेति पर्यवसितमित्याह – **अभावस्यापीति**। *केचित्तु* भावाभावयोरन्वयव्यतिरेकतुल्यतया भाव एव कारणं न त्वभाव इति विनिगमनाविरहपरतयैव समस्तं व्याचक्षते – **कार्यवदिति**। व्याकुर्वन्नेवोपसंहरति – **तस्मादिति**। **को हीति**। प्रामाणिकत्वाविशेष इति शेषः। ननूक्तं प्रतिबन्धके सत्यपि दाहो दृश्यत इति तदभावो न कारणमत आह – **प्रतिबन्धकेति**। **यादृशे सतीति**। उत्तेजकाभावविशिष्टस्य प्रतिबन्धकस्याभावः कारणम्। सत्युत्तेजके विशेषणाभावघटितः सोऽस्त्येवेत्यर्थः।

प्रकाशः— अन्वयादिरहितत्वस्योपाधित्वात्। न चान्यनिषेधरूपत्वेनैवाकारणत्वं, भावस्याप्यभावनिषेधरूपत्वेनाकारणत्वापातात्। अथाकारणत्वे तन्त्रमस्वरूपत्वम्, भावश्च स्वरूपमेवेति मतं, तर्ह्यभावेऽपि तुल्यमित्यर्थः। **परिवर्तेति**। कारणत्वम भावत्वव्याप्यमिति भावः। कारणं न स्यादित्यर्थः। नियतपूर्ववर्त्तित्वमात्रं कारणत्वं, तच्चाभावेऽप्यस्तीति भावः। कारणत्वग्राहकमप्युभयसाधारणमित्याह **अन्वयेति**। न च सत्ताविशिष्टस्य कारणत्वं, जात्यादेरप्यतत्त्वापातादित्यर्थः। **अभावस्येति**। अन्वयाद्यनुविधाने तुल्येऽप्यभावसन्निधिराकाशस्येवान्यथासिद्ध इत्यर्थः। **तुल्यमिति**। अभावस्यैव कारणत्वे भावसन्निधिस्तथेत्येव किन्न स्यादित्यर्थः। **प्रतियोगिनमिति**। विध्युत्सारणप्रयुक्तसन्निधिरभावस्येत्यन्यथासिद्ध इत्यर्थः।

मकरन्दः- अन्य एवेति। प्रत्येकोभयाभावादन्य एव प्रत्येकाभावव्यापकोऽयमभाव इत्यर्थः। व्यासज्ज्यवृत्तिधर्मावच्छिन्नोत्तम्भकाभावप्रतिबन्धकप्रतियोगिकाभावत्वेन कारणत्वं? तदुभयमात्रप्रतियोगिकतादृशाभावत्वेन वा?। आद्ये दोषमाह **केवलेति।** उत्तम्भकाभावविशिष्टमणिसद्भावेऽपि घटादिकमादाय तदुभयप्रतियोगिक-

---

प्रकाशः- तुल्यमिति। भावस्याप्यभावोत्सारणप्रयुक्तः सोऽप्यन्यथासिद्धः स्यादित्यर्थः। **अभावस्यापीति।** भावाभावयोः स्वरूपमेव मिथोविरोधी, न तूत्सारणमन्यदित्युभय समानमित्यर्थः। वस्तुतस्तु कुड्यसंयोगाभावस्य गतौ, अनुपलब्धेश्चाभावज्ञाने, विहिताकरणस्य प्रत्यवाये, निर्दोषत्वस्य वेदप्रामाण्यज्ञाने जनकत्वस्य *मीमांसकैरपि* स्वीकारादभावस्य कारणत्वानभ्युपगमेऽपसिद्धान्त इति रहस्यम्। **अनुपपन्न इति।** प्रमाणाभावादिति शेषः। **प्रतिबन्धकेति।** तत्रापि प्रतिबन्धकस्याभावो, न तु तत्सद्भाव इति, न व्यतिरेकव्यभिचार इत्यर्थः। ननु प्रतिबन्धकोत्तम्भकसत्त्वे कथं प्रतिबन्धकस्याभाव इत्यत आह **असत्प्रतिपक्षो हीति।** उत्तम्भकाभावविशिष्टो यः प्रतिबन्धकस्तस्याभावः कारणम्, स चोभयसद्भावेऽप्यस्तीत्यर्थः। **प्रतिबन्धकाभिमत इति।** प्रतिबन्ध एव प्रतिबन्धकः, स्वार्थे कः। तत्त्वेनाभिमत इत्यर्थोऽतो न विरोधः। **यस्त्विति।** कार्याभावोन्नेयं प्रतिपक्षत्वं कार्यसत्त्वे नास्तीत्यर्थः। **तथापीति।** यत्रोत्तम्भकाभावे सति प्रतिबन्धकस्याभावस्तत्र विशेष्य प्रतिबन्धकस्यैवाभावः कारणम्। यत्र तु प्रतिबन्धकसद्भावे सत्युत्तम्भकसद्भावात् कार्यं, तत्रोत्तम्भकाभावस्य विशेषणस्याभाव एव कारणमिति सामग्रीभेद इत्यर्थः। **विशिष्टस्यापीति।** विशेषणाद्यभावे सर्वत्र विशिष्टाभावोऽप्यस्तीति स एवानुगतः कारणमित्यर्थः। तदेवोदाहरणेनोपपादयति **न हीति।** दण्डिनि सत्यदण्डानां दण्डाभाववतामन्येषान्नाभावः, किन्तु दण्डाभावस्यैवेति न, किन्त्व भावोऽस्त्येवान्येषामपीति लोकसिद्धमित्यर्थः। तदेव स्पष्टयति **यथा हीति।** पुरुषे दण्डाभाववैशिष्ट्यं कैवल्यम्, प्रतिबन्धके तूत्तम्भकाभाववैशिष्ट्यम्। यथा केवलदण्डसद्भावे विशेषणविशेष्योभयाभावाद् दण्डपुरुषसद्भावे विशेषणदण्डाभावविरहादुभयाभावे विशेष्यपुरुषाभावात् कैवल्यविशिष्ट-पुरुषाभावोऽनुगतोऽबाधितव्यवहारबलात् सर्वप्रतीतिसिद्धः। तथा केवलोत्तम्भकसद्भावे विशेषणविशेष्यद्वयाभावादुत्तम्भकप्रतिबन्धकसद्भावे विशेषणोत्तम्भकाभावविरहादुभयाभावे च विशेष्यप्रतिबन्धकाभावादुत्तम्भकाभाव विशिष्टप्रतिबन्धकाभावोऽनुगतो विशेषणाद्यभावव्यापको दाहकारणमित्यर्थः।

तदापि प्रतिपक्षस्याभावात्। असत्प्रतिपक्षो हि प्रतिबन्धकाभिमतो मन्त्रः प्रतिपक्षः। स च तादृशो नास्त्येव। यस्त्वस्ति, नासौ प्रतिपक्षः। तथापि विशेष्ये सत्येव विशेषणमात्राभावस्तत्र, स चोत्तम्भकमन्त्र एवेत्यन्यैव सामग्रीति चेन्न, विशिष्टस्याप्यभावात्। नहि दण्डिनि सत्यदण्डानामन्येषां नाभावः, किन्तु दण्डाभावस्यैव केवलस्येति युक्तम्।

आमोदः— एतदेवाह – **तदापीति**। उत्तेजककालेऽपीत्यर्थः। कथमेतदत आह – **असदिति**। उत्तेजकाभावविशिष्ट इत्यर्थः। **यस्त्वस्तीति**। उत्तेजकाभावविशिष्ट इत्यर्थः। अननुगमं शङ्कते – **तथापीति**। विशेषणमुत्तेजकाभावस्तदभाव उत्तेजकम्। तथा च विशेषणाभावो विशेष्यस्य मण्यादेरभाव उभयाभावश्चेति दाहं प्रति हेतुत्रयम्। दाहे च वैजात्यं नास्त्येवेति भावः। विशिष्टाभाव एक एव तत्र कारणिमिति नाननुगम इति परिहरति – **विशिष्टस्यापीति**। दार्ष्टान्तिकं स्फुटयितुं दृष्टान्तं स्फुटयति – **न हीति**। अदण्डानामन्येषां दण्डिपुरुषभिन्नानां पुरुषाणां दण्डरहितपुरुषाणामित्यर्थः। **नाभाव इति**। अपि त्वभाव इत्यर्थः।

प्रकाशः— ननु विशिष्टं नार्थान्तरं येन तदभावोऽनुगतः स्यात्। किन्तु विशेषण विशेष्यसम्बन्धा इति तेषां प्रत्येकाभावस्य कारणत्वे सामग्रीभेदस्तदवस्थः। न च व्यासज्ज्यप्रतियोगिताकोऽन्य एवायमभावः, केवलप्रतिबन्धकसत्त्वेऽपि तदभावाद्दाहापत्तेः। एकसत्त्वेऽपि द्वयमिह नास्तीति प्रतीतेः। तस्य समुदाय-विरोधिनो यावत्समुदायिसत्त्वे एव विरहात्। तादृशाभावानभ्युपगमाच्च। व्यासज्ज्यवृत्तिधर्मसमानाधिकरणप्रत्येकपर्यवसितप्रतियोगिताकाभावादेव तज्जन्यप्रतीत्युपपत्तेः।

अथ विशिष्टविरोधित्वमेवानुगतं विशेषणाद्यभावानां कारणतावच्छेदकम्, यत्र विशिष्टं न तत्र तदभाव इति सहानवस्थाननियमस्य विरोधस्यानुभवसिद्धत्वादिति चेन्न। स हि परस्पराभावरूपतया, परस्पराभावव्याप्यतया वा, तदाक्षेपकतया वा?। नाद्यः, विशेषणाद्यभावस्य प्रत्येकं विशिष्टाभावतया तत्प्रत्येकाभावाभावस्य

मकरन्दः— तादृशाभावसत्त्वाद्दाहापत्तेरित्यर्थः। एवं द्वयमित्यनेकोपलक्षणम्। अत एव *लीलावतीप्रकाशे* त्रयमिति पाठः। अन्त्ये त्वाह **तादृशेति**। यद्यपि सामान्याभाववदुभयासत्त्वे व्यासज्ज्यप्रतियोगिकाभावोऽप्यभ्युपगन्तुमुचित एव। अन्यथा यावद्विशेषाभावैस्तदन्यथासिद्ध्यापत्तेः। तथापि तद्धेतुत्वे उत्तेजकविशिष्टमणिसत्त्वेऽपि दाहो न स्यादित्येव दूषणं द्रष्टव्यम्।

प्रकाशः– विशेषणादेर्विशिष्टत्वापत्तेः। तदभावाभावस्य तत्त्वात्। न चोभयाभावाभाव एवोभयं विशिष्टम्। तथासत्यभावद्वयस्य विशिष्टाभावत्वे प्रत्येकाभावाद्विशिष्टाभाव व्यवहारानापत्तेः। नान्त्यौ, विशेषणाद्यभावस्य विशिष्टाभावत्वे तदव्याप्यत्वात्, तदनाक्षेपकत्वाच्च। अभेदे तयोरभावात्।

अथ विशिष्टानतिरेकेऽपि प्रतियोगिभेदादिव प्रतियोगितावच्छेदकविशेषण भेदादप्यभावो भिद्यते। यथा वायौ पृथिव्यादित्रयप्रत्येकरूपाभावे निश्चितेऽपि रूपत्वावच्छिन्नस्य तस्याभावानिश्चयाद्वायौ रूपं न वेति संशयः। एवमुत्तम्भकाभाववत्त्वेन मण्यादीनामभावः प्रतिबन्धकसत्त्वेऽप्युत्तम्भका भावविरहादस्त्येवेति स एवानुगतो हेतुः स्यादिति चेत्, न। एवं क्षण रूपातीतविशेषणावच्छिन्नरूपत्वेन प्रतिक्षणं घटादिनाशे क्षणभङ्गापत्तेः प्रत्यभिज्ञाननुपपत्तेश्च। दण्डित्वावस्थायां केवलोऽयमासीत् पुरुष इत्यादौ विशेष्यवति, 'सविशेषणे ही'ति न्यायेन कैवल्याद्यभावस्यैव प्रतीतेः। अत एव विशेषणावच्छिन्नप्रतियोगिताको विशेष्याभाव एव विशिष्टाभावः, प्रत्येकाभावानुगतो हेतुरित्यपास्तम्।

अत्रा*स्मत्पितृचरणाः*–विशेषणविशेष्ययोः सम्बन्धाद्विशिष्टव्यवहार इति तयोः सम्बन्धाभावाद्विशिष्टाभावव्यवहारः। यतो यद्व्यवहारस्तदभावात्तदभाव

मकरन्दः– प्रत्ययप्रसङ्गः। दण्डपुरुषसंबन्धस्य दण्डपुरुषोभयमात्रनिष्ठतया तत्र तदानीमपि तदभावात्। न च भूतलावच्छिन्ने पुरुषे विशेषणसंबन्धाभावः स इति भूतलस्याधिकरणकोटिप्रवेश इति वाच्यम्। तथा सति विशेष्याभावे तादृशबुद्ध्यनुदयप्रसङ्गात्। तस्माद्विशेषणविशेष्यतदुभयाभाव एव विशिष्टाभावः। तदनुगमकञ्च विशिष्टधीविषयाभावत्वम्। विशिष्टधीविषयत्वस्य त्रितयानुगतत्वेन तदभावत्वेन तदभावानामप्यनुगतत्वसम्भवादित्याहुः। **अत एवेति।** लक्ष्यस्याप्यननुगतत्वमिति भावः। **तदभावेऽपीति।** अतिरिक्तसंबन्धाभावेऽपीत्यर्थः। **संबन्धान्तरं विनेति।** एतत् *प्रत्यक्षप्रकाशे* व्याख्यातम्। अस्यातिरिक्तसंबन्धरूपत्वे अपसिद्धान्तः। तदुपहितस्वरूपद्वयात्मकत्वे उक्तदोषतादवस्थ्यमिति चिन्त्यम्।

नन्विति। यद्यपि सम्बन्धाभावस्य सिद्धान्तिततत्वान्मण्यभावमादाय शङ्का न युक्ता, तथापि विशेषणावच्छिन्नविशेष्याभाव एव विशिष्टाभाव इति तात्पर्यविषयीभूतमते निर्भरतया तदभिप्रायेण शङ्केयमिति बोध्यम्। **प्रत्यासत्तित्वेति।**

प्रकाशः– व्यवहारस्योचितत्वात्। अत एव यत्र यस्य सम्बन्धः स एव तत्र तस्य वैशिष्ट्यमिति नाननुगमः। तदिह प्रतिबन्धकोत्तम्भकाभावयोः सम्बन्धाभावः प्रत्येकाभाव व्यापकोऽनुगतो दाहादिहेतुः, सर्वत्र प्रतिबन्धकोत्तम्भकाभावयोः सम्बन्धो नास्तीति प्रतीतेः। न चैवं प्रतिबन्धकोत्तम्भकाभावौ यत्र तत्रापि दाहापत्तिः। अभावाधिकरणयोरतिरिक्तसम्बन्धाभावादिति वाच्यम्। तदभावेऽपि स्वरूपसम्बन्धस्य भावात्। अथ तदुभयस्वरूपस्वरूपसम्बन्धाभावस्य हेतुत्वे तदुभयस्वरूपाभाव उत्तम्भककाल एवेत्युत्तम्भकसत्त्व एव दाहः स्यात्। प्रतिबन्धकाभावोत्तेजकयोरेव तदुभयस्वरूपाभावरूपत्वादिति चेन्न। सम्बन्धान्तरं विना विशिष्टप्रत्ययजननयोग्यत्वस्य स्वरूपसम्बन्धत्वात्। तदभावस्य च प्रतिबन्धकाभावे प्रतिबन्धकोत्तम्भकसद्भावे तदुभयाभावे वाऽविशिष्टत्वात्।

ननु उत्तम्भकप्रयोगे मणेरभावो न प्रागभावप्रध्वंसात्मा। तयोः प्रतियोग्यसमानकालत्वात्। न चोत्तम्भकाभावप्रध्वंसप्रयुक्तेनोत्तम्भकाभाववत्त्वेन मणेर्ध्वंस एवेति वाच्यम्। क्षणभङ्गापत्तेरुक्तत्वात्। ध्वंसस्यानन्तत्वेनोत्तम्भकापनयेऽपि दाहप्रसङ्गाच्च। नाप्यत्यन्ताभावः, कादाचित्कत्वात्। न च विशेषणाद्यभावप्रत्यासत्तिकादाचित्कत्वात् कादाचित्कप्रतीतिकार्यानुदयाविति वाच्यम्। प्रत्यासत्तित्वावच्छेदकानुगतधर्माभावात्। विशिष्टविरोधित्वस्य च निरस्तत्वात्। मण्यादेः स्वावयववृत्तितया करादौ तदत्यन्ताभावस्य सदातनत्वात्।

मकरन्दः– प्रत्ययप्रसङ्गः। दण्डपुरुषसंबन्धस्य दण्डपुरुषोभयमात्रनिष्ठतया तत्र तदानीमपि तदभावात्। न च भूतलावच्छिन्ने पुरुषे विशेषणसंबन्धाभावः स इति भूतलस्याधिकरणकोटिप्रवेश इति वाच्यम्। तथा सति विशेष्याभावे तादृशबुद्ध्यनुदयप्रसङ्गात्। तस्माद्विशेषणविशेष्यतदुभयाभाव एव विशिष्टाभावः। तदनुगमकञ्च विशिष्टधीविषयाभावत्वम्। विशिष्टधीविषयत्वस्य त्रितयानुगतत्वेन तदभावत्वेन तदभावानामप्यनुगतत्वसम्भवादित्याहुः। **अत एवेति।** लक्ष्यस्याप्यननुगतत्वमिति भावः। **तदभावेऽपीति।** अतिरिक्तसंबन्धाभावेऽपीत्यर्थः। **संबन्धान्तरं विनेति।** एतत् *प्रत्यक्षप्रकाशे* व्याख्यातम्। अस्यातिरिक्तसंबन्धरूपत्वे अपसिद्धान्तः। तदुपहितस्वरूपद्वयात्मकत्वे उक्तदोषतादवस्थ्यमिति चिन्त्यम्।

नन्विति। यद्यपि सम्बन्धाभावस्य सिद्धान्तितत्वान्मण्यभावमादाय शङ्का न युक्ता, तथापि विशेषणावच्छिन्नविशेष्याभाव एव विशिष्टाभाव इति तात्पर्यविषयीभूतमते निर्भरतया तदभिप्रायेण शङ्केयमिति बोध्यम्। **प्रत्यासत्तित्वेति।**

यथा हि केवलदण्डसद्भावे उभयसद्भावे द्वयाभावे वा केवलपुरुषाभावः सर्वत्राविशिष्टस्तथा केवलोत्तम्भकसद्भावे प्रतिबन्धकोत्तम्भकसद्भावे द्वयाभावे वा केवलप्रतिबन्धकाभावोऽविशिष्ट इत्यवधार्यताम्। अथैवम्भूतसामग्रीत्रयमेव किं नेष्यते? कार्यस्य तद्व्यभिचारात्। जातिभेदकल्पनायाञ्च प्रमाणाभावात्। यथोक्तेनैवोपपत्तेः। भावे वा काममसावस्तु। का नो हानिः। प्राक्प्रध्वंसविकल्पोऽपि नानियतहेतुकत्वापादकः। यस्मिन् सति कार्यं

आमोदः– एतदेव विशदयति **यथा हीति**। विशेषणविशेष्ययोरप्यभावे विशिष्टाभावमाह **केवलदण्ड-सद्भाव इति**। अत्र हि विशेषणस्य दण्डाभावस्य विशेष्यस्य पुरुषस्य चाभावः। विशेषणाभावकृतं विशिष्टाभावमाह – **दण्डपुरुषसद्भाव इति**। अत्र हि दण्डाभावो यद्विशेषणं तन्मात्रं नास्तीति। विशेष्याभावकृतं विशिष्टाभावमाह – **उभयाभाव इति**। अत्र हि दण्डाभावो विशेषणमस्त्येव विशेष्यं पुरुषः परं नास्तीत्यर्थः। दार्ष्टान्तिकेऽपि विशेषणविशेष्योभयाभावकृतं विशिष्टाभावमाह – **केवलोत्तम्भकेति**। अत्र हि उत्तेजकाभावस्य विशेषणस्य प्रतिबन्धकस्य च विशेष्यस्याभावः। विशेषणाभावकृतं विशिष्टाभावमाह – **प्रतिबन्धकोत्तम्भकसद्भाव इति**। अत्र हि विशेषणस्य उत्तेजकाभावस्यैव परमभावः। विशेष्याभावमात्रकृतं विशिष्टाभावमाह – **द्वयाभाव इति**। अत्र हि विशेषणस्य उत्तेजकाभावस्य सत्त्वेऽपि विशेष्यस्य प्रतिबन्धकस्यैव परमभाव इत्यर्थः। तटस्थः शङ्कते – **अथेति**। यद्यपि विशेषणाभावविशेष्या-भावरूपाभ्यां सामग्रीभ्यामेव निर्वाहे न तृतीयकल्पनं तथापि यत्र विशेषण-विशेष्योभयाभावस्तत्रोभयकारणतावच्छेदकावच्छिन्नसत्त्वे उभयजन्यतावच्छेद-कावच्छिन्नकोत्पत्तौ जातिसङ्करप्रसङ्गभयेन तत्र विलक्षणसामग्रीकल्पनमित्यभिप्रायः। सा च सामग्री प्रत्येकाभावेन कार्यजनने प्रतिबन्धिकेति। **कार्यस्येति**। अनुगतकार्यस्याननुगतकारणानियम्यत्वादित्यर्थः। ननु तृणारणिस्थल इवात्रापि वैजात्यमेव स्यादित्युक्तमित्यत आह – **जातिभेदेति**। विशिष्टाभावत्वेनैवानुगतेन कारणत्वे सम्भवति कार्यवैजात्यकल्पनायां प्रमाणाभावादित्यर्थः। **यथोक्तेनेति**। उक्तविशिष्टाभावत्वेनेत्यर्थः। अभ्युपेत्याह – **भावे वेति**। तथापि प्रतिबन्धकाभावेनान्यथासिद्धौ न शक्तिसिद्धिरिति भावः। **प्रागिति**। प्रागभाव इत्यर्थः। **यस्मिन्निति**। प्रतिबन्धकसंसर्गाभावत्वेन त्रितयसाधारण्येन कारणत्वमिति नानियतहेतुकत्वमित्यर्थः।

प्रकाशः– मणिसमवधानेऽपि दाहापत्तेश्च। मैवम्। क्लृप्तसंसर्गाभावत्रयवैधर्म्येऽप्यबाधितप्रतीतेस्तुरीयस्यैव तस्य सिद्धेः। क्लृप्तविशेषबाधतः सामान्यबाधे क्लृप्तानादिसंसर्गाभाववैधर्म्याद् ध्वंसस्याप्यसिद्ध्यापत्तेः। अबाधितसामान्यबुद्धेर्विशेषान्तरमादाय पर्यवसानमिति तु तुल्यम्। यद्वा इह भूतले घटो नास्तीतिवत् संसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिकाभावविशेषस्य सति प्रतिबन्धके तत्राभावः। स च समयावच्छेदेन संसर्गितयाऽत्यन्ताभाव एव। तादृशश्च मण्याद्यभावो घटाभाव इव भूतले करेऽपि वर्त्तते। न चैवं प्रागभावप्रध्वंसयोरप्यसिद्धिरत्यन्ताभावेनैव कालभेदात् कपाले घटो नास्तीति तज्जन्यबुद्ध्युपपत्तेरिति वाच्यम्। अत्यन्ताभावस्य घटसत्त्वकालेऽपि सत्त्वात्तदापि घटो भविष्यतीति घटसत्त्वविरोधिबुद्ध्यापत्तेः। प्रतियोगिसत्त्वविरोध्यभावस्वीकारात्। न च मणिसंयुक्तकरेऽपि तत्संयोगात्यन्ताभावोऽस्त्येव तस्याव्याप्यवृत्तित्वादिति तत्रापि दाहापत्तिः। समानाधिकरणप्रतियोगिसत्त्वविरोधिनस्तस्य हेतुत्वात्। प्रहरं मा दहेत्यत्र सावधिमन्त्रपाठे तु मन्त्रनाशेऽप्युद्देश्यत्वज्ञानाहितसंस्कारविषयकालस्य प्रतिबन्धकत्वमिति। **अथेति**। विशेषणाद्यभावत्रयघटितं सामग्रीत्रयमेव दाहहेतुरस्तु, किमनुगतेन विशिष्टाभावेनेत्यर्थः। **कार्यस्येति**। अन्योन्यव्यभिचारेणान्वयव्यतिरेकयोरशक्यग्रहत्वादित्यर्थः। ननु तत्तत्कारणप्रयोज्यो दाहे जातिभेद इति न व्यभिचार इत्यत आह **जातिभेद इति**। दाहे वैजात्यस्य योग्यानुपलब्धिबाधितत्वाद् योग्यव्यक्तौ चायोग्यजात्यभावादित्यर्थः। ननु तृणादिजन्याग्निष्विव कारणभेदव्यङ्ग्यो जातिभेदः स्यादित्यत आह **यथोक्तेनेति**। गौरवादिति भावः। तत्सत्त्वेऽपि न सिद्धान्तक्षतिरित्याह **भावे वेति**। विशेषव्यभिचारमपाकरोति **प्रागिति**। प्रतिबन्धकसंसर्गाभावसत्त्वस्योपाधेरनुगतानतिप्रसक्तस्य सत्त्वादित्यर्थः।

मकरन्दः– भावे वा विशेषणाभावादेरेव तेन रूपेण हेतुत्वमस्त्विति भावः। तन्मताभिप्रायेणैव सिद्धान्तमाह **क्लृप्तेति**। प्रकृते स्वरूपसंबन्धतया मणेरेव तत्संबन्धरूपत्वात्तदादाय शङ्कादिकमित्यप्याहुः। क्लृप्तेनैवोपपत्तावक्लृप्तरूपकल्पने गौरवादित्यनुशयेनाह **यद्वेति**। नचोभयपक्षेऽपि संसर्गाभावत्वेन तद्धेतुत्वमिति सिद्धान्तोऽनुपपन्नः। प्रागभावादेर्विशिष्टाभावत्वाभावादत्यन्ताभावत्वादिनैव तथात्वादिति वाच्यम्। यत्र प्रतिबन्धक उत्तेजकमप्रसिद्धं तदभावे विशिष्टाभावत्वाभावेन तथात्वसम्भवादिति भावः। **समानाधिकरणेति**। प्रतियोगवैयधिकरण्यावच्छिन्नस्येत्यर्थः। **उद्देश्यत्वज्ञानाहितेति**। एतच्चा*नुमानप्रकाशे* विपञ्चितम्।

न जायते तस्मिन्नसत्येव जायते इत्यत्र संसर्गाभावमात्रस्यैव प्रयोजकत्वात्। यस्तु संसर्गाभावतादात्म्यनिषेधयोर्विशेषमनाकलयन्नितरेतराभावेन प्रत्यवतिष्ठते, स प्रतिबोधनीयः। तथाप्यभावेषु जातेरभावात् कथं त्रयाणामुपग्रहः स्यात्, अनुपगृहीतानाञ्च कथं कारणत्वावधारणमिति चेत्, मा भूज्जातिः। न हि तदुपगृहीतानामेव व्यवहाराङ्गत्वम्। सर्वत्रोपाधिमद्व्यवहारविलोपप्रसङ्गात्। एतेन 'प्रतिबन्धके सत्यपि तज्जातीयस्यान्यस्याभावसम्भवात् कार्योत्पादप्रसङ्गः, अनुत्पादे वा ततोऽप्यधिकं किञ्चिदपेक्षणीयमस्ती'ति निरस्तम्।

आमोदः- विशेषमनाकलयन्निति। तथा च प्रतिबन्धके सत्येव तदन्योन्याभावसत्त्वेन दाहापादनेनेति शेषः। **प्रतिबोधनीय इति।** प्रतिवन्द्या बोधनीय इत्यर्थः। *मीमांसकस्यापि* यत्र कारणाभावात् कार्याभावानुमानं तत्रापि कारणान्योन्याभावमादाय कार्याभावः सिध्येदिति प्रतिवन्दिरित्यर्थः। ननु संसर्गाभावत्वं न जातिः। तथा च प्रागभावादीनां दाहकारणत्वं कथं तेनावच्छिद्येत इत्यत आह – **तथापीति। मा भूदिति।** संसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिकाभावत्वस्योपाधेरेव कारणतावच्छेदकत्वात् कर्मसमवायिकारणतावच्छेदकमूर्तत्ववदिति भावः। ननु मणौ सत्यपि मन्त्राभावाद्दाहः स्यात्। न हि स न प्रतिबन्धकाभाव इत्याह – **एतेनेति। ततोऽप्यधिकमिति।** एकप्रतिबन्धके सति प्रतिबन्धकान्तराभावात् यद्दाहो न जायते तत्र प्रतीमः

प्रकाशः- नन्वन्योन्याभावव्यावृत्तस्य संसर्गाभावत्वस्योपाधेरभावात्। प्रतिबन्धक सत्त्वेऽपि तदन्योन्याभावात् कार्यं स्यादित्यत आह **यस्त्विति। प्रतिबोधनीयः** प्रतिवन्द्या बोधनीय इत्यर्थः। तथाहि अन्वयव्यतिरेकाभ्यां व्याप्तिकारणत्वयोर्ग्रहे *मीमांसकै*रपि संसर्गाभावस्य कारणत्वाङ्गीकारः। अन्यथा व्यापकसामग्र्योः सत्त्वेऽपि तदन्योन्याभावाद् व्याप्यकार्याभावापत्तेः। तवापि प्रतिबन्धकाभावेऽपि शक्तिरस्तीति प्रतिबन्धकसत्त्वे तदन्योन्याभावमादाय शक्तिसत्त्वप्रसङ्गश्चेति भावः। **मा भूदिति।** जात्यभावेऽपि संसर्गाभावत्वरूपैकोपाधिनैव कारणत्वमित्यर्थः। न च तद् निर्वक्तुमशक्यम्। अधिकरणे प्रतियोगिनमारोप्य यत्र निषेधबुद्धिस्तत्र संसर्गाभावो, यत्र तु प्रतियोगितावच्छेदकमारोप्य निषेधधीस्तत्र सोऽन्योन्याभाव इत्य*स्मद्गुरवः*।

मकरन्दः- व्याप्यकार्येति। नचान्योन्याभावमादायेष्टापत्तिरिति वाच्यम्। तथा सति व्यभिचारिणोऽपि तथात्वापत्तेः। प्रतिबन्धकाभावे इति सति सप्तमी। वह्न्यादाविति शेषः। संसर्गाभावलक्षण*मनुमानप्रकाशे* द्रष्टव्यम्।

यथा हि 'तज्जातीये सति कार्यं जायते, अर्थादसति न जायते' इति स्थिते तद्भावेऽपि तज्जातीयान्तराभावान्न भवितव्यं कार्येणेति न, तथैतदपि, अनुकूलवत् प्रतिकूलेऽपि सति तज्जातीयान्तराभावाना मकिञ्चित्करत्वादिति। यत्त्वकिञ्चित्करस्येति, तदप्यसत्। सामग्रीवैकल्यं प्रतिबन्धपदार्थो मुख्यः। स चात्र मन्त्रादिरेव। न त्वसौ प्रतिबन्धकः। ततः किं तस्याकिञ्चित्करत्वेन? तत्प्रयोक्तारस्तु प्रतिबन्धारः। ते च किञ्चित्करा एवेति किमसमञ्जसम्?

आमोदः- शक्तिविरहस्तत्र निमित्तमित्यर्थः। **तज्जातीय इति**। दण्डजातीये सति कार्यं भवति तदभावे सति न भवति इत्यन्वयव्यतिरेकगम्यं तावत् कारणत्वम्। तत्रैकसत्त्वे दण्डान्तरविरहात् कार्येण भवितव्यमिति यथा न भवतीति यथा प्रकृतेऽपीत्यर्थ इत्यधिकनञ्प्रवेशेन व्याख्येयम्। यद्वा शिरश्चालने नञ्, तथा च कार्येण न भाव्यमिति न, अपि तु भाव्यमेवेत्यर्थः। व्यतिरेकव्यभिचारवदन्वयव्यभिचारस्याप्य दोषत्वादुभयसमाधेयत्वाद्वा। वस्तुतोऽत्र प्रतिबन्धकत्वावच्छिन्नप्रतियोगिक एक एव सामान्याभावः कारणमिति न व्यभिचारोऽपि। यदि च प्रतिबन्धकाभावत्वेन कारणतायां कारणीभूताभावप्रतियोगित्वं प्रतिबन्धकत्वमित्यन्योन्याश्रयः, तदा मण्याद्यभावकूटत्वेनैव कारणत्वं वाच्यमिति नोक्तदोषः। **तज्जातीयेति**। एकप्रतिबन्धकत्वे प्रतिबन्धकान्तराभावानामकिञ्चित्करत्वादित्यर्थः। मण्याद्यभावकूटत्वेनैव कारणत्वादिति भावः। प्रतिबन्धकान्यथानुपपत्त्या शक्तिकल्पनमिति यदुक्तं तद् दूषयति - **यत्त्विति**। मण्यादिर्न प्रतिबन्धकः,

---

प्रकाशः- ननु प्रतिबन्धकाभावो न हेतुः। एकदण्डान्वये घटोत्पत्तिवदेकप्रतिबन्धक सत्त्वेऽपि तदन्याभावात् कार्योत्पत्त्यापत्तेः। न हि यावत्कारणत्वावच्छिन्नं तावदन्वये कार्यमित्यत आह **एतेनेति**। अभावकारणत्वाङ्गीकारेण। यथा बीजजातीये सत्यपि बीजान्तराणामभावादङ्कुरेण न भाव्यमित्ययुक्तं, तथेदमपीत्यर्थः। प्रतिबन्ध कत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकः प्रतिबन्धकसामान्याभावः कारणम्। स च यावद्विशेषाभावनियत इति नैकप्रतिबन्धकसत्त्वे तदन्याभावात् कार्योत्पत्तिः। यद्वा, प्रतिबन्धकाभावत्वेन न कारणत्वम्। अन्योन्याश्रयात्।

कारणीभूताभावप्रतियोगित्वस्य प्रतिबन्धकत्वात्। किन्तु मण्याद्यभावकूटस्य। स च तत्र नास्त्येवेति भावः। **मुख्य इति**। प्रतिबन्धपदस्य सामग्र्यन्तर्गत कारणविगमार्थत्वादित्यर्थः।

ये तु व्युत्पादयन्ति, 'कार्यानुत्पाद एव प्रतिबन्ध' इति। तैः प्रतिबन्धमकुर्वन्त एव प्रतिबन्धका इत्युक्तं भवति। तथा हि - कार्यस्यानुत्पादः, प्रागभावो वा स्यात्? तस्य कालान्तरप्राप्तिर्वा? न पूर्वः, तस्यानुत्पाद्यत्वात्। न द्वितीयः, कालस्य स्वरूपतोऽभेदात्। तदुपाधेस्तु मन्त्रमन्तरेणापि स्वकारणाधीनत्वात्। प्रागभावावच्छेदककालोपाधिस्तदपेक्ष

आमोदः- किन्तु प्रतिबन्धः, तत्र प्रतिबन्धकपदं स्वार्थिक-कन्प्रत्ययेन द्रष्टव्यम्। **किञ्चित्करा एवेति**। मन्त्रादिरूपप्रतिबन्धकरा एवेत्यर्थः।

एकदेशिमतं दूषयति - **ये त्विति**। कार्यानुत्पादस्य कार्यप्रागभाव-पर्यवसन्नतयानुत्पाद्यत्वादित्यर्थः। **तदुपाधेः** सूर्यस्पन्दादेः। **प्रागभावावच्छेदकेति**। कार्यप्रागभावावच्छिन्नः कालोपाधिः प्रतिबन्धकेन क्रियत इत्यर्थः। ननु प्रागभावश्चेदनुत्पाद्यस्तदा सामग्र्यभावात् कार्याभाव इति कथं पौर्वापर्यव्यवहार

प्रकाशः- ये त्विति। तथा च कार्यानुत्पादहेतुतया मन्त्रादिरेव प्रतिबन्धक इत्यस्त्वित्यर्थः। **कालस्येति**। कालप्रागभावस्वरूपातिरिक्तायास्तत्प्राप्तेरभावात्, स्वरूपस्य च तदजन्यत्वादित्यर्थः।

प्रागभावावच्छेदकेत्यत्र कर्मधारयः। कालोपाधिमात्रस्य मन्त्राद्यजन्यत्वेऽपीति शेषः।

लोके कारणाभावात् कार्याभाव इति हेतुपञ्चमीप्रयोग औपचारिक इत्याह- **तस्मादिति**। *मुरारिमिश्रास्तु*-न प्रतिबन्धकाभावः कारणं, न वा शक्तिः, किन्तु तत्तत्कालीनदाहविशेषं प्रति तत्तत्कालप्रतिबद्धेतरवह्नेः कारणत्वमिति प्रतिबन्धकाभावः कारणतावच्छेदको दण्डत्ववत्, न कारणम्। आकाशादौ त्वेकव्यक्तिके क्वचित् प्रतिबन्धेऽप्यन्यत्र शब्दोत्पत्तेरतथात्वेऽपि भेर्यादिरेव तथात्वेन कारणत्वमित्याहुः।

तन्न। दण्डसंयुक्तचक्रत्वेन कारणत्वे सहकार्य्युच्छेदापत्तेः। अन्वयव्यतिरेकतौल्येनोभयस्यापि हेतुत्वं विनिगमकाभावादित्यस्यापि तुल्यत्वात्।

मकरन्दः- कारणीभूतेति। न च कार्यानुत्पादजनकत्वं तदिति नान्योन्याश्रय इति वाच्यम्। तस्यानुपदमेव दूष्यत्वादिति भावः। **मण्यादीति**। मणिमन्त्रादिसामान्याभावकूट इत्यर्थः। यद्यपि तत्तन्मण्यत्यन्ताभावकूटस्यापि हेतुतया न क्षतिस्तथापि मणित्वावच्छिन्नप्रतियोगिकसामान्याभावस्यैकत्वेन लघुत्वाद्धेतुत्वमिति मन्तव्यम्।

इति चेन्न। मन्त्रात्पूर्वमपि तस्य भावात्। तस्मात् सामग्रीतत्कार्ययोः पौर्वापर्यनियमात्तदभावयोरपि पूर्वापरभाव उपचर्यते। वस्तुतस्तु तुल्यकालत्वमेवेति नायं पन्थाः।

न चेदेवं शक्तिस्वीकारेऽपि कः प्रतीकारः? तथा हि – प्रतिबन्धकेन शक्तिर्वा विनाश्यते, तद्धर्मो वा, धर्मान्तरं वा जन्यते, न जन्यते वा किमपि? इति पक्षाः। तत्राकिञ्चित्करस्य प्रातिबन्धकत्वानुपपत्तेः। विपरीतधर्मान्तरजनने, तदभावे सत्येव कार्यमित्यभावस्य कारणत्व स्वीकारः, प्रागभावादिविकल्पावकाशश्च। तद्विनाशे तद्धर्मविनाशे वा पुनरुत्तम्भकेन तज्जननेऽनियतहेतुकत्वं, पूर्वं स्वरूपोत्पादकादि दानीमुत्तम्भकादुत्पत्तेः। न च समानशक्तिकतया तुल्यजातीयत्वान्नैवमिति साम्प्रतम्। विजातीयेषु समानशक्तिनिषेधात्। न च प्रतिबन्धकशक्तिमेवोत्तम्भको विरुणद्धि, न तु भावशक्तिमुत्पादयतीति साम्प्रतम्। तदनुत्पादप्रसङ्गात्। कालविशेषात्तदुत्पादे तदेवानियत हेतुकत्वमिति।१०।

आमोदः– इत्युपसंहरन्नेव उपपादयति – **तस्मादिति**। औपचारिकोऽयं व्यपदेश इत्यर्थः। उपचारे बीजं **सामग्रीतत्कार्ययोरिति**। **तुल्यकालत्वमेवेति**। **तदभावयोः** सामग्रीतत्कार्याभावयोः। **नायं पन्थाः** नैकदेशिसिद्धान्तः साधीयान्। **न चेदेवमिति**। यदि प्रतिबन्धकाभावो न दाहकारणमित्यर्थः। **तद्धर्मो वेति**। विनाश्यत इत्यनुषङ्गः। सन्निधानाच्चरमविकल्पमारभ्य दूषयति – **तत्रेति**।

तज्जनन इति। शक्तिजनने तद्धर्मजनने वेत्यर्थः। अनियतहेतुकत्व-मेवोपपादयति – **पूर्वमिति**। **तदुत्पादकात्** वह्न्याद्युत्पादकात्। 'नित्ये नित्यैव सा शक्तिरनित्ये भावहेतुजे'ति तवाभ्युपगमादित्यर्थः। ननूत्तेजके स्वरूपोत्पादके शक्त्यनुकूलाऽपरा शक्तिरित्येकशक्तिमत्त्वेन नानियतहेतुकत्वमित्यत आह – **न चेति**। **निषेधादिति**। न विजात्येकशक्तिमानित्यनेनेति भावः। **तदनुत्पादेति**। वह्नौ पुनः शक्त्यनुत्पादाददाहकत्वप्रसङ्गादित्यर्थः। ननु कालविशेषादेव वह्नौ शक्तिरुत्पत्स्यत इत्यत आह – **कालेति**। ननु विशिष्टाभावः कारणं, स च विशेषणाभावविशेष्याभावोभयाभावानुगत इति यदुक्तं तत्र विशिष्टस्यातिरिक्तस्याभ्युपगमे त्वपसिद्धान्तः। विशेषणादीनामतदर्थत्वे तदभावकारणत्वे पुनरननुगम एव। न च विशिष्टविरोधित्वं विशेषणाद्यभावेऽनुगतम्।

प्रकाशः- **यद्धर्मवत्त्वमवगम्यैव यत्र यदवगमस्तत्र** तस्य तदवच्छेदकत्वात्। प्रतिबन्धकाभावमनवगम्यापि वह्नेर्दाहहेतुत्वावगमात्। अन्यथा शक्तिस्वीकारेऽपि त्वदुक्तदोष इत्याह **न चेदेवमिति। तदभावे** विपरीतधर्मान्तराभावे। **पूर्वमिति।** 'नित्ये नित्यैव सा शक्तिरनित्ये भावहेतुजा' इति पराभ्युपगमादित्यर्थः। **विजातीयेष्विति।** शक्त्यनुकूलशक्त्यन्तरपरम्परानुसरणेऽनवस्थानञ्चेति भावः। **तदनुत्पादेति।** प्रतिबन्धकेन वह्निशक्तिनाशादुत्तेजकेन प्रतिबन्धकशक्तिनाशेऽपि पुनर्वह्नौ शक्तिर्न स्यात्। पूर्वस्या नाशादन्यस्याश्च हेतोरभावादित्यर्थः।

नन्वनुमानमस्तु शक्तौ मानम्। तथाहि कारणानि स्वजन्यानुकूलाद्विष्ठ भावभूतातीन्द्रियधर्मवन्ति, कारणत्वात्, आत्मवत्। तत्रादृष्टं तथा सिद्धम्। नचाऽऽत्मत्वमुपाधिः। अन्त्यशब्दध्वंसकारणकालाकाशयोः साध्याव्यापकत्वात्। तत्रान्त्यशब्दस्यैव तथात्वादिति सामान्यतः। विशिष्य तु, पिण्डीभूतो वह्निः कार्यानुकूलाद्विष्ठातीन्द्रियधर्मसमवायी जनकत्वात् आत्मवत्। नचात्मत्वं नित्यत्वं वोपाधिः, स्पर्शैकत्वादिमति द्व्यणुके साध्याव्यापकत्वात्। करवह्निसंयोगो वा पक्षः। नचात्मत्वं द्रव्यत्वं वोपाधिः, द्व्यणुकैकत्वस्पर्शादौ साध्याव्यापकत्वात्। मण्यादिसमवहितो वा वह्निर्दाहजनकदशावृत्तिदाहानुकूलभावभूतधर्मशून्यो, दाहाजनकत्वात्, दाह्यासंयुक्ताग्निवत्। अत्रानुकूलत्वं न स्थितिस्थापकेनार्थान्तर

मकरन्दः- **यद्धर्मवत्त्वमिति।** एवं दृढदण्डत्वमपि सहकारि स्यादित्युक्त *मनुमानप्रकाशे* द्रष्टव्यम्। **कारणानीति।** तादृशधर्मवत्त्वेनानिश्चितानि नित्यकारणानीत्यर्थः। शेषं प्रागेव व्याख्यातम्।

पिण्डीभूत इति। कार्यानुकूलत्वं स्वकार्यानुकूलत्वम्। तदपि स्वनिमित्तकारणानुकूलत्वम्। तेन कर्मानुकूलस्थितिस्थापकेन नार्थान्तरम्। कर्मणि तु वह्निः समवायिकारणमिति नोक्तदोषः। वह्नौ स्थितिस्थापकानभ्युपगमे उद्देश्यसिद्ध्यर्थं तदिति ध्येयम्। अदृष्टवदात्मसंयोगोष्णस्पर्शप्रतिबन्धका भावादिनार्थान्तरवारणा**याद्विष्ठादि**पदम्। यद्यपि *गुरुमते*ऽभावोऽधिको नास्त्येवेति समवायिपदं व्यर्थं, तथापि परस्यार्थान्तरं स्यादिति तदुपात्तम्।

करवह्नीति। अत्र चाद्विष्ठपदं साध्ये त्याज्यम्। **द्व्यणुकैकत्वेति।** तत्समवायित्वस्य तन्निरूप्यसमवायाश्रयत्वार्थकतया समवायिद्व्यणु कमादाय तत्र साध्यवत्त्वं बोध्यम्। **मण्यादिसमवहित इति।** आदिपदात् प्रतिबन्धकाभावेतरसकलदाहकारणमभिमतमिति न तद्व्यतिरेकेणार्थान्तरम्।

प्रकाशः– वारणाय, तत्र तदभावात्। क्रियाया वेगेनादृष्टवदात्मसंयोगेन वोत्पत्तेः। किन्तु तथाभूतो धर्मः सिद्ध्यत्वित्येतदर्थम्। तच्च कारणतदवच्छेदकसाधारणं निरुक्तम्। अदृष्टवदात्मसंयोगवारणार्थमद्विष्ठेति। न च तज्जनकत्वे मानाभावः, कार्यस्यादृष्टजन्यतया व्यधिकरणगुणजन्यत्वात्। तस्य च तत्समानाधिकरण गुणजन्यत्वव्याप्तत्वात्, स्पर्शवद्वेगवद्द्रव्याभिघातजन्यक्रियायां तथा दर्शनात्। उष्णस्पर्शव्यावर्तनायातीन्द्रियेति। तत्त्वं च साक्षात्कारनियामकप्रत्यासत्त्यनाश्रयत्वम्। प्रतिबन्धकाभावनिवारणाय **भावभूतेति**।

उच्यते। अनुमानानां विपक्षबाधकाभावेनाप्रयोजकत्वम्। उभयसिद्धप्रतिबन्धका भावेनैवोपपत्तेः। न च सहचारदर्शनव्यभिचारादर्शनाभ्यामेव व्याप्तिग्रहः। साध्ये शक्त्यतिरिक्तेति विशेषणात्तेनैव हेतुना तत्सिद्धावेवं तत्तदतिरिक्तेति विशेषण परम्परातस्तादृशानन्तधर्मसिद्ध्यापत्तेः। न च घटवत् क्षितिः क्षितिवद्धट इतीश्वरानन्त्यवच्छक्त्यानन्त्यम्। कार्यमात्रे नेश्वरत्वेन द्विकर्तृकत्वेन वा कारणता, गौरवात्, किन्तु कर्तृत्वेनेति तदापादकाभावः। प्रतिकूलतर्कप्रतिघातश्च। शक्तेर्भावहेतुत्वे शक्त्यनुकूलाप्यन्या शक्तिरेवं तत्तदनुकूलाऽप्यन्यान्येत्यन

मकरन्दः– हेत्वसिद्धिबाधयोर्वारणाय **मणीति**। वह्नौ तादृशात्यन्ताभावेनार्थान्तर-प्रसक्तौ नेष्टसिद्धिस्तत्रेत्यत आह **वृत्त्यन्तमि***त्येके*। तच्चिन्त्यम्। भावभूतपदेनैव तन्निरासात्। *केचित्तु* संयोगद्वारा वह्निकर्मणोऽपि दाहानुकूलतया तस्य च पिण्डीभूतवह्नावभावादर्थान्तरवारणाय **तदिति**। तस्य च संयोगनाश्यत्वेन तदानीमभावादित्याहुः। **हेतुः** फलोपधानाभाव इति नासिद्धिः। दृष्टान्ते दाह्यसंयोगाभाव उभयसिद्धः। **तत्रेति**। पृथिव्यामेव तदुपगमादिति भावः। न च 'स्थितिस्थापकस्तु चतुर्षु वर्त्तमान' इति *गुणभाष्य*विरोध इति वाच्यम्। *वैशेषिकमते* तथात्वादिति भावः।

कार्य्यस्येति। ननु कार्यपदं यदि स्पन्दपरं तदा प्रकृतासङ्गतिः। स्पन्दस्यातथात्वात्। यदि च जन्यमात्रपरं तदा कपालरूपजन्ये घटरूपे व्यभिचार इति चेन्न। यत् कार्यं यदीयगुणनिमित्तकारणकं तत् तदुभयसमानाधिकरणगुण-जन्यमित्यत्र तात्पर्यात्। कपालरूपन्तु तत्रासमवायिकारणमिति नोक्तदोषः। नचाजसंयोगाभावेनेश्वरज्ञानादिजन्यसुखादिषु व्यभिचार इति वाच्यम्। मूर्त्तवृत्तित्वस्य कार्यविशेषणत्वाद् घटादावीश्वरसंयोगहेतुत्वस्येष्टत्वात्। अत एव *लीलावतीप्रकाशे* कण्ठरवेणैव तथोक्तम्। अत एव मन्त्रपाठजन्यविषचलनेऽपि व्यभिचारो निरस्तः।

प्रकाशः– वस्थापातात्। भावभूतेति च व्यर्थम्। न च व्यापके न व्यर्थविशेषणता व्याप्यताग्राहक इव व्यापकताग्राहकेऽपि लाघवस्य सहकारित्वात्। द्वितीयाद्यनुमानेषु बहिरिन्द्रियाप्रत्यक्षत्वमुपाधिः। तुल्ययोगक्षेमत्वेऽपि सन्दिग्धोपाधित्वात्।

अस्मत्पितृचरणास्तु, जनकत्वस्य केवलान्वयित्वेन व्यतिरेकाप्रसिद्ध्या नान्वयव्यतिरेकित्वम्। न च शक्तावेव तत्प्रसिद्धिरन्योन्याश्रयात्। नापि पण्डापूर्वपरार्द्धसङ्ख्योस्तत्प्रसिद्धिः। अप्रत्यक्षयोः शब्दैकवेद्ययोस्तयो र्व्याप्तिग्राहकेण प्रत्यक्षेण साध्यहेतुव्यतिरेकस्य ग्रहीतुमशक्यत्वादित्याहुः।१०।

मकरन्दः– अदृष्टाद्वारकत्वेन विशेषणाद्वा, मन्त्रस्याऽऽशुविनाशित्वेनादृष्ट-द्वारकत्वात्। नचात्र विपक्षबाधकाभावः। अप्रत्यासन्नस्य जनकत्वेऽतिप्रसङ्गादिति दिक्।

नन्वतीन्द्रियत्वं यदि साक्षात्काराविषयत्वं तदा *अस्मन्मते* अप्रसिद्धिः। लौकिकत्वविशेषणे परस्य व्यावर्त्याप्रसिद्धिरित्यत आह **तत्त्वञ्चेति**। संयोगाद्यन्यतमप्रत्यासत्त्यनाश्रयत्वमित्यर्थः। साक्षात्कारपदं विषयजन्यज्ञानपरम्। साक्षात्कारश्च सन्निकर्षविशेषणमिति न व्यर्थविशेषणते*त्यन्ये*। अतीन्द्रियप्रतियोगिकाभावाभिप्रायेणाह **प्रतिबन्धकेति**। *भट्टमतेन* वा।

प्रथमानुमाने अतीन्द्रियस्यापि पक्षत्वादुपाधिः पक्षाव्यापकविपर्यय इत्यत आह **द्वितीयादीति**। न चात्रापि गुरुत्वस्थितिस्थापकादिकमादाय वृक्षादौ साध्याव्याप्तिः। कार्यानुकूलत्वेन दाहानुकूलत्वाभिधानात्। अगुरुत्वरूपपक्ष-धर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापकत्वाद्वेत्याहुः। **नान्वयेति**। तन्मते केवलान्वयिनो हेत्वाभासत्वादिति भावः। **अप्रत्यक्षयोरिति**। न च मानान्तरात्तद्ग्रहः। तद्धि न शब्दः। तस्य सिद्धार्थत्वात्। नाप्यनुमानम्, जनकत्वसत्त्वे तादृशधर्म-वत्त्वस्याऽऽवश्यकतया जनकत्वाभावेन साध्याभावोऽनुमेयः। जनकत्वाभावानु-मानञ्च तादृशधर्माभावेन तादृशधर्मस्य जनकतावच्छेदकस्य सत्त्वे जनकत्वस्यावश्यकत्वादित्यन्योन्याश्रयात्। अनवस्थानादि*त्यन्ये*। उपमानस्य नियतविषयत्वादनभ्युपगमाच्चेति भावः। न च पण्डापूर्वादौ स्वध्वंससाक्षात्कार जनकतया जनकत्वाभाव एव नेति वाच्यम्। अतीन्द्रियत्वेन योगिज्ञानस्य विषयाजन्यतया च साक्षात्काराजनकत्वात्। तन्मते ध्वंसस्याधिकरणादिरूपतया तदसाध्यत्वाच्चेति भावः।१०।

स्यादेतत्। मा भूत् सहजशक्तिः, आधेयशक्तिस्तु स्यात्। दृश्यते हि प्रोक्षणादिना व्रीह्यादेरभिसंस्कारः। कथमन्यथा कालान्तरे तादृशानामेव कार्यविशेषोपयोगः? न च मन्त्रादीनेव सहकारिणः प्राप्य ते कार्यकारिण इति साम्प्रतम्। तेषु चिरध्वस्तेष्वपि कार्योत्पादात्। नापि प्रध्वंससहायास्ते तथा। एवं हि यागादिप्रध्वंसा एव स्वर्गादीनुत्पादयन्तु, कृतमपूर्वकल्पनया।

आमोदः– विशेषणाद्यभावस्य विशिष्टेन विरोधः। परस्परविरहात्मकं चेत्, तदा विशेषणाद्यभावाभावो विशेषणादिरेव विशिष्टः स्यात्। परस्परविरहव्याप्यत्वं तदाक्षेपकत्वञ्च विशिष्टपदार्थस्य भेदे स्यात्, स च त्वया नाभ्युपगम्यत एवेति चेत्? मैवम्। विशेषणविशेष्यसम्बन्धविरोधित्वेनैवानुगमात्। न हि विशेषणाभावे विशेष्याभावे वा तयोः सम्बन्धः सम्भवति। स च सम्बन्ध उभयोरुपदिष्ट-प्रत्ययजननयोग्यत्वमेव। न चैकविरह एव नास्ति। किं शक्तेन शक्तिजनने कथमस्तु शक्तिरन्यादृशेन जनने कथमस्तु शक्तिः? भावानपेक्षभवने नियमप्रकोपो नित्यैव सेति वचने वचनप्रकोप इत्यादि दूषणमूह्यम्।

आधेयशक्तिं निषेद्धुमुपक्रमते – **स्यादेतदिति**। स्वसमवायिसहोत्पन्नत्वं सहजत्वम्, उत्पन्ने समवायिनि मन्त्राद्यधीनत्वमाधेयत्वम्। विप्रतिपत्तिस्तु – प्रोक्षणं व्रीहिनिष्ठातीन्द्रियधर्मजनकं न वा इति। न च गुरुत्वेनार्थान्तरं तस्य कारणगुणजन्यत्वेनैव, मानसिद्धत्वात्। प्रोक्षणजन्यातिशय उभयसिद्धः। स व्रीहिसमवेतो न वेति। **दृश्यते हीति**। प्रमीयते हीत्यर्थः। **अभिसंस्कारो**ऽभिमतः संस्कारः कालान्तरभाविफलानुगुण इत्यर्थः। मानमाह – **कथमन्यथेति**। **तादृशानां** प्रोक्षितानां **कार्यविशेषो**ऽवघातादिः। तथा च व्रीहिनिष्ठस्थिरसंस्कारं विना प्रोक्षितानां कालान्तरभाव्यवघातादौ नोपयोगः स्यादित्यर्थापत्त्या तद्गतः संस्कारः सिध्यतीत्यर्थः।

'प्रोक्षिता एव व्रीहयोऽवघाताय कल्पन्ते' इति वाक्यशेषमप्यत्र प्रमाणयन्ति। अर्थापत्तावन्यथोपपत्तिं निरस्यति – **न चेति**। **मन्त्रादीन्** प्रोक्षणादिकारणमन्त्रादीन्, **ते** प्रोक्षणादयः, **तेषु** मन्त्रादिषु। ननु मन्त्रादिध्वंससहकृता प्रोक्षणादयोऽवघातहेतवः स्युरित्याह – **नापीति**। यागादीनामपूर्वव्यापारकल्पना न स्यात्। प्रत्युत कारणीभूताभावप्रतियोगित्वेन यागादीनां स्वर्गादिप्रतिबन्धकत्वमेव पर्यवस्येत्।

प्रकाशः– प्रोक्षणजन्यः कालान्तरकार्यानुकूलोऽतीन्द्रियो धर्मोऽस्तीत्युभयसिद्धम्। स व्रीहिसमवेतो न वेति नाधेयशक्तौ संशयः। ग्रन्थे प्रथमं संस्कारसाधन स्यार्थान्तरतापत्तेः। किन्तु प्रोक्षणं व्रीहिनिष्ठातीन्द्रियधर्मजनकं, न वा?। व्रीहिगुरुत्वजनके तज्जनकत्वं प्रसिद्धम्। तत्राधायकं शक्तावाह दृश्यते हीति। ननु व्रीहीन् प्रोक्षतीत्येतावन्मात्रं श्रूयते, न तु प्रोक्षणस्य संस्काराधायकत्वमपीत्यत आह **कथमिति**। कालान्तरेऽवघातादौ प्रोक्षितस्यैव व्रीहेर्विनियोगो न स्यादित्यवश्यं प्रोक्षणजन्यः संस्कारो व्रीहिनिष्ठः स्थिरोऽभ्युपगन्तव्य इत्यर्थः। नन्ववघातादौ कथं प्रोक्षितस्यैव व्रीहेरन्वयः, व्रीहीनवहन्तीत्यस्य व्रीहिमात्रान्वयेऽप्युपपत्तेः। अथावघाते व्रीहिविशेषाकाङ्क्षायां प्रोक्षितानामेवान्वयो व्यक्तिवचनानां सन्निहितविशेषपरत्वमिति न्यायात्। अन्यथा प्रकरणोपस्थितहाने तदन्योपस्थितिकल्पने च गौरवमिति चेत्। तर्ह्येकस्य द्वयं यत्र प्रोक्षणं तत्रावघातो, न तु प्रोक्षणविशिष्ट इति। तस्य कारणत्वाज्ञानान्न तज्जन्यातिशयकल्पनम्। प्रोक्षिता व्रीहयोऽवघाताय कल्पन्ते इति वाक्यशेषादिति चेत्, न। तेनाप्यतीतप्रोक्षणे व्रीहाववघातान्वयो बोध्यत इति प्रोक्षणध्वंसस्य हेतुतापत्तेः। मैवम्, प्रोक्षणमवघातजनकं प्रमाणतस्तदर्थमुपादीयमानत्वाद् व्रीहिवत्। न च हेत्वसिद्धिः। अप्रोक्षितेऽवघाता सम्भवादिति भावः।

मकरन्दः– **किन्त्विति**। जलसंयोगेनार्थान्तरवारणायातीन्द्रियेति। न चादृष्टस्यापि स्वरूपसम्बन्धेन व्रीहिनिष्ठत्वाभ्युपगमात् सिद्धसाधनम्। व्रीहिसमवेतेत्यर्थात्।

तटस्थः शङ्कते **नन्विति**। प्रोक्षणस्य कालान्तरभाविफलजनकत्वे मानाभावान्न व्यापारत्वेनातिशयकल्पनमिति भावः। **प्रमाणत इति**। प्रमाणमूलकावघातोद्देश्य कोपादानविषयत्वादित्यर्थः। ननु प्रमाणमिदमेव तदुपादानहेतुरन्यद्वा?। नाद्यः, हेतुज्ञाने सत्येतत्प्रमाणप्रवृत्तिरेतत्प्रमाणवृत्तौ च तद्घटितहेतुज्ञानमित्यन्योन्याश्रयात्। नापरः, तदसत्त्वात्। सत्त्वे वा तन्न साक्षादुपादानहेतुः। प्रवृत्तेर्ज्ञानजन्यत्वात्। किन्तु प्रोक्षणमवघातजनकमिति ज्ञानद्वारा। तथा च सिद्धसाधनमिति।

अत्र वदन्ति। प्रकरणादिसहकृतवेदस्यैवावघातजनकत्वबोधकत्वमिति। सिद्धान्तानुसारादेतदुक्तम्। संसर्गविधया च ततस्तद्धेतुत्वावगम इति तत्प्रकारकबुद्ध्यभावान्न सिद्धसाधनावकाशः। शब्दादेरपि परं प्रति लिङ्गविधया प्रयोगाच्चेति। वस्तुतो व्यक्तिवचनन्यायेनावघाते प्रोक्षितव्रीहेरन्वये प्रोक्षणस्य बाधकं विना विशेषणत्वं, नोपलक्षणत्वमिति। एतदभिप्रायेणाह **अप्रोक्षित** इति।

तेषामनन्तत्वादनन्तफलप्रवाहः प्रसज्यते इति चेत्, अपूर्वेऽपि कल्पिते तावानेव फलप्रवाह इति कुतः? अपूर्वस्वाभाव्यादिति चेत्, तुल्यमिदमिहापि। तावतापि तत्प्रध्वंसो न विनश्यतीति विशेषः।

स्यादेतत्। उपलक्षणं प्रोक्षणादयो, न तु विशेषणम्। तथा चाविद्यमानैरपि तैरुपलक्षिता व्रीह्यादयस्तत्र तत्रोपयोक्ष्यन्ते। यथा गुरुणा टीका, कुरुणा क्षेत्रमिति चेत्, तदसत्। न हि स्वरूपव्यापार-योरभावेऽप्युपलक्षणस्य कारणत्वं कश्चिदिच्छति, अतिप्रसङ्गात्। व्यवहारमात्रं तु तज्ज्ञानसाध्यं, न तु तत्साध्यम्। तज्ज्ञानमपि स्वकारणाधीनं, न तु तेन निरन्वयध्वस्तेन जन्यते। अस्तु वा तत्राप्यतिशयकल्पना, किन्नश्छिन्नम्?

आमोदः– ध्वंसव्यापारत्वे यागादीनां फलप्रवाहानन्त्यमतस्तत्रापूर्वमेव व्यापार इति शङ्कते – **तेषामिति**। यद्यपि ध्वंसव्यापारत्ववादिनामनन्तफलप्रवाहजनक कल्पापादकं नास्ति, न हि यावद्व्यापारसत्त्वं फलमिति नियमः, संस्कारे पूर्ववद्व्यभिचारात्, तथापि विवादाध्यासितः कालो यदि चैत्रस्वर्गोत्तरत्वे सति तत्स्वर्गजनकयाग-व्यापारवान् स्यात्, तत्स्वर्गाधारः स्यादिति विवक्षितत्वात्। **अपूर्वेऽपीति**। तत्रापि नियामकं किञ्चिन्नास्तीत्यर्थः। **अपूर्वेति**। श्रुत्युक्तकालावच्छिन्न फलजनकस्वाभाव्यादित्यर्थः। **तुल्यमिति**। तावत्कालफलजनकस्वभावत्वमेवेत्यर्थः।

अवघातादावुपयोगः प्रोक्षणादीनामुपलक्षणतयैव स्यादिति तदनुरोधेन नाधेयशक्तिकल्पनमिति शङ्कते – **स्यादेतदिति**।

एतद्दूषयति – **स्वरूपेति**। नन्वेवं गुरुकुरुभ्यामपि टीकाक्षेत्रयोरुपलक्षणं न स्यात्। न हि ताभ्यां तत्र व्यापारः कश्चिदाहित इत्यत आह – **व्यवहारमात्रन्त्विति**। **तज्ज्ञानं** साध्यम्। **न तु तत्साध्यं** कुरुगुरुज्ञानसाध्यम्। न तु कुरुगुरुसाध्यमित्यर्थः। ननु तर्हि तज्जनितव्यापारं विना ज्ञानमपि कथं स्यादित्यत आह – **तज्ज्ञानमपीति**। कुरुणा गुरुणा वेत्यर्थः। कुरुणा क्षेत्रं कृतमिति शाब्दज्ञानजनितसंस्कारप्रभवस्मृत्यधीनो व्यवहार इति भावः। ननु कुरुगुरुभ्यां तज्ज्ञानमपि चेन्न जनितं तदा कथमुपलक्षणत्वमपीत्यत आह – **अस्त्विति**। टीकायां वाक्यसमूहे क्षेत्रे च ताभ्यां काचिच्छक्तिराहितेत्यर्थः। यद्वा अभ्युपेत्याह – **अस्त्विति**।

प्रकाशः– एतावता तज्जन्यव्यापारमात्रसिद्धावपि न संस्कारः सिद्ध्यति, ध्वंसेनैवोपपत्तेरित्याशङ्क्य निराकरोति **नापीति**। **तेषामिति**। ननु ध्वंसव्यापारत्ववादिनां व्यापारस्य यावत्सत्त्वं फलोत्पादकत्वाप्रसिद्धिः। न च व्यापारकालस्य फलपूर्वत्वनियमेन फलानन्त्यापत्तिः। उत्तरकालीनकीर्त्तनादिनाश्यापूर्वे व्यभिचारात्। मैवम्। विवादाध्यासितः कालो यदि चैत्रस्वर्गोत्तरत्वे सति तत्स्वर्गजनकयागव्यापारवान् स्यात्, तत्स्वर्गाधारः स्यादित्यापादनार्थत्वात्। **अपूर्वेति**। प्रतिनियतकालावच्छिन्नस्वर्गजनकस्वभावत्वादित्यर्थः। **तुल्यमिति**। तर्हि तद्ध्वंसस्यापि स एव स्वभाव इत्यग्रे सन्नपि न स्वर्गोत्पादक इत्यर्थः। अथ यागध्वंसो न व्यापारः, प्रतियोगिध्वसंयोरेकत्राजनकत्वादुपजीव्ययाग–कारणत्वभङ्गापत्तेः, प्रत्युत प्रतिबन्धकत्वापत्तिः, कारणीभूताभावप्रतियोगित्वादिति मतम्। तदपि तुल्यमिति भावः।

स्यादेतदिति। यथाऽन्यत्रातीतेनाप्युपलक्षणेनोपलक्ष्यव्यावृत्तिबुद्धिस्तथा प्रोक्षणेनापि व्रीहेरिति तादृशानामेवोपयोगोऽन्यथासिद्ध इत्यर्थः। **न हीति**। अन्यत्राप्यतीतेनोपलक्ष्यव्यावृत्तिबोधो न जन्यते। स्वरूपव्यापारयोरसत्त्वात्। किन्तु तज्ज्ञानेनेत्यर्थः। तर्हि तज्ज्ञानमेव, तज्जन्यं स्यादित्यत आह **तज्ज्ञानमपीति**। ननु स्वकारणमपि तदेवेत्यत आह **न त्विति**। **निरन्वयतध्वस्तेन** अनुत्पादित व्यापारध्वस्तेनेत्यर्थः। **तत्रापीति**। उपलक्षणाभिमतेऽपीत्यर्थः। स्रगादिस्तन्निर्मितो

मकरन्दः– **कीर्त्तनादीति**। न च शब्दबोधितनाशकानाश्यत्वं विशेषणम्। प्रतिकृत्यापूर्वप्रतिरुद्धे कृत्यापूर्वे व्यभिचारात्। न च तत्र प्रतिरोधो नाशो वेति कथं निर्णय इति वाच्यम्। तथापि सन्दिग्धानैकान्तादिति भावः। **विवादाध्यासित इति**। उभयसिद्धचैत्रस्वर्गाधारकालोत्तरकाल इत्यर्थः। तेन कालमात्रपक्षत्वे स्वर्गकालभाग इष्टापत्तिः। तत्पूर्वकाले सत्यन्तापादकासिद्धिरिति दूषणमलग्नकं बोध्यम्। स्वर्गपूर्वकाले व्यभिचारादाह सत्यन्तम्। किञ्चित्स्वर्गोत्तरत्वं तत्रापीत्यत उक्तं **चैत्रेति**। तद्व्यापारजन्यस्वर्गोत्तरत्वे सतीत्यर्थः। स्वर्गान्तरजनक–व्यापारान्तरवति स्वर्गपूर्वकाले व्यभिचारादाह **तदिति**। तथा च फलोपहितयागव्यापारस्य यावत् सत्त्वं फलोपपादकत्वमिति नियमेन फलानन्त्यापत्तिरिति तात्पर्यम्। अन्यस्वर्गाधारत्वेनेष्टापत्तिवारणायापाद्ये **तदिति**। तद्व्यापारजन्यस्वर्गाधारः स्यादित्यर्थः। आद्यस्वर्गोत्तरतत्स्वर्गाधारकालो दृष्टान्तः।

यद्वा, यागादेरप्युपलक्षणत्वमस्तु। तदुपलक्षितः कालो यज्वा वा स्वर्गादि साधयिष्यति, कृतमपूर्वेण। न च देवदत्तस्य स्वगुणाकृष्टाः शरीरादयो भोगाय, तद्भोगसाधनत्वात्, स्रगादिवदित्यन्वयिबलाद पूर्वसिद्धेर्नाविशेष इति साम्प्रतम्। इच्छाप्रयत्नज्ञानैर्यथायोगं सिद्धसाधनात्। न च तद्रहितानामपि भोग इति युक्तिमत्, येन ततोऽप्यधिकं सिध्येत्। नापि स्वगुणोत्पादिता इति साध्यार्थः, मनसाऽनैकान्तिकत्वात्। नापि कार्यत्वे सतीति विशेषणीयो हेतुः। तथाप्युपलक्षणैरेव सिद्धसाधनात्। असतां तेषां कथमुत्पादकत्वमिति चेत्, तदेतदभिमन्त्रणादिष्वपि तुल्यम्। तस्माद्भावभूतमतिशयं जनयन्त एव प्रोक्षणादयः कालान्तरभाविने फलाय कल्पन्ते। प्रमाणतस्तदर्थमुपादीयमानत्वात्, यागकृषिचिकित्सावदिति। अन्यथा कृष्यादयो दुर्घटाः प्रसज्येरन्। बीजादीनामापरमाण्वन्तभङ्गात्,

---

आमोदः- प्रोक्षणादीनामुपलक्षणत्वे दोषान्तरमाह – **यद्वेति**। नन्वपूर्वे मानान्तरमस्ति न त्वाधेयशक्तौ इत्यत आह – **न चेति**। स्वगुणसहकारिणः स्वगुणेत्यादिना इति वा। आद्ये तावदाह – **इच्छेति**। **यथायोगमिति**। सूपकारसाधितान्ने राज्ञ इच्छामात्रं सहकारि। परदेशभोगे प्रयत्नोऽपि ज्ञानं सर्वत्रेत्यर्थः। **तद्रहितानामिति**। इच्छादिरहितानामित्यर्थः। अन्त्यमाशङ्क्य निराचष्टे – **नापीति**। उपलक्षणैर्जन्मान्तरज्ञानादिभिः सिद्धसाधनमर्थान्तरमित्यर्थः। **अतिशयमिति**। व्रीहिनिष्ठमिति शेषः। (ननु .....?) आत्मनिष्ठ एव किं न स्यादिति वाच्यम्, यो यत्र यदुद्देशेनोपादीयते स तत्र फलजनक इति व्याप्तेः। यद्वा यत्रावघातरूपं फलं चिरभावि तदनुगुणो व्यापारस्तु समानाधिकरणः कल्पयितुमुचित इति भावः। न च विहितत्वेन पुरुषनिष्ठातिशयजनकत्वमनुमेयम्, अप्रयोजकत्वाच्चिकित्सादिना व्यभिचाराच्चेति। **तदर्थमिति**। कालान्तरभाव्यवघातफलार्थमित्यर्थः। यद् यत्कालान्तरभाविफलार्थमुपादीयते तत्तदनुगुणमतिशयं जनयतीति सामान्यव्याप्तौ दृष्टान्तमाह – **यागेति**। यागेऽपूर्वमुभयसिद्धमिति तदुल्लङ्घ्याह – **अन्यथेति**। आधेयशक्तिं विनेत्यर्थः। कृषिकर्मणा कालान्तरभाविशस्यावगमाय बीजभूम्यादेरतिशयाधानं, चिकित्साकर्मणा कालान्तरभाव्यारोग्यफलहेतुः शरीरेऽतिशयाधानमित्यर्थः। ननु स्वरूपत एव बीजमनुवर्तते, किं तत्रातिशयेनेत्यत आह – **बीजादीनामिति**। ननु कलमत्वयवत्वादिजात्यालिङ्गिताः परमाणव एव

तेषु चावान्तरजातेरभावान्नियतजातीयकार्यारम्भानुपपत्तेः। अत्रोच्यते –

संस्कारः पुंस एवेष्टः प्रोक्षणाभ्युक्षणादिभिः।
स्वगुणाः परमाणूनां विशेषाः पाकजादयः।।११।।

यथा हि देवताविशेषोद्देशेन हुताशने हविराहुतयः समन्त्राः प्रयुक्ताः पुरुषमभिसंस्कुर्वते न वह्निं, नापि देवताः। तथा व्रीह्याद्युद्देशेन प्रयुज्यमानः प्रोक्षणादिः पुरुषमेव संस्कुरुते, न तम्। यथा च कारीरीजनित–संस्काराधारपुरुषसंयोगाज्जलमुचां सञ्चरणजलक्षरणरूपा क्रिया, तथा

आमोदः– कलमयवाङ्कुरकारिण इति किं तत्रातिशयकल्पनयेत्यत आह – **तेषु चेति।** पृथिवीत्वावान्तरजातेः परमाणावनभ्युपगमादिति भावः।१०।

प्रोक्षणादिनातिशयो जन्यत एव, न तु व्रीहीत्यादौ इत्यत आह – **संस्कार इति। पुंस इति** पुंसीत्यर्थः, आत्मनीति यावत्। प्रोक्षणावान्तरभेदोऽभ्युक्षणम्। आदिपदान्मन्त्रादीनामुपग्रहः। न च व्रीहिनिष्ठ एव किं न कल्प्यत इति वाच्यम्, व्रीहिषु यद्येक एव संस्कारो व्यासज्यवृत्तिस्तदा कस्यचिद् ब्रीहेर्नाशान्नाशप्रसङ्ग आश्रयनाशाविशेषात्, वृक्षादयः (.......?) किञ्चिदाश्रयनाशादेव नश्यन्ति प्रत्यभिज्ञा तु खण्डवृक्षनिबन्धना, वृक्षनाशेनानुपपन्ना। प्रतिव्रीहि नानाशक्तिकल्पने गौरवम्। पुरुषनिष्ठसंस्कारेण व्रीहीणां स्वरूपसम्बन्ध एव। अतस्तत्फलभागितयैव द्वितीयोपपत्तिरिति भावः। परानुमाने कृष्यादिदृष्टान्तासिद्धिं स्वानुमाने व्यभिचाराभावञ्चाह – **स्वगुणा इति। विशेषा इति** विशेषका इत्यर्थः। तत्रातिशयो दृष्टद्वारसद्भावादिति साध्यवैकल्यमिति भावः। न च परमाणोराधेयशक्तिः पाकगुणा वा सन्तु, न कश्चिद्विशेष इति वाच्यम्, तदारब्धावयविनि तज्जातीयगुणोपलम्भात्तत्र कल्पनाया आवश्यकत्वात्। आदिपदात् संयोगविशेषा गृह्यन्ते।

यो यदुद्देश्येन क्रियते स तद्गतातिशयाधायक इति परव्याप्तौ व्यभिचारमाह – **यथा हीत्यादि।** देवतायाः प्रीतिहेतुतया व्रीह्यादीनां च व्यापारभागितया उद्देश्यत्वमविशिष्टमिति भावः। न च यद्गतफलार्थितया यत् क्रियते तत् तद्गतातिशयजनकमिति व्याप्तेरनुमानं, श्येनेन व्यभिचारात्। न च तत्रापि शत्रावेव दुरदृष्टं श्येनेन जन्यत इति वाच्यम् – 'शास्त्रदेशितं फलमनुष्ठातरी'– त्युत्सर्गस्य बाधकं विना त्यागायोगादिति भावः। तर्हि अवघातादौ कथं व्रीहेरुपयोग इत्यत आह – **यथा चेति।** प्रोक्षणादिजन्यादृष्टवदात्मसंयोगाद् व्रीह्यादीनामुत्तरक्रिया अवघातादिरित्यर्थः।

प्रकाशः- दृष्टान्तः। **स्वगुणाकृष्टा इति**। स्वगुणसहकारिण इत्यर्थः, स्वगुणोत्पादिता इति वा। आद्ये, **इच्छेति**। अन्त्यमाशङ्क्य निराचष्टे **नापीति**। **उपलक्षणैरिति**। जन्मान्तरीयज्ञानेच्छाप्रयत्नैरित्यर्थः। सिद्धसाधनपदमत्रेष्टहानिपरम्। यथाश्रुतेऽप सिद्धान्तापातात्।

तस्मादिति। यद्यपि पुरुषनिष्ठातिशयेन सिद्धसाधनम्, तथापि व्रीह्यादिगतेति साध्यं विशेषणीयम्। यो यदुद्देशेनोपादीयते स तत्रातिशयजनक इति व्याप्तेरिति *संप्रदायविदः*।

अस्मत्पितृचरणास्तु सोऽतिशयो लाघवात् फलसमानाधिकरण इति व्रीहिनिष्ठ एव। तेन तत्समवहितत्वं व्रीहेः साक्षात् सम्बन्धात्। पुरुषनिष्ठत्वे व्रीहीणां साक्षात् सम्बन्धाभावात् परम्परासम्बन्धे गौरवं च। न च विहितत्वेन पुरुषनिष्ठातिशय-जनकत्वमनुमेयम्। अप्रयोजकत्वात्। चिकित्सादिना व्यभिचाराच्चेत्याहुः।

दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यमपाकरोति **अन्यथेति**। प्रोक्षणादिजन्यातिशय सिद्धावपि तस्य व्रीहिनिष्ठत्वं न सिद्ध्यतीत्याह **संस्कार इति**। अतिशय धर्मिग्राहकमानादेव लाघवसहकृतात् स एक एव सिद्ध्यति, पुरुषनिष्ठश्च। तथाहि, व्रीहिगतत्वे न तावत्सकलव्रीहिनिष्ठ एक एव, एकव्रीहिनाशे तन्नाशापत्तेः। न च यावदाश्रयनाशात्तन्नाशः, लाघवादाश्रयनाशस्यैव तन्त्रत्वात्। वृक्षादौ किञ्चिदाश्रयनाशात्तन्नाशेऽपि खण्डपटन्यायेन पुनरुत्पत्तिरित्यनेको वाच्यः। न चैवमेकव्रीहिनाशे फलानुदयः, तावत्संस्काराणामभावादिति वाच्यम्। संस्कारत्वेनैव प्रयोजकत्वात्। किञ्चित्तत्समवधानेऽपि दण्डादिवत् कार्यसत्त्वादिति गौरवम्। न च विनिगमकाभावः। प्रोक्षणमपूर्वजनकं, दृष्टद्वाराभावे सति कालान्तरभाविफलजनकतया विहितत्वात्, यागवत्। न चाप्रयोजकत्वम्, यागादीनामपूर्वजनकतायामुक्तरूपस्यैव प्रयोजकत्वात्, अन्यस्याननुगतत्वादिति

मकरन्दः- जन्मान्तरीयेति। निरन्वयध्वस्तस्यापि जनकत्वाभ्युपगमादिति भावः। **संस्कारत्वेनेति**। न चैवमनेकव्रीह्युपादानानुपपत्तिः। होमादिनिर्वाहार्थं तदुपगमात्। यद्यपि विनिगमकमुक्तमेव, तथाप्यपूर्वं तदित्यत्र विनिगमकाभावमाशङ्क्य निराकरोति **न चेति**। **दृष्टद्वारेति**। मङ्गलादौ व्यभिचारवारणाय सत्यन्तम्। **दृष्टत्वं** क्लृप्तत्वम्। तत्तद्दृष्टत्वं विशिष्यैव वक्तव्यमिति नान्यतरासिद्धिरित्यप्याहुः। मदुक्त*मनुमानप्रकाशे* द्रष्टव्यम्। साक्षात् पापध्वंससाधने प्रायश्चित्ते व्यभिचारवारणाय **कालान्तरेति**। कालान्तरत्वञ्च स्वानन्तरक्षणान्यत्वम्। अन्यथा विहितपदवैयर्थ्यापत्तेः। एवञ्चापूर्व एव

प्रकाशः– भावः। कृष्यादिना व्यभिचाराभावं परोक्तदृष्टान्तस्यासिद्धिं चाह **स्वगुणा इति**। तत्र दृष्टद्वारस्यैव सम्भवान्न व्यभिचारः। न वा तत्र परमाणौ अतिशय इति दृष्टान्तः साध्यविकल इत्यर्थः। यद्यपि पाकजा रूपादयोऽपि तन्निष्ठातिशया एवेति न साध्यवैकल्यं, तथाप्याधेयशक्त्यभावमात्रे तात्पर्यम्। न ह्याधेयशक्तिपाक-जयोरतीन्द्रियत्वाविशेषात् कल्पनायामविशेषः। परमाणाववयविरूपादि-सजातीयपाकजरूपाद्युत्पत्तेरावश्यकत्वात्। तत एव नियतकार्यजननोपपत्तौ शक्त्याधानकल्पने गौरवादिति भावः।

यो यदुद्देशेनोपादीयते इत्यत्र परोक्तानुमाने व्यभिचारमाह **यथा हीति**। देवतायाः सिद्धत्वे यथा प्रीतिभागितयोद्देश्यत्वं तथा व्यापारभागितया व्रीहेरपीत्यर्थः। न च यद्गतफलार्थितया यत्क्रियते तत् तद्गतमेव तदनुकूलमतिशयं जनयतीति व्याप्तेरनुमानं स्यादिति वाच्यम्। शत्रुवधमुद्दिश्य प्रवर्तितेन श्येनयागेन व्यभिचारादिति भावः। अथात्मनिष्ठसंस्कारस्य व्रीहिणा सम्बन्धाभावान्न मिथः सहकारित्वं स्यादित्यत आह **यथा चेति**। संस्कारवदात्मसंयोगो मेघस्येव व्रीहेरपि तुल्य इत्यर्थः।

न च परम्परासम्बन्धे गौरवम्, प्रामाणिकत्वादिति भावः। नन्वात्मनो ऽनधिकृतस्यापि सम्भवान्न तन्निष्ठः संस्कारः सम्भवतीति व्रीहिनिष्ठ एव स स्यादित्यत आह **यथा चेति**। कर्तृवैगुण्ये संस्कारो नोत्पद्यते। तत्साद्गुण्यस्यापि हेतुत्वादित्यर्थः। न चाग्रे प्रधानयागाद्यभावाद् यत्र प्रधानापूर्वाभावस्तत्र प्रोक्षणजन्यापूर्वस्य कथं नाशः, तस्य भोगेतरानाश्यत्वादिति वाच्यम्। इतराङ्गापूर्वतुल्यत्वादिति भावः। **बर्हिष इवेति**। उत्पादिताङ्गापूर्वस्य बर्हिर्यागस्येव विनियुक्तविनियोगविरोधादित्यर्थः। यद्वा बर्हिस्तृणाति, बर्हिषि हविरासादयतीति वचनाद्यथा बर्हिषः पुनरुपयोगो, न

मकरन्दः– व्यभिचारवारणाय तत्। तच्च मन्मते कल्प्यमिति भावः। वस्तुतो धर्मजनकत्वमत्र साध्यम्। तथा च निषिद्धकर्मणि व्यभिचारवारणाय **तदिति**। **कृष्यादिनेति**। न च विहितत्वाभावादेव न तत्र व्यभिचार इति वाच्यम्। प्रत्येकवर्णोपायविभागविधिना वैश्यस्य कृषिविधानादिति भावः।

शत्रुवधमिति। यद्यपि शत्रुवधो न शत्रुगत उद्देश्यः। तथा सति स्ववध एवोद्देश्यः प्रसज्ज्येत। तस्यैव तच्छत्रुत्वात्। किन्तु स्वगतशत्रुवधमुद्दिश्य श्येनः क्रियते। तथापि वधस्य संयोगध्वंसात्मकमरणरूपस्य शत्रुनिष्ठतया तथोक्तम्। एतदपि *परमते*। *अस्मन्मते* श्येनापूर्वस्य शत्रुनिष्ठत्वमेव, फलोपपादकमपूर्वं फलाश्रये कल्प्यते इति वक्ष्यमाणयुक्तेरिति बोध्यम्। *अस्मन्मते* त्वप्रयोजकत्वे तात्पर्यम्।

व्रीह्यादीनां तत्तदुत्तरक्रियाविशेषाः। यथा चैकत्र कर्तृकर्मसाधनवैगुण्यात् फलाभावस्तथा परत्रापि। आगमिकत्वस्योभयत्रापि तुल्यत्वात्। न तर्हि बर्हिष इव व्रीह्यादेः पुनरुपयोगान्तरं स्यात्। उपयोगे वा तज्जातीयान्तरमप्युपादीयेत, अविशेषात्। न, विचित्रा ह्यभिसंस्काराः केचिद् व्याप्रियमाणोद्देश्यसहकारिण एव कार्ये उपयुज्यन्ते। किमत्र क्रियतां, विधेर्दुर्लङ्घ्यत्वात्। यथा चाभिचारसंस्कारो यं देहमुद्दिश्य प्रयुक्तस्तदपेक्ष एव तत्सम्बद्धस्यैव दुःखमुपजनयति, नान्यस्य। न वा तदनपेक्षः। एवमभिमन्त्रणादिसंस्कारा अपि भवन्तो न मनागपि नोपयुज्यन्ते। कथं

आमोदः– ननु प्रोक्षणादीनामपूर्वजनकत्वे कदाचित् फलाभावः कथं स्यादपूर्वस्य समस्तदृष्टोपपादकत्वादित्यत आह – **यथा चेत्यादि**। कारीर्यां यथा कर्मादिवैगुण्यात् फलाभावस्तथा प्रकृतेऽपि स्यादित्यर्थः। नन्वागमसिद्धत्वेनावश्यमेव फलेन भाव्यमित्यत आह – **आगमिकत्वस्येति**। एवं सति कारीर्यामपि फलाभावः कदाचिन्न स्यादित्यर्थः। ननु व्रीहिश्चेन्न संस्क्रियते तदावघातादौ कथं तस्यैव पुनरुपादानं विनियुक्तविनियोगविरोधात्? अत्र **बर्हिष** इति व्यतिरेके दृष्टान्तः। यथा बर्हिषः पुनरुपादानप्रापकं वचनमस्ति 'दर्भाः कृष्णाजिनम् इति, न तथात्रास्तीत्याह – **न तर्हीति**। 'बर्हिस्तृणाति', 'बर्हिषि हविरासादयति इतिवद् यथा बर्हिषः पुनरुपादानं न तथा प्रकृते स्यादिति व्यतिरेकदृष्टान्त **इत्येके**। 'इड़ो यजति', 'बर्हिर्यजति, बर्हिर्यजतीति विहितस्य बर्हिर्यागस्य यथा न पुनरुपादानं, तथा व्रीहेरपि न स्यादित्य**परे**। ननु 'व्रीहीन् प्रोक्षति', 'व्रीहीनवहन्ति', 'व्रीहीन् पिनष्टी'त्यवघातादावपि व्रीहिकर्म नैव प्रतीयत इति पुनरुपयोगः कथं न स्यादित्यत आह – **उपयोगे वेति**।

विचित्रा हीति। संस्कारवैचित्र्यादेवं स्यादित्यर्थः। वैचित्र्यमेव दर्शयति – **केचिदिति**। यस्योद्देशस्याग्रे व्याप्रियमाणता व्यापारानुवृत्तिस्तत्सहकारिण इत्यर्थः। न चैतत् सांदृष्टिकमित्याह – **यथा चेति**। श्येनयागेन कर्तरि यददृष्टं जनितं तस्य वैरिदुःखोत्पादनमुद्देश्यमतो व्यधिकरणमपि तद्वैरिदेहावच्छिन्न एवात्मनि दुःखं जनयतीत्यर्थः। **विधेरिति**। 'श्येनेनाभिचरन् यजेते'त्यत्रान्यथानुपपत्तेरिव 'व्रीहीन् प्रोक्षती'त्यत्रापि लाघवाद्व्यक्तिवचनन्यायेन, प्रोक्षिता एव व्रीहयोऽवघाताय कल्पन्त इति वाक्यशेषबलेन वा प्रोक्षितस्यैवाग्रे व्याप्रियमाणत्वमित्यर्थः। **दुर्लङ्घ्यत्वम**नतिक्रमणीयत्वम्। **भवन्त** इति जायमाना इत्यर्थः। **न मनागपि**

प्रकाशः– तथा व्रीहेरिति व्यतिरेके दृष्टान्तः। ननु व्रीहिभिर्यजेतेति यागसाधनत्वेन व्रीहीणां विधानात्तत् स्यादित्यत आह **उपयोगे वेति**। **विचित्रा हीति**। संस्कारमाहात्म्यमेवेदं यन्निष्ठव्यापारेण पुरुषसंस्कारो जनितस्तस्य व्रीह्यादेः संस्कारः सहकारी, नान्यस्येत्यर्थः। **विधेरिति**। व्रीहीनवहन्तीति विधेः पूर्वोक्तन्यायेन प्रोक्षितव्रीहिष्वेव तात्पर्यादित्यर्थः। प्रोक्षिता व्रीहयोऽवघाताय कल्पन्त इति वाक्यशेषसहितस्यैव विधेर्दुर्ल्लङ्घ्यत्वादित्यर्थः। व्याप्रियमाणोद्देश्यसहकारित्वं संस्कारस्य नासांदृष्टिकमित्याह **यथा चेति**। ननु, व्रीहान् प्रोक्षतीति द्वितीयाश्रुतेः क्रियाजन्येष्टफलभागित्वं व्रीहिणां प्रतीयते। न चापूर्वस्य व्रीहिवृत्तित्वं, साक्षात्सम्बन्धस्यौत्सर्गिकत्वादित्याह **कथमिति**। प्रोक्षणक्रियाजन्यजलसंयोगेन धात्वर्थावच्छेदकफलेन साक्षात्सम्बन्धाद् व्रीहेः कर्मत्वमित्याह **प्रोक्षणादीति**। न च जलसंयोगस्य कृत्स्नव्रीहिष्वभावः, कपिञ्जलन्यायेन व्रीहित्रयजलसंयोगेनैव बहुवचनोपपत्तेः। कालान्तरे कृत्स्नोपादनस्य च कृत्स्नोद्देश्यतामात्रप्रयुक्तत्वात्। अन्यथा शक्त्याधानपक्षेऽपि तुल्यत्वात्। न च विध्यपेक्षितफलभागित्वं द्वितीयार्थः, तदव्युत्पत्तेः। ग्रामं गच्छतीत्यादौ तदभावात्, संयोगस्यापि विध्यपेक्षितत्वाच्च। अन्यथा तदनुपयोगापत्तेः। न च जलसंयोगावच्छिन्नक्रियाविशेषः प्रोक्षणमिति कथं तदेकदेशस्य तत्साध्यतान्वय इति वाच्यम्। संयोगस्योपलक्षणत्वेनापदार्थत्वात्। अन्यथा यत्र नाधेयशक्तिः सक्तून् प्रोक्षतीत्यादौ, तत्र का गतिः। वस्तुतो ज्ञानविषययोरिव व्रीहिपुरुषसंस्कारयोः स्वरूपमेव साक्षात्सम्बन्धो, न तु समवाय इति भावः।

मकरन्दः– विध्यपेक्षितेति। जलसंयोगश्चावघातविरोधितया न तथेति भावः। **संयोगस्यापीति**। तथा च प्रकृतावघातविशेषे तस्य न विरोधित्वं नियमतस्तदनन्तरमेव तद्भावादिति भावः। **संयोगस्येति**। ननु फलस्योपलक्षणत्वे तत्तद्व्यापारमात्रस्यैव धात्वर्थत्वे त्यजिगम्योः पर्यायताऽऽपत्तिः। अवच्छेदकीभूतफलयोर्विभागसंयोगयोर्धात्वर्थाप्रवेशे स्पन्दमात्रस्यैव धात्वर्थत्वादिति चेन्न। व्यापारे ह्युपलक्षणीभूतस्यापि फलस्य प्रतीतौ विशेषणत्वमेव, इष्टसाधनताविधिपक्षे क्रियोपलक्षणस्यापीष्टस्य ज्ञानविशेषणतावत्। तदत्र फलविशिष्टो व्यापारो यदि वाच्यस्तदा शब्दात् फलविशिष्टव्यापारप्रतीतिः। अपरथा फलोपलक्षितव्यापारधीरित्युभयथापि फलांशेऽपि शक्तेः क्व प्रतीत्यविशेषो येन पर्यायता। विशेषणत्वे प्रकृते कर्मत्वानुपपत्तिरिति। वस्तुतस्तु त्यजेः स्पन्दमात्रं

तर्हि व्रीह्यादीनां संस्कार्यकर्मतेति चेत्, प्रोक्षणादिफलसम्बन्धादेव। ननु यदुद्देशेन यत् क्रियते तत्तत्र किञ्चित्करम्। यथा पुत्रेष्टिपितृयज्ञौ। तथा चाभिमन्त्रणादयो व्रीह्याद्युद्देशेन प्रवृत्ता इत्यनुमानमिति चेत्। तन्न। हविस्त्यागादिभिरनैकान्तिकत्वात्। न हि ते कालान्तरभाविफलानुगुणं किञ्चिद्हुताशनादौ जनयन्ति। किं च न दृष्टमिन्द्रियलिङ्गशब्दव्यापाराः प्रमेयोद्देशेन प्रवृत्ताः प्रमातर्येव किञ्चिज्जनयन्ति, न प्रमेये इति। कृषिचिकित्से अप्येवमेव स्यातामिति चेन्न। दृष्टेनैव पाककजरूपादि भेदेनोपपत्ताव-दृष्टकल्पनायां प्रमाणाभावात्। तथा च लाक्षारसावसेको

आमोदः- नोपयुज्यन्त इति अपि तु प्रोक्षितान् व्रीहीन् सहकारिण आसाद्योपयुज्यन्त एवेत्यर्थः। ननु व्रीहीणां न निर्वर्त्यत्वं, न च विकार्यत्वं, तथा च संस्कार्यत्वमेव वाच्यम्। तदपि संस्कारानाश्रयत्वेन न स्यादिति द्वितीया न सम्भवतीत्याशङ्कते - **कथमिति**। यदि संस्कारे कर्मता व्रीहीणां तदा पुरुषनिष्ठसंस्कारेण स्वरूपसम्बन्धेनैव तन्निर्वाहः। यदि च परसमवेतक्रियाफलशालित्वं ब्रूषे तदा प्रोक्षणस्य द्रवद्रव्यक्रियाया यत् फलं संयोगः तदाश्रयत्वेनैव तत्सिद्धिरिति परिहरति - **प्रोक्षणादीति**। प्रोक्षणफलं संयोगस्तद्द्वारा संस्कारो वा, उभयथापि नानुपपत्तिरिति भावः। यद्यपि जलसंयोगो न सर्वव्रीहिषु तथाप्युद्देश्यतयैव सर्वविनियोगः। अन्यथा शक्त्याधानेऽपि न प्रतीकारः। 'व्रीहीनिति 'कपिञ्जलानि'तिवद्बहुवचनं त्रित्वपरमिति भावः। पराभिमतमनुमानं शङ्कते - **पुत्रेष्टिरिति**। 'वैश्वानरं द्वादशकपालं चरुं निर्वपेत् पुत्रे जाते' इति विधिप्राप्तेरित्यर्थः।

'यस्मिन् जाते एतामिष्टिं निर्वपति सोऽन्नादस्तेजस्वी' इत्यार्थवादिकं फलमित्यर्थः। **पितृयज्ञः** पितृश्राद्धम्। तत्र व्यभिचारमाह -**हविरिति**। एतदेव स्फुटयति - **न हीति**। अत्रापि हुताशनादौ शक्तिराधीयत इति वादिनं प्रति व्यभिचारान्तरमाह - **किञ्चेति**। यदि च ज्ञानं स्वरूपसम्बन्धेन प्रमेयेऽपि वर्तत इति ब्रूषे, तदा प्रकृतेऽपि तुल्यमिति भावः। ***भट्टानां*** प्रमेये ज्ञानेनैव ज्ञातता जन्यते न त्विन्द्रियव्यापारेणेत्यवधेयम्।

एवमिति। शक्तिर्जनिकेत्यर्थः। **अदृष्टेति**। यद्यपि परमाणौ पाकजगुणोऽप्यदृष्ट एव, तथापि कार्योन्नेयत्वात्तस्य दृष्टत्वमिति भावः। **लाक्षेति**। बीजपूरबीजे लाक्षारसावसेकात् तत्तत्कुसुमेषु यल्लौहित्यं तदपि पाकजगुणाधीनमित्यर्थः। **व्याख्यात इति** पाकजगुणाधीनत्वेनैवेति शेषः। तत्त्वाधेयशक्तिं विना कलमबीजात्

प्रकाशः– पराभिप्रेतमनुमानमुद्भाव्यानैकान्तिकत्वं स्फुटयति **नन्विति**। **पुत्रेति**। 'वैश्वानरं द्वादशकपालं चरुं निर्वपेत् पुत्रे जाते' इति पुत्रजन्मनिमित्तको यागो यस्यायमर्थवादो 'यस्मिञ्जात एतामिष्टिं निर्वपति स पूत एव तेजस्वी अन्नादः पशुमान् भवती'ति। **पितृयज्ञः**पितृश्राद्धादि। ननु ताभ्यां पितृपुत्रगतमेवापूर्वं जन्यते, विहितक्रियाया यागस्येव कर्तृगतापूर्वजनकत्वात्। न च मुक्ते कर्तरि तददृष्टनाशात् पुत्रादौ फलाभावोपपत्तिरिति वाच्यम्। अदृष्टस्य फलानाश्यतया पुत्रादिफलाभावेनादृष्टानाशात्। अत्राहुः। फलोपपादकमदृष्टं फलाश्रये कल्प्यते, तस्य प्रथमोपस्थितत्वात्, साक्षादुपपादकत्वाच्च। मुक्ते च पितरि श्राद्धेन दोषाभावान्नादृष्टं जन्यते। न चैवं साङ्गश्राद्धस्य निष्फलत्वापत्तिः, अदृष्टोत्पत्तौ स्वरूपसतो दोषस्याङ्गस्य वैकल्यात्। अत्र किञ्चित्करत्वमात्रं साध्यम्, अतीन्द्रियत्वेन विशेषितं वा?। आद्ये संयोगजननेन सिद्धसाधनम्, अन्त्ये च वह्नावपूर्वहेतुहविःसंयोगेन हविस्त्यागेनानैकान्तिकमित्याह **हविरिति**।

किं वा नेति। *प्राभाकरं* प्रत्यनैकान्तिकत्वम्, *भाट्टानां* प्रमेये ज्ञाततजननात्। **कृषीति**। प्रोक्षणवदपूर्वद्वारैवानागतकार्यहेतू स्यातामित्यर्थः। **दृष्टेनैवेति**। पाकजानामावश्यकतया तत एव नियतकार्योपपत्तेरित्यर्थः। ननु बीजपूरलाक्षा-रसावसेकस्याशुतरविनाशिनः कालान्तरीयारुणपुष्पजनकत्वं तदाधेयशक्त्या विना न निर्वहतीत्यत आह **तथा चेति**। तत्रापि तत्साहित्येनोत्पन्नपाकजादेरावश्यक त्वात् तथेत्यर्थः। अत एव शाल्यादिनियतकर्यारम्भान्यथानुपपत्त्या परमाणावपि न तत्कल्पनमित्याह **अत एवेति**। कार्यसजातीयपाकजवत्त्वं

मकरन्दः– शक्यं, **गमेः** स्पन्दविशेष इति *चिन्तामणि*स्वरसात् स्पन्दत्वगमनत्वयोर्भेदे पर्यायत्वशङ्कापि न। गमनत्वं कर्मत्वव्याप्यसामान्यमिति *लीलावती*स्वरसोऽपि तथा। अन्या उत्क्षेपणादेरपि गमनत्वे विभागव्याघातादिति। **वस्तुत इति**। तथा च परम्परासम्बन्धगौरवमपि नेति भावः। न चैवमदृष्टान्तरस्यापि तथात्वे अदृष्टवदात्मसंयोगो हेतुरिति न स्यादिति वाच्यम्। प्रोक्षणाद्यनन्तरं संस्कृतो व्रीहिरिति व्यवहारात्। संस्काररूपादृष्टस्य तथात्वेऽपि अदृष्टान्तरस्य साक्षात् सम्बन्धत्वे मानाभावादिति भावः। अत एवोपनयनादिसंस्कारस्य माणवकशरीरनिष्ठत्वं, संस्कृत इति व्यवहारादिति बोध्यम्। प्रकृतसंलग्नतया पुत्रेष्टिपदं जातेष्टिपरमित्याह **वैश्वानरमिति**। **तस्येति**। पितृस्वर्गकाम इत्यादिना पित्रादेः प्रथमोपस्थितत्वादिति भावः। **साक्षादिति** साक्षात् सम्बन्धेनोपपादकत्वादित्यर्थः।

व्याख्यातः। अत एव बीजविशेषस्याऽऽपरमाणवन्ताङ्गेऽपि परमाणूनामवान्तरजात्यभावेऽपि प्राचीनपाकजविशेषादेव विशिष्टाः परमाणवस्तं तं कार्यविशेषमारभन्ते। यथा हि कलमबीजं यवादेः, नरबीजं वानरादेः, गोक्षीरं माहिषादेर्जात्या व्यावर्तते, तथा तत्परमाणवोऽपि मूलभूताः पाकजैरेव व्यावर्तन्ते। न ह्यस्ति सम्भवो गोक्षीरं सुरभि मधुरं शीतं, तत्परमाणवश्च विपरीताः। तस्मात्तथाभूताः पाकजा एव परमाणवो यथाभूतैरेव आद्यातिशयोऽन्त्यातिशयोऽङ्कुरादिर्वेति किमत्र शक्तिकल्पनया?। कल्पादावप्येवमेव। इदानीं बीज-सन्निविष्टानामस्मदादिभिरुपसम्पादनं, तदानीं तु विभक्तानामदृष्टादेव केवलान्मिथः संसर्ग इति विशेषः। न च वाच्यमिदानीमपि तथैव किं न स्यात्? यतः कृष्यादिकर्मोच्छेदे तत्साध्यानां भोगानामुच्छेदप्रसङ्गात्। अव्यवस्थाभयाच्च अदृष्टानि कर्माणि दृष्टकर्मव्यवस्थयैव

आमोदः– कलमाङ्कुर एवेति कथं नियम इत्यत आह – **अत एवेति**। प्राचीनत्वमावश्यकत्वम्। **विशिष्टा इति**। व्यावृत्ता इत्यर्थः। परमाणुपाकजसत्त्वे मानमाह – **न ह्यस्तीति**। **शीतमिति**। उपष्टम्भकजलाभिप्रायेण। **आद्यातिशयो** द्व्यणुकम्। **अन्त्यातिशयो**ऽङ्कुरादिरित्यर्थः। मध्येऽपि यदि वाकारस्तदा आद्यातिशयोऽणुद्वयसंयोगः। अन्त्यातिशयोऽन्त्यावयव्यारम्भकः संयोगः। अङ्कुरादिरन्त्यावयवीत्यर्थः। क्वचिद् ब्राह्मणादौ, पाकजतोऽन्येऽपि, अदृष्टमेव नियामकमनुसन्धेयम्। सर्वसर्गे(?) तेजःसंयोगजनिता रूपादय एव कल्पादावपि कार्यभेदनियामका इत्याह – **कल्पादावपीति**। **बीजसन्निविष्टानामिति**। परमाणूनामित्यनुषङ्गः। **उपसम्पादनं** सहकारिसमवधानम्। **तथैवेति**। अदृष्टमात्रादेवेत्यर्थः। **कृष्यादीति**। कृषीबलभोगार्थं कृषिप्रवृत्तिरित्यर्थः। अदृष्टमात्रं साध्याङ्कुराद्यापेक्षया विजातीयमेवेदानीन्तनाङ्कुरादि। तत् केवलकृषिधर्मसम्पादनीयमिति भावः। **अव्यवस्थेति**। कृषिकर्मनैरपेक्ष्ये तृणादाविव धान्यादावपि स्वत्वनियमो न स्यादिति तद्व्यवस्थार्थं कृष्याद्यपेक्षेत्यर्थः। ननु व्यवस्थाभयेऽपि कारणेन कार्यजनने किं बाधकमित्यताह – **अदृष्टानीति**। तथाच इदानीन्तनबीजे कृष्यादिकमपि कारणमिति भावः। तत्कालीनबीजे च कालविशेषः कारणं बोध्यम्। उपसंहरति – **तस्मादिति**। कारिकास्थादिपदग्राह्यं स्फुटयति –

मकरन्दः– यद्वा सर्गादीति। तत्सामग्रीसत्त्वात् सर्गाद्यङ्कुरजातीयोऽपीदानी मुत्पद्यतामित्यत्र नेदं बाधकम्। तथापीदानीन्तनाङ्कुरत्वावच्छेदेनैव कृष्यादिहेतुत्वान्न

भोगसाधनानीत्युन्नीयते। तस्मात्, पाकजविशेषैः संस्थानविशेषैश्च विशिष्टाः परमाणवः कार्यविशेषमारभन्ते। ते च तेजोऽनिलतोयसंसर्गैर्विशेषैः, ते च क्रियया, सा च नोदनाभिघातगुरुत्ववेगद्रवत्वादृष्टवदात्मसंयोगेभ्यो यथायथमिति न किञ्चिदनुपपन्नम्।११।।

आमोदः- संस्थानेति। संस्थानं संयोगमात्रं तुल्यपाकजानां संस्थानविशेषो नियामकः, चकारो वाकारार्थः। **ते चेति।** पाकजा इत्यर्थः। तथाच तदुत्पत्तिरपि न शक्तिमपेक्षत इत्यर्थः। **ते चेति।** संसर्गविशेषा इत्यर्थः। तर्हि क्रियार्थमेवाधेयशक्तिः स्यादत आह – **सा चेति।** वेगपदं स्थितिस्थापकमप्युपलक्षयति।।११।।

प्रकाशः– परमाणूनामप्यावश्यकमिति न तत्कल्पनम्, येन कल्पनायामविशेषः स्यादित्याह **न ह्यस्तीति।** शीतमित्युपष्टम्भकजलाभिप्रायम्। सौरभशैत्ययोरेकाधारत्वाभावात्। **आद्यातिशयो द्व्यणुकम्, अन्त्यातिशयोऽङ्कुरादिरित्यभेदेनान्वयः।** अन्त्यातिशयो वाऽङ्कुरादिरिति पाठेऽन्त्यातियोऽङ्कुरादिसमवायिकारणमित्यर्थः। यद्वा आद्यातिशयो बीजस्योच्छूनत्वम्। अन्त्यातिशय उच्छूनतरत्वम्। प्रलये कार्यद्रव्याभावेऽपि परमाणुषु नियतकार्योन्नीतस्वभावानां पाकजानामात्मन्यदृष्टस्येव सद्भावात्तत एव सर्गादावपि नियम इत्याह **कल्पादाविति।** उपसंपादनं सहकारिसमवधानोत्पादनम्। **न चेति।** यद्यस्मदादिव्यापारं विना सर्गादावङ्कुरोत्पत्तिरिति शेषः। **यत इति।** यद्यपि ऋष्यादिसाध्यभोगहेत्वदृष्टबलात् कृषिसंभवेऽपि सर्गादाविवेदानीमपि कृष्यादि विनाऽङ्कुरः स्यादेव, तथापि तथादर्शन बलात् कृष्यादिहेत्वदृष्टस्यैव तत्प्रतिबन्धकत्वमुन्नीयते। यद्वा, सर्गाद्यङ्कुरविजातीय एवेदानीमङ्कुरो यस्य कृष्याद्यपेक्षा। अत एव वैजात्याभावे दूषणमाह **अव्यवस्था इति।** व्यभिचारेण कृष्यादीनां कारणत्वव्यवस्थैव न स्यादित्यर्थः। यद्वा भोगानियमप्रसङ्गाच्चेत्यर्थः। **अदृष्टानीति।** कृष्यादिजन्याङ्कुरजनकमदृष्टं दृष्टकृष्यादिद्वारैव हेतुरित्यर्थः। **संस्थानेति।** संस्थानपदं योगमात्रपरम्। परमाणाववयवसंयोगाभावादित्*येके*। क्वचित् पाकविशेषं, क्वचित्परम्पराजन्ये समानजातीयरूपादौ शरीरादौ संस्थानविशेषमपेक्षन्ते परमाणव इत्*यन्ये*। एतच्च उभयमुपलक्षणम्। तुल्यपाकजसंस्थाने बाह्यादावदृष्टविशेषस्यापि तैरपेक्षणात्। तर्हि पाकजोत्पत्त्यर्थमप्याधेयशक्तिरभ्युपेयेत्यत आह **ते चेति।**

निमित्तभेदाश्च पाके भवन्ति। तद् यथा – हारीतमांसं हरिद्राजलावसिक्तं हरिद्राग्निप्लुष्टमुपयोगात्सद्यो व्यापादयति। दशरात्रोषितं कांस्ये घृतञ्चापि विषायते। ताम्रपात्रे पर्युषितं क्षीरमपि तिक्तायते इत्यादि। यत्र तर्हि तोये तेजसि वायौ वा न पाकजो विशेषस्तत्र कथमुद्भवानुद्भव-द्रवत्वकठिनत्वादयो विशेषाः? कथं वा पार्थिवेऽपि प्रतिमादौ प्रतिष्ठादिना संस्कृतेऽपि विशेषाभावात्पूजादिना धर्मो, व्यतिक्रमे त्वधर्मोऽप्रतिष्ठिते तु न किञ्चित्? न च तत्र यजमानधर्मेणान्यस्य साहायकमाचरणीयम्, अन्यधर्मस्यान्यं प्रत्यनुपयोगात्, उपयोगे वासाधारण्यप्रसङ्गात्? अत्रोच्यते –

आमोदः– यद्यपि परमाणूनां साक्षादीश्वराधिष्ठेयतया प्रयत्नवदात्मसंयोगोऽप्युपग्रहीतुमर्हः, तथाप्यदृष्टापेक्षा तत्रावश्यकीति अदृष्टवदात्मसंयोग एवोक्तः। ननु हारीतमांसादौ हरिद्रानलसाधितेऽवश्यं शक्तिराधेया कथमन्यथा तद्भुञ्जानो विपद्यते? पाकजरसाद्युत्पत्तिस्तत्रानलान्तरसाधितेऽपीत्यत आह – **निमित्तेति**। पाकजमात्रं न तन्त्रं किन्तु निमित्तविशेषाधीनपाकजत्वमित्यर्थः। निमित्तविशेषानेवोदाहरति – **तद् यथेति**। अग्नेः पाकजत्वमभिधाय उष्मादेः पाकजत्वमाह – **दशरात्रेति**। आदिपदात्ताम्रपात्रस्थदधितिक्ततादिपरिग्रहः। एतेन पाकजरसादेः प्रत्यक्षसिद्धतया तेनैवोपपत्तौ किं शक्त्येत्यपि ध्वनिः। ननु किञ्चित्तेज उद्भूतरूप-स्पर्शं किञ्चिद्विलक्षणम्, वायावपि स्पर्शोद्भवः क्वचित्त्वगिन्द्रियेण, तथा तोयत्वाविशेषेऽपि किञ्चिद् द्रवं तडागादौ, करकादयस्तु कठिना इति शक्तिभेदमन्तरेणानुपपन्नमिति शङ्कते – **यत्र तर्हीति**। यत्र च पार्थिवे पाकजविशेषो नास्ति, तत्रावश्यं शक्तिस्वीकार इत्यत आह – **पार्थिवेऽपीत्यादि**। **पूजादिनेत्या**दिपदान्नमस्कारादिसंग्रहः। **यजमानः** प्रतिष्ठाकारी। **साधारण्येति**। अदृष्टस्य साधारण्यप्रसङ्गादित्यर्थः।

मकरन्दः– तथेति भावः। ननु मूले वैजात्यवार्त्ताऽपि नेति तत्परतया व्याख्यानमलग्नकमित्यपरितुष्यन्नाह **यद्वेति**। कृष्यादिकं विना उत्पन्नाङ्कुरेणास्यैव भोगो जननीय इत्यत्र नियामकाभावादित्यर्थः। यद्यपि तददृष्टोत्पादितत्वमेव नियामकमन्यथा सर्गाद्यङ्कुरे का गतिः। तथापि पूर्वोक्ते तात्पर्यम्।।११।।

जातिभेदाविति। मतभेदेन। एकमते उभयजात्यनङ्गीकारात्। **यजमानेति**। तथा च प्रतिष्ठिताप्रतिष्ठितयोः साधारण्यप्रसङ्गः। चण्डालस्पृष्टास्पृष्टयोरपि स एव

निमित्तभेदसंसर्गादुद्भवानुद्भवादयः।
देवताः सन्निधानेन प्रत्यभिज्ञानतोऽपि वा।।१२।।

उपनायकादृष्टविशेषसहाया हि परमाणवो द्रव्यविशेषमारभन्ते। तेषां विशेषादुद्भवविशेषाः प्रादुर्भवन्ति। तथा स्वभावद्रवा अप्यापो निमित्तभेदप्रतिबद्धद्रवत्वाः कठिनं करकाद्यमारभन्ते, इत्यादि स्वयमूहनीयम्। प्रतिमादयस्तु तेन तेन विधिना सन्निधापितरुद्रोपेन्द्र-महेन्द्राद्यभिमानिदेवताभेदास्तत्र तत्राराधनीयतामासादयन्ति।

आशीविषदष्टमूर्छितं राजशरीरमिव विषापनयनविधिनापादित-चैतन्यम्। सन्निधानञ्च तत्र तेषामहङ्कार-ममकारौ, चित्रादाविव स्वसादृश्यदर्शिनो राज्ञ इति नो दर्शनम्। अन्येषां तु पूर्वपूर्वपूजित-प्रत्यभिज्ञानविषयस्य प्रतिष्ठितप्रत्यभिज्ञानविषयस्य च तथात्वमवसेयम्। एतेनाभिमन्त्रितपयःपल्लवादयो व्याख्याताः।१२।

आमोदः– उद्भवश्चानुल्वणत्वम्। मृगमदे गन्धस्योपलब्धत्वं कुक्कुटो वाव संसर्गाधीनं(?) न त्वतिशयनिमित्तकं, चन्द्र-चामीकरादौ वौष्ण्यानुपलब्धत्वं जलपार्थिवसंसर्गाधीनम्, आदिपदाद् द्रवत्वकठिनत्वादीनां करकातुहिनगतानां संग्रहः। तत्रापि निमित्तभेदोऽदृष्टसमवधानमेवेत्यर्थः। **प्रतिमा** देवता भवति पूजनीयतामासादयतीत्यर्थः। **तेन तेनेति**। यद्देवताप्रतिमाप्रतिष्ठां प्रति *श्रुतौ* यो विधिः प्रकार उक्तस्तेनेत्यर्थः। सन्निधानमाहार्यारोप इति विभावनार्थमुक्तम् – **अभिमानीति। सन्निधानमिति**। अहमेवैतत् ममैवेदं शरीरमित्याहार्यज्ञानं देवतानां जन्यते, प्रतिष्ठाविधिना तत्रास्थिरमपि संस्कारद्वारा उपकारीत्यर्थः। **उपनायकमदृष्टं** परमाणुक्रियोत्पादकम्। **नो दर्शनमिति**। न्यायसिद्धान्त इत्यर्थः। **अन्येषामिति**। देवताचैतन्ये विप्रतिपन्नानामित्यर्थः। आद्यपूजां प्रति जड़त्वप्रत्यभिज्ञानं नास्तीत्यनुशयेनाह – **प्रतिष्ठितेति**। 'प्रतिष्ठितं पूजयेदि'ति विधेश्च तज्ज्ञानमावश्यकम्। चण्डालादिस्पर्शे तु प्रतिष्ठितप्रत्यभिज्ञानस्य पूजितत्वप्रत्यभिज्ञानस्य संस्कार एव नाश्यते। **प्रतिष्ठितपदं** प्रतिष्ठाध्वंसपरं वा। स चास्पृश्यस्पर्शनादिसंसर्गाभावसंस्कृतः पूजकानां धर्महेतुः। **एतेनेति**। तत्रापि मन्त्राधिष्ठातृदेवतासन्निधिरेव क्रियते इत्यर्थः। आदिपदान्मन्त्रादिप्रयोगान्मृदादीनां विषरूपतादिसंग्रहः। कांस्यादीनां मार्जनादिना शक्त्याधानमित्यपि नास्ति। तत्र मलाद्यपनयनस्य शक्तिपदार्थत्वात्।१२।

प्रकाशः-

ननु हारीतमांसं हरिद्राजलावसिक्तं हरिद्रानलप्लुष्टं सद्यो भोक्तारं व्यापादयतीत्युभयवादिसिद्धम्। तत्रावश्यं तेन शक्तिराधेया। न चावश्यकात् पाकजादेवोत्पत्तिः। तस्य पलालानलसाधितस्याव्यापादनेनानैकान्तादित्यत आह **निमित्तेति**। पाकजभेदमात्रं न हेतुः, किं तु निमित्तभेदेनासादितः पाकजविशेष इत्यर्थः। अग्नौ सहकारित्वमुक्त्वा सौरालोके तदाह **दशरात्रेति**। **ताम्रपात्र** इत्यनेन पाकजविशेषस्य प्रत्यक्षत्वं वदता शक्त्यपेक्षया तत्र विनिगमकमुक्तम्।।११।।

उद्भावानुद्भवौ विशेषगुणप्रत्यक्षत्वाप्रत्यक्षत्वप्रयोजकौ तद्वृत्तिजातिभेदौ। पाकजवत्यवान्तरविशेषानुपपत्त्या शक्तिरास्थेयेत्यत आह **पार्थिवेति**। नन्वन्यधर्म्मस्यान्यत्र सहकारित्वम्। यथा पात्राय दानेऽधिकपुण्यम्, धर्मविशेषवत्त्वस्य पात्रत्वादित्यत आह **उपयोगे वेति**। यजमानधर्मस्य भोगादिना क्षये पूजकस्य धर्मानुत्पादप्रसङ्गात्। तत्सत्त्वेऽपि चण्डालादिस्पर्शनेनापूज्यत्वाच्चेति।

निमित्तभेदेति। यद्यप्युद्भूतानुद्भूतपरमाणुरूपादेव तत्कार्यमुद्भूतमनुद्भूतं चोत्पद्यते इति निमित्तभेदस्तत्राप्रयोजकस्तथापि साक्षात्कारप्रयोजक तयोद्भूतत्वकल्पनात् परमाणुगुणेषु तदभावात् तन्नास्तीत्यदृष्टविशेषा-देवानुद्भूतरूपादप्युद्भूतरूपं जायते इत्यभ्युपेयम्। न च याऽवयविरूपवृत्तिजातिः सा परमाणुरूपवृत्तिरिति व्याप्तिः। चित्रत्वजातौ व्यभिचारात्। उद्भवानुद्भवादय इत्यतद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिणा कठिनकरकाविद्युदादीनां संग्रह इत्यप्याहुः। **देवता** इत्यत्राराधनीयतामासादयन्तीत्यध्याहार्थम्। **उपनायकेति**। परमाणुक्रिया जनकमदृष्टमित्यर्थः।

अहङ्कारेति। न च देवतानां विशेषदर्शनवत्त्वान्न भ्रम इति वाच्यम्। अभिमानीत्यनेनाहार्यारोपरूपत्वस्य दर्शितत्वात्। ज्ञानस्य नाशेऽपि तज्जन्यसंस्कारस्य सत्त्वात्। अस्पृश्यस्पर्शादिना च तन्नाशात्। अचेतनदेवतापक्षे त्वाह **अन्येषान्त्विति**। आद्यपूजायां न पूजितप्रत्यभिज्ञानमित्यत उक्तम् **प्रतिष्ठितेति**।

मकरन्दः- प्रसङ्ग इति मूलार्थः। **तत्सत्त्वेऽपीति**। तथा च तत्स्पर्शस्य तन्निष्ठाधेयशक्तिनाशकत्वमिति भावः। परमाणुगुणेष्वित्युपलक्षणं, द्व्यणुकगुणेष्वपीति द्रष्टव्यम्। **अनुद्भूतरूपादपीति**। द्व्यणुकानुद्भूतरूपादपि त्र्यणुकोद्भूतरूपं जायते इत्यर्थः।

धटादिषु का वार्ता? कुशलैवेति चेन्न। नहि सामग्री दृष्टं विघटयति, नाप्यदृष्टं ज्ञापकत्वात्। नाप्यदृष्टमुत्पादयति, धर्मजनने सर्वदा विजय प्रसङ्गात्। विपर्यये सर्वदा भङ्गप्रसंगात्। अत्रोच्यते

जयेतरनिमित्तस्य वृत्तिलाभाय केवलम् ।
परीक्ष्यसमवेतस्य परीक्षाविधयो मताः।।१३।।

यद्यपि धर्माद्यभिमानिदेवतासन्निधिरत्रापि क्रियते, ताश्च कर्मविभावनानुरूपं लिङ्गम् अभिव्यञ्जयन्तीत्यस्माकं सिद्धान्तः। तथापि

आमोदः- धटादिष्विति। धटस्तुला, आदिपदात्तप्तमाषकादिसंग्रहः। तत्राधिवासनविधिना हवनमलक(?) वद्दाहादिप्रयोजिका शक्तिरवश्यमङ्गीकर्तव्येति संक्षेपप्रश्नभावः। **सामग्री** परीक्षासामग्री, दृष्टस्य प्रतिमानप्रस्तरादेर्विद्यमानत्वात्। अदृष्टविघटने सर्वदैव हवनमलक(?)वद्दाहादिप्रसङ्गात्, ज्ञापकत्वात्; न तु दृष्टादृष्टविघटकत्वमिति भावः। **विपर्यय इति**। अधर्मजनन इत्यर्थः।।

जयस्तादितरः पराजयः, तन्निमित्तस्य सुकृतस्य दुष्कृतस्य वा **वृत्तिस्तत्कार्यजननं** प्रति सहकारिलाभः। **परीक्ष्यः** परीक्षणीयः पुरुषः। **धर्मादीति**। तुलायां धर्मस्तप्तमाषकादौ वह्निराहवनीया देवता। तद्व्यापारमाह – **ताश्चेति**। **कर्मविभावनानुरूपं** पापाचरणानाचरणोचितं, **लिङ्गमिति**। अवनमनदाहादिस्वरूपमित्यर्थः।

प्रकाशः- अत्रापि प्रतिष्ठाकालीनयावदस्पृश्यस्पर्शानादिसंसर्गाभावसहकृतस्येति द्रष्टव्यम्। 'प्रतिष्ठितं पूजये' दिति विधिबलात् तज्ज्ञानस्यावश्यकत्वात्। अत एव तदभावे पूजा निष्फलैवेति भावः।१२।

धटः तुला। **न हीति**। **सामग्री** परीक्षासामग्री। अवनतिहेतोर्दृष्टस्यादृष्टस्य वा विघटने सदैवोन्नमनप्रसङ्गादित्यर्थः। तस्माद् भूतार्थपरिच्छेदिका शक्तिस्तुलादि सामग्रीजन्येत्यभ्युपेयमिति भावः।

जयेतरेति। जयभङ्गनिमित्तस्य परीक्ष्यात्मसमवेतस्यादृष्टस्य वृत्तिः स्वकार्यजननाभिमुख्यं तल्लाभायैवेत्यर्थः। **यद्यपीति**। पापवान् पुण्यवान् वाऽयमनेन विधिना तुलामारूढ इति यद्देवताज्ञानं, स एव देवतासन्निधिरतः परीक्षाविधेरविशेषेऽपि

मकरन्दः- अत्रापीति। प्रतिष्ठाकालीनयावदस्पृश्यस्पर्शादीत्यर्थः। अत्र विस्तरोऽ*नुमानप्रकाशे*।१२।।

परविप्रतिपत्तेरन्यथोच्यते। तेनापि हि विधिना तदेव जयस्य पराजयस्य वा निमित्तमभिव्यक्तं कार्यमुन्मीलयति। कर्मणश्चाभिव्यक्तिः सहकारिलाभ एव। तच्च सहकारि, 'सोऽहमनेन विधिना तुलामधिरूढो योऽहं पापकारी, निष्पापो वे'ति प्रत्यभिज्ञानम्। यदाहुः – 'तांस्तु देवाः प्रपश्यन्ति स्वश्चैवान्तरपूरुषः'। अथवा – प्रतिज्ञानुरूपां विशुद्धिमपेक्ष्य तेन धर्मो जन्यते। निमित्ततो विधानाद्विजयफलश्रुतेश्च। अविशुद्धिञ्चापेक्ष्याधर्मः। पराजयलक्षणानपेक्षितफलोपदर्शनेन फलतो निषेधात्।

आमोदः– परो *मीमांसकादि*र्देवताचैतन्ये विप्रतिपन्नः। **निमित्त**मदृष्टम् **अभिव्यक्तं** सहकारिसमवहितं कृतं **कार्यं** तु नमनोन्नमनदाहादिरूपम् **उन्मीलयति** प्रकटयति। **कर्मणो**ऽदृष्टस्य। **पापकारीति** यदि प्रत्यभिजानाति तदा पराजयम्, यदि **निष्पाप** इति तदा जयं लभते। **प्रत्यभिज्ञा** च प्रमारूपा विवक्षिता। तदेवाह – **तांस्त्विति**। स्वयं जानात्येव यन्मया पापं कृतं न वेत्यर्थः। सभाक्षोभादिना तादृशज्ञानाभावे गत्यन्तरमाह – मया नेदं पापं कृतमिति प्रतिज्ञा यत् तुलादौ प्रवर्तते सेयं यदि शुद्धा भवति तदा जयी, नो चेद् भङ्गी। आरोहणादेर्ध्वस्ततया व्यापार आवश्यकः। 'तदन्ते जयमादिशेदि'ति वचनाज् जयादेस्तदन्तनिर्देश्यत्वादित्याह – **धर्म इति**। ननु तुलारोहणादिविधेर्धर्महेतुत्वम्, निषेधाश्रवणादधर्महेतुत्वं कथं स्यादित्यत आह – **निमित्तत इति**। अभिशापनिमित्ततावलादर्थादायात एवायं विधिर्निषेधश्च यदभिशप्तः सत्यप्रतिज्ञस्तुलामारोहेदसत्यप्रतिज्ञस्तुलां नारोहेदिति।

प्रकाशः– कर्मोन्नायकं नमनादिकं लिङ्गमभिव्यञ्जयन्ति। तादृशञ्च ज्ञानं न परीक्षाविधिं विनेति सोऽपि प्रयोजक इत्यर्थः। परविप्रतिपत्तिर्देवताचैतन्ये। **सोऽहमिति**। ननु यत्र पापविस्मरणान्निष्पापत्वप्रत्यभिज्ञानं, तत्र कुतो न जयः। न च सत्यं तादृशं प्रत्यभिज्ञानं जयहेतुः, तथापि भङ्गहेतुपापवत्त्वप्रत्यभिज्ञानाभावेन भङ्गानुपपत्तेः। न च स्वरूपसदेव पापवत्त्वं भङ्गहेतुः। तस्यैव प्रयोजकत्वे परीक्षाविधेरतत्त्वापत्तेः। मैवम्। पापतदभावयोः स्वरूपसत्त्वे सति, सोऽहं पापवत्त्वादिना सन्दिह्यमानः सोऽहमनेन विधिना तुलामारूढ इति तस्य प्रत्यभिज्ञानस्य तन्त्रत्वात्। तच्च न परीक्षाविधिं विनेति तस्यापि तत्त्वात्। यत्र तु सभाक्षोभादिना तादृशप्रत्यभिज्ञानाभावस्तत्र गत्यन्तरमाह **अथवेति**। **तेन** परीक्षाविधिना। ननु तादृशविधिवाक्याभावात् परीक्षाविधेर्धर्मजनकत्वे मानाभाव इत्यत आह **निमित्तत इति**। साक्षात् तादृशविधिवाक्याभावेऽप्यभिशापनिमित्तकत्वात् परीक्षाविधेरितरनैमित्तिकवदभिशप्तः

अथ शक्तिनिषेधे किं प्रमाणम्?। न किञ्चित्। तत् किमस्त्येव? वाढम्। न हि नो दर्शने शक्तिपदार्थ एव नास्ति। कोऽसौ तर्हि? कारणत्वम्। किं तत्? पूर्वकालनियतजातीयत्वम् सहकारिवैकल्यप्रयुक्तकार्याभाववत्त्वं

आमोदः– ननु शक्तौ साधकं मानं खण्डितं बाधकं च मानं नोपदर्शितमिति तत्र सन्देह एव, न तु तदभावसिद्धिरित्याशयेन पृच्छति – **अथेति**। उत्तरं **नेति**। शक्तिपदार्थो नास्माभिर्निषिध्यत इत्यर्थः। तर्हि सिद्धं नः समीहितमित्याह – **तत् किमिति**। गूढाभिसन्धिराह – **वाढमिति**। एवमभ्युपगमे तवापसिद्धान्त इत्याह – **कोऽसाविति**। अभिसन्धिमुद्घाटयति – **कारणत्वमिति**। ननु शक्तेः किमन्यत् कारणत्वमित्याह – **किं तदिति**। तदभिमतात् शक्तिपदार्थाद्भिनत्ति – **पूर्वेति**। अनन्यथासिद्धनियतपूर्ववर्तिजातीयत्वमित्यर्थः। पूर्वत्वञ्च प्रागभावावच्छिन्नकालत्वं, प्रागभावत्वं प्रतियोगिध्वंससमानकालीनाभावत्वं गन्धानाधारकालानाधारभावत्वम्। एवं दुःखद्वेषादिकमपि प्रक्षिप्य निर्वाच्यम्। गन्धानाधारकाल एव सर्वमुक्तिकालः। तत्र च गन्धत्वं स्वाधिकरणानधिकरणवृत्ति, कार्यमात्रवृत्तिजातित्वात्, घटवदित्यनुमानस्य सत्त्वात्। यद्वा प्रतियोग्यवधिकपरत्वयावदाश्रयसमान-कालीनकादाचित्काभावत्वम्। तेन गुणकर्मप्रागभावादिसंग्रहः। तत्रापि परत्वोत्पत्तौ तयोरवधित्वात्। न च परत्वावधेरप्यपरत्वाश्रयत्वनियमः, प्रमाणाभावात्। बहुतरतपनपरिस्पन्दान्तरितबुद्धेः परत्वाश्रये तत्रापि भावात्। परत्वावधेर-परत्वाश्रयत्वनियमाभिधानस्य उत्सर्गरूपत्वात्। तथा च प्रलयकालीनकर्म-प्रागभावस्यापि संग्रहः। यदि च प्रतियोग्यन्यूनावधिककालीनावधिकत्वं परत्वे विवक्ष्येत तदा अन्त्यशब्दप्रागभावे अन्ततःशब्दबुद्ध्यादिप्रागभावासंग्रह एव । न हि तदन्यूनानतिरिक्तकालीनं मूर्त्तं भवति। यदि च परत्वावधेरपरत्वा-श्रयत्वनियमस्तदा प्रतियोग्युत्पत्तिसमकालोत्पत्तिकाबाधकपरत्वाश्रयसमानकालीनत्वं वक्तव्यम्। उत्पत्तिश्चाध्यस्तक्षणस्य क्षणसम्बन्धा इति नान्योन्याश्रयः। प्रलयकर्मप्रागभावश्च ब्रह्माण्डान्तरमूर्तापक्षनिरूपण एवेति नाव्याप्तिः। अवर्जनीयसिद्धत्वं चान्यथासिद्धत्वम्। ननु कारणेतरत्वेन सिद्धत्वं येनात्माश्रयादिः स्यात्। तच्च दण्डरूपादेर्दण्डत्वाकाशादे रूपप्रागभावस्य प्रागभावस्थलेन साधकं प्रति व्यापारभिन्नं जनयतश्च कुम्भकारपित्रादेः सिद्धमेव। प्रागभावादि-निर्वचनापेक्षलक्षणमिदं दुर्ग्रहमित्यनुशयेनाह – **सहकारीति**। सहकारित्वं कारणगर्भमित्यन्योन्याश्रय इति नाशङ्कनीयम्। सर्वदाऽव्युत्पन्नं प्रति लक्षणप्रणयनात्।

प्रकाशः:- सत्यप्रत्यभिज्ञो जयकामस्तुलामारोहेदिति विधिकल्पनमित्यर्थः। **विजयेति**। कालान्तरभाविजयसाधनताऽनुपपत्तेर-पूवकल्पनाच्चेत्यर्थः। **पराजयेति**। भङ्गलक्षणानिष्टफलसाधनत्वेन निषेधविधेरुन्नयनाद्भङ्गफलश्रुतेश्चाधर्मजनकत्वं कल्प्यत इत्यर्थः। यद्यपि तुलारोहणादेरधर्मजनकत्वे मानाभावः। पूर्वाधर्मादिवावनमनोपपत्तेः। तथापि परीक्षाविधिं विनाऽवनमनेऽपि भङ्गाभावान्नियमेन तस्याधर्महेतुत्वम्।

जल्पकथामाश्रित्य पृच्छति **अथेति**। उत्तरं **नेति**। शक्तिपदार्थमेव न निषेधाम इत्यर्थः। तर्हि स्वीकार एव शक्तेः स्यादित्यभिप्रेत्याह **कोऽसाविति**। **पूर्वकालेति**। ननु पूर्वत्वं प्रागभावावच्छिन्नकालत्वम्, प्रागभावश्च न प्रतियोगिजनकोऽभावः। अन्योन्याश्रयात्। नापि विनाश्यभावः। नाशस्य प्रागभावनिरूप्यत्वात्। उत्पत्तिमानभावो ध्वंस इति चेत्, काऽसावुत्पत्तिः। आद्यसमयसम्बन्धः सेति चेत्। किमाद्यत्वम्। स्वसमानकालीनपदार्थ-प्रतियोगिकध्वंसानाधारसमयसम्बन्ध इति चेन्न। परस्पराश्रयात्। नापि प्रतियोग्यन्यूनानतिरिक्तकालीनावधिकसामयिकयावत्-परत्वाश्रयसमान कालीनकादाचित्काभावः।

मकरन्दः- पापतदभावयोरिति। सत्यन्तमात्रस्य तन्त्रत्वे परीक्षावैयर्थ्यमेवेति विशिष्टस्य तथात्वमुक्तमिति भावः। **भङ्गेति**। कालान्तरभाविभङ्गलक्षण-फलश्रुतेरित्यर्थः। यद्यप्यकरणे प्रत्यवायाश्रुतेः परीक्षाविधेरभिशापनिमित्तकत्वाभावान्न विधिकल्पनं, न वा भङ्गलक्षणानिष्टसाधनत्वेन निषेधविध्युन्नयनम् व्यभिचारादप्रयोजकत्वाच्च। तथापि देवतासन्निधिपक्षे तात्पर्यम्। अत एवोक्तं मूले **इत्यस्माकं सिद्धान्त इति। अधर्मजनकत्वे मानाभाव इति**। विजयपक्षे धर्मजननं भवतु। अगम्यागमनाद्यनाचरणस्य धर्माहेतुत्वेन प्राक्तनधर्माभावादिति भावः। **तथापीति**। तथा च परीक्षाविधिजन्यावनमनस्यैव भङ्गहेतुत्वम्। तस्य चाशुविनाशित्वेनाधर्मव्यापारकत्वमिति भावः। अगम्यागमनादिजन्याधर्माणामपि नरकफलश्रवणात् पराजयहेतुत्वे मानाभावाच्चेत्यपि द्रष्टव्यम्।

नाशस्येति। प्रागभावप्रतियोग्यभावस्यैव नाशत्वादित्यर्थः। **किमाद्यत्वमिति**। किमाद्यसमयसम्बन्धत्वमित्यर्थः। तेन नोत्तरविरोधः। **स्वेति**। तथा च तादृशध्वंसानाधारत्वमाद्यत्वं, तत्समयसम्बन्ध उत्पत्तिरिति भावः। प्रतिक्षणं कस्य चिदुत्पत्तिः कस्यचिन्नाश इति मतानुसारेणेदम्। **प्रतियोग्यन्यूनेति**। **प्रतियोग्यवधिकेति** कृते गुणादिप्रागभावाव्याप्तिः। तदवधिकपरत्वाभावात्।

प्रकाशः– प्रलयकालीनपरमाणुक्रियाप्रागभावाव्याप्तेः। न च तदापि ब्रह्माण्डान्तरवर्तिद्रव्येणापरत्वाश्रयेण परत्वनिरूपणम्। तस्य विशिष्याज्ञानात्।

नियतत्वमपि व्यक्त्यपेक्षया, जात्यपेक्षया वा?। नाद्यः, वह्निव्यक्तेः पूर्वं रासभस्यापि भावात्। अत एव नान्त्यः, न हि क्वापि वह्निजातीयपूर्वकाले न रासभसत्त्वम्। देशतोऽपि नियम इति चेत्। सोऽपि संयोगी समवायी वा प्रत्यासन्नमात्रं वा? आद्ये गुणादीनामकारणत्वप्रसङ्गः। द्वितीये धूमं प्रति वह्नेरकारणत्वप्रसङ्गः। तयोरेकदेशसमवायित्वाभावात्। अन्त्ये व्योम्नः कार्यमात्रं प्रति कारणत्वप्रसङ्गः।

मकरन्दः– अपरत्वाश्रयस्यैव तथात्वादित्यत उक्तमन्यूनानतिरिक्तेति। तथा च तादृशं द्रव्यमादाय तत्र लक्षणगमनमिति नोक्तदोषः। प्रतियोगिकालीनेत्येतावति कृते घटध्वंसाव्यवहितपूर्वक्षणोत्पन्नं प्रतियोगिकालीनं द्रव्यान्तरमादाय तद्घटध्वंसेऽतिव्याप्तिः। तस्य तदवधिकयावत्परत्वाश्रयसमानकालीनत्वात्। परत्वापरत्वयोः परस्पराश्रयावधिकत्वस्वीकारेण तत्कालविद्यमानस्यैव तदवधिकपरत्वाश्रयत्वादिति विशिष्टमुपात्तम्। तदर्थश्च कालिकव्याप्त्या प्रतियोगिव्यापकत्वम्। तच्च द्रव्यान्तरं, न तद्घटव्यापकमिति नोक्तदोषः। एतेनान्यूनपदेनैव तद्दोषनिरासेऽनतिरिक्तपदं तथापि व्यर्थमेव। कारणनाश्यत्वेनान्त्यशब्दस्य क्षणिकतया तत्प्रागभावाव्याप्तिः। तदन्यूनानतिरिक्त–कालीनद्रव्याप्रसिद्धेरित्यादि दूषणमपास्तम्। प्रतियोगिव्यापकञ्च किञ्चिदेव विवक्षितं, न तु यावत्। तेन तादृशव्योमाद्यवधिकपरत्वाप्रसिद्ध्या नासम्भव इति ध्येयम्। प्रतियोगिव्यापकावधिकदैशिकपरापरत्वाश्रयः प्रतियोग्यपि कदाचिद्भवतीति तत्प्रागभावस्य तत्समानकालीनत्वाभावादव्याप्तिरित्यत उक्तं, **सामयिकेति**। समयपिण्डसंयोगासमवायिकारणकेत्यर्थः। प्रतियोगिव्यापकावधिकपरत्वाश्रयेण येन केन चित् पर्वतादिना समानकालत्वाद् घटध्वंसेऽतिव्याप्तिरित्यत उक्तं **यावदिति**। प्रतियोगिन्युत्पन्ने ज्येष्ठे यत्परत्वमुत्पद्यते तत्समानकालीनत्वाभावात् तत्प्रागभावाव्याप्तिरित्यत उक्त**माश्रयेति**। न च यावत्परत्वानामाश्रया–प्रसिद्ध्याऽसम्भव इति वाच्यम्। प्रत्येकनिरूपिताश्रयस्यैव विवक्षितत्वात्। *केचित्तु* यावत्त्वमाश्रयविशेषणमेव। विशेषणस्य सावधिकत्वेन विशिष्टे तदवधिकत्वान्वय इत्याहुः। अत्यन्तान्योन्याभावयोरप्यनादितया तथात्वादतिव्याप्तेराह **कादाचित्केति**। कादाचित्कभावस्यानादित्वानभ्युपगमेन व्यावर्त्याभावादभावपदं स्वरूपाख्यानपरमित्याहुः। न च महाप्रलयपूर्वक्षणभाविकर्मादिप्रागभावाव्याप्तिः।

प्रकाशः– अन्यथासिद्धत्वेऽसतीति चेन्न। कारणेतरत्वेन तत्सिद्धेः कारणज्ञानापेक्षित्वात्। नापि कार्याभावव्यापकाभावसमूहैकदेशप्रतियोगित्वं कारणत्वम्। व्योमादेः कार्यमात्रे तत्त्वापत्तेः। नापि सामग्र्येकदेशत्वं कारणत्वं, कारणसमूहस्यैव सामग्रीत्वात्। उच्यते। गन्धानधिकरणकालावृत्तिरभावः प्रागभावः। न च तत्र मानाभावः। गन्धत्वं

मकरन्दः– तदा ब्रह्माण्डान्तरस्याप्यभावादिति वाच्यम्। तदनभ्युपगन्तृमतेनैवास्योक्तत्वात्। अत एव *लीलावतीप्रकाशे* सिद्धान्तितमिदमेव लक्षणम्। ननु तथापि सर्गाद्यकालीनघटादिप्रागभावाव्याप्तिः। तत्र हि प्रतियोगिव्यापकं सर्गाद्यकालीनमेव स्याद् नित्यं व्योमादि वा? तदवधिकञ्च परत्वमप्रसिद्धम्। नित्यस्य तदवधिकत्वाभावात्। अपरावधिकपरत्वस्य चाश्रयाभावादनुत्पत्तेः। न हि नित्यद्रव्यं तदाश्रयः। बहुतरतपनपरिस्पन्दान्तरितजन्मत्वाभावेन तत्र तदनभ्युपगमात्। नापि कार्यद्रव्यम्। तज्ज्येष्ठस्य तदानीमभावात्। सर्गान्तरे तत्सत्त्वेऽपि तदानीमवधेरेवानुत्पन्नतया तदवधिकपरत्वानुत्पत्तेः। यदवधिकं यत्रापरत्वं तदवधिकमेव तत्र परत्वमित्यभ्युपगमादिति चेत्, मैवम्। जन्मांशस्य गुरुत्वेन नित्यद्रव्येऽपि तदभ्युपगमादित्याहुः। अवधिर्न परत्वकारणं, किन्तु तज्ज्ञानम्। तथा चानागतस्यैवावधेरीश्वरादीनां ज्ञाने सर्गान्तरद्रव्येषु तदुत्पाद इत्यप्याहुः। वस्तुतो ब्रह्माण्डान्तरद्रव्यमादाय अत्रापि समाधिसम्भवे प्रलयकालक्रियाप्रागभाववदत्राप्यव्यांप्तिरभिप्रेतैवेति न दोषः। अत एव खण्डप्रलयपूर्वक्षणक्रिया प्रागभावाव्याप्तिशङ्कापि न दोषायेति मन्तव्यम्। वस्तुतस्तु प्रतियोगिव्यापकत्वविवक्षायामपि क्षणिकशब्दाऽऽदिध्वंसे पूर्वोक्तन्यायेनातिव्याप्तिरेवेति प्रतियोगिकालीनत्व एव तात्पर्यम्। परत्वाश्रयत्वयोग्यत्वविवक्षया च नोक्तातिव्याप्त्यादिदोषः। एतन्मतेनैवाभावपदस्य स्वरूपाख्यानपरत्वमुक्तम्। अन्यथा पर्वतादिकमादाय व्यावर्त्त्यसम्भवादित्यवधेयम्। नन्वेवमपि ध्वंसप्रागभावात्मनि घटादावव्याप्तिः, तन्न लक्ष्यमिति चेद्, भ्रान्तोऽसि। न हि प्रागभावलक्षणमिह प्रकृतं, किन्तु कारणत्वलक्षणम्। तच्च सामान्यत एव लक्ष्यं, मूलस्वरसात्। तथा च ध्वंसप्रागभावस्यालक्ष्यत्वे ध्वंसकारणसाधारणं लक्षणं न स्यात्। किञ्चैवमनुगतं कारणत्वमपि न स्यादिति तदननुगमात् प्रवृत्त्यननुगम इति चिन्त्यम्।

अन्यथेत्यस्यार्थमाह **कारणेतरत्वेनेति**। **व्योमादेरिति**। तदभावस्य केवलान्वयित्वादिति भावः। **गन्धानधिकरणेति**। निर्गन्धान्योन्याभावादावति

प्रकाशः– स्वाधिकरणानधिकरणकालवृत्ति, कार्यमात्रवृत्तिजातित्वात्, घटत्ववत्। स एव सर्वमुक्तिकालः। अन्यथासिद्धिश्च पञ्चधा। येन सहैव यस्य यं प्रति पूर्ववर्त्तित्वज्ञानम्, यथा घटं प्रति दण्डरूपस्य। अन्यं प्रति पूर्ववर्तित्वे ज्ञात एव यस्य यं प्रति पूर्ववर्तित्वज्ञानम्, यथा शब्दं प्रति पूर्ववर्तित्वे ज्ञात एव घटं प्रत्याकाशस्य।

मकरन्दः– व्याप्तेराह **कालेति**। अभावपदञ्च घटादिवारणायेत्याहुः। तन्न। कारणत्वसामान्यलक्षणार्थं तस्य लक्ष्यतौचित्यमित्युक्तत्वात्। तस्मात् तत्प्रतियोगिकाभावलाभार्थमभावपदम्। न हि प्रागभावसामान्यगर्भं कारणत्वं, किन्तु तत्प्रतियोगिप्रागभावावच्छिन्नसमयवृत्तित्वं तत्कारणत्वम्। तथा च तादृशकालावृत्तिस्तदभावस्तत्प्रागभाव इति पर्यवस्यति। ननु गन्धानाधारसमयो नास्तीति निर्णयवतो *मीमांसकस्येष्ट*साधनतालिङ्गककार्यताज्ञानेन प्रवृत्ति दर्शनान्नैतत्प्रागभावगर्भं कारणत्वम्। किञ्च, कारणत्वबोधकशब्दादिरेवैवं महाप्रलयकाले प्रमाणं स्यात्। तस्य तद्घटितत्वात्। तथा च तदनभ्युपगमोऽपि तस्य व्याहन्येतेति चेत्, मैवम्। विशेषतो बाधावतारेऽपि सामान्यतस्तस्य तद्ग्रहाभ्युपगमादि*त्येके*। वस्तुत इदं कारणत्वं न प्रवृत्त्यनुकूलम्। अनन्यथासिद्धिघटितत्वेन गुरुत्वात्। तथा च स्वमतेन लक्ष्यतावच्छेदकतया निरुक्तं, वक्ष्यमाणं तदनुकूलं लाघवादिति। एतेन गन्धानाधारगर्भवन्नीलाधारगर्भत्वादिनापि तन्निर्वचनात्तद्गर्भं कारणत्वमपि भिद्येत। तथा च विनिगमकाभावादुभयगर्भेष्ट-साधनताज्ञानप्रवर्त्तकतायां प्रवृत्त्यननुगम इत्यपास्तम्। *अन्ये* तु आकाशादिपदात् कदाचिच्छिब्दाश्रयत्वेन कदाचिदष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्यत्वेनेतिवत् कदाचिन्नीलाधारत्वेनापि समयविशेषोपलक्षणान्न कापि क्षतिः। तत्समयविशेषावृत्त्यभावावच्छिन्नसमयत्वस्यैव हेतुत्वरूपतया च न प्रवृत्त्यननुगम इति वदन्ति। स्वरूपसम्बन्धविशेषः कारणता प्रतियोगित्वादिवत्, तत्परिचायक एवायं धर्मविशेष उक्त इत्याहुः।

स्वाधिकरणेति। स्वाधिकरणतावच्छिन्नेत्यर्थः। अत एव गन्धवृत्तित्वेन सिद्धसाधनवारणाय, **कालेति**। आत्मत्वादौ व्यभिचारवारणाय **कार्येति**। द्रव्यत्वादौ व्यभिचारवारणाय **मात्रेति**। ध्वंसत्वादौ व्यभिचारवारणाय **जातीति**। जातिपदार्थनिर्वचने यदि व्यर्थत्वशङ्का तदा तावन्मात्र एव तात्पर्यम्। ननु कार्यत्वं प्रागभावप्रतियोगित्वमित्यन्योन्याश्रय इति चेन्न। प्रागभावसाधारणकृतिसाध्यत्वमात्रस्य

मकरन्दः- तत्त्वेनाभिमतत्वादित्याहुः। खण्डप्रलयवृत्तितया घटत्वस्य दृष्टान्तत्वम्। तदसिद्धावपि चैत्रत्वादेर्दृष्टान्तत्वं बोध्यम्। ननु सिद्ध्यतु गन्धानाधारसमयस्तथापि प्रागभावस्य तदनधिकरणत्वं कथं ग्राह्यम्? न हि तत्र प्रत्यक्षमागमो वा सम्भवति। अनुमानञ्च सम्भवेत् तत्प्रसिद्ध्युत्तरम्। तथा चानुमानप्रवृत्तौ प्रागभावत्वेन धीस्तस्याञ्चानुमानप्रवृत्तिरित्यन्योन्याश्रय इति चेन्न। तादृशसमयो नास्तीति निर्णयवतो *मीमांसकस्य,* भविष्यतीति बुद्धिर्निरुक्तातिरिक्तरूपेण प्रागभावस्यावश्यं तद्बुद्धिविषयत्वात्तेन रूपेण तद्बुद्धिविषयत्वेन वोपस्थितस्य प्रागभावस्य लिङ्गाभासादिनापि तादृशसमयानाधारत्वमिति सम्भवाद् गन्धस्यैव दृष्टत्वात्। यद्वा, कादाचित्काभावत्वेनैवोपस्थितस्य तदनुमानं ध्वंसांशे बाधादेवानुमानात्। तदनवतारे तदंशे भ्रमत्वेऽपि न क्षतिरिति।

स एवेति। नन्वत्र मानाभावः, युगपन्नाशे मानाभावात्। तथा च यावद्गन्धनाशानन्तरमपि वस्त्वन्तरसत्त्वसम्भावनया तत्प्रागभावस्य गन्धानाधारत्वसंशयेन तत्कारणेऽपि तद्गर्भकारणत्वलक्षणाऽव्याप्तिसन्देहः। एवञ्च व्यर्थविशेषणतासन्देहात्तद्वारणाय विशेषणमप्यदेयमिति। अत्राहुः, यावद्गन्धनाशो ह्यदृष्टाभावात्। अन्यथा संयोगविभागयोरन्योन्यनाश्यतयान्यतरावस्थितौ सर्वमुक्त्यनुपपत्तेः। तथा च सर्वादृष्टाभावाद् यावत्कार्याभावो वाच्य इति युगपदेव सर्वनाश इति। कारणेतरत्वेनेत्यादिदोषभिया योगार्थमपहाय रूढमन्यथासिद्धि पदार्थमाह **अन्यथासिद्धिश्चेति**।

येन सहैवेति। ननु शब्दादिना दण्डपूर्ववर्त्तित्वज्ञानं विनापि तद्रूपपूर्ववर्त्तित्वग्रहसम्भवान्नियमोऽसिद्धः। न च प्रत्यक्षेणेति विशेषणीयम्। अतीन्द्रियान्यथासिद्ध्यव्याप्तेः। नियमाविवक्षायां दण्डरूपेणैव दण्डस्यान्यथासिद्ध्यापत्तेरिति चेन्न। रूपत्वमात्रस्यातिप्रसक्ततया दण्डरूपत्वेनैव पूर्ववर्त्तित्वग्रहो वाच्यः। तथा च साहित्यनियमात्। न चैवं द्रव्यत्वादेरतिप्रसक्ततया दण्डत्वेनैव दण्डपूर्ववर्त्तित्वग्रहात्तेन दण्डस्यान्यथासिद्धिरस्त्विति वाच्यम्। येन पृथगन्वयवता सहेत्यर्थात्। अत्रापृथगन्वयादिमत इत्यपि यस्येति विशेषणं देयम्। तेन दण्डेन दण्डसंयोगस्य नान्यथासिद्धिः। एतद्विशेषणद्वयमहिम्नैव यत्रोभयोरुभयविशेषणावच्छेदेनैवान्वयाद्यनुविधानं, तत्र नैकेनापरस्यान्यथासिद्धिः। **यथोद्भूतरूपतेजसोरिति**। यत्रोभयविशेषणावच्छेदेनान्वयाद्यनुविधानं, तद्भिन्नत्वेन

मकरन्दः– विशेषणान्न तादृशस्थलेऽतिप्रसङ्ग इत्यन्ये। ननु रूपवत् कुम्भकार-पिताऽप्यत्रैवान्यथासिद्धावन्तर्भवति, कुम्भकारत्वेन तदनन्यथासिद्धत्वस्येष्टत्वात् कुम्भकारपितृत्वेनैव तदन्यथासिद्धित्वं वाच्यम्। तत्र तत्साहित्यनियमाद् अन्यं प्रतीत्यत्राप्यन्तर्भावयितुं शक्यते। कुम्भकारं प्रति पूर्ववर्त्तित्वे ज्ञात एव तत्पितृत्वेन घटपूर्ववर्त्तित्वग्रहात्। तथा च तत्संग्रहार्थमन्यथासिद्ध्यन्तरोपवर्णनमयुक्तम्। एवञ्च एतत्त्वेनान्यथासिद्धस्यापि कुम्भकारत्वेनेव दण्डरूपत्वेनान्यथासिद्धस्यापि रूपत्वादिनानन्यथासिद्धत्वमस्तु। ननु तदतिप्रसक्तमिति चेत्। तत् किमतिप्रसक्तत्वमप्यन्यथासिद्धिः? तथा चानन्यथासिद्धत्वानियत-पूर्ववर्त्तित्वयोरप्रतिक्षेपे किं तेन? किञ्च, फलानुपहितवृत्तित्वस्यातिप्रसक्तत्वस्य दण्डत्वादिसाधारणत्वाद् एतादृशस्य चाभावात्। न च तेन रूपेणान्यत्र क्लृप्तेत्यत्रान्तर्भवतीति वाच्यम्। तर्हि दण्डरूपत्वेनापि तथास्तु। एवञ्च दण्डसाहित्येनैव दण्डवत्त्वेन घटपूर्ववर्त्तित्वग्रहाद्दण्डत्वमप्यत्रान्तर्भवति। यदि च रूपान्तरेण तस्य तदग्रहे साहित्यनियमाभावान्न तथा, तदा दण्डरूपेऽपि तुल्यम्। तथा च तत्संग्रहार्थमपरान्यथासिद्धिनिर्वचनमप्यसङ्गतम्। अत एवावच्छेदक-जनकजनकयोरपि त्रयेणैव संग्रहसम्भवात् त्रिधैवान्यथासिद्धिरिति *गङ्गेशः*। न चोभयेनापि तत्संग्रहे को दोष इति वाच्यम्। कारणत्वस्य तदभावगर्भत्वे गौरवादिति चिन्तनीयम्।

अन्यं प्रतीति। न चैवं संयोगादिकमपि प्रत्याकाशस्यान्यथासिद्धत्वप्रसङ्गः। आकाशत्वेनेष्टत्वात्। द्रव्यत्वेन शब्दपूर्ववर्त्तितामज्ञात्वाऽपि तत्पूर्ववर्तित्वग्रहात्। नन्वेवं यागादेरपूर्वेऽन्यथासिद्ध्यापत्तिः। स्वर्गं प्रति पूर्ववर्त्तित्वे ज्ञात एव तत्र तद्ग्रहादिति चेन्न। **साक्षादिति** पूर्ववर्त्तित्वविशेषणात्। तत्पूर्ववर्तित्वानुपपादकं यस्य पूर्ववर्त्तित्वं गृह्यते इत्यर्थादित्यन्ये। न च परत्वादिपूर्ववर्त्तित्वग्रहानन्तर-मन्यकार्ये दिक्कालयोस्तद्वदित्यन्यथासिद्ध्यापत्तिः। अधिकरणत्वेन तद्ग्रहं विनाऽपि कार्यमात्रे तद्ग्रहात्। नन्वन्यं प्रति पूर्ववर्त्तित्वे गृहीत एवेत्यत्र किं येन केनचित्? सर्वेण वा?नाद्यः, दण्डादावतिप्रसङ्गात्। नान्त्यः, शब्दोऽष्टद्रव्यातिरिक्त-द्रव्याश्रितोऽष्टद्रव्यानाश्रितत्वे सति गुणत्वादित्यनेनाकाशसिद्धौ शब्दपूर्व-वर्त्तित्वाग्रहेऽपि घटं प्रति तद्ग्रहसम्भवात्। न च तत्रापि शब्दं प्रति कारणतामुपजीव्यैवाकाशसिद्धिः। शब्दनित्यत्वानित्यत्वसन्देहेऽपि तदाश्रयत्वेन तत्सिद्ध्यविरोधात्। अनुकूलतर्कान्तरसम्भवाच्च। वस्तुतः, शब्दनित्यत्वनिर्णयवतो

वेति। ततोऽधिकनिषेधे का वार्ता? न काचित्। तत्किं विधिरेव? एतदपि नास्ति, प्रमाणाभावात्। सन्देहस्तर्हि? कथमेव भविष्यति, अनुपलब्धचरत्वात्। विवादस्तर्हि? कुत्र? अनुग्राहकत्वसाम्यात्, सहकारिष्वपि शक्तिपदप्रयोगात्, सहकारिभेदे। तत्रापि दहनादेरनुग्राहकोऽधिकोऽस्त्येव, यः प्रतिबन्धकैरपनीयते इति यदि, तदा न विवदामहे। अस्मदभिप्रेतस्य चाभावादेरनुग्राहकत्वमङ्गीकृत्य निःसाधना *मीमांसका* अपि न विप्रतिपत्तुमर्हन्ति। ततोऽभावादिरनुग्राहक इत्येके, नेत्यपरे, इति विवादकाष्ठायां व्युत्पादितञ्चैतस्यानुग्राहकत्वम्। किमपरमवशिष्यते यत्र प्रमाणमभिधानीयमित्यलमतिविस्तरेण।

आमोदः– लक्ष्यं लक्षणत्वं च जानानं प्रत्येतस्यैतल्लक्षणमिति पक्षनिष्ठताज्ञापकस्यैव लक्षणप्रणयनफलत्वात्। अन्यथा लक्षणपदानां तत्पदार्थानां च तदानीमेव लक्षणाप्रणयनप्रसङ्गेनाव्यवस्थापत्तेः। बीजे अङ्कुराभावः सहकारिप्रयुक्तः। शिलायाञ्च शिलात्वप्रयुक्त एवेति विशेषः। कार्यत्वनिरूपितत्वं वा कारणत्वम्। कार्यनियतदेशकालनियतत्वं वेति दिक्। ननु भवतु कारणत्वमपि शक्तिपदार्थः। अस्मदभिमता शक्तिस्तथापि न निषिद्धेत्याह **तत इति**। गूढाभिसन्धिराह – **न काचिदिति**। तर्हि सापि स्यादित्याह – **तत् किमिति**। आशयमुद्घाटयति – **एतदपीति**। प्रमाणाभावस्य चोक्तत्वादिति भावः। **सन्देह इति**। साधकबाधकमानाभावादिति भावः। उत्तरं – **कथमिति**। कोटिप्रसिद्धेरभावान्न सन्देह इति भावः। तर्हि संशयाभावे विवादानुपपत्तिरित्याह – **विवाद इति**। कारणत्वमेव शक्तिपदवाच्यं, तच्चानुग्राहकं सहकार्यनुग्राहकम्, अतः सहकारिण्यपि शक्तिपदप्रयोगात् किं सहकारि वह्नौ यतो दाह इति धार्यते इत्याह – **अनुग्राहकत्वेति**। यत् सा हि स एव, कार्यं तदनुग्राहकं, तच्च कारणत्वं सहकारि च, तथा च सहकारिभेदे विवाद इत्यर्थः। ननु प्रतिबन्धकापनेयमनुग्राहकं मयाप्यङ्गीक्रियत एव, तत्र कथं विवाद इत्यत आह – **तत्रेति**। **निःसाधना इति**। अर्थापत्तेरन्यथोपपत्तेरनुमानस्य चान्यथासिद्धत्वात् *मीमांसकानां* निःसाधनत्वं विवादारम्भिकां विप्रतिपत्तिमाह – **तत इति**। **एके** *नैयायिकादयः*, **अपरे** *मीमांसकाः*।

प्रकाशः– अन्यत्र क्लृप्तपूर्ववर्तिन एव कार्यसम्भवे तत्सहकृतत्वम्। यथा गन्धवति गन्धानुत्पादाद् गन्धं प्रति गन्धकादाचित्काभावस्य नियतपूर्ववर्तित्वकल्पनाद् गन्धं प्रति पाकजस्थले रूपप्रागभावादीनाम्। यत्र च जन्यपूर्वभावे ज्ञाते जनकस्य पूर्वभावो ज्ञायते, तत्र जन्येन जनकमन्यथासिद्धम्, यथा कुम्भकारेण कुम्भं प्रति तत्पिता। यमादायैव यस्यान्वयव्यतिरेकौ तेन तदन्यथासिद्धम्, यथा दण्डेन दण्डत्वम्। एतावदन्यथासिद्ध्यभावे सति यस्य नियतपूर्ववर्तित्वं, तत् कारणम्। **सहकारीति**। नन्वत्रात्माश्रयः सहकारित्वस्य कारणत्वात्, प्रयुक्तत्वं च न जन्यत्वं, प्रागभावस्याजन्यत्वात्। नापि जनकत्वम्, असम्भवात्। नापि व्यापकत्वम्। शिलाशकलेऽपि तादृशाभावस्य सत्त्वेन तत्रातिव्याप्तेः। नापि व्याप्यत्वम्। कार्यसंसर्गाभावमात्रस्य सहकार्यभावाव्याप्यत्वात्। शिलाशकलादौ कार्याभावे सत्यपि सहकार्यभावस्यासत्त्वात्। न च कार्यप्रागभावस्तद्व्याप्यः। निमित्तासमवायिनोः कार्यप्रागभावाभावेन तदव्याप्तेः। उच्यते। यस्य कार्याभावव्याप्यत्वमितरा भावावच्छिन्नं, तत् कारणम्। बीजेऽङ्कुराभावव्याप्यता न बीजत्वेनावच्छिद्यते, इतरसमवधाने सति बीजादङ्कुरसत्त्वात्। किन्त्वितराभावे नावच्छिद्यते। इतराभावे बीजेऽङ्कुराभावनियमाद्। शिलायां तु तत्, शिलात्वेनैवावच्छिद्यते।

यद्वा, अन्यासमवधानावच्छिन्नकार्यानुत्पत्तिव्याप्यत्वं कारणत्वम्। रासभादेश्च स्वत एव कार्याभावव्याप्यतयाऽन्यासमवधानस्य वैयर्थ्येनानवच्छेद कत्वादिति। **ततोऽधिकेति**। कारणत्वस्योभयसिद्धत्वात् तदन्यशक्ति निषेधकमित्यर्थः। **अनुग्राहकत्वेति**। कारणत्वस्य शक्तिपदवाच्यत्वेऽपि अनुग्राहकत्वस्य कारणसहकारिसाधारणत्वात् सहकारिष्वपि शक्तिपदप्रयोगः। यत्समवधाने नियतं कार्यं, तस्यैवानुग्राहकत्वादित्यर्थः। **तत इति**। मन्त्रादिप्रयोगे किं भावरूपोऽनुग्राहको नास्त्यभावरूपो वेति विप्रतिपत्त्या कथायामभावस्यानु ग्राहकत्वे व्युत्पादिते क्वान्यत्र प्रमाणं वाच्यमित्यर्थः।

मकरन्दः– *मीमांसकस्य* तत्पूर्ववर्त्तित्वमज्ञात्वैव घटादिपूर्ववर्त्तित्वग्रह इति नियमासिद्धिः। किञ्च, द्रव्यत्वेनैवाकाशस्य संयोग इव ज्ञानादौ हेतुत्वमस्तु। न च तत्र ग्राहकाभावेन नियतपूर्ववर्त्तित्वाग्रह इति वाच्यम्। ग्राह्यसत्त्वे ग्राहकाभावासत्त्वात्। न च तेनैव रूपेणान्यत्रेत्यत्रान्तर्भवतीति वाच्यम्। तथा सत्याकाशत्वेनापि तथात्वापत्तेः। अपि चैवं शब्दसाक्षात्कारं प्रत्यपि तस्यान्यथासिद्धिः स्यात्। न च शब्दपूर्ववर्त्तिता-मज्ञात्वाऽपि इन्द्रियत्वेन तत्पूर्ववर्त्तित्वग्रह इति वाच्यम्। श्रोत्रत्वेन –

मकरन्दः- तथाप्यन्यथासिद्ध्यापत्तेः। तस्याकाशघटितत्वादाकाशस्य च शब्दपूर्ववर्त्तित्वग्रहं विनाभ्युपगमात्। अन्यथा घटेऽपि तस्यान्यथासिद्धत्वं न स्यात्। एवञ्च पाञ्चभौतिकं शरीरं प्रत्यपि तदन्यथासिद्धं स्यात्। किञ्चेश्वरज्ञानादेः क्षितिपूर्ववर्त्तित्वे ज्ञात एव घटपूर्ववर्त्तित्वग्रहात्तत्रान्यथासिद्ध्यापत्तिः। न च कार्यमात्रे कर्तृमात्रस्यैकदैव पौर्वापर्य्यग्रहान्नैवमिति वाच्यम्। प्रकृतेऽपि विभुमात्रस्यैकदैव पौर्वापर्यग्रहस्य शब्दादिना सम्भवादन्यथासिद्ध्यभावापत्तेः। विभुत्वेन पूर्ववर्त्तित्वमात्रं गृह्यते, न तु जनकत्वमिति चेत्। ततः किम्? न हि जनकत्वगर्भा प्रकृतान्यथासिद्धिः, आत्माश्रयापत्तेः। यत्तु अन्यमित्यस्य यमित्यर्थः। तेन यं प्रति पूर्ववर्त्तित्वे गृहीत एवेत्यर्थः। न च क्षित्यादिस्तथा। अन्यतमपूर्ववर्त्तित्वग्रहेणापि सम्भवेन नियमाभावात्। तत्र शब्दत्ववदत्राप्यनुगतपक्षतावच्छेदकस्यान्यतमत्वादेर्वा सम्भवादिति चिन्त्यम्।

अन्यत्रेति प्रायिकम्। अवश्यकल्प्यं यल्लघु नियतपूर्ववर्त्ति, तत् समवधाननियतत्वं तत्त्वमित्यत्र तात्पर्यम्। तेन गुणेन दोषाभावस्य महत्त्वेनानेकद्रव्यत्वस्यान्येषां वा गुरूणां पदार्थानामन्यथासिद्धिर्भवति। अत एव पञ्चम्या हेतुत्वाभिधानादात्माश्रय इत्यपास्तम्। पूर्ववर्त्तिन इत्यत्र पञ्चम्या अवधित्वेन तस्योक्तत्वादित्*यन्ये*। अत एव च रासभादेरपि यथाश्रुतान्यथासिद्धान्त-र्भावेऽनन्यथासिद्धपदेनैव तद्वारणं नियतपदं व्यर्थमित्यपास्तम्। नन्वेवं दण्डरूपाकाशदण्डत्वानामप्यत्रैवान्तर्भावे तत्संग्राहकान्यथा-सिद्धीनामानर्थक्यम्। किञ्चावश्यकल्प्यत्वं नियतपूर्ववर्त्तित्वमात्रेण, कारणतया वा? नाद्यः। गन्धं प्रति रूपविशेषप्रागभावस्यापि तथात्वेन तेनैव गन्धप्रागभावान्यथासिद्ध्यापत्तेः। नान्त्यः, आत्माश्रयात्। अपि च सहकारिणां परस्परस्य परस्परेणान्यथासिद्ध्यापत्तिः, द्वयोरप्यवश्यकल्प्यलघुनियतपूर्ववर्त्तित्वेन तत्समवधाननियतत्वात्। न च पृथगन्वयाद्यननुविधायित्वे सतीत्यपि विशेषणम्। तद्धि पृथगन्वयादिग्रहाविषयत्वं वा समनियतत्वं वा? नाद्यः। रूपप्रागभावस्यापि शब्दादिना तादृशग्रहविषयत्वेन तथात्वापत्तेः। नान्त्यः, आलोकतद्रूपादेरीश्वर-ज्ञानादेश्चैवमपि परस्परमन्यथासिद्ध्यापत्तेः। एतेनावश्यकल्प्यपूर्ववर्त्तिन एव कार्यसम्भवे तन्नियतसहभूतत्वमित्यर्थः। पञ्चमी चावधित्वे, न हेतुत्वे इत्यपास्तमिति चिन्त्यम्।

गन्धकादाचित्काभावस्येति। गन्धप्रागभावस्येत्यर्थः। **यत्र च जन्येति**। जन्यजनकत्वं वास्तवं नियतपूर्ववर्त्तित्वमात्रं विवक्षितमिति नात्माश्रयः। इयञ्च

मकरन्दः– तत्पितृत्वेनान्यथासिद्धिर्बोध्या। कुलालत्वेन तस्यापि हेतुत्वात्। अत्रापीदं चिन्त्यम्। **पूर्वत्रैवास्यान्तर्भावे** वैयर्थ्यमित्युक्तमेव। मननव्यापारकश्रवणत्वेन हेतुत्वमिति द्रव्यप्रकाशविरोधश्च। यदि मननपूर्ववर्त्तित्वमज्ञात्वाऽपि, श्रोतव्य इत्यादिशब्दादिना श्रवणपूर्ववर्त्तित्वग्रहसम्भवो भिन्नग्रहसामग्रीकत्वादिति नैवं, तदा प्रकृतेऽपि तुल्यमिति। **यमादायेति।** न च येन सहेत्यनेनाभेद इति वाच्यम्। तत्र साहित्यप्रतियोगिना दण्डेनान्वयादिप्रतियोगि रूपमन्यथासिद्धमिति हि विवक्षितम्। अत्र च साहित्यप्रतियोगिदण्डत्वमेव दण्डेनान्यथासिद्धमिति भेदात्। अत्रापीदं चिन्त्यम्। पूर्वत्रैवास्यान्तर्भावे वैयर्थ्यम्। उद्भूतरूपतेजसोः परस्परमन्यथासिद्ध्यापत्तिः। इन्द्रियादेरिन्द्रियसंयोगादिनान्यथासिद्ध्यापत्तिश्च। किञ्च दण्डत्वाद्यवच्छेदक-समनियतधर्म्मान्तरमादायापि शब्दादिनाऽन्वयादिग्रहसम्भवान्नियमासिद्धिः। प्रत्यक्षपरत्वेऽतीन्द्रियावच्छेदकाव्याप्तिः। अन्यथा दण्डमादाय दण्डत्वेन तस्यान्वयादिग्रहात्तेन दण्डान्यथासिद्ध्यापत्तेरिति। **नियतेति।** ननु नियतत्वं देशमपेक्ष्य कालमपेक्ष्य वा। नाद्यः, रासभेऽपि गतत्वात्। घटपटादिपूर्वकाले रासभजातीयस्य नियमेन सत्त्वात्। नान्त्यः, साक्षात्सम्बन्धेनादृष्टादेर्घटादि-देशेऽनियतत्वात्। साक्षात्परम्परासाधारणसम्बन्धमात्रापेक्षया रासभे घटादिदेशनियतत्वेनातिप्रसङ्गादिति चेत्, मैवम्। साक्षात्परम्परा-साधारणैकजातीयसम्बन्धेन देशनियतत्वस्य विवक्षितत्वात्। रासभादेरेक-जातीयसम्बन्धेन घटादिदेशनियतत्वाभावाद् घटादेरेकजातीयसम्बन्धेना-दृष्टादेर्नियतत्वादिति वदन्ति। तत्रेदं चिन्त्यम्। कियत्सु घटेषु रासभस्याप्येक-जातीयसम्बन्धेन देशनियतत्वादतिप्रसङ्गः। कार्यतावच्छेदकावच्छेदेनादृष्टस्याप्य-तथात्वम्। द्रव्यगुणाद्यनेककार्य एकजातीयसम्बन्धाभावादिति। **यस्य कार्याभावव्याप्यत्वमिति।** इतराभावसहकारावच्छिन्नं तदवच्छिन्नं कारणमित्यर्थः।

तेन बीजत्वस्य कार्याभावव्याप्यत्वस्य जनकत्वाभावान्नासम्भवः। न वा यत्र दण्डाभाववत्त्वं तत्र घटाभाव इति दण्डाभावनिष्ठव्याप्तौ दण्डाभावस्यैवा-वच्छेदकतयाऽजनके दण्डाभावादौ चातिव्याप्तिः। तत्र दण्डाभावसहकृतत्वस्यान-वच्छेदकत्वात्। एवञ्चाग्रे बीजत्वादिपदं तद्धर्मपरमिति। ननु कार्या-भावस्तज्जनकत्वाभावो वा, तदभावमात्रं वा?। आद्ये आत्माश्रयः। अन्त्ये शिलायामप्यङ्कुरस्य संयोगवृत्त्या सत्त्वेन तत्रापीतराभावसहकृतशिलात्वस्य

तथापि चेतन एवायं संस्क्रियते, न भूतानीति कुतो निर्णय इति चेत्? उच्यते। भोक्तॄणां नित्यविभूनां सर्वदेहप्राप्तावविशिष्टायां विशिष्टैरपि भूतैर्नियामकाभावात् प्रतिनियतभोगासिद्धेः। न हि तच्छरीरं तन्मनस्तानीन्द्रियाणि विशिष्टान्यपि तस्यैवेति नियमः, नियामकाभावात्। तथा च साधारणविग्रहवत्त्वप्रसङ्गः। न च भूतधर्म एव कश्चिच्चेतनं प्रत्यसाधारणः, विपर्ययदर्शनात्। द्वित्वादिवदिति चेन्न। तस्यापि शरीरादितुल्यतया पक्षत्वात्। नियतचेतनगुणोपग्रहेणैव तस्यापि नियमो, न तु तज्जन्यत्वमात्रेण। स्वयमविशेषात्। तथापि तज्जन्यतयैव नियमोपपत्तौ विपक्षे बाधकं किमिति चेत्, कार्यकारणभावभङ्गप्रसङ्गः। शरीरादीनां चेतनधर्मोपग्रहेणैव तद्धर्मजननोपलब्धेः। तद् यथा – इच्छोपग्रहेण प्रयत्नो, ज्ञानोपग्रहेणेच्छादयः, तदुपग्रहेण सुखादय इत्यादि। प्रकृतेऽपि चेतनगता एव बुद्ध्यादयो नियामकाः स्युरिति चेन्न। शरीरादेः प्राक् तेषामसत्त्वात्। तथा च निरतिशयाश्चेतनाः, साधारणानि भूतानीति न भुक्तिनियम उपपद्यते।

आमोदः– भूतानीति। शरीरादीनीत्यर्थः। व्रीहिषु काण्डस्यापास्तत्वात्। भोक्तृ प्रत्यासत्त्यविशेषे किञ्चिदेव शरीरादि कस्यचिदेव भोगसाधनमिति नियामकाभावो भोक्तृसंस्कारे मानमित्यर्थः। **विशिष्टान्यपीति**। संस्कृतान्यपीत्यर्थः। **विपर्ययेति**। भूतधर्मादीनां साधारण्यदर्शनादित्यर्थः। व्यभिचारमत्र शङ्कते – **द्वित्वादिवदिति**। भूतधर्मो द्वित्वादिर्यथा प्रतिनियतभोगजनकस्तथाऽपूर्वमपि स्यादित्यर्थः। तत्राप्यपेक्षाबुद्धिरेव नियतचेतनगुणो निमित्तं येन नियतभोगसाधनत्वमिति कुतो व्यभिचार इत्याह – **तस्यापीत्यादि**।

तज्जन्यत्वमात्रेण भूतजन्यत्वमात्रेण। अत्र नियामकाभावं शङ्कते – **तथापीति**। कार्यकारणभावमेवाह – **शरीरादीनामिति**। **तद्धर्मजननोपलब्धेश्चेतनधर्मजननोपलब्धेः**। चेतनधर्मोपग्रहेणैव चेतनधर्मोत्पत्तिरिति कार्यकारणभाव इत्यर्थः। तदेव दर्शयति – **तद् यथेति**। **प्रकृतेऽपीति**। शरीरादीनां नियतभोगसाधनत्वेऽपीत्यर्थः। **तेषामिति**। बुद्ध्यादीनामित्यर्थः। **निरतिशया इति**। अदृष्टरहिता इत्यर्थः। एतावता 'प्रत्यात्मनियमाद् भुक्ते'रित्यादि(१.४) कारिकाप्रतीकार्थो व्याख्यातः।

प्रकाशः– भोक्तृणामिति। भोक्तृप्रत्यासत्तेरविशेषात् किञ्चिच्छरीरं कस्यचिदेव भोगं जनयतीति प्रतिनियतभोगान्यथानुपपत्त्या प्रतिनियतभोक्तृकर्मोपार्जितत्वं शरीरादावभ्युपेयमित्यर्थः। **विशिष्टैरित्यभ्युपगमवादः**। **असाधारण इति**। प्रतिनियतभोगजनक इत्यर्थः। **विपर्ययेति**। भूतधर्मस्य नीलादेस्तथात्वा– दर्शनादित्यर्थः। **द्वित्वादीति**। यथा भूतधर्मोऽपि द्वित्वादि यस्यैवापेक्षाबुद्ध्या जनितं

मकरन्दः– कार्याभावव्याप्यत्वात्। किञ्च घटकारणे ज्ञानादौ कार्याभावव्याप्यत्वं ज्ञानत्वादिनैवावच्छिद्यते। दण्डाद्यभावसाहित्यस्य तत्र नीलधूम इव व्यर्थत्वादिति चेत्, अत्र वदन्ति। उत्पत्तिकालीनसम्बन्धावच्छिन्नकार्याभावव्याप्यत्वं विवक्षितम्। संयोगसम्बन्धस्योत्पत्त्यनन्तरकालीनतया तदवच्छिन्नाभावमादाय न शिलादौ प्रसङ्गः। उत्पत्तिकालीनसम्बन्धो द्वयमेव, कारणता समवायश्च। तदवच्छिन्नाङ्कुराभावश्च समवायिनि बीजादौ च। द्वयञ्च कारणमेव। न चैवं कारणतागर्भत्वेनात्माश्रयः। सम्बन्धत्वेनैव तज्ज्ञानादिति। अत्र वदन्ति। विषयाविषयिभाव– सम्बन्धस्याप्युत्पत्तिकालीनतया तदवच्छिन्नकार्याभावत्वस्येतराभावावच्छेद्यतया वह्न्यादेरनुमितिजनकत्वापत्तिः। चरमकारणे कार्याभावाभावादव्याप्तिश्चेति। बीजादङ्कुर इति प्रतीतिबलादवध्यवधिमद्भावलक्षणः स्वरूपसम्बन्धविशेष एव विलक्षणः। कार्यकारणयोस्तत्सम्बन्धावच्छिन्नकार्याभावश्च कारण इतराभावावच्छेदेन। स्वरूपायोग्ये च तादृशसम्बन्धाभावात् तदवच्छिन्नकार्याभावः स्वसाधारणशिलात्वादिधर्मावच्छेद्यः। एवञ्च तादृशसम्बन्धावच्छिन्न– कार्याभावव्याप्यत्वं यत्र स्वासाधारणधर्मेतरावच्छिन्नं तदवच्छिन्नं कारणमित्यत्र तात्पर्यम्। चरमकारणे च यद्यपीतराभावो नावच्छेदकस्तथाप्युत्पादकाल एव तथा। उत्पादानन्तरमेव कार्योत्पादेन तदा कार्याभावात्। यद्वा, परामर्शादौ चरमकारणेऽपि प्रतिबन्धकाभावविलम्बेन कार्योत्पत्तिविलम्बादितराभावावच्छिन्नमेव।

यदि च क्वचिन्न तथात्वं, तदा तज्जातीयत्वं लक्षणं बोध्यम्। न चारण्यस्थदण्डे तद्दण्डत्वादिनैव तदवच्छेदादव्याप्तिरिति वाच्यम्। दण्डत्वमादाय लक्षणसत्त्वादिति। **अन्यासमवधानावच्छिन्नेति**। अन्यासमवधानावच्छिन्नं कार्यानुत्पत्तिव्याप्यत्वं यस्य, तदवच्छिन्नं कारणत्वमित्यर्थः। उत्पत्तिगर्भतया पूर्वस्माद्भेदः। शेषं पूर्ववत्। कारणत्वसहकारीत्यत्र द्वन्द्वः।

प्रकाशः- तस्यैव भोगजनकं, तथा अपूर्वमपि तद्धर्मः स्यादित्यर्थः। द्वित्वादेरप्यसाधारणत्वं नियतचेतनगुणोपग्रहेणैवेत्याह **तस्यापीति**।

ननु भूतधर्मान्तरस्य साधारण्येऽप्यपूर्वं तद्धर्मस्तत्कार्यत्वमात्रेणैवासाधारणं स्यादित्यत आह **तथापीति**। कार्यकारणभावमेवाह **शरीरादीनामिति**। **प्रकृतेऽपीति**। यथा शरीरादीनां चेतनगुणबुद्ध्यादिसहितानां नियतानां नियतभोगजनकत्वं, तथा प्रकृतेऽपि तेषां तत्सहितानामेव तज्जनकत्वमस्त्विति कृतमपूर्वेणेत्यर्थः। **शरीरादेरिति**। न शरीराद्युत्पत्तेः पूर्वं बुद्ध्यादिसम्भव इति तदन्यचेतनगुणापूर्वसिद्धिरित्यर्थः। देवदत्ताद्यशरीरं, स्वाव्यवहितप्राक्कालवर्त्ति देवदत्तसमवेतविशेषगुणजन्यम् कार्यत्वे सति तद्भोगसाधनत्वात् तन्निर्मितस्रग्वत्। घटादीनां पक्षसमत्वाद् न तैर्व्यभिचारः। न च संस्कारेणार्थान्तरं, तस्य भोगजनकत्वेनाकल्पनात्। संस्काराजन्यत्वेन पक्षविशेषणाद्वेति भावः।।१३।।

मकरन्दः- **देवदत्ताद्येति**। द्वितीयशरीरादेराद्यशरीरजन्यबुद्ध्यादिजन्यत्वेनार्थान्तरं स्यादित्याद्यापदम्। अन्यशरीरे बाधवारणाय पक्षे देवदत्तपदम्। जन्मान्तरबुद्धिजन्यत्वेनार्थान्तरवारणाय वर्त्यन्तम्। ईश्वरज्ञानादिजन्यत्वेन सिद्धसाधनवारणाय **देवदत्तेति**। सङ्ख्यादिजन्यत्वेनार्थान्तरवारणाय **विशेषेति**। मनसा व्यभिचारवारणाय **सत्यन्तम्**। अन्यशरीरादौ व्यभिचारवारणाय **तदिति**। **तन्निर्मितेति**।। तद्भोगसाधनेत्यपि द्रष्टव्यम्। **तस्येति**। यद्यप्येवमपि शरीरजनकत्वे विरोधाभावस्तथापि तद्द्वारा भोगजनकत्वमाश्रित्येदमुक्तम्। यद्यपि, धर्मिकल्पनात इति न्यायेन भोगजनकत्वमपि तस्यैव कल्पनार्हम् तथापि मानान्तरादप्यदृष्टा-सिद्ध्यवष्टम्भेनेदमुक्तमि*त्येके*। संस्कारान्यत्वं गुणविशेषणमि*त्यन्ये*।१३।

एतेन सांख्यमतमपास्तम्।

एवं हि तत् – अकारणमकार्यः कूटस्थचैतन्यस्वरूपः पुरुषः। आदिकारणं प्रकृतिरचेतना परिणामिनी। ततो महदादिसर्गः। न हि चितिरेव विषयबन्धनस्वभावा, अनिर्मोक्षप्रसङ्गात्। नापि प्रकृतिरेव तदीयस्वभावा, तथापि नित्यत्वेनानिर्मोक्षप्रसङ्गात्। नापि घटादिरेवाहत्य तदीयः, दृष्टादृष्टत्वानुपपत्तेः। नापीन्द्रियमात्रप्रणालिकया, व्यासङ्गायोगात्। नापीन्द्रियमनोद्वारा, स्वप्नदशायां वराहव्याघ्राद्यभिमानिनो नरस्यापि नरत्वेनात्मोपधानायोगात्। नाप्यहङ्कारपर्यन्तव्यापारेण, सुषुप्तावस्थायां तद्व्यापारविरमेऽपि श्वासप्रयत्नसन्तानावस्थानात्। तद् यदेतास्ववस्थासु

आमोदः– ननु चेतनश्चितिशक्तिः पुरुषः, तत्र च न भोगो नाप्यपूर्वं, किन्तु बुद्धिरेव भावाष्टकसम्पन्ना इत्यत आह – **एतेनेति**। अपूर्वस्य चेतनधर्मव्युत्पादनेनेत्यर्थः।

अपासनीयं विशदयति – **एवं हीति**। **अकारणमिति**। प्रकृतिभेदकम्। **अकार्यमिति**। बुद्धितत्त्वादिव्यावर्तकम्। **कूटस्थत्वं** जन्यधर्मानाश्रयत्वम्। **आदिकारणं** सर्वकार्यमूलभूतं कारणम्, अचेतनत्वे हेतुः **परिणामिनीति**। **तत इति**। प्रकृतेरित्यर्थः। **महदादीति**। 'प्रकृतेर्महान्, महतोऽहङ्कारः, अहङ्कारात् पञ्च तन्मात्राणी'ति तत्सिद्धान्त इति भावः। ननु विषयाणां घटादीनां चेतनसम्बन्धः साक्षादेवास्तु, तत एव बुद्ध्युपलब्धिज्ञानप्रत्ययानामुपपत्तौ किं महदादिप्रणालिकया इत्यत आह – **चितिरिति**। चितिविषययोः सम्बन्धे चितेर्विषयाणाञ्च नित्यतया मोक्षः कदापि न स्यादित्यर्थः। सर्वदैवेष्टानिष्टभोगसम्भवादिति भावः। ननु चैतन्यं प्रकृतौ प्रतिबिम्बितं प्रकृतिविषयोक्तसाक्षात्सम्बन्धः स्यात्, किं महदादिना इत्यत आह – **नापीति**।**तदीयस्वभावा** विषयसम्बन्धस्वभावा। **तथापीति** तस्या अपि नित्यत्वात् पुंसः पुनरनिर्मोक्षापत्तिरेवेत्यर्थः। ननु चितिर्विषयसम्बन्धस्वभावा माऽस्तु, विषया एव चितिसम्बन्धस्वभावाः सन्तु, तथा च विषयकलातिरोभावे मोक्षः स्यादित्यत आह – **नापीति**। **आहत्य** साक्षात्। **दृष्टेति**। विषयस्य परम्परया चैतन्यस्य चैतन्यधर्मितया चैतन्यसम्बन्धिस्वभावत्वे द्वारीभूतस्येन्द्रियादेरङ्गी–कारापत्तिरिति साक्षात् तद्वाच्यम्। तथा सति इदं दृष्टमिदमदृष्टमिति न स्यात्, सर्वथा चितिसम्बन्धस्वाभाव्येनाव्यवधानादित्यर्थः। ननु विषया इन्द्रियद्वारा चितिसम्बन्धात्मानः सन्तु, दृष्टादृष्टव्यवहारादि तत्तत्सन्निकर्ष–विप्रकर्षाभ्यामुप–पत्स्यत इत्यत आह – **नापीन्द्रियमात्रेति**। एवं सति व्यासङ्गो न स्यादिन्द्रियसम्बद्धे विषये ज्ञानोत्पत्तेरावश्यकत्वादित्याह – **व्यासङ्गेति**। तर्हि व्यासङ्गानुपपत्त्या मनः कल्प्यतां, किमहङ्कारेणेत्यत आह – **नापीन्द्रियमनोद्वारेति**। एवं सति स्वस्मिन्न व्याघ्रोऽहं वराहोऽहमिति नारोपयेत्; किन्त्विन्द्रियमनोद्वारा चितिसम्बद्धं स्वकीयं नरत्वमेव गृह्णीयात् इत्याह – **स्वप्नेति**। तथाप्यहङ्कारो–ऽप्यस्तु, स्वप्नदशायामारोपार्थं बुद्धितत्त्वे च न मानमस्तीत्यत आह – **नाप्यहङ्कारेति**। सुषुप्तावस्थायां मनोवदहङ्कारोऽपि निवृत्तव्यापार एव। तथा श्वासप्रश्वासप्रयोजक–जीवनयोनियत्नः कस्य व्यापारः स्यादिति तदनुरोधेन बुद्धितत्त्वमावश्यकमित्याह – **सुषुप्तेति**। कारणान्तराद्भेदकान्तरमाह –

प्रकाश:- ननु चेतने न भोगो नाप्यदृष्टम्। तस्य कूटस्थत्वात्, किन्तु बुद्धाविति चेतनधर्मस्य नियामकत्वमयुक्तमिति *सांख्यमतं* दूषयति **एतेनेति**। चेतनेऽपूर्वानाधाने साधारणविग्रहवत्त्वप्रसङ्गेनेत्यर्थ:। शिष्यहितैषितया तन्मतं प्रपञ्चयति **एवं हीति**। अकारणमित्यनेन प्रकृतेर्भेद:। अकार्य इत्यनेन चरमपरिणतिघटादेर्भेद:। ननु बुद्ध्याद्यकारणत्वे तस्य तत्र मानाभाव इत्यत आह **कूटस्थेति**। अकारणत्वादेव कूटस्थोऽनित्यधर्मानाश्रय:, कार्यत्वाभावान्न स्वरूपतो नाश:। अकारणत्वाच्च कार्यकारणयोस्तादात्म्यात् तदात्मतयापि न नाश:। अत एवापूर्वं न तस्य गुण:। चैतन्यस्वरूपत्वमपि धर्मधर्मिणोस्तादात्म्यात् कूटस्थत्वेन चैतन्येन निरूप्यत इति न तत्र मानाभाव इत्यर्थ:। बुद्धिगतचैतन्याभिमानान्यथानुपपत्त्या तत्कल्पनादिति भाव:। आत्मनोऽकारणत्वेऽपि सर्गमुपपादयति **आदीति**। आदिपदाद् महदादिव्यवच्छेद:। तस्य प्रकृत्यनन्तरमुत्पादात्। **कारणमिति** पुरुषव्यवच्छेद:, पुरुषाद्भेदकमाह **अचेतनेति**। तत्र हेतुमाह **परिणामिनीति**। अनित्यधर्माश्रयस्तत: कार्यधर्मात्मतया नश्यति। ततो घटादिवदचेतनेत्यर्थ:। **तत इति**। प्रकृतेर्महत्तत्त्वमन्त:करणं बुद्ध्याख्यम्। "प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कार स्तस्मात्पञ्चतन्मात्राणी"ति *सांख्या:*। ननु किमर्थं महदादिसर्गो मन्तव्यो नित्यचैतन्यमेव विषयप्रकाशस्वरूपमस्त्वित्यत आह **न हीति**। **चिति:** पुरुषचैतन्यम्। **विषयबन्धनम्** विषयावच्छेद:। चैतन्यविषयावच्छेदस्येष्टानिष्टोप-लब्धिरूपस्य हेतुसापेक्षत्वे हेतोरिन्द्रियादेरङ्गीकारापत्ति:। निरपेक्षतायां सर्वदा तस्य भावादनिर्मोक्ष: पुंस: स्यादित्यर्थ:। तर्हि प्रकृतिरेव साक्षाद्विषयबन्धन-स्वभावास्त्वित्यत आह **नापीति**। प्रकृते: साक्षाद्विषयस्वभावत्वे तस्या: सदातनत्वे पुनरपि अनिर्मोक्ष: पुंस: स्यादित्यर्थ:।

ननु विषयस्यैव चैतन्यसम्बन्धित्वं स्वभाव:। तथा च विषयनाशे पुंसो मोक्ष: स्यादित्यत आह **नापीति**। विषयस्य परम्परया चैतन्यसम्बन्धित्वे द्वारीभूतस्येन्द्रियादेरङ्गीकारापत्तिरिति साक्षात् तद्वाच्यम्। तथाचेदं दृष्टमिदमदृष्टमिति न स्यात्, व्यवहितस्यापि विषयस्य यावत्सत्त्वमवभासप्रसङ्गादित्यर्थ:। नन्विन्द्रियमात्रद्वारा विषयस्तदीय: स्यात्, किं मन:कल्पनयेत्यत आह **नापीति**। **व्यासङ्गेति**। इन्द्रिसम्बन्धेऽपि व्यासङ्गेन दर्शनाभावादित्यर्थ:।

मकरन्द:- भेदकमिति। भेदकान्तरमित्यर्थ:। **अनित्येति**। यद्यपि सर्वनित्यता-वादिनस्तस्य नानित्यं न वा कार्यम्। तथाप्याविर्भावतिरोभावौ उत्पादविनाशाविति

प्रकाशः– ननु व्यासङ्गानुरोधान्मनः संयुक्तेन्द्रियसंबद्धविषयस्य चैतन्यावच्छेदकत्वमस्तु किमहंकारेणेत्यह आह **नापीति**। यदीन्द्रियमनोभ्यामेव विषयाः सम्बद्ध्यन्ते, तदा शयानो नरो यथा वराहोऽहमिदं प्रत्येमीति अभिमन्यते, तथा नरोऽहमिदं प्रत्येमीति नरत्वेनाप्यात्मोपधानं स्यात्। अस्ति हि तत्र नरत्वं सन्निहितम्, अस्ति चेन्द्रियमनसोरपि व्यापारः, अन्यथाऽऽलोचनविकल्पयोरनुत्पादप्रसङ्ग इति तद्भिन्नोऽहङ्कारोऽनियतविषयाभिमानव्यापारो मन्तव्य इत्यर्थः। बुद्धितत्त्वं साधयति **नापीति**। पूर्वेषां व्यापाराभावेऽपि यद्व्यापारादुच्छ्वासादि तद्बुद्धितत्त्वं कल्प्यमित्यर्थः। उपसंहरति **तद्यदिति**। **अवस्थासु** जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु। अनुभवरूपा

मकरन्दः– भावः। **कार्यधर्मेति**। कार्यकारणयोस्तादात्म्यादिति भावः। **अन्यथेति**। आलोचनं व्यापार इन्द्रियाणाम्। विकल्पस्तु मनस इत्युपगमादिति भावः।

सव्यापारमेकमनुवर्तते, यदाश्रया चानुभववासना, तदन्तःकरणमुपारूढोऽर्थः पुरुषस्योपधानीभवति। भेदाग्रहाच्च निष्क्रियेऽपि तस्मिन् पुरुषे कर्तृत्वाभिमानः, तस्मिन्नचेतनेऽपि चेतनाभिमानः, तत्रैव कर्मवासना।

पुरुषस्तु पुष्करपलाशवन्निर्लेपः। आलोचनं व्यापार इन्द्रियाणां, विकल्पस्तु मनसः, अभिमानोऽहङ्कारस्य, कृत्यध्यवसायो बुद्धेः। सा हि

आमोदः– यदाश्रयेति। अनुभवरूपा वासनाऽनुभव**वासना**, न त्वनुभवजन्या वासना संस्कारः। **सांख्यैस्तदनभ्युपगमात्**। **तदन्तःकरणमिति**। बुद्धितत्त्वेन सम्बद्धो गोघटादिः पुरुषेण चैतन्येन सम्बध्यत इत्यर्थः। ननु यदि बुद्धौ न स्वाभाविकं चैतन्यं, तदा कृतिसामानाधिकरण्येन तज्ज्ञानमनुपपन्नमित्यत आह – **भेदाग्रहादिति**। बुद्धितत्त्वेन भेदाग्रहादित्यर्थः। **तस्मिन्निति**। बुद्धितत्त्व इत्यर्थः। पुरुषभेदाग्रहाच्च चैतन्याभिमानमित्यर्थः। **कर्मजनिता वासना** धर्माधर्मावित्यर्थः। ननु कर्मवासना पुरुषनिष्ठैव किं न स्यादित्यत आह – **पुरुषस्त्विति**। पुरुषस्य निर्लेपत्वं निर्गुणत्वं निरञ्जनत्वं श्रुतिगम्यमित्यर्थः। ननु मनोद्वारैव चेतनस्य विषयसम्बन्धोऽस्तु किमिन्द्रियैरत आह – **आलोचनमिति**। आलोचनार्थमिन्द्रियाभ्युपगमात्। व्यपदिशन्ति हि लोका मनो मया न दत्तमतः स्फुटतरश्च प्रत्ययो न जात इति। **आलोचनं** निर्विकल्पकं, यद्वा करणानां भेदकं प्रति नियतं व्यापार आलोचनमित्यादि। **अभिमान इति**। स्वप्ने व्याघ्रोऽहं वराहोऽहमित्याद्यभिमान इत्यर्थः। **कृत्यध्यवसायः** करोमीत्यध्यवसायो **बुद्धे**र्बुद्धितत्त्वस्य महादाख्यस्य व्यापार इति सर्वत्रानुषङ्गः। ननु **कृत्यध्यवसायः** कृतिमत्तया ज्ञानं, तच्च

बुद्धिरंशत्रयवती। पुरुषोपरागो, विषयोपरागो, व्यापारावेशश्चेत्यंशाः। भवति हि 'मयेदं कर्तव्यमि'ति। तत्र मयेति चेतनोपरागो दर्पणस्येव मुखोपरागो भेदाग्रहादतात्त्विकः। इदमिति विषयोपराग इन्द्रियप्रणालिकया परिणतिभेदो दर्पणस्येव निःश्वासाभिहतस्य मलिनिमा पारमार्थिकः। एतदुभयायत्तो व्यापारावेशोऽपि। तत्र एवंरूपव्यापारलक्षणाया बुद्धेर्विषयोपरागलक्षणं ज्ञानम्। तेन सह यः पुरुषोपरागस्यातात्त्विकस्य सम्बन्धो दर्पणप्रतिबिम्बितस्य मुखस्येव मलिनिमा, सोपलब्धिरिति। तदेवमष्टावपि धर्मादयो भावा बुद्धेरेव, तत्सामानाधिकरण्येनाध्यवसीयमानत्वात्। न च बुद्धिरेव स्वभावतश्चेतनेति युक्तं, परिणामित्वात्। पुरुषस्य तु कूटस्थनित्यत्वादिति। तदेतदपि प्रागेव निरस्तम्।

आमोदः- कथमचेतनाया बुद्धेरत आह – **सा हीति**। 'हि'शब्दो हेतौ। पुरुषचैतन्यो-परागान्नैतदनुपपन्नमित्यर्थः। कृत्यध्यवसायाकारमाह – **भवति हीति**। अंशं विभजते – **तत्रेति**। 'मये'त्यंशश्चेतनस्य दर्पणनिर्मलायां बुद्धौ प्रतिबिम्ब उपधानं, तच्चातात्त्विकमेव, चैतन्येन बुद्धेर्वास्तवसम्बन्धाभावात्, यथा दर्पणे मुखसम्बन्धमन्तरेणापि मुखभ्रम इत्यर्थः। **विषयोपरागो** विषयोपधानं, तच्च वास्तवमेव, '**इन्द्रियप्रणालिकया** बुद्धौ ज्ञातरूपविषयसम्बन्धत्वात्। **एतदुभयायत्त इति**। पुरुषोपरागविषयोपरागमहिम्ना कृतिमत्तयाऽध्यवसाय इत्यर्थः। ननु ज्ञानमेव चैतन्यं, तत् कथमनयोर्भेद इत्यत आह – **एवंरूपेति**। कृत्यध्यवसाय-लक्षणव्यापारविशिष्टयोरित्यर्थः। **विषयोपरागेति**। इन्द्रियप्रणालिकया बुद्धौ विषयस्य घटादेर्यः सम्बन्धो वृत्तिविशेषस्तदेव ज्ञानमित्यर्थः। **तेन सहेति**। विषयोपरागेण सहेत्यर्थः। यथा दर्पणनिष्ठो मलिनिमा दर्पणप्रतिबिम्बतमुखादौ दृश्यते तथेत्यर्थः। तथा च 'घटं जानामी'त्यनुव्यवसायाख्या 'उपलब्धि'रित्यर्थः। ननु तथापि सुखाद्याधारता पुरुषस्य, तथा च कौटस्थ्यविरोध इत्यत आह – **तदेवमिति**। ज्ञानसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मरूपा 'अष्टौ धर्मा' इत्यर्थः। संस्कारस्य तैरनङ्गीकारात् **तदिति**। अहं जाने, सुखीत्यादिसामानाधिकरण्यप्रतीतेरित्यर्थः। ननु यत्रैते धर्माः स एव चेतनः किं न स्यात्? **न चेति**। **परिणामित्वात्** अनित्यधर्मरूपतया परिणामित्वात्, तन्मते धर्मधर्मिणोरभेदादित्यर्थः। चेतनस्य कूटस्थतयैव श्रुतेरिति भावः। **प्रागेवेति**। प्रत्यात्मनियमाद्भुक्ते (१।४) रि'त्यादिनेत्यर्थः।।१३।।

प्रकाशः– वासना संस्कारोऽनुभववासना *सांख्यै*स्तथाऽङ्गीकारात्। **तदन्तःकरणमिति**। **तस्मिन्नन्तः करणे** बुद्धिरूपे। **अर्थो** घटादिः, **उपारूढो** ज्ञानरूपतत्परिणाम विषयतया सम्बद्धः पुरुषस्यात्मन **उपधानीभवति**। **उपधायको** व्यवधायकः स्वरूपतिरोधायक इति यावत्। यत्सत्त्वासत्त्वाभ्यां पुरुषस्य संसारापवर्गौ व्यवह्रियेते इत्यर्थः। तर्हि कर्ता चेतन इति कृतिचैतन्ययोः कथं सामानाधिकण्यानुभव इत्यत आह **भेदाग्रहाच्चेति**। **निष्क्रिये** अकर्त्तरि। **तस्मिन्** बुद्धितत्त्वे। बुद्धिपुरुष योर्भेदाग्रहाच्चैतन्यकृत्यभिमानौ। यथा भवतां गौरोऽहं सुखीत्यर्थः। **कर्मवासना** कर्मजनितमपूर्वम्। ननु पुरुषधर्म एव किन्नापूर्वमित्यत आह **पुरुषस्त्विति**। **सर्वथेति**। नापूर्वतत्फलाभ्यां लिप्यते कौटस्थ्यादि *श्रुते*रित्यर्थः। इन्द्रियादीनां मिथो भेदकमसाधारणं व्यापारमाह **आलोचनमिति**। निर्विकल्पकमित्यर्थः। ननु बुद्धेः **कृत्यध्यवसायो** न व्यापारः, कृतिविषयस्य घटादेर्जडायां बुद्धौ प्रतिभासासम्भवात्। न च कर्त्तव्येन घटादिना सम्बन्धान्तरमस्ति। न चासम्बन्धे, करोमीत्यादि व्यवसायोऽतिप्रसङ्गादित्यत आह **सा हीति**। चेतनोपरागवशेन जडाया अपि बुद्धेरिन्द्रियप्रणालिकया परिणतिभेद एव ज्ञानरूपः कर्त्तव्येन घटादिना सम्बन्ध इत्यर्थः। **पुरुषेति**। बुद्धिचेतनयोर्भेदाग्रहादेकत्वाभिमानः **पुरुषोपरागः**। नीलेन्द्रियसन्निकर्षान्नीलाकारज्ञानरूपपरिणतिभेदोत्पादः पारमार्थिको विषयो रागस्ताभ्यां कर्तव्यविषयस्य प्रतिभासात्तज्जन्यः करोमीत्यद्ध्यवसायो **व्यापारावेश** इत्यर्थः। **दर्पणस्येवेति**। दर्पणप्राया बुद्धिः। बुद्धितो ज्ञानोपलब्ध्योर्भेदमाह **तत्रैवमिति**। विषयोपरागो विषयेन्द्रियसम्बन्धो बुद्धेर्विषयाकारः परिणतिभेदोऽयं घट इत्यादिः। **तेनेति**। **तेन** ज्ञानेन चेतनोऽहमिदं जानामीत्येवमाकारो बुद्धावारोपितस्य चैतन्यस्य यः सम्बन्धोऽतात्त्विकः सोऽयमुपलब्धिरित्यर्थः। एवं व्यवस्थिते सिद्धमर्थमाह **तदेवमिति**। ज्ञानवत् सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मा अपि बुद्धेरेवेत्यर्थः। संस्कारस्य *साङ्ख्यै* रनभ्युपगमाज्ज्ञानस्यैव स्मृतिहेतोरनभिव्यक्ततयानुवृत्तेरिति स नोक्तः। **तत्सामानाधिरण्येनेति**। कृतिसामानाधिकरण्येनेत्यर्थः। यद्यप्यदृष्टस्यायोग्यतया तत्सामानाधिकरण्यं न प्रत्यक्षं, तथापि धार्मिकोऽहमित्यनुव्यवसायादुपनीतस्य प्रत्यक्षत्वमिति भावः। **परिणामित्वादिति**। अनित्यधर्माश्रयत्वादित्यर्थः।।१३।।

तथाहि –

कर्तृधर्मा नियन्तारश्चेतिता च स एव नः।
अन्यथाऽनपवर्गः स्यादसंसारोऽथवा ध्रुवः।।१४।।

कृतिसामानाधिकरण्यव्यवस्थितास्तावद्धर्मादयो नियामका इति व्यवस्थितम्। चेतनोऽपि कर्तैव। कृतिचैतन्ययोः सामानाधिकरण्ये नानुभवात्। न चायं भ्रमो, बाधकाभावात्। परिणामित्वाद् घटवदिति बाधकमिति चेन्न। कर्तृत्वेऽपि समानत्वात्। तथा च कृतिरपि भाविकी महतो न स्यात्। दृष्टत्वादयमदोष इति चेत्, तुल्यम्। अचेतनकार्यत्वं बाधकं, कार्यकारणयोस्तादात्म्यादिति चेन्न, असिद्धेः। न हि कर्तुः कार्यत्वे प्रमाणमस्ति। प्रत्युत 'वीतरागजन्मादर्शनात्' (न्या०सू० ३।१।५।) इति न्यायादनादितैव सिद्ध्यति। यद् यच्च कार्ये रूपं दृश्यते तस्य तस्य

आमोदः– कर्तृधर्मा इति शास्त्रं, तथा च ज्ञानेच्छाकृतिसमानाधिकरणावेव धर्माधर्मौ भोगं समानाधिकरणं जनयेदिति मन्तव्यमित्यर्थः।

'शास्त्रदेशितं फलमनुष्ठातरी'तिन्यायेन कृतिसमानाधिकरणा एव धर्मादयो भोगनियामका इत्यर्थः। **चेतिता** चैतन्यवान्। **स एव** उक्त एव इति। स्वस्य प्रामाणिकत्वेन प्रमाणदार्ढ्ये आह – **अन्यथेति**। यद्यन्यः कर्ताऽन्यश्चेतिता, तदा चेतनस्य पुरुषस्य मुक्तिर्न स्यात्, कर्तृभूताया बुद्धेर्नित्यत्वेन तदुपधानस्य नित्यत्वात्। अथानित्या बुद्धिस्तदा संसारो न स्यात्। बुद्धौ नष्टायां तत्र ज्ञानसुखादिजनने कारणाभावादित्यर्थः।

व्यवस्थितमिति। कृतहानाकृताभ्यागमप्रसङ्गभयेन व्यवस्थितमित्यर्थः। **अनुभवादिति**। चेतनोऽहं करोमीत्यनुभवादित्यर्थः। ननूक्तं चैतन्यं कर्तरि प्रतिबिम्बितं गृह्यतेऽतः सामानाधिकरण्यं नानुपपन्नमत आह – **न चेति**। द्वे(?) भ्रमौत्सर्गिकं प्रामाण्यं **बाधकं** नैवोपपाद्यते, अत्र च नास्तीति भावः। बुद्धिरचेतना परिणामित्वादिति बाधकं शङ्कते – **परिणामित्वादिति**। तर्हि बुद्धिर्न कर्ता परिणामित्वादिति कर्तृत्वमपि बुद्धितत्त्वस्य स्वाभाविकत्वे न स्यादिति परिहरति – **कर्तृत्वेऽपीति**। न त्वहं जानेऽहं यते-इत्यनुभवादिदमनुमानं बाधितमित्यत आह – **दृष्टत्वादिति**। चेतनोऽहङ्करोमीत्यनुभवस्यापि सत्त्वादाह – **तुल्यमिति**। ननु बुद्धिर्न चेतना अचेतनकार्यत्वादिति बुद्धावचैतन्यं साधकं स्यादिति शङ्कते – **अचेतनेति**। अत्र विशेष्यासिद्धिमाह – **नेति**। तदेवाह – **न हीति**। जायमानः सराग एव दृश्यते, एवं पूर्वपूर्वमित्यनादितैव कर्तुर्दृश्यते इत्याह – **प्रत्युतेति**। **यद् यच्चेति**। यथा

कारणात्मकत्वे रागादयोऽपि प्रकृतौ स्वीकर्तव्याः स्युः। तथा च सैव बुद्धिर्न प्रकृतिः, भावाष्टकसंपन्नत्वात्। स्थूलतामपहाय सूक्ष्मतया ते तत्र सन्तीति चेत्, चैतन्यमपि तथा भविष्यति। तथाप्यसिद्धो हेतुः। तथा सति घटादीनामपि चैतन्यप्रसङ्गस्तादात्म्यादिति चेत्, रागादिमत्त्वप्रसङ्गोऽपि

आमोदः– रागादिरहितापि प्रकृतिर्बुद्धौ रागादिकं जनयति, एवं चैतन्यरहितापि चैतन्यं जनयेदिति भावः। बुद्धौ रागादिस्वीकारे दण्डमाह – **तथा चेति। सैव** प्रकृतिरेव, **ते** रागादयः। **तत्र** प्रकृतौ। **तथेति**। सूक्ष्मरूपमित्यर्थः। **अप्रसिद्ध इति। चेतनकार्यत्वादि**त्यत्र विशेषणासिद्धिरित्यर्थः। **तथा सतीति**। प्रकृतौ चैतन्ये सति तत्परिणामेषु घटादिषु चैतन्यं स्यादित्यर्थः। **तादात्म्यात्** कार्यकारणयोः। एवं सति रागादीनां बुद्धिकार्यत्वेन रागादयोऽपि घटादौ स्युरित्याह – **रागादीति**। ननु रागादयः सूक्ष्ममात्रया घटादौ सन्तीति यदि, तदा चैतन्यमपि तादृक्

प्रकाशः– कर्तृधर्मा इति। यत्र कृतिस्तददृष्टस्य तत्रैव भोगजनकत्वमित्यत्राविवादे कृत्याश्रय एव चेतनः, तद्भिन्ने तत्र मानाभावादित्यर्थः। **अन्यथेति**। बुद्धेर्नित्यत्वे मोक्षाभावः। आत्मनो बुद्ध्युपधानस्यैव संसारत्वात्। अनित्यत्वे च तदुत्पत्तेः पूर्वं प्रकृतेः साधारण्यान्नियामकाभावेन संसाराभाव इत्यर्थः। ननु कर्त्तुर्बुद्धितत्त्वस्य धर्मा नियन्तार इति *सांख्या*भिमतमेव इत्यत आह **चेतनोऽपीति**। चेतनोऽहं करोमीत्यनुभवादित्यर्थः। **कर्तृत्वेऽपीति**। बुद्धिर्न कृत्याश्रयः परिणामित्वाद् घटादिवदित्यपि स्यादित्यर्थः। **भाविकी** स्वाभाविकी। यदि ज्ञानाश्रयस्य कृत्याश्रयत्वेनानुभवात् तद्बाधान्नानुमानं, तदा चेतनोऽहङ्करोमीत्यनुभवाद् बाधस्तुल्य इति शङ्कोत्तराभ्यामाह **दृष्टत्वादिति**। अचेतनायाः प्रकृतेः कार्यं बुद्धितत्त्वं, कार्यकारणयोश्च तादात्म्यमिति चैतन्ये तस्य बाधकमित्याह **अचेतनेति। प्रत्युतेति**। जातमात्रस्य स्तन्यपाने प्रवृत्ती रागजनकेष्टसाधनताज्ञानाधीनेति तदनुमानार्थं जन्मान्तरानुभूतव्याप्ति-स्मरणमावश्यकमेवं तत्पूर्वजन्मनीत्यनादितेत्यर्थः। **यद्वदिति**। यथा प्रकृतौ रागाद्यभावेऽपि तत्कार्यबुद्धौ रागादिस्तथा प्रकृतेरचैतन्येऽपि सा चेतना स्यादित्यर्थः। **तथा चेति**। प्रकृतौ रागादिस्वीकारे तद्भिन्नबुद्धितत्त्व एव मानाभावाद् इत्यर्थः। **तथेति**। प्रकृतावपि सूक्ष्मं चैतन्यमित्यर्थः। **असिद्ध इति**। अचेतनकार्यत्वादित्यत्र विशेषणासिद्धेरित्यर्थः।

तथा सतीति। बुद्धेश्चैतन्ये तज्जन्यघटादेरपि तत् स्यादित्यर्थः। **रागादीति**।

दुर्वारः। 'सूक्ष्मता च समानेति'। तस्मात्, यज्जातीयात्कारणाद् यज्जातीयं कार्यं दृश्यते तथाभूतात्तथाभूतमात्रमनुमातव्यं, न तु यावद्धर्मकं कारणं तावद्धर्मकं कार्यं व्यभिचारादिति किमनेनाप्रस्तुतेन? यदि च बुद्धिर्नित्या, अनिर्मोक्षप्रसङ्गः। पुंसः सर्वदा सोपाधित्वे स्वरूपेणानवस्थानात्। अथ विलीयते, ततो नानादेर्विलय इत्यादिमत्त्वे तदनुत्पत्तिदशायां को नियन्ता?

प्रकृतेः साधारण्यात्। तथा चासंसारः। पूर्वपूर्वबुद्धिवासनानुवृत्तेः साधारण्येऽप्यसाधारणीति चेत्, बुद्धिनिवृत्तावपि तद्धर्मवासनानुवृत्तिरित्यपदर्शनम्। सौक्ष्म्यान्न दोष इति चेत्, मुक्तावपि पुनः प्रवृत्तिप्रसङ्गः। निरधिकारत्वान्नैवमिति चेत्, तर्हि साधिकारा प्रसुप्तस्वभावा बुद्धिरेव प्रकृतिरस्तु, कृतमन्तरा प्रकृत्यहङ्कारमनःशब्दानामर्थान्तर कल्पनया?

सैव हि तत्तद्व्यवहारगोचरा तेन तेन शब्देन व्यपदिश्यते,

आमोदः- स्यादित्यत आह – **सूक्ष्मता चेति**। तदेवमचेतनाया अपि प्रकृतेश्चेतना बुद्धिः स्यादित्युपसंहरति – **तस्मादिति**। अप्रस्तुते चैतन्याश्रयस्य जन्यत्वमेव नास्तीति तज्जनकचिन्तायां क्व प्रस्ताव इत्यर्थः। द्वितीयं कारिकाप्रतीकं व्याचष्टे – **यदि चेति**। **स्वरूपेणेति**। कैवल्यात्मनेत्यर्थः। **तदनुत्पत्तिदशायामिति**। बुद्ध्यनुत्पत्तिदशायामित्यर्थः। **को नियन्ता** किंनिष्ठेनादृष्टेन पुनर्जन्मादि भवेदित्यर्थः। ननु प्रकृतिनिष्ठधर्मादिर्नियामकः स्यादित्यत आह – **प्रकृतेरिति**। पुरुषाणामानन्त्यात् प्रकृतेश्चैक्यात् तत्तत्पुरुषभेदेन बुद्धेरसाधारण्यं तदुपधानानुपधाने एव पुंसः संसारापवर्गाविति *सांख्यसिद्धान्ता*दित्यर्थः। **असंसार इति**। जन्ममरणप्रबन्धाभाव इत्यर्थः। प्रकृतावेव तत्तत्पुरुषीयबुद्धिवासनायाः सत्त्वात् पुनः संसार इति शङ्कते – **पूर्वेति**। **बुद्धीति**। वासनाश्रयनाशे वासनासत्त्वमित्यभ्युपगमेऽपसिद्धान्त इत्यर्थः। **सौक्ष्म्यादिति**। स्फुटवासना बुद्धिनाशान्नश्यति, प्रकृतौ तु सौक्ष्म्यान्न नश्यतीत्यर्थः। **मुक्तावपीति**। तदानीमपि सूक्ष्मवासनासत्त्वात् संसारापत्तिरित्याह – **निरधिकारत्वादिति**। अधिकारो रागद्वेषमोहा धर्माधर्मौ वा। **साधिकारेति**। धर्मादिमती संसारदशायां, मुक्तिदशायां तु **प्रसुप्तस्वभावा** धर्मादिशून्या बुद्धिरस्तु। सैवास्माकमात्मा, प्रकृत्यादिकल्पना तु निष्फलेत्याह – **तर्हीति**। प्रकृत्यादिप्रतिपादकश्रुतिविरोधं परिहरति – **सैवेति**।

शारीरवायुवदित्यागमोऽपि सङ्गच्छते इत्यतोऽपि हेतुरसिद्धः। अधिकारनिवृत्त्या बुद्धेरप्रवृत्तिरपवर्गः, वासनायोगश्चाधिकारः, ततः संसारः। धर्मधर्मिणोरत्यन्तभेदे च कौटस्थ्याविरोधः। भेदश्च विरुद्धधर्माध्यासलक्षणो घटपदादिवत् प्रत्यक्षसिद्धः।

आमोदः- शारीरेति। यथा शरीरे एक एव वायुः प्राणापानादिव्यापारवत्तया पञ्चसंज्ञक इत्यर्थः। **हेतुरिति।** अचेतनकार्यत्वरूपा इत्यर्थः। **असिद्ध इति।** विशेषणविशेष्योभयासिद्धेरिति भावः। स्वसिद्धान्तानुसारेण *सांख्यमतं* सङ्गमयति – **अधिकारेति। अधिकारो** दोषस्तन्निवृत्त्या तत्कार्यप्रवृत्तिरपैति। **वासना** धर्माधर्मरूपा, ज्ञानवासना संस्काररूपा, तदधीनो दोष इत्यभेदात्तथोक्तम्। अत्र **कौटस्थ्यं** नित्यत्वम्। तथा च धर्माधर्मादिनिवृत्तावपि नित्यस्यात्मनः कैवल्यम– विरुद्धम्। **प्रत्यक्षेति** – अहमज्ञासिषमहं जानाम्यहं ज्ञास्यामीति धर्मस्यातीतत्वादि– ग्रहेऽपि धर्मिणोऽभेदेनैव प्रत्यभिज्ञानादित्यर्थः। ननु नीलः पट इत्यादिवत् अहं सुखी, जाने, यते इत्यादौ सामानाधिकरण्यमनुभूयते, तच्चात्यन्तभिन्नाद्

प्रकाशः– घटादे रागादिमद्बुद्धिजन्यत्वादित्यर्थः। **सौक्ष्म्यं चेति।** घटादौ रागादेरिव चैतन्यस्यापि सूक्ष्मत्वादित्यर्थः।

पुंसः सर्वदेति। पुरुषस्य निरुपाध्यवस्थानात्मको मोक्षो न स्यात्। बुद्धेर्नित्यत्वेन सदा तदुपधानादित्यर्थः। **अथेति।** बुद्धेरनुत्पन्नाया न ध्वंस इति तदुत्पत्तिकाले नियमकाभावान्नियतबुद्ध्युत्पाद एव न स्यादिति न संसार इत्यर्थः। ननु प्रकृतेः साधारण्येऽपि पूर्वप्रध्वस्तबुद्धिर्वासनायोगादसाधारणी नियामिका स्यादित्याह **पूर्वेति।** *सांख्यमते* धर्मधर्मिणोरभेदादस्माकं चाऽऽश्रयनाशस्य कार्यनाशकत्वाद्धर्मिनाशेऽपि न धर्मावस्थानमित्याह **बुद्धीति। सौक्ष्म्यादिति।** सूक्ष्मबुद्धिरनुवर्तत एवेति न तन्नाश इत्यर्थः। **मुक्तावपीति। बुद्धेः** सूक्ष्माया अनुवृत्तेः संसारापत्तिरित्यर्थः। यावत्संसारं विलीनाया अपि बुद्धेर्वासनानुवृत्ति लक्षणोऽधिकारोऽस्ति, मुक्तौ तु सोऽपि नास्तीति न पुनः संसार इत्याह **निरधिकारत्वादिति।** यद्येवं, तदा संसारिदशायां साधिकारा, मुक्तौ तु प्रसुप्तस्वभावा प्रवृत्त्यजनिका बुद्धिरेव ज्ञानाद्याश्रयभूता प्रकृतिपदवाच्याऽस्तु, कृतं प्रकृत्याद्यर्थान्तरकल्पनयेत्याह **तर्हीति।** एवं सति प्रकृत्यादिप्रतिपादकमागमं सङ्गमयति। **सैव हीति।** तत्तद्व्यापारयोगाददिकारणत्वाभिमानाकारणत्वादियोगात्तेन तेन प्रकृत्यादिशब्देन बुद्धिरेकैवोच्यत इत्यर्थः। **शारीरेति।** यथैक एव शारीरो

प्रकाशः– वायुरूर्ध्वाऽधोगत्यादियोगात् प्राणापानसमानादिशब्दवाच्य इत्यर्थः। **अतोऽपीति**। पूर्वं नित्यत्वेनाचेतनकार्यत्वमसिद्धमुक्तम्। अधुना तु बुद्धिरेव प्रकृतिपदवाच्येति प्रकृतिकार्यत्वं बुद्धेरसिद्धमित्यभिप्रायेणोच्यत इत्यर्थः।

एवं सत्येकस्य क्रमेण संसारापवर्गौ *सांख्यमतेन* समञ्जसयति **अधिकारेति**। **वासना** धर्माधर्मौ। ननु बुद्धेश्चैतन्ये चेतनकौटस्थ्य*श्रुति*विरोध इत्यत आह **धर्मेति**। **कौटस्थ्यं** हि नित्यत्वम्,। तच्च धर्मस्योत्पादविनाशेऽपि न धर्मिणस्तावित्यविरुद्धम् अभेदे हि धर्मधर्मिणोस्तद्विरोधः, स च नास्त्येवेत्यर्थः। कथं नास्तीत्यत आह **भेदश्चेति**। अहं जानाम्यहमज्ञासिषमहं ज्ञास्यामीत्यनुभवाज्ज्ञानातीतत्वादिग्रहेऽपि अहमास्पदस्याबाधितप्रत्यक्षेण स्थैर्य्यानुभवादित्यर्थः।

ननु धर्मधर्मिणोत्यन्तभेदोऽसिद्धः। नीलः पट इति सामानाधिकरण्य बुद्धिरतिभिन्नाभिन्नाभ्यां व्यावर्तमाना धर्मधर्मिणोर्भेदाभेदौ साधयति। अन्योन्याभावत्वमव्याप्यवृत्तिवृत्ति सदातनाभावमात्रवृत्तिधर्मत्वात् अत्यन्ताभावत्ववदित्यनुमानमप्यत्रेत्यत आह **न चेति**। आद्यं द्वयं सामानाधिकरण्यं

मकरन्दः- पूर्वं नित्यत्वेनेति। यद्यप्यचेतनकार्यत्वादित्यत्र विशेषणासिद्धिरिति व्याख्यानात् कार्यत्वासिद्धिर्नोक्ता, तथाप्यसिद्धिरित्यादिमूलेन कार्यत्वासिद्धेरप्युक्तत्वात्तदभिप्रायेणेदं मन्तव्यम्।

सदातनाभावमात्रवृत्तिधर्मत्वादिति। ननु घटात्यन्ताभावत्वादौ व्यभिचारः, मात्रपदञ्च व्यर्थम् प्रमेयत्वादावपि साध्यसत्त्वात्। न च मात्रपदं न व्यवच्छेदार्थकं, किन्तु यावदर्थकम्।

अत एव नोक्तव्यभिचारोऽपीति वाच्यम्। स्वरूपदृष्टान्तासिद्ध्योरापत्तेः। अन्योन्याभावस्यात्यन्ताभावेऽन्यतमाभावस्यान्योन्याभावेऽवृत्तेः। सदातनेत्यपि व्यर्थम्। स्वरूपयोग्यप्रागभावध्वंसयोरप्यव्याप्यवृत्तित्वेन प्रागभावप्रध्वंसत्वयोरपि

न च सामानाधिकरण्यादभेदोऽपि, तद्धि समानशब्दवाच्यत्वम्, एकज्ञानगोचरत्वम्, एकाधिकरणत्वम्, आधाराधेयभावः, विशेष्यत्वं, सम्बन्धमात्रं वा, भेद एव भेदेऽपि चोपपद्यमानं नाभेदं स्पृशतीति सर्वमवदातम्।१४।

आमोदः– गवाश्वादेरत्यन्ताभिन्नाच्च व्यावर्तमानं भेदाभेदौ धर्मधर्मिणोः साधयिष्यतीत्याह – **न चेति**। आद्यत्रयं भेदेऽपि, अन्त्यत्रयं भेद एव, सम्बन्धमात्रमपि भेदेऽभेदे चेति नैतदनुरोधेनाभेदेऽपीत्यर्थः।।१४।।

प्रकाशः– भेदेऽपि, अन्त्यत्रयं भेद एव, सम्बन्धमात्रमपि यद्येककारणकत्वादि तदा भेदेऽपि, नो चेद्भेद एव उपपद्यत इति नाभेदस्ततः सिद्ध्यतीत्यर्थः। अथ नीलपटयोरभेदबुद्धिरेव सामानाधिकरण्यधीस्तदाऽसिद्धिः। नीलः पट इति प्रतीत्या तयोः सम्बन्धस्यैव विषयीकरणात्। अन्यथा नीलिमा पट इत्यपि बुद्ध्यापत्तिः। शब्दप्रयोगस्यापि मतुब्लोपादभेदोपचाराद्वोपपत्तेः। वस्तुतो विरुद्धयोरेकत्र भावाभावावच्छेदभेदेनैव प्रतीयेते। न चात्र सोऽस्ति। अनुमानमप्यनुकूलतर्काभावेन व्याघातरूपप्रतिकूलतर्केण च प्रतिहतमिति संक्षेपः।१४।

मकरन्दः–साध्यसत्त्वादिति चेन्नैवम्। सदातनाभाववृत्त्यभावविभाजकोपाधित्वादिति विवक्षितत्वात्। न चैवमपि दृष्टान्तासिद्धिः, चतुर्द्धा अभावविभागस्य, स पुनश्चतुर्द्धेत्यनेन करणात्। संयोगप्रागभावादेर्व्याप्यवृत्तित्वाभ्युपगमेन सदातनपदं, तदनभ्युपगमे त्वनादेयमेवेति तत्त्वम्।।१४।।

स्यादेतत्। नित्यविभुभोक्तृसद्भावे सर्वमेतदेवं स्यात्। स एव कुतः? भूतानामेव चेतनत्वात्। कायाकारपरिणतानि भूतानि तथा, अन्वयव्यतिरेकाभ्यां तथोपलब्धेः। कर्मज्ञानवासने तु सर्वत्र प्रतिभूतनियते अनुवर्तिष्येते, यतो भोगप्रतिसन्धाननियम इति चेत्, उच्यते –

नान्यदृष्टं स्मरत्यन्यो नैकं भूतमपक्रमात्।
वासनासंक्रमो नास्ति न च गत्यन्तरं स्थिरे।।१५।।

आमोदः– इदानीं भूतचैतनिकमुत्थाप्य निराकरोति – **स्यादेतदिति। सर्वमिति। प्रत्यात्मनियमाद्भुक्तेरिति** (१।४), **संस्कारः पुंस एवेष्टइति**(१।११), **कर्तृधर्मा नियन्तार**(१।१४) इत्यादि यत् तत् सर्वमित्यर्थः। घटादिचैतन्यनिराकरणायाह – **कायाकारेति।** सति शरीरे चेतयतेऽसति न चेतयते इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां शरीर एव तस्योपलब्धेरित्याह – **अन्वयेति। कर्मज्ञानवासने** – अदृष्टसंस्कारौ तौ च **प्रतिभूतं** प्रतिकायसन्तानं नियते ततश्चैत्रदृष्टं मैत्रो न स्मरति, न वा कृतहानाकृताभ्यागमादित्याह – **कर्मेति।** एतच्च – *वात्सीपुत्राणां वैभाषिकाणाञ्च* मते। अन्यैरदृष्टानभ्युपगमात्।

नान्यदृष्टमिति। बालशरीरावच्छेदेनानुभूतं युवा न स्मरेत्। शरीरस्य क्षणिकत्वादुभयदशावर्ति **नैकं भूतम् अपक्रमाद्** विनाशात्। वस्त्रादौ मृगमदवासनेव देहान्तरनिष्ठा **वासना** देहान्तरं संक्रामतीत्यपि नास्ति, अतिप्रसङ्गात्। ननु परमाणूनामुपादानोपादेयभावाद्वासनासंक्रमः स्यादित्यत आह – **न चेति।**

न हि भूतानां समुदायपर्यवसितं चैतन्यम्। प्रतिदिनं तस्यान्यत्वे पूर्वपूर्वदिवसानुभूतस्यास्मरणप्रसङ्गात्। नापि प्रत्येकपर्यवसितं, करचरणाद्यवयवापाये तदनुभूतस्य स्मरणायोगात्। नापि मृगमदवासनेव वस्त्रादिषु संसर्गादन्यवासनान्यत्र सङ्क्रामति। मात्रानुभूतस्य गर्भस्थेन भ्रूणेन स्मरणप्रसङ्गात्। न चोपादानोपादेयभावनियमो गतिः। स्थिरपक्षे परमाणूनां तदसंभवात्। खण्डावयविनं प्रति च विच्छिन्नानामनुपादानत्वात्। पूर्वसिद्धस्य चावयविनो विनाशात्।

आमोदः- स्थिरपक्षेऽस्यासम्भवादिति भावः।

समुदायपर्यवसितं कायाकारपरमाणुपुञ्जपर्यवसितं करादिभावापन्न-परमाणुपुञ्जपर्यवसितं वा। आद्यं दूषयति - **प्रतिदिनमिति**। तस्मिन् दूषणे सत्यपि दूषणान्तरमाह - **नापीति**।

प्रकाशः- स्यादेतदिति। भूतचैतन्येऽपि प्रकृतसिद्धौ नित्यविभुभोक्तृनिरासपरेयं शङ्केति। अथैवं घटादिरपि चेतनः स्यादित्यत आह **कायेति**। **अन्वयेति**। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां शरीरस्य ज्ञानहेतुत्वे सिद्धे समवायिकारणमपि तदेव कल्प्यते। तदन्यस्मिन् मानाभावाद्, गौरोऽहं जानामीत्यनुभवाच्चेति भावः। ननु शरीरस्यानुभवितृत्वे कर्तृत्वे च तन्नाशादन्यस्य भोक्तृत्वे प्रतिसन्धातृत्वे चातिप्रसङ्ग इत्यत आह **कर्मज्ञानेति**। कर्मज्ञानाभ्यां जनिते वासने अदृष्टसंस्कारौ। **यत इति**। यत्कायसन्ताने कर्म, तत्कायसन्ताने भोगो, यत्कायसन्तानेऽनुभवस्तत्कायसन्ताने स्मृतिरित्यर्थः।

नान्यदृष्टमिति। एवं बालशरीरेणानुभूतस्य युवशरीरेण स्मरणं न स्यात्, तयोर्भेदात्। अन्यानुभूतस्यान्येन स्मरणेऽतिप्रसङ्गात्। न च बाल्ययौवनयोरेकं भूतं शरीरम्। **अपक्रमाद्** विनश्वरस्वभावत्वात्। न चान्यवासनाऽन्यत्र संक्रामति, अतिप्रसङ्गादित्यर्थः।

ननूपादानवासनाया उपादेये संक्रमः स्यादित्यत आह **न चेति**। **स्थिरे** स्थिरपक्षे, परमाणूनामनुपादेयत्वाद् विच्छिन्नकरादीनां खण्डावयविनं प्रत्यनुपादानत्वादित्यर्थः।

मकरन्दः- स्थिरपक्ष इति। क्षणिकतापक्षे बाल्ययुवशरीरयोः परमाणु पुञ्जात्मकतयोपादानोपादेयभावे तद्वासनासंक्रमः स्यात्। स्थिरपक्षे तदभावान्न स्यादित्यर्थः। **विच्छिन्नेति**। तथा च तद्वासनासंक्रमाभावात्तदनुभूतं खण्डशरीरेण न स्मर्येतेत्यर्थः।

अस्तु तर्हि क्षणभङ्गः। न चातिशयोऽप्यतिरिच्यते, किन्तु सादृश्यतिरस्कृतत्वाद् प्रागेव न विकल्प्यते, कार्यदर्शनादध्यवसीयते, अन्त्यातिशयवत्। तथा च भूतान्येव तथा तथोत्पाद्यन्ते, यथा यथा प्रतिसन्धाननियमादयोऽप्युपपद्यन्ते। क्षणिकत्वसिद्धावेवमेतत्, तदेव त्वन्यत्र विस्तरेण प्रतिषिद्धम्।।१५।।

आमोदः– मात्रेति। गर्भस्थेनानुभूतस्य स्मरणप्रसङ्गादित्यर्थः। यथाश्रुते तु इष्टापत्तावपि दोषाभावात्। उपादानवासना उपादेये संक्रामति, मातृभ्रूणयोस्तु न तथा, इत्यत आह – **न चेति। तदसम्भवादिति।** उपादानोपादेय-भावासम्भवादित्यर्थः। **खण्डावयविनमिति।** तथा च कराद्यपाये तदनुभूतस्मरणं न स्यात्। तत्र खण्डशरीरे करादेरेव उपादानत्वात् खण्डावयविस्थलेऽप्यवयवी चेदस्ति, तदा तत एव स्मरणं स्यादित्यत आह – **पूर्वेति।**

अस्तु तर्हीति। तथा च परमाणूनामुपादानोपादेयभावसिद्धौ वासनासंक्रमः स्यादिति नातिप्रसङ्ग इति भावः। क्षणिकत्वे विप्रतिपत्तिः – सत्त्वं

प्रकाशः– प्रतिदिनमिति। आहारपरिणतिविशेषस्य तद्धेतोरन्यान्यत्वादित्यर्थः। ननु करे मे सुखं, पादे मे दुःखमित्यनुभवादनुभवव्यधिकरणस्य सुखादेरनभ्युपगमात् कराद्येवानुभवितृ स्यादित्यत आह **नापीति।** कराद्यपाये तदनुभूता स्मरणापातादित्यर्थः। **मात्रेति।** मातृगर्भस्थयोर्मिथः संसर्गादित्यर्थः। ननु उपादानं यदनुभवितृ तद्वासना तदुपादेये संक्रामतीति करादिवासना तदपगमे तदुपादेये संक्रामति। न च मातृभ्रूणयोस्तथात्वमित्यत आह **न चेति। खण्डेति।** अवस्थितावयवसंयोगेभ्य एव खण्डावयव्युत्पादादित्यर्थः। न च परमाणूनामेव चैतन्यं, तद्गुणानामतीन्द्रियत्वेन ज्ञानादेरप्यतीन्द्रियत्वापत्तेः। शरीरान्वयादेश्च कारणत्वमात्रं सिद्ध्यति, न समवायिकारणत्वम्। तदेवं विपक्षबाधकाच्छरीरं न चेतनम् भूतत्वाद्। घटावदित्यर्थः।

अस्त्विति। तत्र पूर्वोत्तरशरीरयोरुपादानोपादेयभावाद् वासनासंक्रमात् प्रतिसन्धाननियम उपपद्यत इति भावः। क्षणिकत्वे विप्रतिपत्तिः। सत् स्वोत्पत्त्यव्यवहितोत्तरकालवृत्तिध्वंसप्रातियोगि न वा?। तत्र स्थैर्ये प्रसङ्गविपर्ययाभ्यामर्थक्रियाव्यापकक्रमयौगपद्याभावात्तदभावेऽर्थक्रिया कारित्वरूपसत्त्वानुपपत्तौ, यत् सत् तत् क्षणिकं यथा घटः संश्च विवादास्पदीभूतः शब्दादिरिति पराभिप्रेतं मानम्। ननु क्षणभङ्गे पूर्वक्षणिकभावादग्रिमो भावः सातिशयो

आमोदः- क्षणमात्रवृत्त्यनेकवृत्तिधर्मव्यापकताव्याप्यं न वा? एवं च यत् सत् तत् क्षणिकं यथा घटः संश्च विवादाध्यासितशब्दादिरित्यनुमानं *परा*भिमतम्। सत् स्वोत्पत्त्यव्यवहितोत्तरक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगि न वा? स एव क्षणमात्र-वृत्त्याधारताप्रतियोगित्वव्याप्या न वा? उपादानत्वमुपादेयसमानकालीनं न वा? तद्घटध्वंसः तद्घटोत्पत्त्यव्यवहितोत्तरक्षणवृत्तिर्न वेति। ननु यद्यजनकाज्जनक-मतिशयितं स्यात्तदा ताद्रूप्येण गृह्येत, न च गृह्यत, तस्मान्न ततो भिन्नमित्यत आह – **न चेति। अतिरिच्यते** विविच्य गृह्यते। यद्वा अतिरतिक्रमे, चेतनं ज्ञानं तथा चातिशयोऽपि न ज्ञायते इत्यर्थः। पूर्वबीजापेक्षया सुसदृशत्वाद् 'द्रागेव' इन्द्रियायत्तमात्रेण न गृह्यत इत्यर्थः। तर्हि सद्भावे किं मानमत आह – **कार्येति। अध्यवसीयते**ऽनुमीयते। **अन्त्यातिशयः** सामग्री। प्रकृतमुपपादयति – **भूतान्येवेति। आदिपदाद्**भोगादिनियमसंग्रहः। **अन्यत्र** – *आत्मतत्त्वविवेके, तृतीयनिबन्धे च* ।।१५।।

प्रकाशः- जायते, यतः कार्योत्पादः, सहकारिसहितस्यैव तद्धेतुत्वे क्षणभङ्गानुपपत्तेः। तथा च सातिशयव्यक्त्युत्पादो गृह्येत। न चैवमिति न तत्सिद्धिरित्यत आह **न चेति। अतिरिच्यते** विविच्य न गृह्यते असमर्थस्वभावादित्यर्थः। **किं त्विति**। सादृश्यवशात् तथाभूतोऽपि न तथात्वेनापाततो निश्चीयत इत्यर्थः। तत् किमनिश्चय एव, नेत्याह, **कार्येति**। स्थैर्ये सहकार्यपेक्षानुपपत्तेः पूर्वापरकालयोः कार्यदर्शनादर्शनाभ्यामतिशयोऽवसीयंत इत्यर्थः। **अन्त्यातिशयः** सामग्री। सामग्रीवत् कार्यैकसमाधि गम्यत्वान्नानुपलम्भमात्रेण निराक्रियत इति भावः। प्रकृतेन सङ्गमयति **तथा चेति**।।१५।।

मकरन्दः- सदिति। न चान्त्यशब्दांशे सिद्धसाधनमन्यथा साध्याप्रसिद्धेरिति वाच्यम्। सत्त्वावच्छेदेन साध्यसिद्धेरुद्देश्यत्वात्। **अर्थक्रियाव्यापकेति**। यद्यपि क्रमयौगपद्ययोः प्रत्येकं मिलिततया वा नार्थक्रियाव्यापकत्वं, तथापि तदन्यतरत्वेन व्यापकत्वम्। अर्थक्रियाकारिणि क्रमकारित्वयुगपत्कारित्वान्यतरनियमादिति बोध्यम्। अतिरिच्यत इत्यस्यैव विविच्य न गृह्यत इत्यर्थः। तत्र, न चेति सम्बन्धे विविच्य गृह्यत एवातिशय इत्यर्थपर्यवसाने सातिशयव्यक्त्युत्पादो गृह्येतेत्यत्रेष्टापत्तिरिति भावः। **आपातत इति**। निश्चायकाभावादिति भावः। सादृश्यस्याग्रेऽपि सत्त्वान्निश्चायकाभावस्तुल्य इत्याशयेनाह **तत्किमिति**।।१५।।

अपि च –

न वैजात्यं विना तत्स्यान्न तस्मिन्ननुमा भवेत्।
तेन विना न तत्सिद्धिर्नाध्यक्षं निश्चयं विना।।१६।।

न हि करणाकरणयोस्तज्जातीयस्य सतः सहकारिलाभालाभौ तन्त्रमित्यभ्युपगमे क्षणिकत्वसिद्धिः। तथैकव्यक्तावप्यविरोधात्, 'तद्वा तादृग्वे'ति न कश्चिद्विशेष इति न्यायात्। ततस्तावनादृत्य वैजात्यमप्रामाणिकमेवाभ्युपेयम्। एवञ्च कारणवत् कार्येऽपि किञ्चिद्वैजात्यं स्याद् यस्य कारणापेक्षा, न तु दृष्टजातीयस्येति शङ्कया न तदुत्पत्तिनिश्चयः। दृष्टजातीयमाकस्मिकं स्यादिति चेन्न।

तत्रापि किञ्चिदन्यदेव प्रयोजकं भविष्यतीत्यविरोधात्। न कार्यस्य विशेषस्तत्प्रयुक्ततयोपलभ्यते। नापि कार्यसामान्यस्यान्यत् प्रयोजकं दृश्यते इति चेत्, तत्किं करणस्य विशेषः स्वगतस्तत्प्रयोजकतयोपलब्धः,

---

आमोदः– अत्रापि लेशतो दूषयति – **न वैजात्यमिति। वैजात्यमङ्कुरादि**-कुर्वद्रूपत्वमकुर्वतो बीजान्नाङ्गीकर्तव्यं यदि, तदा बीजत्वेनैवाङ्कुरकारणतेति न क्षणिकत्वसिद्धिरित्यर्थः। अस्तु तर्हि वैजात्यमत आह – **न तस्मिन्निति**। वैजात्ये कारणगते स्वीक्रियमाणे कार्ये धर्मादावपि तच्छङ्कयाऽनुमानं न स्यादित्यर्थः। मा भूदनुमानं, प्रत्यक्षमेव प्रमाणमस्तु, को दोष इत्यत आह – **तेन विनेति**। अनुमानेन विना क्षणिकतैव न सिध्येदित्यर्थः। तर्हि प्रत्यक्षादेव क्षणभङ्गः सिध्येदित्यत आह – **नाध्यक्षमिति**। निश्चयः सविकल्पं तेन हि प्रत्यक्षं निर्विकल्पकमनुमीयते। न च क्षणिकत्वगोचरं सविकल्पकमस्तीत्यर्थः।

सहकारिसमवहितं करोति, तदसमवहितं न करोतीत्यभ्युपगमः स्थैर्यमेव साधयेन्न क्षणिकत्वमित्याह – **न हीति**। कुत एवमत आह – **तथैकेति**। सहकारिलाभालाभाभ्यां जनकत्वाजनकत्वे व्यक्त्यैक्येऽप्यविरुद्धे इत्यर्थः। **तद्वेति**। सा च व्यक्तिः सहकारिसमवहिता भवतु, तज्जातीयाऽन्या वेति न कश्चिद्विशेष इत्यर्थः। **तौ** सहकारिलाभालाभौ, **वैजात्यं** कुर्वद्रूपत्वम्। **एवञ्च कार्येऽपि किञ्चिद्वैजात्यम्**। तथा च स एव वह्निजन्यो नान्य इति धूममात्राद्वह्निमात्रं नानुमीयेतेत्यर्थः। **तदुत्पत्तिनिश्चयः** कार्यकारणभावनिश्चयः। **दृष्टजातीयं** धूमत्वावच्छिन्नम्। **किञ्चिदिति** पिशाचादीत्यर्थः। तथा च धूममात्रं पिशाचवत् स्यात्, धूमविशेषस्तु वह्निरित्यर्थः। यथादर्शनं व्यवस्थेति शङ्कते – **न कार्यस्येति**।

प्रकाशः- न **वैजात्यमिति**। असमर्थव्यावृत्तकुर्वद्रूपत्वं विना, न **तत्** क्षणिकत्वम्। अन्यथा समर्थस्यैव सतः कार्यजननाजननयोः सहकारिसाहित्यतदभावाभ्यामेवोपपत्तेः। **तस्मिन्** वैजात्ये च सति क्वाप्यनुमितिर्न स्यात्। उपस्थितं कारणगतरूपं परिहृत्यानुपलभ्यमानरूपान्तरेण कारणत्वे कार्येऽप्युपस्थित रूपमपहायानुपलभ्यमानरूपान्तरेण कार्यत्वशङ्कया कार्यकारणभावाग्रहात्। तेन चानुमानेन विना न **तत्सिद्धिः**, क्षणिकत्वसिद्धिरित्यर्थः। न च प्रत्यक्षादेव क्षणिकत्वसिद्धिरित्याह **नाध्यक्षमिति**। **अध्यक्षं** निर्विकल्पकम्। **निश्चयः** सविकल्पकम्। क्षणिकत्वनिश्चयाभावान्न तदुन्नेयं क्षणिकत्वनिर्विकल्पकमित्यर्थः। **तज्जातीयस्येति**। पूर्वाविशिष्टतज्जातीयस्यैवेत्यर्थः। **तथैकेति**। यैव पूर्वव्यक्तिः सहकारिवैधुर्यात् कार्यं मा कार्षीत् सैव तत्प्राप्तौ करोतीत्यत्र विरोधाभावादित्यर्थः। ननु दृष्टतज्जातीयापि व्यक्तिस्तदन्यैवेत्यत आह **तद्वेति**। **तत्** यदेव पूर्वकालवृत्ति तदेवोत्तरकालवृत्ति। तादृग्वैजात्यशून्यमन्यदित्यर्थः। ननु दृष्टजातीयस्य कारणं विना भवत आकस्मिकत्वं स्यात्। तथा च कादाचित्कत्वव्याघात इत्यत आह **दृष्टेति**। कारणं विना कार्यस्योक्तदोषो, न तु दृष्टजातीयं विनेति तत्र कारणान्तरं स्यादित्याह **तत्रापीति**। **न कार्यस्येति**। कारणविशेषप्रयोज्यं कार्यस्य वैजात्यं, दृष्टजातीयस्य च प्रयोजकान्तरं योग्यानुपलब्धिबाधितमित्यर्थः। **तत्किमिति**। कुर्वद्रूपत्वमपि न कार्यं प्रति कारणतावच्छेदकं दृष्टम्। न चोपस्थित कारणतावच्छेदकरूपस्य प्रयोज्यान्तरमिति तदपि तथेत्यर्थः। न चेष्टापत्तिः। तेन रूपेणार्थक्रियारहितत्वात्, *त्वन्मते* प्रामाणिकत्वं न स्यादित्यर्थः। अथ निश्चयेन नोच्यते, अपि तु शङ्क्यते तत्राह **शङ्का त्विति**। ननु न कारणवैजात्यं शङ्क्यते, येन तत्कार्येऽपि वैजात्यशङ्का स्यात्। किं त्वनुमानसिद्धम्! तथा हि यदि यः प्रागजनकः स एवोत्तरकालमनुवर्तते तदा कथं ततः कार्यजन्म। जनकस्य वा तत्पूर्वं सत्त्वे कथं पूर्वमजननमिति कार्यजननाजननाभ्यां पूर्वोत्तरयोर्वैजात्यमनुमीयत इति शङ्कते **कार्येति**। जननाजननयोरन्यथाऽप्युपपत्तेर्नानुपलभ्यमानवैजात्यानु

मकरन्दः- तदपि तथेति। कुर्वद्रूपत्वमपि योग्यानुपलब्धिबाधितमित्यर्थः। **न चेष्टापत्तिरिति**। उपस्थितबीजत्वाद्येवाङ्कुरादिप्रयोजकमस्त्वित्यर्थः। **तेनेति**। बीजत्वादिनेत्यर्थः। तथा च तादृशेष्टापत्तौ तवापसिद्धान्त इति भावः। यद्वा कुवद्रूपत्वेनेत्यर्थः। तथा चानेन रूपेणार्थक्रियारहितत्वाभ्युपगमात् तव कुर्वदरूपत्वं प्रामाणिकं न स्यादिति भावः।

कारणसामान्यस्य वाऽन्यत् प्रयोज्यान्तरं दृश्यते, यतो विवक्षितसिद्धिः स्यात्। शङ्का तूभयत्रापि सुलभेति। कार्यजन्माजन्मभ्यामुन्नीयत इति चेन्न। सहकारिलाभालाभाभ्यामेवोपपत्तेः। उन्नीयतां वा, कार्येषु शङ्किष्यते, निषेधकाभावात्। न हि धूमस्य विशेषं दहनप्रयोज्यं प्रतिषेद्धुं स्वभावानुपलब्धिः प्रभवति।

कार्यैकनिश्चेयस्य तदनुपलब्धेरेवानिश्चयोपपत्तेः। कार्यस्य चातीन्द्रियस्यापि संभवात्। अत एवानुपलब्ध्यन्तरमपि निरवकाशमिति। एवं विधिरूपयोर्व्यावृत्तिरूपयोर्वा जात्योर्विरोधे सति न समावेशः। समाविष्टयोश्चापरापरभावनियमः। अन्यूनानतिरिक्तवृत्तिजातिद्वयकल्पनायां प्रमाणाभावात्। व्यावर्त्यभेदाभावेन विरोधानवकाशे भेदानुपपत्तेः।

आमोदः- न विवक्षितसिद्धिः कुर्वद्रूपत्वसिद्धिः। **उभयत्रेति**। कार्ये कारणे चेत्यर्थः। **कार्यजन्मेति**। कार्यदर्शनात् कुर्वद्रूपत्वं, तदभावात्तदभाव इत्यर्थः। अत्रान्यथासिद्धिमाह – **सहकारीति**। यदि च कार्ये वैजात्योन्नायकं नास्ति तदा तत्र शङ्का स्यादित्यत आह – **उन्नीयतामिति**। **स्वभावानुपलब्धिरिति**। योग्यानुपलब्धिरित्यर्थः। कथं न **प्रभवतीत्यत** आह – **कार्येति**। तर्हि कार्येणैवोन्नीयतामत आह – **कार्यस्येति**। **अनुपलब्ध्यन्तरमपिति**। व्यापकानुपलब्धिरपीत्यर्थः। अतीन्द्रियस्यैव तद्व्यापकस्यैव सम्भवादिति भावः। इदानीं परापरभावानुपपत्तिं कुर्वद्रूपत्वजातौ बाधकान्तरमाह – **एवं विधीति**। **विधिरूपयोरिति** *स्वमते*, **व्यावृत्तिरूपयोरिति** *परमते* **विरोधे सतीति**। परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणत्वे सतीत्यर्थः। **न समावेशः** न सामानाधिकरण्यं गोत्वाश्वत्ववत्। **समाविष्टयोश्च** न्यूनाधिकयोरेव वृत्तित्वनियमः वृक्षत्वशिंशपात्ववत्। तदिह यदि शालित्वं व्यापकं तदा यवबीजे कुर्वद्रूपत्वं न स्यात्, यदि कुर्वद्रूपत्वमेव व्यापकं तदा कुशूलस्थेऽपि बीजे शालौ कुर्वद्रूपत्वं स्यादिति भावः। ननु समाविष्टयोर्न्यूनाधिकदेशवृत्तित्वं सिद्धम्, अन्यूनानतिरिक्तदेशयोरपि जात्योः सम्भवादित्यत आह – **अन्यूनेति**।

व्यावर्त्येति। यथा वृक्षत्वव्यावर्त्यमवृक्षरूपं शिंशपात्वव्यावर्त्यं वृक्षरूपमपि पनसादि, तथा घटत्वकलसत्वादीनां व्यावर्त्यभेदो नास्ति, येन भेदः स्यादित्यर्थः। भिन्नवृत्तिनिमित्तकतया पर्यायशब्दोच्छेदप्रसङ्गश्चेति भावः।

प्रकाशः– मानमिति परिहरति **सहकारीति। निषेधकेति।** साधकस्येव बाधकस्याप्यभावादित्यर्थः। नन्वनुपलब्धिरेव बाधिकेत्याह **न हीति। स्वभावानुपलब्धिः** योग्यानुपलब्धिः। वैजात्यस्यायोग्यत्वादित्यर्थः। **कार्यैकेति।** सतोऽपि वैजात्यस्य व्यञ्जकतत्कार्यानुपलब्धौ वाऽनुपलब्ध्युपपत्तेः। कार्यानुपलब्ध्या हि कारणं न निश्चीयते, न तु तदभावो निश्चीयते व्यभिचारादिति भावः। ननु धूमकार्यदर्शनेऽपि न धूमवैजात्यं दृश्यत इत्यत आह **कार्यस्य चेति।** धूमकार्यमैन्द्रियकमेवेत्यत्र नियमाभावादतीन्द्रियमपि तदस्तीति तत्प्रयोजकधर्मवैजात्यशङ्का स्यादित्यर्थः। **अत एवेति।** व्यापकानुपलब्धिरपि न तन्निषेधिकेत्यर्थः। उक्तशङ्कया तदुत्पत्त्याद्यनिश्चयेन व्यापकत्वानिश्चयादिति भावः।

वैजात्ये जातिसङ्करं बाधकान्तरमाह **एवमिति।** विधिरूपयोरिति *स्वमते*, व्यावृत्तिरूपयोरिति *परमते*। **विरोधः** परस्पराभावसहवृत्तित्वम्। कुर्वद्रूपत्वस्य शालित्वव्याप्यत्वे यवबीजे तदभावः। व्यापकत्वे कुशूलस्थशालौ तदभावः स्यादिति परस्परव्यभिचारे तयोरेकत्र समवेशो न स्यादित्यर्थः। **अन्यूनेति।** पर्यायघटशब्दोच्छेदप्रसङ्गात् बाधकाच्चेति भावः। प्रमाणाभावमेवाह **व्यावर्त्येति।** यथा वृक्षत्व शिंशपात्वयोर्व्यावर्त्यभेदाद् विरोधः, एकस्य ह्यवृक्षमात्रं व्यावर्त्यम्, अन्यस्य वृक्षविशेषोऽपि पनसादिः। न तथा बुद्धित्वज्ञानत्वयोर्व्यावर्त्यभेद इत्यर्थः।

ननु समाविष्ठयोर्जात्योर्न परापरभावनियमः। घटत्वसुवर्णत्वयोर्व्यभिचारात्। न चोपष्टम्भकपार्थिवभाग वृत्त्येव घटत्वं न सुवर्णवृत्तीति वाच्यम्। एवमपि काष्ठपाषाणघटादावप्रतीकारात्। नापि मार्द एव घटे घटत्वम्, अन्यत्र तु तथा विधसंस्थानवत्त्वगुणयोगाद् गौणो घटव्यवहारः। मुख्यत्वस्य विनियन्तु

मकरन्दः– ननु शालित्वकुर्वद्रूपत्वयोर्विरोध एव नास्ति, सामानाधिकरण्यादित्यत आह **विरोध इति। पर्यायेति।** सर्वत्र प्रवृत्तिनिमित्तभेदसम्भवेनैकप्रवृत्ति-निमित्तकत्वाभावादिति भावः। अनुगतबुद्धिबलात्तेषु नियामकं सिद्ध्यल्लाघवादेकमेव सिद्ध्यतीति नान्यूनानतिरिक्तव्यक्तिकजातिद्वयस्वीकार इत्यपि द्रष्टव्यम्। **विरोध इति।** यद्यप्यत्र विरोधो न सामानाधिकरण्याभावो, नापि परस्परात्यन्ताभाववद्वृत्तित्वं, तयोर्व्याप्यव्यापकभावाभ्युपगमात्। तथाप्यन्यूनानतिरिक्तव्यक्तिव्यतिरिक्तत्वाभाव एव स इह विवक्षित इति बोध्यम्। **न चोपष्टम्भकेति।** समाविष्टत्वमेव नानयोरिति भावः।

परस्परपरिहारवत्योश्च समावेशे गोत्वाश्वत्वयोरपि तथाभावप्रसङ्गात्। सामग्रीविरोधान्नैवमिति चेत्, कुत एतत्? परस्परपरिहारेण सर्वदा व्यवस्थितेरिति चेत्, नेदमप्यध्यक्षम्। एकदेशसमावेशेन तु सामग्री-समावेशोऽप्युन्नीयते। यावत्तत्कार्ययोः परस्परपरिहृतिस्वभावत्वादिति चेत्, तर्हि कम्पशिंशपयोः परस्परपरिहारवत्योर्न समावेशः स्यात्। दृश्यते तावदयमिति चेत्, गोत्वाश्वत्वयोरपि न द्रक्ष्यते इति का प्रत्याशा? तथा च गतमनुपलब्धिलिङ्गेनापि। क्वचिदपि विरोधासिद्धेः ततो विपक्षे बाधकाभावात् स्वभावहेतुरप्यपास्तः। नन्वस्ति तत्। तथाहि – वृक्षजनकपत्रकाण्डाद्यन्तर्भूता शिंशपासामग्री, सा वृक्षमतिपत्य भवन्ती स्वकारणमेवातिपतेत्। एवं, शाखादिमन्मात्रानुबन्धी वृक्षव्यवहारः, तद्विशेषानुबन्धी च शिंशपाव्यवहारः। स कथं तमतिपत्यात्मानमासादयेदिति

आमोदः– ननु परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणयोश्च समावेशे को दोष इत्यत आह – **परस्परेति**। सामग्रीतोऽश्वसामग्री भिन्नेति न समावेश इत्याह – **सामग्रीति**। गूढाभिसन्धिराह – **कुत इति**। सामग्र्योरसाङ्कर्यं कुत इत्यर्थः। **परस्परेति**। सामग्र्योर्मिलनं क्वापि न दृश्यत इत्यर्थः। **नेदमिति**। सामग्र्योरतीन्द्रियत्वात् परस्परपरीहारेणावस्थानं नाध्यक्षमित्यर्थः। **यावदिति**। प्रत्युतेत्यर्थः। **कार्ययोरिति**। कार्योन्नेया सामग्री **कार्ययोश्च** गवाश्वयोरसाङ्कर्येण सामग्र्योरसाङ्कर्यमुन्नीयत इत्यर्थः। **कम्पेति**। कम्पपरीहारेणापि निश्चला शिंशपा, शिंशपापरीहारेण पिप्पले कम्प इति सकम्पा शिंशपा नानुभूयेतेत्यर्थः। **अयमिति** समावेश इत्यर्थः। आशयमुद्घाटयति – **गोत्वेति**। **गतमिति**। कार्येण कारणानुमानं गतम्। कारणाभावेन कार्याभावानुमानमपि गतम्। कारणाभावकार्ययोरविरोधात् समावेशसम्भवादित्यर्थः। **तत इति**। निर्वह्नित्वधूमत्वयोर्विरोधो यदि स्यात् तदा, यदि निर्वह्निः स्यान्निर्धूमः स्यादिति विपक्षबाधकं प्रवर्तेतेत्यर्थः। **स्वभावहेतुरिति**। प्रसङ्गहेतुविपर्यय इत्यर्थः। **नन्वस्ती**त्यादिना विपक्षबाधकप्रदर्शनस्यासंगतत्वापत्तेः। किन्तु **स्वभावहेतु**स्तादात्म्यहेतुः। यथा वृक्षः शिंपपा इति। **तदिति**। विपक्षे बाधकमित्यर्थः। **शिंशपासामग्री** यदि वृक्षसामग्रीं व्यभिचरेत् स्वकारणमेव व्यभिचरेद् इत्याह – **वृक्षेति**। स्वरूपव्यभिचारे विपक्षबाधकमुक्त्वा व्यवहारव्यभिचारे तदाह – **एवमिति**। यथा शिंशपा वृक्षविशेषस्तथा कम्पः शिंशपाविशेष इति।

प्रकाशः– मशक्यत्वात्। अथ संस्थानवृत्त्येव घटत्वं न द्रव्यवृत्तीति न तयोः समावेशः, संस्थानं हि अवयववृत्तिः संयोग एव। युक्तं चैतत्। कथमन्यथा तस्मिन्नेव सुवर्णे तत्स्थानसत्त्वासत्त्वाभ्यां घटतदभावव्यवहार इति। तन्न। तत्राप्यन्यतरकर्मजत्वादिना सङ्करप्रसङ्गात्। गुणगतजातौ न सांकर्यदोष इति मतन्निर्बीजमेव।

अत्राहुः। सुवर्णत्वादिव्याप्यं नानैव घटत्वम्। न चैवं सुवर्णादि घटेषु अनुगत व्यवहारो न स्यात् घटत्वस्य प्रत्येक विश्रान्तत्वेन व्यक्तिस्थानीयत्वादिति वाच्यम् । भिन्नजातीयघटेषु तादृशसंस्थानवत्त्वेनोपाधिना तथा व्यवहारात्। तर्हि संस्थानवृत्त्येवान्यतरकर्मजत्वादिव्याप्यं नानैव घटत्वमस्तु, तन्नानात्वस्यावश्य-कल्प्यत्वात्। एतावता संस्थानविशेषान्वय व्यतिरेकानुविधानमपि घटव्यवहारस्य सङ्गच्छत इति चेत्, न। महान् नीलो घटश्चलतीति परिमाणरूपविशेष-कर्मसामानाधिकरण्यप्रतीतेः। न च संस्थाने गुणे तत्संम्भवः। यद्वा, संस्थानविशेषैकार्थसमवायिद्रव्यत्वमुपाधिर्घटत्वम्।

ननु क्वचिदसमावेशदर्शनादस्त्वनयोर्विरोध इत्याह **परस्परेति**। विरोधे क्वचित्समावेशो न स्यादन्यथाऽतिप्रसङ्ग इत्यर्थः। **सामग्रीति**। गोत्वाश्वत्व व्यञ्जकव्यक्तिसामग्र्योर्विरोधात्तयोरसमावेश इत्यर्थः। **कुत इति। एतद्**

मकरन्दः– ननु संस्थानवृत्तित्वेऽपि कथं न द्रव्यवृत्तित्वमत आह **संस्थानं हीति**। संस्थानवृत्तित्वे युक्तिमाह **युक्तञ्चैतदिति। गुणगतजाताविति**। तद्दोषताप्रयोजकस्य बीजस्य तुल्यत्वादिति भावः। **तादृशेति**। यद्यप्यवयवसंयोगात्मकसंस्थानं नावयविनि, तथापि परम्परासम्बन्धेन तद्वत्त्वं बोध्यम्। अत एव तदेकार्थसमवायिद्रव्यत्वं तत्त्वमिति वक्ष्यतीति भावः। एवञ्च घटपदप्रवृत्तिनिमित्तमपि स एवोपाधिरन्यथा नानार्थतापत्तेरति ध्येयम्। नन्वेवं घटत्वस्य जातित्व एव मानाभावः, कुतो नानात्वम्। अनुगतमत्यादिना हि तत् सिद्ध्यति, तद्विषयश्चोपाधिरेवेति कथं तत्सिद्धिः। न चैवं तारत्वादिकमपि नानाजातिर्न स्यादिति वाच्यम्। उत्कर्षादेर्जातित्वनियमे जातिसङ्करादनन्यगत्या नानात्वाभ्युपगमात्। तत्रानुगतोपाधेरपि तज्जातिघटितत्वाच्चेत्यनुशयात्तथैव सिद्धान्तमाह **यद्वेति**। संस्थानविशेषवत्त्वं नावयविनीति तदेकार्थ-समवायित्वमुक्तम्।

प्रकाशः– विरोधस्वरूपम्। सामग्र्योरेव विरोधः कुतो मानात् सिद्ध इत्यर्थः। परस्तत्र मानमाह **परस्परेति**। अतीन्द्रियसामग्र्योरन्योन्यं सहानवस्थाननियमो नासर्वज्ञाध्यक्षगम्य इत्याह **नेदमिति**। प्रत्युत सामग्र्येकदेशकालदिगादिरूपसमावेशेन यदेव गोरश्वस्य च कारणं दृष्टं, तस्यैव पशुजनकत्वमिति स्वरूपेण गवाश्वसामग्र्योरप्येककार्यजनकत्वरूपः समावेश एव कल्प्यत इत्याह **एकदेशेति**। **कार्ययोरिति**। कार्ययोर्विरोधात्तत्सामग्र्योर्विरोधः कल्प्यत इत्यर्थः। **कम्पेति**। *सौगतैः* कर्म्मण आश्रयभिन्नस्यास्वीकारात् कम्पत्वशिंशपात्वजात्योर्न समावेशः स्यात्। चलपिप्पले निश्चलशिंशपायाञ्च परस्परपरिहारेण स्थितेरित्यर्थः। दर्शनादर्शनकृत एव समावेशासमावेश इत्याह **दृश्यत इति**। यथा तयोरन्योन्यपरीहारस्थितयोरपि क्वचित्समावेशस्तथा तादृशयोर्गोत्वाश्वत्वयोरपि समावेशः स्यादित्याशङ्क्येतेत्याह **गोत्वेति**। गोत्वाश्वत्वयोः समावेशे दूषणमाह **तथा चेति**। गोत्वाश्वत्वयोः समावेशेन विरोधासिद्धौ गोत्वस्याश्वत्वविरुद्ध–स्योपलब्ध्याऽश्वत्वाभावानुमानं न स्यात्। तथा च कार्यलिङ्गकमनुमानं गतमिति प्रागुक्तं, सम्प्रत्यनेनापि गतमित्यर्थः। **क्वचिदपीति**। अन्यत्र समावेशसंशयादिति भावः। एवं च वृक्षं विना शिंशपाऽनुपलब्धिरूप विपक्षबाधकनिश्चेयं शिशपाया वृक्षस्वभावत्वमपि न निश्चीयेत। शिंशपात्वमपि वृक्षत्वं व्यभिचरेदिति शङ्कायाः सत्त्वादित्याह **तत इति**।

विपक्षे बाधकान्तरमाह **नन्वस्तीति**। **तद्** विपक्षे बाधकम्। शिंशपात्वेन वृक्षत्वं साध्यं, वृक्षव्यवहारो वा? उभयत्र कार्यकारणभावो विपक्षे बाधक इत्यर्थः। तथा च चलपत्रता शिंशपात्वं, तद्व्यवहारश्च शिंशपाव्यवहारं न

मकरन्दः– कपालरूपादावतिप्रसङ्गवारणाय द्रव्यत्वम्। ननु संस्थानविशेषस्यानुगतत्वात् कथं तद्घटितोपाध्यनुगमः?। तद्विशेषत्वं हि घटावयवसंयोगत्वं वा, कपालद्वयसंयोगत्वं वा अन्यद्वा? नाद्यः, घटत्वस्याननुगमात्। उक्तोपाधिनैव तदनुगमेऽन्योन्याश्रयात्। नापि द्वितीयः, घटत्ववत् कपालत्वस्याप्यभावात्। तत्र तत्राप्येवमनुगमकोपाधिगवेषणे घटत्वधीस्तावद्विषयशतभारमन्थरा स्यात्। नान्त्यः, तदनिरुक्तेः। न च जातिविशेष एव तथेति वाच्यम्। अन्यतरकर्मजत्वादिना सङ्करप्रसङ्गात्। एवञ्चाद्यकल्पेऽपि तादृक्संस्थानवत्त्वेन कथमनुगम इति। न चैकव्यक्तिसंस्थानसदृशसंस्थानवत्त्वेनानुगम इति वाच्यम्। कस्यचित् काचिद्व्यक्तिर्बुद्धिविषयः, कस्यचित् काचिदिति सकलानुगतबुद्धिविषयानुगतोपाध्यभावात्। अत एवाद्यकल्पे एकजातीयघटसंस्थानसदृशसंस्थानवत्त्वेनानुगम इत्यपास्तम्।

अत्राहुः। आद्यकल्प एव साधुः। अनन्यगत्या घटपदस्य नानार्थत्वम्, अक्षादिपदवत्। उक्तोपाधेरनुगतत्वेऽपि तत्प्रकारकप्रतीतेः शाब्द्याः सन्दिग्धत्वेन

चेत्, एवं तर्हि शिंशपासामग्र्यन्तर्भूता चलनसामग्री, ततस्तामतिपत्य चलनादिरूपता भवन्ती स्वकारणमेवातिपतेत्। तथा शाखादिमद्विशेषानुबन्धी शिंशपाव्यवहारः, तद्विशेषानुबन्धी च चलनव्यवहारः। स कथं तमतिपत्यात्मानमासादयेदिति तुल्यम्। नोदनाद्यागन्तुकनिबन्धनं चलनत्वं, न तु तद्विशेषमात्राधीनमिति चेत् यदि नोदनादयः स्वभावभूतास्ततस्तद्विशेषा एव। अथास्वभावभूतास्ततः सहकारिण एव, ततस्तानासाद्य निर्विशेषैव शिंशपा चलनस्वभावत्वमारभते इति। तथा च कुतः क्षणिकत्वसिद्धिः? स्वभावभूता एवागन्तुकसहकार्यनुप्रवेशाद्भवन्तीति चेत्, एवं तर्हि वृक्षसामग्र्यामागन्तुकसहकार्यनुप्रवेशादेव शिंशपापि जायते इति न कश्चिद्विशेषः। एवमेतत्। किन्तु शिंशपाजनकास्तरुसामग्रीमुपादायैव, चलनजनकास्तु न तामेव, किन्तु मूर्तमात्रं, तथा दर्शनादिति चेत्, मैवम्, कम्पजनकाः शिशपाजनकविशेषा अपि सन्तस्तानतिपतन्ति, न तु वृक्षजनकविशेषाः शिंशपाजनकास्तानिति नियामकाभावात्। शिंशपाजनकास्तद्विशेषा एव, कम्पकारिणस्तु न तथा, किन्त्वागन्तवः सहकारिण इति चेत्, एवं तर्हि तानासाद्य सदृशरूपा अपि

आमोदः– तत्रापि विपक्षबाधकं तुल्यमित्याह – **एवं तर्हीति**। वृक्षशिंशपयोः स्वाभाविकः सामान्यविशेषभावो न तु शिंशपाकम्पयोर्येन साम्यं स्यादित्याह – **नोदनादीति**।

स्वभावभूता इति। शिंशपास्वभावभूता इत्यर्थः। **कुत इति**। स्थिरायाः शिंशपाया नोदनादिसहकारिसमवधानात् कम्परूपकार्योत्पत्तेरित्यर्थः। **भवन्तीत्यत्र** नोदनादय इत्यनुषङ्गः। **एवं तर्हीति**। वृक्षशिंशपयोरपि सामान्यविशेषभावो मास्तु, तथा च कम्प इव शिंशपां शिंशपापि वृक्षव्यवहारं तत्सामग्रीं वाऽतिपतेदिति क्व विपक्षबाधकमित्यर्थः। **एवमेतदिति**। वृक्षसामग्र्यामागन्तुकसहकार्यनुप्रवेशादेव शिंशपा जायते, परन्तु शिंशपयोत्पत्तौ यदवच्छेदकं तस्य वृक्षसामग्रीपरिहारो नास्ति। कम्पोत्पत्तौ यदवच्छेदकं तस्य शिंशपासामग्रीपरिहारोऽस्तीति कम्पः शिंशपां व्यभिचरतीत्यर्थः। कम्पजनका नोदनादयः स्वभावभूता इति त्वया स्वीकृतम्। तथा च कम्पः शिंशपाविशेष एव स्यात्ततश्च मूर्तत्वं तदवच्छेदकत्वं स्यादतिप्रसङ्गादित्याह – **कम्पजनका इति**। निरस्तामपि शङ्कां परीहारप्रकारभेदार्थं पुनराह – **शिंशपेति**।

प्रकाशः– व्यभिचरेदित्याह **एवं तर्हीति**। न च शिंशपासामग्र्यन्तर्वर्त्तिन्येव चलपत्रतासामग्री, किन्तु तद्भिन्नैवेत्याह **नोदनेति**। नोदनादयः किं शिंशपाविशेषा एव, तद्विशेषजनका वा? द्वयमपि नास्तीत्याह **यदीति**। तथा च तेषां तथाभूतानामेव शिंशपाव्यभिचारे शिंशपा वृक्षं व्यभिचरेदिति भावः। ननु सदृशरूपेषु उपादानकारणेषु सत्सु सम्भूयमात्रकारिणो नोदनादय इत्यत आह **अथेति**। भावस्य समर्थैकस्वभावत्वेऽपि कार्यकरणाकरणयोः सहकारिलाभालाभप्रयुक्तत्वात् प्रसङ्गतद्विपर्यययोरभावे प्रतिबन्धासिद्धेरनुमानात् कुतः क्षणिकत्वमित्याह **तथा चेति**। शिंशपायाः स्वभावभूता अपि नोदनादय आगन्तुकसहकार्यनुप्रवेशाज्जायमानाः शिंशपां विना भविष्यन्तीत्याह

मकरन्दः– नानार्थत्वस्यैवोचितत्वात्। अन्यथा तावदन्यतमत्वाद्यनुगतोपाधिसत्त्वेऽक्षादिपदेऽपि तथात्वं न स्यात्। मार्द्दसौवर्णादिसाधारणी यद्यनुगतधीरस्ति, तदा तद्वदेव तत्पदवाच्यतयाऽस्तु। तद्घटजातीयसदृशसंस्थानवत्त्वेनैव वा तस्यानेकस्याप्यनुगतत्वसम्भवात्, विनिगमकाभावात्, तत्प्रकारकप्रतीत्यभावाच्च। तन्न तत्प्रवृत्तिनिमित्तमिति नानार्थत्वमिति। *केचित्तु* मार्द्द एव घटे घटत्वमन्यत्र तथाविधसंस्थानगुणयोगाद् गौणस्तद्व्यवहारः। मुख्यत्वे विनिगमकस्तु निरुपाधिप्रयोग एव, घटमानयेत्युक्ते मार्द्दव्यवहारात्, सुवर्णादिपदसमभिव्याहारात् सौवर्णादिव्यवहारः। अन्यथा प्रयोगस्य शक्याशक्यसाधारणत्वेन मुख्यत्वनिर्णयः क्वापि न स्यात्। अत एव सौवर्णादिगवादौ गोपदममुख्यम्। तदिदमुक्तं, पिष्टकमय्यो गाव इत्यत्र गवाकृतिसदृशाकृतौ लक्षणेति। ननु शाब्दो व्यवहारो यथातथाऽस्तु। सौवर्णादिसाधारणी प्रत्यक्षानुगतधीः कथमिति चेन्न। सौवर्णादिगवादावपि तुल्यत्वात्। यदि च तत्र तत्साधारणी गवाकारानुगतमतिरसिद्धा, सिद्धौ वा तत्तुल्यसंस्थानवत्त्वोपाधिविषया, तदा प्रकृतेऽपि तुल्यम्। अन्यथा घटं दद्यादित्यत्र वेदे सौवर्णमार्द्दादिविषयतयाऽनध्यवसायः स्यात्। सौवर्णादिसत्त्वे मार्द्दं घटमानयेति तद्व्यावर्त्तकविशेषणोपादानं लाक्षणिकान्वयबोधशङ्कानिरासाय सौवर्णादिगवादिसत्त्वे गवि तद्व्यावर्त्तकविशेषणोपादानवदिति वदन्ति। लिङ्गासङ्गतिमपाकरोति **विरोधस्वरूपमिति**।

प्रत्युतेति। उभयसामग्र्येकदेशसाधारणकारणकालदिगादेः समावेशेन परस्परसाहित्येनैककार्यजनकत्वेन दृष्टान्तेन तदुभयासाधारणकारणयोरप्येकपशुजनकत्वं स्यात्। तथा च तदुभयसामग्र्या अप्युक्तः समावेशः स्यात्।

केचित्कम्पकारिणोऽनासादितसहकारिणस्तु न तथा। तथा च 'तद्वा तादृग्वे 'ति न कश्चिद्विशेषः स्यात्।

तस्माद्विरुद्धयोरसमावेश एव। समाविष्टयोश्च परापरभाव एव। अनेवम्भूतानां द्रव्यगुणकर्मादिभावेनोपाधित्वमात्रम्। तेषान्तु विरुद्धानां न समावेशो व्यक्तिभेदात्। 'जातीनान्तु भिन्नाश्रयत्वात्। तथा च कुतः क्षणिकत्वम्?। वैजात्याभ्युपगमे च कुतोऽनुमानवार्ता? मा भूदनुमानमिति चेन्न। तेन हि विना न तत्सिध्येत्। न हि क्षणिकत्वे प्रत्यक्षमस्ति। तथा निश्चयाभावात्। गृहीतनिश्चित एवार्थे तस्य प्रामाण्यात्,

---

आमोदः– तद्वेति। सैव शिंशपा सहकारिसमवहिता कम्पं जनयेत्तादृशी वेति न कश्चिद्विशेष इत्यर्थः। प्रकृतमुपसंहरति – **तस्मादिति**। ननु भूतत्वमूर्तत्वादीनामपि परस्परात्यन्ताभावसमानधिकरणानां साङ्कर्यं दृश्यत एव इत्यत आह – **अनेवम्भूतानामिति**। परापरभावानायत्तत्वे सति समाविष्टानां भूतत्वमूर्तत्वादीनामित्यर्थः। **उपाधित्वं** न तु जातित्वम्। उपाधिसङ्करो न दोष इत्यर्थः। एवं सति दण्डित्वादण्डित्वकुण्डलित्वाकुण्डलित्वादीनां भूतत्वतदभावादीनां विरुद्धानामप्युपाधीनां समावेशः स्यादित्यत आह – **तेषान्त्विति। व्यक्तिभेदात्** भिन्नव्यक्तिस्वभावत्वादित्यर्थः। ननु दण्डित्वमपि दण्ड एव कुण्डलित्वमपि कुण्डलमेव, तेषां चानुगतत्वादनुगमकं दण्डत्वं कुण्डलत्वं च वाच्यम्। तथा च दण्डिकुण्डलित्वयोरेकत्र समावेशात्तदुभयं विरुद्धमपि समाविष्टमेवेत्यत आह – **जातीनान्त्विति**। दण्डत्वकुण्डलत्वे न समवायेन वर्तेते पुरुषे, किन्तु दण्डकुण्डलयोरिति न समावेशः। समवायेनैव विरुद्धयोः समावेशनिषेधात्। एतदेवाह – **भिन्नाश्रयत्वादिति**। परम्परासम्बन्धाश्रयत्वादित्यर्थः। **तथा चेति**। कुर्वद्रूपत्वस्य जातित्वनिराकृतावित्यर्थः। अभ्युपेत्याह – **वैजात्येति**। धूमसामान्येन वह्निसामान्यानुमानं न स्यात्। ताद्रूप्येण कार्यकारणभावाभावात् कुर्वद्रूपत्वस्य चाग्रहणादिति भावः। *चार्वाकमत*माश्रित्याह – **मा भूदिति**। अनुमानमन्तरेण क्षणिकत्वं न सिध्येदित्याह – **तेन हीति**। ननु प्रत्यक्षमेव क्षणिकत्वे मानम् इत्यत आह – **न हीति। तथा निश्चयेति**। इदं क्षणिकमिति सविकल्पकाभावादित्यर्थः। ननु निर्विकल्पकेन क्षणिकताग्रहः स्यादित्यत आह – **गृहीतेति। गृहीतं** निर्विकल्पकविषयीकृतं यत्र निश्चीयते सविकल्पकेन विषयीक्रियते तत्रैव प्रत्यक्षं प्रमाणं व्यवतिष्ठत इत्यर्थः।

प्रकाशः- स्वभावेति। एवं वृक्षस्वभावभूता शिंशपाऽऽगन्तुकसहकारिवशेन जायमाना वृक्षं विनाऽपि स्यादिति गूढाशय आह **एवं तर्हीति**। आशयमविद्वान् शङ्कते **एवमिति**। **किन्त्विति**। आगन्तुका अपि तद्व्याप्या एवेत्यर्थः। **तामेव** शिंशपासामग्रीमेवेत्यर्थः। आशयमुद्घाटयति **कम्पजनका इति**। शिंशपाजनकानां कारणानां विशेषाः। **तान्** शिंशपाजनकान्, वृक्षजनकानां कारणानां विशेषाः। **तान्** वृक्षजनकानित्यर्थः। **तद्विशेषाः** वृक्षजनकविशेषा इत्यर्थः। **एवं तर्हीति**। तज्जातीय एव सहकारिलाभालाभाभ्यां कार्यजननाजनने इति कुतः क्षणिकत्वमित्यर्थः। वैजात्यनिराकरणमुपसंहरति **तस्मादिति**। **अनेवमिति**। येषां न विरोधो न वा परापरभावः, तेषां सहभावमात्राद् व्यवस्थितानां भूतत्वकार्यत्वमूर्तत्वानां द्रव्यादिभावेन द्रव्यादिरूपतया उपाधिमात्रत्वं, न तु जातिरूपत्वमित्यर्थः।

ननु द्रव्यत्वगुणत्वादीनां कथमित्यत आह **तेषामिति**। तेषां द्रव्यत्वादीनां कुतो न समावेश इत्यत आह **व्यक्तिभेदात्** व्यञ्जकाश्रयभेदादित्यर्थ। एतदेव स्पष्टयति **जातीनां चेति**। द्रव्यादिव्यक्तिगतत्वेनैकाश्रयत्वाभावादित्यर्थः। **तथा चेति**। परापरभावाभावेन वैजात्याभावादित्यर्थः। तथापि तत्स्वीकारे दण्डमाह **वैजात्येति**। **तथेति**। नीलमिदमितिवत् क्षणिकमिति निश्चयाभावादित्यर्थः। तथाप्यध्यक्षं निर्विकल्पकं तथा स्यात्। तत एव प्रकृतसिद्धेरित्यत आह **गृहीतेति**। निर्विकल्पकस्य सविकल्पकोन्नेयत्वात् तदसिद्धौ निर्विकल्पकसत्तायां मानाभावादित्यर्थः।

नन्वयं घट इत्यनुभवोऽस्ति। स च घट इति धर्मिणम्, अयमिति वर्तमानत्वं विषयीकरोतीति वर्तमानत्वनिश्चय एव क्षणिकत्वनिश्चय इति

मकरन्दः- सामग्र्याः साधारणासाधारणकारणात्मकत्वादित्यर्थः। यद्वा, पशुजनकत्वं पशुजातीयजनकत्वम्। तथा च यथा एकजातीयजनकत्वं तथैककार्यजनकत्वमपि स्यादित्यर्थः। **गोत्वाश्वत्वयोरिति**। एवमुपाधिसाङ्कर्यमपि न दोषः स्यात्। परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणोपाध्योः समावेशे विरुद्धोपाध्योरपि सङ्करशङ्कयाऽन्यतरेणान्यतराभावानुमानं न स्यादिति तुल्यत्वादिति *प्रत्यक्षप्रकाशे* विपञ्चितमनुसन्धेयम्।।१६।।

अन्यथाऽतिप्रसङ्गात्। ननु वर्तमानः क्षणोऽध्यक्षगोचरः। न चासौ पूर्वापरवर्तमानक्षणात्मा। ततो वर्तमानत्वनिश्चय एव भेदनिश्चय इति चेत्, किमत्र तदभिमतमायुष्मतः?। यदि धर्म्येव नीलादिर्न किञ्चिदनुपपन्नम्। तस्य स्थैर्यास्थैर्यसाधारण्यात्। अथ धर्मः, तद्भेदनिश्चयेऽपि धर्मिणः किमायातम्। तस्य ततोऽन्यत्वात्। वर्तमानावर्तमानत्वमेकस्य विरुद्धमिति चेत्, यदि सदसत्त्वं तत्, तन्न। अनभ्युपगमात्। ताद्रूप्येणैव प्रत्यभिज्ञानात्। सदसत्सम्बन्धश्चेत् किमसङ्गतम्?। ज्ञानवत्तदुपपत्तेः। क्रमेणानेकसम्बन्ध एकस्यानुपपन्न इति चेन्न। उपसर्पणप्रत्ययक्रमेणैव तस्याप्युपपत्तेः। प्रत्यभिज्ञानमप्रमाणमिति चेत्, अस्ति तावदतो निरूपणीयं, क्षणप्रत्ययस्तु भ्रान्तोऽपि नास्तीति विशेषः।१६।

आमोदः– अन्यथा परमाण्वादीनामपि प्रत्यक्षतापत्तिरित्यत आह – **अन्यथेति**। ननु वर्तते घट इति प्रत्यक्षमेव क्षणिकत्वागोचरम् इत्याह – **नन्विति**। **वर्तमानपदेन** धर्मिविवक्षा चेत्, तदा तत्प्रत्यक्षताऽस्माभिरपि अभ्युपगम्यैवेत्याह – **यदीति**। स्थैर्यपक्षेऽपि तत्प्रत्यक्षताया अविरोध इत्याह – **तस्येति**। वर्तमानत्वं धर्मो नीलादीनां गृह्यते, तदाह – **अथेति**। **तस्य** धर्मिणः। **ताद्रूप्येण** सत्त्वेन। **ज्ञानवदिति**। यथैकमपि ज्ञानं सदसती गोचरयति, तथा नीलादीनामपि सदसत्सम्बन्धो न विरुद्ध इत्यर्थः। ज्ञानमेकदैव सदसत्, सम्बन्धोऽक्रमिकस्तु स विरुद्ध इत्याह – **क्रमेणेति**। **उपसर्पणं** समवधानं, तत्**प्रत्ययः** तत्कारणम्। प्रत्यभिज्ञानबलेन स्थैर्यसिद्धिमाक्षिपति – **प्रत्यभिज्ञानमिति**।।१६।।

प्रकाशः– तदुन्नीतमध्यक्षमस्त्येवेत्यत आह **नन्विति**। वर्तमानत्वं किं घट एव, तद्धर्मो वा? आद्ये तदवच्छिन्न एव कालस्तस्य वर्तमानः कालः। स च तस्य स्थैर्येऽपि सम्भवति, एकक्षणात्मकत्वं तस्य घटस्यासिद्धमेव। अन्त्ये, धर्मभेदेऽपि न तद्धर्मिभेद इत्याह **किमत्रेति**। **ताद्रूप्येणैवेति**। द्वितीयादिक्षणेऽपि प्रत्यभिज्ञानाद् वर्तमानत्वमेवेत्यर्थः। ननु पूर्वापराभ्यां सदसत्क्षणाभ्यां सम्बन्ध एकस्य विरुद्ध इत्याह **सदसदिति**। सदसद्विषयैकज्ञाने तदुभयसम्बन्धो यथा न विरुद्ध्यते तथा बाह्येऽपीत्याह **ज्ञानवदिति**। ज्ञाने तदुभयसम्बन्ध एकदैवेति न विरुद्धः। क्रमिकस्तु विरुद्ध इत्याह **क्रमेणेति**। तत्सम्बन्धकारणक्रमादेव सोऽप्यविरुद्ध इत्याह **उपसर्पणेति**। **प्रत्ययः**कारणम्। ताद्रूप्येणैव प्रत्यभिज्ञानादित्याक्षिपति

स्यादेतत्। मा भूदध्यक्षमनुमानं वा क्षणिकत्वे, तथापि सन्देहोऽस्तु। एतावतापि चार्वाकसिद्धं समीहितमिति चेत्, उच्यते –

स्थैर्यदृष्ट्योर्न सन्देहो न प्रामाण्ये विरोधतः।
एकतानिश्चयो येन क्षणे तेन स्थिरे मतः।।१७।।

न हि स्थिरे तद्दर्शने वा स्वरसवाही सन्देहः। प्रत्यभिज्ञानस्य दुरपह्नवत्वात्। नापि तत्प्रामाण्ये, स हि न तावत्सार्वत्रिको, व्याघातात्। तथाहि – प्रामाण्यासिद्धौ सन्देहोऽपि न सिद्ध्येत्, तत्सिद्धौ वा तदपि सिद्ध्येत्। निश्चयस्य तदधीनत्वात्। कोटिद्वयस्य चादृष्टस्यानुपस्थाने कः सन्देहार्थः?। तद्दर्शने च कथं सर्वथा तदसिद्धिः?।

एतेनाप्रामाणिकस्तद्व्यवहार इति निरस्तम्। सर्वथा प्रामाण्यासिद्धौ तस्याप्यसिद्धेः। प्रकृते प्रामाण्यसन्देहो, लूनपुनर्जातकेशादौ व्यभिचारदर्शनादिति चेन्न। एकत्वनिश्चयस्य त्वयापीष्टत्वात्। अनिष्टौ वा न किञ्चित्सिद्ध्येत्। सिद्ध्यतु यत्र विरुद्धधर्मविरह इति चेत्, तेनैव स्थिरत्वमपि निश्चीयते। स इह सन्दिह्यते इति चेत्, तुल्यमेतत्। क्वापि निश्चयोऽपि कथञ्चिदिति चेत्, समः समाधिः।१७।

आमोदः– चार्वाकसमीहितमिति स्थैर्यसिद्धिरूपम्। **स्थैर्येति। स्थैर्ये** तावन्न **सन्देहः**, प्रत्यभिज्ञानविषयत्वात्। **दृष्टिः** प्रत्यभिज्ञानम्। तदपि मानसप्रत्यक्षम्। तत्रापि न सन्देह इत्यर्थः। **सन्देहोऽपीति**। कोटिनिश्चयस्य सन्देहप्रयोजकत्वादि–त्यर्थः। **तत्सिद्धौ** सन्देहसिद्धौ, **तदपि** प्रामाण्यमपि। **निश्चयस्य तदधीनत्वात्** सन्देहव्यापकत्वात्तेन विना सन्देहानुपपत्तेरित्यर्थः। **कः सन्देहार्थः** कः सन्देहपदार्थः। **तद्दर्शने वा** कोटिदर्शने वा न **तदसिद्धिः** न प्रामाण्यासिद्धिः, सन्देहप्रामाण्यस्यैव कोटित्वात्। **तद्व्यवहारः** प्रामाण्यव्यवहारः, स्थैर्यव्यवहारो वा। **तस्याप्यसिद्धेरिति**। अप्रामाणिकत्वे तद्व्यवहारे वा प्रमाणापेक्षा, प्रामाण्यस्थैर्ययोस्तदपेक्षा वेत्यर्थः। प्रत्यभिज्ञानप्रामाण्ये विप्रतिपत्तिर्न तु सर्वत्र प्रामाण्य इत्यत आह – **प्रकृत इति**। क्षणिकमप्येकमेवं न सिध्येदेवं सतीत्यर्थः। **एकत्वेति। न किञ्चिदिति**। क्षणिकमप्येवं किञ्चिन्न सिध्येदित्यर्थः। **क्वापीति**। क्षणिके वस्तुनीत्यर्थः। **सम इति**। प्रत्यभिज्ञाविषये घटादौ विरुद्ध-धर्मसंसर्गाभावादित्यर्थः।।१७।।

प्रकाशः- प्रत्यभिज्ञानमिति। विरुद्धधर्मवद्विषयत्वादिति भावः। परिहरति **अस्तीति**। प्रमाणत्वाप्रमाणत्वाभ्यामिति शेषः। वस्तुतो विरुद्धधर्माध्यासाभावात् प्रमाणत्वमपि निरूपितमेवेति भावः। तदनेन स्थैर्ये प्रमाणमुक्तम्।।१६।।

सिद्धमिति। क्षणिकत्वसन्देहेऽपि *चार्वाकमत* सिद्धेरित्यर्थः। अत्र सन्देहः स्थैर्यै, तद्दर्शने वा, प्रामाण्ये वा? तृतीयेऽपि प्रामाण्यमात्रे, प्रत्यभिज्ञानप्रामाण्ये वा?। नाद्यावित्याह **स्थैर्येति**। प्रत्यभिज्ञानानुव्यवसायाभ्यां स्थैर्यतज्ज्ञान निश्चयादित्यर्थः। वादिविप्रतिपत्त्या सन्देहो न स्वारसिक इति भावः। **न तृतीयः**। क्वचिदपि प्रामाण्याप्रसिद्ध्या तत्कोटिकसंशयस्याप्यभावादित्याह **न प्रामाण्य इति**। न चतुर्थः। एकत्र क्षणे येन विरुद्धधर्मसंसर्गाभावेनैकत्वनिश्चयस्तेनैव स्थिरेऽपि तन्निश्चयादित्याह **एकतेति**। **तथा हीति**। सन्देह्मीत्यनुव्यवसाय मानकत्वात् तस्येत्यर्थः। **तत्सिद्धौ** सन्देहसिद्धौ। **तदपि** प्रामाण्यम्। **निश्चयस्येति**। निश्चयस्य सन्देहाधीनत्वात् सन्देहव्यापकत्वात् तेन विना सन्देहानुपपत्तेरित्यर्थः। यद्वा, सन्देहनिश्चयस्यापि तदनुव्यवसायप्रामाण्य-निश्चयाधीनत्वादित्यर्थः। **तद्दर्शने चेति** प्रामाण्यदर्शने चेत्यर्थः।

प्रकृते स्थैर्यसाधकप्रत्यभिज्ञाने। **न किञ्चिदिति** क्षणिकोऽप्येको न स्यादित्यर्थः। **तुल्यमिति**। क्षणिकस्याप्येकत्वे सन्देह इत्यर्थः। **क्वचिदिति**। यत्र न विरुद्धधर्मसंसर्ग इत्यर्थः। **सम इति** स्थिरेऽपि तदभाव एवेत्यर्थः।।१७।

मकरन्दः- क्षणिकत्वसन्देहेऽपीति। स्थैर्यासिद्ध्या *चार्वाका*ऽऽकाङ्क्षित-सिद्धेरित्यर्थः। **वादीति**। स्वारसिकस्यैवात्र निषेध्यत्वात्। अत एवोक्तं मूले, **न स्वरसवाही सन्देह** इति। १७-१८।।

नन्वेतत्कारणत्वं यदि स्वभावो भावस्य नीलादिवत् तदा सर्वसाधारणं स्यात्। न हि नीलं किञ्चित्प्रत्यनीलम्। अथौपाधिकं, तदा उपाधेरपि स्वाभाविकत्वे तथात्वप्रसङ्गः। औपाधिकत्वे त्वनवस्था।

आमोदः- इदानीं प्रकारान्तरेण कारणत्वमाक्षिपति – **नन्विति**। **सर्वेति**। दण्डो घटस्येव पटस्यापि कारणं स्यात्, कारणत्वस्वाभाव्यादित्यर्थः। ननु घटनियत-पूर्ववर्तित्वौपाधिकं दण्डस्य घटकारणत्वम्। अयमुपाधिः पटं प्रति नास्तीति कथमविशेष इत्यत आह – **अथेति**। उपाधिरपि दण्डस्वभाव एव। तथा च स एव सर्वान् प्रत्यविशेष इत्याह – **उपाधेरपीति**। ननु दण्डस्य घटकारणत्वमेव

अथासाधारणत्वमप्यस्य स्वभाव एव, तत उत्पत्तेरारभ्य कुर्यात्, स्थिरस्यैकस्वभावत्वादिति चेत्, उच्यते –

हेतुशक्तिमनादृत्य नीलाद्यपि न वस्तु सत्।
तद्युक्तं तत्र तच्छक्तमिति साधारणं न किम्।।१८।।

सर्वसाधारणनीलादिवैधर्म्येण काल्पनिकत्वं कार्यकारणभावस्य व्युत्पादयता नीलादि पारमार्थिकमेवाभ्युपगन्तव्यम्। अन्यथा तद्वैधर्म्येण हेतुफलभावस्यापारमार्थिकत्वानुपपत्तेः। न च कार्यकारण भावस्यापारमार्थिकत्वे नीलादि पारमार्थिकं भवितुमर्हति, नित्यत्वप्रसङ्गात्।

आमोदः– स्वभावस्तथा च कथं पटं कुर्यादित्याह – **अथेति**। तर्हि प्रतिक्षणमेव घटं कुर्यात्, स्वभावस्य तादवस्थ्यादित्यर्थः।

हेतुशक्तिमिति। कार्यकारणतायाः तिरस्कारश्चेत्, तदा कादाचित्कत्वेनानुभूयमानं नीलाद्यपि वास्तवं न भवेदित्यर्थः। 'उत्पत्तेरारभ्य कुर्यादि'त्यत्र साधारण्यप्रसङ्गे च समाधिमाह – **तद्युक्तमिति**। घटानुकूलसहकारि**युक्तं** दण्डादि **घटे शक्तमि**ति सर्वैरेव ज्ञायत इति। कारणत्वमपि साधारणमेवेति। नोत्पत्तेरारभ्य करणं, न च नीलादिवैधर्म्यमपीत्यर्थः। **साधारणमिति**। नीलादिसाधारणमेवेत्यर्थः। नीलादिपारमार्थिकत्वेऽपि

प्रकाशः– तदेवमलौकिकं परलोकसाधनं सिद्धम्। तत्र शङ्कते **नन्विति**। यथा नीलं सर्वेण निरूप्यमाणं नीलं, तथा सर्वेण निरूप्यमाणं कारणं स्यादित्यर्थः। तथात्वम् सर्वसाधारण्यम्। औपाधिकत्व इत्यत्रोपाधेरित्यनुषञ्जनीयम्। **अथेति**। नियतकार्यप्रतियोगिककारणत्वमेव स्वभाव इत्यर्थः। **तत इति**। यस्य स्वाभाविकं तत्तदुत्पत्तित एवारभ्येति बीजस्य बीजत्वमिवाङ्कुरकारित्वमप्युत्पत्तित एव स्यादित्यर्थः। ततः कारणत्वमस्य न साधारणमसाधारणं वेति भावः।

परस्य कार्यकारणभावस्य साधारणत्वापादनेन हेतुशक्तिरेव निरस्यत्वेन मता। तथा च नीलाद्यपि परमार्थसन्न स्यात्, नित्यत्वप्रसङ्गात्। ततो वैधर्म्यदृष्टान्ताभावात्त्वत्पक्षो न सिद्ध्यतीत्याह–**हेतुशक्तिमिति**। **तद्युक्तमिति** सहकारियुक्तम्। **तत्र** कार्ये **तत्**कारणं **शक्तं** निर्वर्तकमिति सर्वैरेव प्रतीयत इति सर्वसाधारण्यमस्त्येव। नीलादेरपि तदेव सर्वसाधारण्यमित्यर्थः।

तस्मादस्य पारमार्थिकत्वेऽपरमपि तथा, न वोभयमपीति कथमेकमनेकं परस्परविरुद्धं कार्यं कुर्यात्?। तत्स्वभावत्वादिति यदि, तदोत्पत्तेरारभ्य कुर्यादविशेषादित्यपि न युक्तम्, तत्तत्सहकारिसाचिव्ये तत्तत्कार्यं करोतीति स्वभावव्यवस्थापनात्। इदञ्च साधारणमेव, सर्वैरपि तथोपलम्भात्। न हि नीलादेरप्यन्यत्साधारण्यमिति।१८।

स्यादेतत्। अस्तु स्थिरं, तथापि नित्यविभोर्न कारणत्वमुपपद्यते। तथा ह्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां कारणत्वमवधार्यते, नान्वयमात्रेण, अतिप्रसङ्गात्। न च नित्यविभूनां व्यतिरेकसंभवः।

आमोदः:- कार्यकारणभाव एव तन्त्रमित्युपपादयति - **सर्वेति। अस्येति।** नीलादेरित्यर्थः। अपरमपि कारणत्वमपीत्यर्थः। **कथमिति। एकं** दण्डादि **अनेकं** घटगवाभ्याजनादि कथं कुर्यादित्यर्थः। **इदमिति।** सहकारिसमवहितं सत् करोतीत्येतदित्यर्थः। साधारण्यमाह - **सर्वैरिति। अन्यदिति।** सर्वैस्तथोप-लम्भादन्यदित्यर्थः। **तथापीति।** तथा च नालौकिकस्य परलोकसाधनस्य सिद्धिः। धर्माधर्मौ प्रति आत्मनः कारणत्वाभ्युपगमादित्यर्थः। **न च नित्येति।** नित्यत्वान्न कालकृतो विभुत्वाच्च न देशकृतो व्यतिरेको **नित्यविभूनामित्यर्थः। सोपाधेरिति।** शरीरादिमत इत्यर्थः। **तथाभूतस्येति।** नित्यविभोरित्यर्थः। कथमेतदित्यत आह - **जनितो हीति।** यददृष्टेन यच्छरीरं जनितं तदेव तस्योपाधिर्वक्तव्यः। अन्यथाऽतिप्रसङ्गात्। तथा च भवेदेवं यद्यदृष्टं प्रत्यात्मनः कारणत्वं स्यात्, तदेव तु नास्ति, नित्यविभुत्वेन व्यतिरेकाभावादित्याह - **न प्रथम इत्यादि। पूर्ववदेवेति।** नित्यविभुत्वेन व्यतिरेकाजनकत्वासम्भवादेवेत्यर्थः। नित्यस्यापि व्यतिरेकमभ्युपेत्याह - **तथापीति। स चेति।** तथा चोभयोरपि नित्यत्वान्न व्यतिरेक इति भावः। **तद्वत इति।** न त्वात्मादिरित्यर्थः।।१८।।

प्रकाशः:- अस्य नीलादेः। **अपरमपि** कार्यकारणस्वरूपमपि। **इदञ्चेति।** तथा चेष्टापादनमिति भावः।।१८।।

नन्वेवमदृष्टस्यात्मवृत्तित्वेऽपि नात्मा समवायिकरणं, नाप्यन्यदिति तदभावादसमवाय्याद्यपि न कारणमिति तन्नित्यत्वेन न यागादिजन्यत्वं, नापि भोगनियामकत्वमित्यभिप्रेत्याह **स्यादेतदिति। न चेति।** नित्यत्वेन न कालतो व्यतिरेको, विभुत्वेन न देशत इत्यर्थः।

न च सोपाधेरसावस्त्येवेति साम्प्रतम्, तथाभूतस्योपाधिसंबन्धेऽप्यनधिकारात्। जनितो हि तेन स तस्य स्यात्, नित्यो वा? न प्रथमः, पूर्ववत्। नापि द्वितीयः, पूर्ववदेव। तथापि चोपाधेरेव व्यतिरेको न तस्य, अविशेषात्। तद्वत इति चेन्न। स चोपाधिश्चेत्यतोऽन्यस्य तद्वत्पदार्थस्याभावात्। भावे वा स एव कारणं स्यात्। अत्रोच्यते –

पूर्वभावो हि हेतुत्वं मीयते येन केनचित्।
व्यापकस्यापि नित्यस्य धर्मिधीरन्यथा न हि।।१९।।

भवेदेवं यद्यन्वयव्यतिरेकावेव कारणत्वं, किन्तु कार्यान्नियतः पूर्वभावः। स च क्वचिदन्वयव्यतिरेकाभ्यामवसीयते, क्वचिद्धर्मिग्राहकात्प्रमाणात्। अन्यथा कार्यात् कारणानुमानं क्वापि न स्यात्। तेन तस्यानुविधानानुपलम्भात्। उपलम्भे वा कार्यलिङ्गानवकाशात्, प्रत्यक्षत एव तत्सिद्धेः। तज्जातीयानुविधानदर्शनात् सिद्धिरन्यत्रापि न वार्यते। तथापि कोष्ठगत्यानुविहितान्वयव्यतिरेकमेव कार्यात्कारणं सिद्ध्येत्, अन्यत्र तथा दर्शनादिति चेन्न। बाधेन सङ्कोचात्, विपक्षे बाधकाभावेन चाव्याप्तेः, दर्शनमात्रेण चोत्कर्षसमत्वात्। अस्य च ईश्वरे विस्तरो वक्ष्यते। सर्वव्यापकानां सर्वान् प्रत्यन्वयमात्राविशेषे कारणत्वप्रसङ्गो बाधकमिति

आमोदः– पूर्वभाव इति। अनन्यथासिद्धनियत'पूर्वभाव' इत्यर्थः। **येन केनचिदिति**। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां वा, धर्मिग्राहकमानेन वेत्यर्थः। प्रकृतमधिकृत्याह – **व्यापकस्यापीति। अन्यथेति**। कारणत्वमन्तरेणेत्यर्थः।

अन्यथेति। यद्यन्वयव्यतिरेकादेव कारणत्वं स्यादित्यर्थः। **तेनेति**। अनुमात्रा कार्येण वेत्यर्थः। ननु यत्कार्यं कारणं प्रति लिङ्गं तत्कार्यजातीयं प्रति अन्वयव्यतिरेकौ दृष्टावेव। अतोऽनुमानं स्यादित्यत आह – **तज्जातीयेति। अन्यत्रापीति**। नित्यविभावित्यर्थः। द्रव्यत्वेन गुणं प्रति कारणता तत्रापि स्यादेव। रूपादिकं प्रति घटादिद्रव्यस्यान्वयव्यतिरेकदर्शनादित्यर्थः। **कोष्ठगत्येति**। वस्तुगत्येत्यर्थः। **बाधेनेति**। विभोर्बाधेन व्यतिरेकवत्येव तत्सङ्कोचादित्यर्थः। व्यतिरेकवदेव कारणत्वमिति व्याप्तौ विपक्षबाधकत्वान्नास्तीत्याह – **विपक्षे इति**। दण्डादौ दर्शनमात्रादन्यत्रापि तथा स्यादित्यत्राह – **दर्शनमात्रेणेति। अस्य चेति**। उत्कर्षसमजात्युत्तरस्येत्यर्थः। विशेषविरोधप्रस्तावे **पञ्चमस्तवके**। एवं सति घटपटादिकमपि प्रत्याकाशादीनां कारणत्वं स्यादित्याह – **सर्वेति। अन्वयेति**।

प्रकाशः- ननु केवलस्य व्यतिरेकाभावेऽपि शरीराद्युपहितस्य तस्य स्यादित्याह- **न च सोपाधेरिति**। नित्यविभोस्तदयोग्यत्वादित्यर्थः। तत्र विकल्प्य हेतुमाह **जनितो हीति**। अन्त्येऽपि व्यापकोऽव्यापको वेति द्रष्टव्यम्- **पूर्ववदिति**। उपाधिजनकत्व ग्राहकव्यतिरेकाभावस्तुल्य एवेत्यर्थः। द्वितीयस्याद्ये दोषमाह- **पूर्ववदिति**। नित्यविभोरुपाधेरपि व्यतिरेकाभाव इत्यर्थः। नित्याव्यापकोपाधिपक्षे दोषमाह **तथापि चेति**। विशेष्यवति विशिष्टाभावस्य विशेषणाभावे पर्यवसानादित्यर्थः। **तद्वतः** उपाधिमतः। **स एव** विशिष्ट एव, न तु विशेष्यात्मेत्यर्थः।

येन केन चिदिति। नान्वयव्यतिरेकाभ्यामेवेत्यर्थः। **व्यापकस्यापीत्यत्र** हेतुत्वमित्यनुषञ्जनीयम्। तन्निश्चये हेतुमाह-**धर्मिधीरिति**। बुद्ध्यादिभिः कार्यैः समवायिकारणतयाऽऽत्मादयोऽवगम्यन्त इति धर्मिग्राहकमानादेव तेषां कारणत्वग्रह इत्यर्थः। **तेनेति**। कार्यव्यक्त्याऽनुमेयकारणव्यक्तेरन्वयाद्यनुविधानदर्शनादित्यर्थः। अथ कार्यकारणव्यक्त्योरन्वयव्यातिरेकाभ्यामिति स्वगुणान् प्रति घटादेरन्वयव्यतिरेकज्ञाने घटत्वादिकं न प्रयोजकम्, किन्तु द्रव्यत्वमेव। तर्ह्यन्वयव्यतिरेकवज्जातीयत्वं गुणान् प्रति नित्यविभोरप्यस्तीत्याह-**तज्जातीयेति**। **बाधेनेति**। धर्मिग्राहकमानेनात्मादीनां स्वनिष्ठकार्यगुणेषु कारणत्वग्रहाद् बाधोन्नीतपक्षेतरत्वोपाधेर्व्याप्त्यभावादिति भावः। **विपक्षेति**। दृष्टान्ते तथात्वदर्शनेऽपि तद्रूपं न प्रयोजकं गौरवादित्यर्थः। अन्यत्र तथा दर्शनादित्यत्राह-**दर्शनमात्रेणेति**। नन्वबाधकाद् गुरोरपि प्रयोजकत्वमित्याशयेन बाधकमाह-**सर्वेति**। व्यतिरेकासम्भवेऽन्वयमात्रस्यैव कारणताग्राहकत्वे तदविशेषात् सर्वत्र कार्ये नित्यविभोः कारणत्वप्रसङ्ग इति व्यतिरेकोऽपि तत्प्रयोजक इत्यर्थः। **अन्वयेति**। रूपादिकार्यं प्रति घटाद्यन्वयव्यतिरेकवद् दृष्टं, तज्जातीयश्चात्मा ज्ञानादिकं प्रति, समवायिकारणजातीय इति यावत्। यद्वा अन्वयव्यतिरेकवति कारणे सहकारिसाकल्यासाकल्याभ्यां कार्यकरणाकरणे दृष्टे। तद्वदत्राप्यन्वयव्यतिरेकवज्जातीयत्वम्। न चैवमतिप्रसङ्गः। व्योमादेर्ज्ञानासमवायित्वात्। तथात्वे चाकाशविशेषगुणतया ज्ञानस्य श्रौतत्वप्रसङ्गात्। दिक्कालविशेषगुणत्वे चाप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गः। अत एव तत्र कार्याजनने सहकारिवैकल्यमतन्त्रम्। न चैवमपि व्योमादेः कार्यमात्रे निमित्तत्वापत्तिः अन्यथासिद्धत्वात्। शब्दं प्रति पूर्ववर्त्तित्वग्रह एवान्यकार्यं प्रति तद्ग्रहात्। अन्यं प्रति पूर्ववर्त्तित्वग्रह एव यस्य यं प्रति तद्ग्रहः,

चेन्न। अन्वयव्यतिरेकवज्जातीयतया विपक्षे बाधकेन च विशेषेऽनतिप्रसङ्गात्। तथा हि – कार्यं समवायिकारणवद् दृष्टमित्यदृष्टाश्रयमपि तज्जातीयकारणकम्, आश्रयाभावे किंप्रत्यासन्नमसमवायिकारणं स्यात्? तदभावे निमित्तमपि किमुपकुर्यात्? तथा चानुत्पत्तिः सततोत्पत्तिर्वा सर्वत्रोत्पत्तिर्वा स्यात्। एवमपि निमित्तस्य सामर्थ्यादेव नियतदेशोत्पादे स एव देशोऽवश्यापेक्षणीयः स्यात्। तथा च सामान्यतो देशसिद्धावितरपृथिव्यादिबाधे तदतिरिक्तसिद्धिं को वारयेत्? एवमसमवायिनिमित्ते चोहनीये।१९।

आमोदः– घटादिकं प्रत्याकाशादीनां न तावत् समवायिकारणत्वं सम्भवति, पृथिवीत्वावच्छिन्नं प्रति पृथिवीत्वावच्छिन्नस्यैव समवायिकारणत्वस्यान्वयव्यतिरेकसिद्धत्वात्। नाप्यसमवायिकारणत्वं, द्रव्ये तदसम्भवात्। नापि निमित्तकारणत्वम्, अन्यथासिद्धत्वादित्यर्थः। **अन्वयव्यतिरेकवज्जातीयेति** स्फुटयति – **कार्यमिति।**

विपक्षबाधकं स्फुटयति – **आश्रयाभाव इत्यादि।** ननु निमित्तकारणमेवाश्रयः स्यादित्यत आह – **एवमपीति।** तर्हि तदेव समवायिकारणं स्यादित्यर्थः। नित्यकारणविभुभोक्तृसिद्धिमभिप्रेत्याह – **तथा चेति।** ज्ञानादीनां समवायिकारणं सिध्यद् अष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्यमादायैव सिध्यतीत्यर्थः।१९।

प्रकाशः– तदन्यथासिद्धमिति प्रागुक्तमित्यर्थः। **विपक्षेति।** यदीदं कार्यमेतदाश्रयोत्पत्ति प्रयोजकजन्यं न स्यादन्यदेशं स्यात्। एवं कालेऽपीति सर्वत्रोत्पत्तिसततोत्पत्ति शब्दवाच्येन तर्केणेत्यर्थः। उभयं क्रमेण विवृणोति–**तथा हीति। आश्रयाभाव इति।** समवायिकारणवृत्तेरेवासमवायिकारणत्वादित्यर्थः। ननु निमित्तवति नियतदेश एव कार्योत्पत्तिरिति किं समवायिनेत्यत आह–**एवमपीति।** आश्रयदेशस्यैव समवायित्वादित्यर्थः। तथापि समवायिविशेषसिद्धिः कुत इत्यत आह **तथा चेति।** प्रसिद्धसमवायिवृत्तित्वबाधकसहकृतं समवायिवृत्तित्वसाधकमेवाप्रसिद्धसमवायि विषयीकरोति। सामान्यग्राहकस्यापि मानस्य सहकारिविशेषाद् विशेषे

मकरन्दः– अन्वयव्यतिरेकवज्जातीयत्वमतिप्रसक्तमित्यनुशयादाह – **यद्वा, अन्वयव्यतिरेकवतीति। अत एवेति।** तथा च ज्ञानं प्रति व्योमादेर्न निरुक्तमन्वयव्यतिरेकवज्जातीयत्वमिति भावः। **समवायिकारणवृत्तेरेवेति।** स्वस्वाश्रयान्यतरसमवायिकारणवृत्तेरेवेत्यर्थः। तथा चोभयाश्रयान्तर्भाव इति भावः। **तथापीति।** असमवायिनोऽप्याधारत्वसम्भवादिति भावः।

प्रकाशः- पर्यवसानदर्शनादित्यर्थः। यदा तु समवायिवृत्तित्वानुमानानन्तरं बाधकावतारः, तदा केवलव्यतिरेकिणस्तत्सिद्धिरिति भावः। **एवमिति**। तदन्यतराभावेऽपि कार्योत्पत्तिप्रसङ्गेनेत्यर्थः। वस्तुतः समवायिकारणत्वग्रहे अन्योन्याभावरूपव्यतिरेक एव प्रयोजको, न तु संसर्गाभावग्रहः। निमित्तसाधारणत्वात्। यत् कपालं तत्र घटो, यन्न कपालं तत्र नेतिवद् य आत्मा तत्र ज्ञानादि, यन्नात्मा तत्र तद् नेति तद्ग्रहस्य सत्त्वात्। तथापि घटादिकं प्रति आत्मनो निमित्तकारणत्वग्रहः कुतः। तत्रोक्तगत्यभावात्। इत्थं, प्रयत्नवदात्मसंयोगश्चेष्टाद्वारा घटहेतुरिति प्रयत्नवदात्मापि तद्धेतुः। न चैवमपि संयोगो हेतुर्नात्मेति वाच्यम्। संयोगमात्रस्याहेतुत्वेन संयोगिविशेषितस्यैव हेतुत्वात्। अन्यथा दण्डसंयोगस्यैव घटहेतुत्वेन दण्डस्यातत्त्वप्रसङ्गात्। अथात्मसंयोगोऽपि हेतुरसिद्धः। तदभावेन कार्याभावादर्शनादिति चेन्न। व्यधिकरणगुणजन्यकार्यत्वेन तत्समानाधिकरणगुणजन्यत्वानुमानात्। स्पर्शवद्वेगवद्द्रव्याभिघातजक्रियायां तथादर्शनात्। न च मूर्त्तमात्रसमवेतासमवायिकारणकत्वमुपाधिः। कार्यकारणभावेन हेतोः साध्यव्याप्यतया तदव्यापकतयोपाधेः साध्याव्यापकत्वात्।।१९।।

मकरन्दः- वस्तुत इति। यद्यपि समवायित्वसमानाधिकरणं कारणत्वमेव समवायिकारणत्वम्। तच्च विशिष्टं न ग्राह्यं, किन्तु गोत्वादिसमवायित्व साधारणसमवायित्वग्राहकसमाजात् कारणत्वग्राहकादेवार्थसमाजमहिम्ना विशिष्टसिद्धिः। अन्यथा समवायिकारणत्वस्यापि विशिष्टस्य ग्राह्यत्वे ग्राहकान्तरसम्बन्धमनुस्रियेत। न हि तत्र संसर्गाभावग्रहः प्रयोजकः। निमित्तसाधारणत्वात्। नाप्यन्योन्याभावग्रहः। तदधिकरणककार्यानुत्पादेन तस्य तत्राभावात्। यदि च कारणत्वमात्रमेव ततो ग्राह्यं तस्य निमित्तसाधारणतया ग्राहकस्य निमित्तसाधारण्यं न दोषस्तदा प्रकृतेऽपि तुल्यम्। किञ्च संसर्गाभावग्रहस्य निमित्तसाधारणतया यदि न तद्ग्राहकत्वं, तदा निरुक्तस्यापि तथात्वं न स्यात्। तस्यापि देशकालरूपाधिकरणात्मकनिमित्तसाधारणत्वात्। न च यत् कपालं तत्र समवायसम्बन्धेन घटः, यन्न कपालं न तत्र समवायेन घट इति विवक्षितमिति वाच्यम्। तर्हि समवायित्वं प्रथमत एव ग्राह्यमिति कारणत्वमात्रमेव तद्ग्राह्यमिति सिद्धं नः समीहितम्। सम्बन्धान्तरगर्भस्य च तस्य देशादिकारणत्वग्राहकत्वं कल्प्येत। तथापि विशिष्टं न ग्राह्यं, किन्तु समवायिनः कारणत्वम्। एवमपि ग्राह्यमित्यत्र पूर्वकल्प एव वा तात्पर्यम्।

इत्येषा सहकारिशक्तिरसमा माया दुरुन्नीतितो
मूलत्वात्प्रकृतिः प्रबोधभयतोऽविद्येति यस्योदिता।
देवोऽसौ विरतप्रपञ्चरचनाकल्लोलकोलाहलः
साक्षात्साक्षितया मनस्यभिरतिं बध्नातु शान्तो मम।।२०।।

।इति न्यायकुसुमाञ्जलौ प्रथमस्तबकः।

आमोदः– स्तबकार्थमुपसंहरन्नेवाशंसामाह – इत्येषेति। इति'–शब्द उपसंहारे। यद्वा 'एषा' इत्यर्थे **इत्येषे**त्यखण्ड एव शब्दः। '**असौ देवो मम मनसि साक्षादेवासक्तिमभिरतिं बध्नातु**, मम मनस्यासक्तो भवत्वित्यर्थः। **साक्षितयेति**। **तस्यामासक्तौ स्वयमेव साक्षी भवत्वित्यर्थः**। 'यस्य एषा अनेन स्तवकेन यत् साधितमदृष्टं सैव **सहकारिशक्तिः**'। सहकारिणि सिद्धान्तिनामेकवाक्यतामाह – **मायेति**। दुःखेन मायाऽप्युन्नीयतेऽदृष्टमपीत्यदृष्टमेव ***एकदण्डिनो*** मायाप्रभवं विश्वमित्यनेनाचक्षते। **सांख्या** अपि प्रकृतिपदेनादृष्टमेवाचक्षते, मूलकारणं प्रकृतिरित्यादि। *त्रिदण्डिनो*ऽप्यविद्याप्रभवं विश्वमित्याचक्षाणा *अविद्या*पदेनादृष्टमेवाहुः। **प्रबोध**स्तत्त्वज्ञानं तन्नाश्यत्वादविद्यापि ततो बिभेति। भोगद्वाराऽदृष्टस्यापि तन्नाश्यतया तदपि ततो बिभेतीति साम्यात्। **प्रपञ्चो** गोघटादि कार्यजातं तस्य **रचना** निर्माणं तत्प्राति यः **कल्लोलः** *सांख्या*दिसिद्धान्तप्रवादः, स एव **कोलाहलो**ऽनभिव्यक्तविशेषयुक्तिको वचनसन्दर्भः, यस्मिन् विषये **विरतः** शान्तः। **शान्तो** द्वेषादिहीनः। तथा चादृष्टसहकृत ईश्वर एव प्रपञ्चकारणं, न तु माया प्रकृतिरविद्या वेत्यर्थः। यद्वा **साक्षादिति**। **साक्षितयेति**। सन्निहितेनैव सम्बन्धः, तेनाभिरतिबन्धे 'साक्षादेव साक्षी', न तु *श्रुता*दिसाक्षीत्यर्थः। यद्वा **साक्षादेवाभिरतिं बध्नातु** साक्षात्कारविषयो भवत्वित्यर्थः, मननस्य जातत्वात्।।२०।।

इति प्रथमः स्तवकः।

प्रकाशः– साधनमात्रसमर्थनेऽपि प्राधान्याददृष्टं स्तवकार्थमुपसंहरन् मायिका *द्यागमा*विरोधमाह– **इत्येषेति**। प्रथम **इति**शब्द उपसंहारे। **यस्य** देवस्य **एषा** अदृष्टरूपा **सहकारिशक्तिः** सहाकारिकारणम् **असमा** मायेत्युदिता। ''यन्मायाप्रभवं विश्व'' मित्यत्र मायाशब्देनादृष्टस्याभिधानात्। असमत्वे हेतुः –**दुरुन्नीतितः**। अदृष्टमाययोर्महाविचारोन्नेयत्वात्। ''प्रकृतिप्रभवं विश्व'' मित्यत्रा *प्यागमे*ऽदृष्टरूपा शक्तिरेव प्रकृतिरुदिता। कुतः?। **मूलत्वात्**। मूलकारणमेव प्रकृतिशब्दार्थः।

प्रकाशः– अदृष्टञ्च तथा। अविद्याप्रभव*त्वागमे* सैवाविद्येत्युदिता। **यतः प्रबोधात्** तत्त्वज्ञानादुभयोरपि **भीतिः**। अविद्यावत्तज्जनकादृष्टस्यापि ततो भयात्। तत्त्वज्ञाने तदनुत्पत्तेः। प्रपञ्च*ः* प्रतारणा, **तद्रचनायाः कल्लोलः** परम्परा, तस्य **कोलाहलः** किंवदन्ती स विरतो यस्य, स शान्तो द्वेषादिहीनो मम **मनसि अभिरतिं** विजातीयज्ञानानन्तरितचिन्तां स्वविषयाम्। **साक्षात् साक्षितया** तत्र प्रत्यक्षेण साक्षीभवन्। **बध्नातु** दृढीकरोत्वित्यर्थः।।२०।।

इति श्रीमहामहोपाध्यायश्रीवर्द्धमानविरचिते न्यायकुसुमाञ्जलिप्रकाशे प्रथमः स्तबकः।।१।।

मकरन्दः– नन्वेवं संयोगिनोऽवच्छेदकत्वमेवास्त्वित्यत आह – **अन्यथेति**। यद्यपि संयोगावच्छेदकत्ववादिनस्तुल्यमिदं, तथापि कारणसंयोगाश्रयस्यावश्यं कारणत्वमिति नियमाभ्युपगमावष्टम्भेनेदम्। **व्यधिकरणगुणेति**। एतच्च प्रागेव व्याख्यातप्रायम्। **न चेति**। साधनव्याप्तिवारणाय-**मात्रेति**। तथा च चेष्टादावेव साधनाव्यापकत्वमिति भावः। न च मात्रपदं विनापीश्वरज्ञानादिरूपव्यधिकरण-गुणजन्यशब्दजशब्दे साधनाव्याप्तिरिति वाच्यम्। मूर्त्तवृत्तित्वस्य कार्यविशेषणस्य प्रागेवोक्तत्वात्। अन्यथा तत्रैव व्यभिचारापत्तेरिति।।२०।।

इति श्रीमहामहोपाध्यायदेवदत्तात्मजमहामहोपाध्यायश्रीरुचिदत्तकृतौ कुसुमाञ्जलिमकरन्दे प्रथमः स्तबकः।।१।।



द्वितीयः स्तबकः

तदेवं सामान्यतः सिद्धे अलौकिके हेतौ तत्साधनेनावश्यं भवितव्यम्। **न च तच्छक्यमस्मदादिभिर्द्रष्टुम्।** न चादृष्टेन व्यवहारः। ततो लोकोत्तरः सर्वानुभावी सम्भाव्यते। ननु नित्यनिर्दोषवेदद्वारको योगकर्मसिद्धसर्वज्ञद्वारको वा धर्मसम्प्रदायः स्यात्, किं परमेश्वरकल्पनयेति चेत्, अत्रोच्यते –

प्रमायाः परतन्त्रत्वात्सर्गप्रलयसम्भवात्।
तदन्यस्मिन्ननाश्वासान्न विधान्तरसम्भवः।।१।।

आमोदः– द्वितीयां विप्रतिपत्तिं निरस्यन्नाह – **तदेवमिति।** अनिर्णीतकारणविशेषत्वं सामान्यम्। **तत्साधनेनेति।** यागहिंसादिनेत्यर्थः। **न चेति।** यागादीनां हितसाधनत्वं हिंसादीनामहितसाधनत्वं चास्मदादिपरोक्षमित्यर्थः। तर्हि हितसाधनत्वमहितसाधनत्वं चाज्ञात्वापि प्रवृत्तिनिवृत्ती स्याताम्, को दोष इत्यत आह – **न चेति। तत इति।** यदुपदेशादस्मदादीनां प्रवृत्तिनिवृत्ती इति शेषः। **लोकोत्तरत्व**मस्मदादिविलक्षणत्वम्। **सर्वानुभावीति।** हितसाधनमहितसाधनं च सर्वमुपदेशद्वाराऽनुभावयतीत्यर्थः। यद्वा सर्वमनुभावयितुं बोधयितुं शीलमस्येति सर्वानुभावीति। **न चादृष्टेन व्यवहार** इति यागादिस्वर्गसाधनताबोधकशब्दरूपी व्यवहार उक्त इत्यन्ये। स्तवकेन निरसनीयामन्यथासिद्धिमाह – **नन्विति। योगेति।** योगकर्मभ्यां सिद्धा ये सर्वज्ञाः *कपिलादय*स्तद्द्वारक इत्यर्थः। सम्प्रदीयते गुरुणा शिष्यायेति *सम्प्रदायो* वेदः, धर्मगोचरः सम्प्रदायः **धर्मसम्प्रदायः। किमिति।** परमेश्वरोऽभ्युपदेष्टृत्वेना-दृष्टाधिष्ठातृत्वेन कल्पनीयस्तत्र *वेदो* नित्य एव न वक्तारमपेक्षते। अदृष्टं चास्मदादिभिरधिष्ठेयमनधिष्ठितमेव वा प्रवर्तयिष्यते। तेन तदर्थमपि नेश्वरापेक्षा। प्रामाण्यं च *वेदस्य* नित्यादोषत्वात् स्वत एवोत्पद्यते ज्ञायते चेति *मीमांसकाः।* *कपिलादय* एव वक्तारोऽदृष्टाद्यधिष्ठिताः सर्वज्ञाश्चेति *सांख्याः*। अत्रोभयत्रापि कारिकया दूषणं संगृह्णाति – **प्रमाया इति।**

परतन्त्रत्वात् गुणजन्यत्वात्। गुणश्च वक्तृवाक्यार्थयथार्थज्ञानम्। तच्च वक्तारमन्तरेण कथं स्यादिति भावः। ननु नित्यत्वेऽपि *वेदस्य* महाजनपरिग्रहादेव प्रामाण्यं निश्चित्य यागादौ प्रवर्त्स्यत इत्यत आह – **सर्गेति।** *सांख्यमतं* दूषयति – **तदन्यस्मिन्निति।** *कपिलादेः* सार्वज्ञे प्रमाणाभावाद् भ्रमादिसम्भावनाया **मनाश्वासादित्यर्थः।** ननु *सांख्यमते* दूषितेऽपि *मीमांसकमते* न दोषः,

प्रकाशः– द्वितीयां विप्रतिपत्तिमुत्थापयितुं भूमिकामारचयति **तदेवमिति**। तस्य च जन्यतया तत्कारणयागादिदर्शी कश्चित् स्वीकर्त्तव्य इत्यर्थः। **न चेति**। यागादिस्वर्गसाधनत्वस्यातीन्द्रियत्वादित्यर्थः। तद्दर्श्यभावे दोषमाह **न चेति**। व्यवहारश्च यागादिस्वर्गसाधनताबोधकशब्दरूपः अदृष्टाधिष्ठानरूपश्च। तदुभयमदृष्टसाक्षात्कारं विना न सम्भवतीत्यस्मदादिविलक्षणः सर्वज्ञः कल्प्यत इत्यर्थः। वेदवाक्यज्ञानस्य हि प्रामाण्यमनिश्चित्य बहुधनव्ययाऽऽयाससाध्ये यागादौ प्रवृत्तिर्न स्यात्। प्रामाण्यं च गुणजन्यं, गुणश्च शाब्दे ज्ञाने प्रयोगहेतु वाक्यार्थयथार्थज्ञानवत्त्वमिति भावः।

अत्रासिद्धिमाह **नन्विति**। वक्तृदोषेणाप्रामाण्यशङ्कया निष्कम्पप्रवृत्तिर्न स्यात्। सा च नित्यत्वादवक्तृके *वेदे* नास्तीति तत एव प्रामाण्यं किं वक्तृगुणेनेत्यर्थः। वक्तृगुणजन्यत्वेऽप्यन्यथासिद्धिमाह **योगेति**। योगकर्मभ्यां ये सिद्धाः सर्वज्ञास्त एव वेदकारा अदृष्टाधिष्ठातारश्चेति न नित्यसर्वज्ञसिद्धिरित्यर्थः। यद्यप्यन्यथा-सिद्धिरपि प्रमाणाभाव एव पर्यवस्यति, तथापि साक्षात् प्रमाणाभावोऽग्रे दूष्यः अन्यथासिद्धिद्वारा त्वत्रेत्यर्थभेदः।

प्रमामात्रे गुणजन्यत्वसिद्धौ शाब्दप्रमायामपि तज्जन्यत्वसिद्धिर्भविष्यतीत्या शयेनाह **प्रमाया इति**। अनित्यप्रमाया इत्यर्थः। ननु नित्यत्वाद् *वेदानां*, कर्तृजन्यत्वेऽपि महाजनपरिग्रहात् प्रामाण्यं निश्चित्य यागादौ प्रवृत्तिर्भविष्यतीत्यत आह **सर्गेति**। तथा च वेदमहाजनयोरभावात् केन कस्य परिग्रह इति भावः। द्वितीयामन्यथासिद्धिं निरस्यति **तदन्यस्मिन्निति**। अनित्यज्ञानवत्त्वेन भ्रमादिशङ्काकलङ्कितत्वेन नित्यसर्वज्ञपूर्वकत्वाद् न प्रकारान्तरसम्भव इत्यर्थः।

प्रामाण्यस्य गुणजन्यत्वं साधयति **प्रमेति**। हेत्वधीनत्वे ज्ञानहेत्वधीनत्वे च साध्ये सिद्धसाधनं स्यात्, अतो ज्ञानहेत्वतिरिक्तहेत्वधीनेति साध्यम्।

मकरन्दः– तस्य चेति। तस्य जन्यतया तत्कारणं यागादिः स्वीकर्त्तव्यः, ततः स्वर्गसाधनत्वेन तदुपदेशकतया तथात्वेन तद्दर्शी कश्चित् स्वीकर्त्तव्य इत्यर्थः। **तदुभयमिति**। यद्यपि तद्विनापि तादृशरूपो व्यवहारः सम्भवत्येव, तथाप्यतीन्द्रियसाक्षात्कारं विनेत्यर्थ *इत्येके*। तदीयस्वर्गसाधनता साक्षात्कारोऽदृष्टविषयतानियत इत्याशयेन तथोक्तमित्*यन्ये*। ज्ञानान्तरस्यासम्भवात् साक्षात्कारं विनेत्युक्तम्। उत्तरग्रन्थमवतारयितुमाह **वेदवाक्यजेति**। **अग्रे**=पञ्चमस्तवके। अन्यथासिद्धिद्वारा=तन्निराकरणद्वारेत्यर्थः।

तथाहि – प्रमा ज्ञानहेत्वतिरिक्तहेत्वधीना, कार्यत्वे सति तद्विशेषत्वात्, अप्रमावत्। यदि हि तावन्मात्राधीना भवेत्, अप्रमापि प्रमैव भवेत्।

अस्ति हि तत्र ज्ञानहेतुः। अन्यथा ज्ञानमपि सा न स्यात्। ज्ञानत्वेऽप्यतिरिक्तदोषानुप्रवेशादप्रमेति चेत्, एवं तर्हि दोषाभावमधिक

आमोदः– प्रमाया गुणजन्यत्वं साधयति – **प्रमेति**। ज्ञानत्वावच्छिन्नं प्रति यो हेतुरात्ममनोयोगादिस्तदतिरिक्तो यो हेतुः, प्रकृते गुणस्तदधीनेत्यर्थः। येषामात्ममनःप्रभृतीनामनित्यज्ञानत्वावच्छेदेन कारणत्वं तदतिरिक्त-मनित्यप्रमात्वावच्छिन्नकार्यं प्रति कारणमवश्यमङ्गीकर्तव्यम्। अन्यथाऽनित्यप्रमात्वमाकस्मिकं स्यात्। स्याच्चाप्रमायामपि प्रमात्वम्, अविशिष्टकारणजन्यत्वात्। स च कारणविशेषः शाब्द्यां प्रमायां वक्तृवाक्यार्थयथार्थज्ञानमेव। तथा चानित्यप्रमात्वम-नित्यज्ञानत्वावच्छिन्नकार्यताप्रतियोगिककारणताभिन्नकारणता-प्रतियोगिककार्यतावच्छेदकम्। अनित्यज्ञानत्वान्यकार्यतावच्छेद(क?)धर्मत्वात्, अप्रमात्ववत्, घटवद्वा। अनित्यप्रमात्वं कार्यतावच्छेदकमित्येव साध्यम्। पक्षधर्मता बलादुक्तानुमानार्थसिद्धिः। अनित्यप्रमा प्रमाऽप्रमोभयहेतुर्नित्यहेतुजन्या, जन्यत्वादप्रमावत्। अनित्यप्रमा प्रमाऽप्रमान्यतरप्रतिबन्धकजन्या, प्रमाऽप्रमाऽन्यतरत्वादप्रमावदित्यादीनामप्युक्तानुमान एव तात्पर्यम्। **कार्यत्वे सतीति** तु स्वसिद्धेश्वरज्ञाने व्यभिचारवारणाय। अत्र विपक्षबाधकमाह – **यदि हीति। तावन्मात्राधीना** ज्ञानहेतुमात्राधीना। ज्ञानहेतुमात्राधीनत्वेन प्रमावृत्तिधर्मेणाप्रमायां प्रमात्वापादनं व्यधिकरणमिति चेत्, न। प्रमाकार्यत्वे सत्यप्रमाकारणविलक्षणकारणकारणजन्या यदि न स्यादप्रमा स्यादिति विवक्षितत्वात्। यद्वा प्रमात्वं यदि ज्ञानसामग्रीमात्रप्रमात्वप्रयोज्यवृत्ति स्यादप्रमावृत्ति स्यादप्रमात्ववदित्यत्र तात्पर्यत्वात्। आपादकासिद्धिमपाकरोति – **अस्ति हीति। तत्र** प्रमायाम्। **सा** प्रमा। ननु ज्ञानहेतुमात्राधीनत्वेऽपि अप्रमायां दोषसमवहितसामग्रीजन्यतया कथमप्रमायाः प्रमातादात्म्यमिति शङ्कते – **ज्ञानत्वेऽपीति**। एवं तर्हि ज्ञानविशेषवत् प्रमाविशेषोऽप्रमा स्यादिति। दोषे सत्यपि स्वाभिमतमाह – **एवं तर्हीति**। तथा च ज्ञानहेत्वतिरिक्तहेतुजन्यत्वं सिद्धमेवेत्यर्थः।

प्रकाशः:- प्रमाया ज्ञानत्वेन तद्धेतुजन्यत्वेन बाधः, ज्ञानाजनकजन्यत्वे विरोधः। अप्रमायां तदसिद्धेर्दृष्टान्तासिद्धिः, व्यर्थविशेष्यत्वं च, घटादावपि साध्यसत्त्वेन कार्य्यत्वस्यैव व्याप्तिमत्त्वात्। व्यर्थविशेषणत्वं च, व्यावर्त्त्येश्वरज्ञानस्य परं प्रत्यसिद्धेः। नापि ज्ञानसामान्यहेत्वन्यहेतुजन्येति साध्यम्, उक्तदोषात्। ज्ञानसामान्यं च ज्ञानत्वं वा सर्वज्ञानव्यक्तयो वा? आद्ये हेत्वसिद्धिः। अन्त्य इन्द्रियादिभिः सिद्धसाधनम्। नापि ज्ञानत्वावच्छिन्नकार्यत्वान्यकार्यत्व-प्रतियोगिककारणजन्येति साध्यम्। ज्ञानत्वस्य नित्यानित्यवृत्तितया कार्यत्वानवच्छेदकत्वात्। जन्यत्वेन ज्ञानविशेषणे प्रत्यक्षाद्यात्मकज्ञानविशेष-जनकैरिन्द्रियादिभिः सिद्धसाधनम्। अत एव, प्रमात्वं ज्ञानत्वावच्छिन्न-कार्यत्वानिरूपितकारणताभिन्नकारणताप्रतियोगिककार्यतावच्छेदकं, ज्ञानत्वसाक्षाद्व्याप्यधर्मत्वात्, अप्रमात्ववदिति निरस्तम्। प्रमात्वस्य नित्यानित्यवृत्तित्वात्। अनित्यप्रमात्वं कार्यतावच्छेदकं कार्यमात्रवृत्तिधर्मत्वात्, अप्रमात्ववदित्यपि नीलघटत्वादिनाऽनैकान्तिकम्। तत्र विशेषद्वय-कारणेनान्यथासिद्धत्वात्। प्रमाऽप्रमाकार्यवैचित्र्यं च, यथैकजातीयसामग्री व्यक्तिभेदात् घट द्वयं जायते तद्वदेव ज्ञानसामग्री व्यक्तिभेदादुपपन्नम्। वैजात्यमपि तुल्यजातीयसामग्रीजन्यत्वेऽपि यमजवैधर्म्यवत् स्यात्। न च प्रमात्वावच्छिन्नकार्यत्वं कथमननुगतहेतुकमिति वाच्यम्। उक्तयुक्त्या तस्य कार्यतानवच्छेदकत्वात्। अनित्यप्रमा प्रमाऽप्रमोभयहेतुभिन्नहेतुजन्या जन्यत्वादप्रमावदिति चेन्न। कारणव्यक्तिभेदजन्यत्वेन सिद्धसाधनाद्, अप्रमायां तदसिद्धेश्च। न चाप्रमायां दोषजन्यत्वात्तथा। दोषस्य पित्तादेः स्वविषयप्रमायामपि हेतुत्वात्। अनित्यप्रमा स्वविरोध्यनुभवप्रतिबन्धकजन्या अनित्यानुभवत्वात्, अप्रमावत्। यद्वा, अनित्यप्रमा प्रमाऽप्रमान्यतरप्रतिबन्धकजन्या प्रमाऽप्रमान्यतरत्वादप्रमावदिति चेद्, न।

मकरन्दः:- साध्यार्थविवरणपूर्वकं विरोधमपि हेत्वाभासमाह **ज्ञानाजनकेति**। एतेन बाधविरोधयोरुभयत्रापि सत्त्वाद्विकल्प्य विरोधाभिधानमसङ्गतमित्यपास्तम्। एकत्रैव साध्ये दोषद्वयस्योक्तत्वात्। **हेत्वसिद्धिरिति**। ज्ञानत्वहेत्वप्रसिद्धिरित्यर्थः। तथा च तद्घटितसाध्यस्याप्रसिद्धिरिति भावः। **ज्ञानत्वसाक्षादिति**। ज्ञानसाक्षा द्विभाजकोपाधित्वादित्यर्थः। एतेन, ज्ञानत्वव्याप्यज्ञानान्यान्यत्वव्याप्यत्वेन प्रमात्वस्यासिद्धिः। तद्व्याप्यजात्यव्याप्यत्वगर्भत्वे प्रमाऽप्रमाऽन्यतरत्वादौ व्यभिचार इत्यपास्तम्। **प्रमात्वस्येति**। त्वन्मते इति शेषः।

प्रकाशः– प्रमाजनकासाधारणव्यक्तिविशेषस्याप्रमाप्रतिबन्धकत्वं प्रमाजनकत्वं चेति सिद्धसाधनात्।

अत्रा*स्मत्पितृचरणाः*। एवमप्रमाऽपि स्वत एव स्याद्, न परतः, प्रमावदसाधारणकारणादेव तदुत्पत्तौ दोषस्य तत्राहेतुत्वापत्तेः। यदि च ज्ञानसामग्र्यां सत्यां विशेषादर्शनादेर्दोषस्यान्वयाद्यनुविधानाद्दोषो हेतुः, तर्हि विशेषदर्शनादेर्गुणस्यान्वयाद्यनुविधानात् प्रमायामपि गुणो हेतुरिति तुल्यम्। अपि च, यत्कार्यम् यत्कार्य्यविजातीयं तत् तत्कारणविजातीयकारणजन्यं, यथा घटविजातीयः पटः,अन्यथा कार्यवैजात्यस्याकस्मिकत्वापत्तेः। घटज्ञानमपि कार्यं तद्विजातीयकार्यकारणविजातीयकारणजन्यमिति न व्यभिचारः। एवं प्रागुक्तानुमानेष्वपि न सिद्धसाधनम्। अनुगतस्य प्रमाहेतुत्वेनासाधारण व्यक्तिभेदस्याहेतुत्वात्। एवमनित्यप्रमात्वमनित्यज्ञानत्वावच्छिन्न कार्यत्वप्रतियोगिककारणताभिन्नकारणताप्रतियोगिककार्यतावच्छेदकम्, अनित्यज्ञानत्वव्याप्यकार्यतावच्छेदकधर्मत्वाद्, अप्रमात्ववदित्यनित्य प्रमायामप्रमासाधारणहेतुव्यावृत्तानुगतहेतुसिद्धिः।

यदीति। यद्यप्यप्रमायां प्रमात्वापादने प्रमावृत्ति ज्ञानमात्रहेत्वधीनत्वं व्यधिकरणम्, तथापि प्रमात्वं यदि ज्ञानसामग्रीमात्रप्रयोज्यवृत्ति स्याद् अप्रमावृत्ति स्याद् अप्रमात्ववदित्यापादनीयम्। अप्रमायाः प्रमित्यजनकदोषजन्यत्वादा पादकमसिद्धमित्याह **ज्ञानत्वेऽपीति**। तर्हि प्रमात्वमपि न ज्ञानमात्रसामग्रीप्रयोज्यम्, अतिरिक्तदोषाभावापेक्षणादित्याह **एवन्तर्हीति**। युक्तञ्चैतत्।

मकरन्दः– घटज्ञानमिति। घटविषयकानित्यज्ञानमित्यर्थः। न च तदवच्छिन्नकार्य निरूपितकारणासम्भवः। अनुगतभोजकादृष्टस्य सत्त्वात्। न चैवं प्रकृतानुमाने तेनैवार्थान्तरं, दृष्टस्यैव सम्भवादित्याहुः। **अनुगतहेतुसिद्धिरिति**। ननु गुणत्वस्यानुगतस्य निर्वक्तुमशक्यत्वादनित्यप्रमात्वावच्छिन्ने कथमनुगतहेतुसिद्धिरिति चेन्न। अनित्यप्रमात्वपदेनानित्यसाक्षात्कारिप्रमात्वादेरेव विवक्षितत्वात्। तत्र च भूयोऽवयवेन्द्रियसन्निकर्षाद्यनुगतहेतुसत्त्वादि*त्येके*। शाब्दप्रमायां ग्राह्यविशेषस्य वाक्यार्थस्य प्रमा हेतुरिति प्रमासामान्ये ग्राह्यप्रमासामान्यमीश्वरस्यैव गुणः। यद्विशेषयोरिति न्यायात्। न च ग्राह्यमात्रस्यातिप्रसक्ततया यत्र यद् ग्राह्यं तत्र तत्प्रमा हेतुर्वाच्यः। तथा च तद्ग्राह्यप्रमायां तद्ग्राह्यप्रमा हेतुरित्यननुगम एवेति वाच्यम्। एवं तत्साक्षात्कारे तदिन्द्रियसन्निकर्षो हेतुरिति विशेषेऽप्यननुगमापत्तेः।

मासाद्य प्रमापि जायेत, नियमेन तदपेक्षणात्। अस्तु दोषाभावोऽधिको, भावस्तु नेष्यते इति चेत्, भवेदेवं, यदि नियमेन दोषैर्भावरूपैरेव भवितव्यम्। न त्वेवम्। विशेषादर्शनादेरभावस्यापि दोषत्वात्। कथमन्यथा ततः संशयविपर्ययौ। ततस्तदभावो भाव एवेति कथं स नेष्यते?

स्यादेतत्। शब्दे तावद्विप्रलिप्सादयो भावा एव दोषाः। ततस्तदभावे स्वत एव शाब्दी प्रमेति चेन्न। अनुमानादौ लिङ्गविपर्यासादीनां भावानामपि दोषत्वे तदभावमात्रेण प्रमानुत्पत्तेः। अन्यत्र यथा तथाऽस्तु, शब्दे तु विप्रलिप्साद्यभावे वक्तृगुणापेक्षा नास्तीति चेन्न गुणाभावे तदप्रामाण्यस्य

आमोदः-भावस्त्विति। तथा च कथं गुणसिद्धिर्येन तदधिकरणतया ईश्वरः सिद्ध्येदिति भावः। **भवेदेमिति**। प्रमायामागन्तुकभावानपेक्षत्वं स्वतस्त्वं भवेद् यदि दोषाभावो भावो न भवेदित्यर्थः। **अभावस्यापीति**। तथा च तदभावो भाव एव। विशेषदर्शनं प्रमाकारणमित्यागन्तुकभावानपेक्षा प्रमायामवर्जनीयेत्यर्थः। विशेषादर्शनस्य दोषत्वमुपपादयति – **कथमिति**। यद्यपि, विशेषदर्शनस्य प्रमामात्रं प्रति न हेतुत्वम्, विशेषप्रमायां व्यभिचारात्, तत्रापि तद्धेतुत्वेनानवस्थानात्। विशेषदर्शने सत्यपि पीतः शङ्ख इत्यपि भ्रमदर्शनात्। किञ्च विशेषदर्शनप्रतिबन्धक-पित्तादीनामेव दोषत्वे सम्भवति विशेषादर्शनं न दोषो येन विशेषदर्शनं गुणः स्यात्। अतएव पित्ताद्युत्कर्षेण भ्रमोत्कर्षोऽप्युपपद्यते। तथापि, संशयविपर्ययोत्तर-प्रमायां विशेषदर्शनस्य कारणत्वे क्लृप्तेऽन्यत्रापि तदेव कारणम्। दोषोऽपि विशेषादर्शनमेव। पित्तादीनां विशेषदर्शनप्रतिबन्धकतयाऽन्यथासिद्धत्वादिति दिक्।

ननु शब्दे वक्तृवाक्यार्थयथार्थज्ञानं यदि गुणः स्यात्, तदा तदनुरोधेनेश्वरः सिद्ध्येत्। न त्वेवं, यतः शाब्दभ्रमे विप्रलिप्सादिर्भाव एव दोषस्तथा च शाब्दप्रमायां तदभावो गुण इति शङ्कते – **स्यादेतदिति**। अनुमानादौ लिङ्गभ्रमाद् यौगपद्याभावे सत्यपि यथा सल्लिङ्गपरामर्शो गुणस्तथा शब्देऽपि विप्रलिप्साद्यभावेऽपि वक्तृयथार्थज्ञानमवश्यमपेक्षणीयमिति परिहरति – **अनुमानादाविति**। नन्वेकत्र प्रमाणे या गतिः सा प्रमाणान्तरेऽपीति न नियमस्तथा च शब्दे दोषाभावाधीनेव प्रमा, न तु भावरूपगुणाधीनेति शङ्कते – **अन्यत्रेति**। एवं तर्हि नियमान्वयादिशालिनो वक्तृयथार्थज्ञानस्य गुणस्याभावे शब्दादप्रमैव स्यादिति परिहरति – **गुणाभाव इति**। यद्वा प्रतिवन्दिमाह – **गुणाभाव इति**। ननु गुणाभावादप्रमामेव शब्दो

प्रकाशः– अन्यथा प्रमासामग्र्यामधिकदोषानुप्रवेशादप्रमाऽपि प्रमाविशेषः स्यात्। वृक्षसामग्र्यामधिककारणानुप्रवेशाच्छिंशपा वृक्षविशेष इवेति भावः। **अस्त्विति**। न चैवमप्रमित्यजनकजन्यत्वे परतस्त्वमिति वाच्यम्। आगन्तुक भावानपेक्षज्ञानसामग्रीजन्यत्वमेव स्वतस्त्वमिति विवक्षितत्वात्। तथा च गुणाजन्यत्वेन प्रमाया नेश्वरसिद्धिः। **भवेदप्येवमिति**। ननु पीतः शङ्ख इत्यत्र विशेषदर्शनेऽपि भ्रमाद् व्यभिचारेण न विशेषादर्शनं भ्रमहेतुः, यत्र वा विशेषदर्शनमपि भ्रमस्तत्र तज्जन्यज्ञानस्यापि भ्रमत्वान्न विशेषदर्शनं प्रमात्वप्रयोजकम्। मैवम्। यद्विशेषदर्शनं हि भ्रमविरोधि तदभावोऽप्रमाहेतुः। प्रत्यक्षभ्रमे च प्रत्यक्षविशेषदर्शनं विरोधि दिङ्मोहादौ गौरोऽहमिति भ्रमे च तथा दर्शनात्। तच्च दोषात् तत्र नास्ति, प्रमारूपमेव च विशेषदर्शनं गुण इति तदभाव एव दोषः।

ननु विशेषादर्शनं न दोषः, किन्तु विशेषदर्शनप्रतिबन्धकाः पित्तादयो दोषाः, आवश्यकत्वात्। न च तेषां नानात्वेन विशेषदर्शनप्रतिबन्धकतयाऽनुगमे लाघवाद्विशेषादर्शनमेव हेतुरिति वाच्यम्। क्वचित् कश्चिद्दोष इत्यनुगमात्। अन्यथा पित्तादितोऽप्यप्रमा न स्यात्, अननुगमात्। पित्ताद्युत्कर्षेण भ्रमोत्कर्षाच्च। पित्तादेरदोषत्वे च विशेषप्रमैव कुतो न भवति। यदि च विशेषस्य विशेषान्तरादर्शनात्, तदाऽनवस्था। किञ्च, विशेषदर्शनं न प्रमामात्रे, न वा प्रत्यक्षप्रमायां हेतुः, व्यभिचारात्। तत्रैव तद्धेतुत्वेनानवस्थानाच्च।

मैवम्। प्रमामात्राहेतुत्वेऽपि संशयविपर्ययोत्तरप्रमायां तस्य हेतुत्वात्। तत्र विशेषादर्शनस्य दोषत्वेनान्यत्रापि तथात्वात्। पित्ताद्युत्कर्षस्यापि भूयोविशेषदर्शन प्रतिबन्धकत्वेनान्यथासिद्धत्वात्।

मकरन्दः– यदि च विशेषे विशेषस्य प्रयोजकत्वेऽपि सामान्ययोरपि तथात्वं, तदा प्रकृतेऽपि तुल्यमित*यन्ये*। स्वाविषयकप्रमाजनकत्वम् गुणत्वम्। स्वाविषयकभ्रम-जनकत्वञ्च दोषत्वमिति तदुभयं निर्वाच्यम्। एवञ्च तत्तत्प्रमादौ यथार्थपरामर्श-त्वादिना हेतुत्वग्रहानन्तरं प्रमासामान्यं प्रत्युक्तगुणत्वेन कारणत्वग्रहः। एवं दोषत्वेनापीत्याहुः। विस्तरस्तु *प्रत्यक्षप्रकाशे*। **प्रत्यक्षविशेषदर्शनमिति**। प्रत्यक्षविपरीतदर्शनमित्यर्थः।

संशयविपर्ययोत्तरेति। यद्यपि संशयोत्तरप्रत्यक्षमात्रे विशेषदर्शनं न हेतुः, अन्धकारे घटसंशयोत्तरप्रत्यक्षस्य तद्विनाऽप्यालोकसमवधानमात्रेणैवोपपत्तेः। तथापि यत्र विशेषादर्शनादि दोषाधीनः संशयस्तदुत्तरप्रत्यक्षे तस्य हेतुत्वम्। उक्तस्थले च व्यञ्जकाभावाधीनः स इति भावः। ननु तत्रापि विशेषदर्शनं न हेतुः,

प्रकाशः- ननु प्रत्यक्षप्रमादौ गुणजन्यत्वेऽपि वेदे भ्रमाद्यभावचतुष्टयं प्रमाहेतुः। लोके भ्रमाद्यभाव एव प्रमोत्पत्तेः। न तु वक्तृवाक्यार्थज्ञानवत्त्वादिर्गुण इत्याह **स्यादेतदिति**। लिङ्गसादृश्यादिभ्रमरूपदोषाभावमात्रान्नानुमित्यादिः प्रमेति लिङ्गसादृश्यादियथार्थ ज्ञानमपि गुणस्तद्धेतुरिति शाब्दप्रमायामपि दोषाभावे सति यथार्थवाक्यार्थज्ञानं गुणो हेतुरित्याह **अनुमानादाविति**। ननु यथार्थवाक्यार्थज्ञानादौ गुणे सत्यपि करणापाटवाद् यत्रान्याभिधित्सिते अन्यद् ब्रूते तत्र वाक्यं न प्रमाणम्, दोषाभावस्य तु प्रमाहेतुत्वे करणापाटवान्न सोऽस्तीति तत्र न प्रामाण्यमुपपद्यते इति शङ्कते **अन्यत्रेति**। वक्तृदोषे सत्यपि भ्रान्तविप्रलम्भकवाक्ये संवादात् प्रामाण्यदर्शनाद्दोषोऽपि नाप्रामाण्यप्रयोजकः। तात्पर्यविषये त्वप्रामाण्यमेवेति प्रामाण्येऽपि तुल्यमिति परिहरति **गुणाभाव इति**।

मकरन्दः- संशयानुत्तरप्रत्यक्षसामग्रीसत्त्वे तदुत्पत्त्यापत्तेः। तदसत्त्वे तद्व्यतिरेकादेव तद्व्यतिरेक इति किं विशेषसामग्र्यन्तरकल्पनया?। अत एव सिद्ध्युत्तरानुमितित्वावच्छिन्ने सिषाधयिषा न विशेषसामग्री, किन्तु तद्विरहविशिष्टसिद्ध्यभावः सामान्यसामग्री। तदभावादेव तदा नानुमितिरिति चेत्। तर्हि तद्वदेव विशेषदर्शनविरहविशिष्टसंशयाभावः सामान्यसामग्रीत्यत्रैव तात्पर्यमित्याहुः। विस्तरस्त्व*नुमानप्रत्यक्षप्रकाशयो*रनुसन्धेयः।

लिङ्गसादृश्येति। यद्यपि परामर्शादिरूपसामान्यसामग्रीविरहादेव तत्र नानुमित्यादिः, तथापि यत्सामान्ये यत्सामान्यमिति न्यायात् प्रमारूपानुमित्यादिविशेषे सत्यपरामर्शादिविशेषस्य हेतुत्वमिति भावः। **तात्पर्यविषये त्विति**। अघटे घटवत्त्वं तत्तात्पर्यविषयस्तत्र च प्रमा नोत्पन्नैवेत्यर्थः। **प्रामाण्येऽपीति**। यद्यपि तात्पर्यविषयीभूतेऽर्थे करणापाटवस्थलेऽपि प्रामाण्यमेवेति न तौल्यार्थस्तत्र प्रामाण्याभावात्, तथापि प्रकृतवाक्यार्थगोचरयथार्थज्ञानलक्षणो गुण एव तत्र नास्तीति भावः।

वक्तृदोषापेक्षा नास्तीति विपर्ययस्यापि सुवचत्वात्। अप्रामाण्यं प्रति दोषाणामन्वयव्यतिरेकौ स्त इति चेन्न। प्रामाण्यं प्रत्यपि गुणानां तयोः सत्त्वात्। पौरुषेयविषये इयमस्तु व्यवस्था, अपौरुषेये तु दोषनिवृत्त्यैव प्रामाण्यमिति चेन्न। गुणनिवृत्त्या अप्रामाण्यस्यापि सम्भवात्। तस्या अप्रामाण्यं प्रति सामर्थ्यं नोपलब्धमिति चेत्, दोषनिवृत्तेः प्रामाण्यं प्रति

क्व सामर्थ्यमुपलब्धम्? लोकवचसीति चेत्, तुल्यम्। तदप्रामाण्ये दोषा एव कारणं, गुणनिवृत्तिस्त्ववर्जनीयसिद्धसन्निधिरिति चेत्, प्रामाण्यं प्रति गुणेष्वपि तुल्यमेतत्। गुणानां दोषोत्सारणप्रयुक्तः सन्निधिरिति चेत्, दोषाणामपि गुणोत्सारणप्रयुक्त इत्यस्तु। निस्स्वभावत्वमेवमपौरुषेयस्य वेदस्य स्यादिति चेत्, आत्मानमुपालभस्व। तस्माद् यथा द्वेषरागाभावाविना-भावेऽपि रागद्वेषयोरनुविधाननियमात्प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रयत्नयो रागद्वेषकारण-कत्वं, न तु निवृत्तिप्रयत्नो द्वेषहेतुकः। प्रवृत्तिप्रयत्नस्तु सत्यपि रागानुविधाने द्वेषाभावहेतुक इति विभागो युज्यते। विशेषाभावात्। तथा प्रकृतेऽपि।

आमोदः– जनयेदिति नाशङ्कनीयम्, यतस्तत्र दोषस्यैव कारणत्वावधारणादिति शङ्कते**अप्रामाण्यमिति। तयोरिति**। अन्वयव्यतिरेकयोरित्यर्थः। तथा च शाब्द्यां प्रमायां वक्तृयथार्थज्ञानापेक्षाऽऽवश्यकीति भावः। ननु यत्र वक्ता सम्भाव्यते तत्र ज्ञानं गुणोऽस्तु। *वेदे* तु वक्तृसम्भावनैव नास्ति, कस्य ज्ञानं गुणो भवेदिति शङ्कते – **पौरुषेयेति**। अपौरुषेयत्वेनाभिमतं गुणनिवृत्त्याऽप्रमाणमेव भवेदित्याह – **गुणेति। तस्या इति**। गुणनिवृत्तेरित्यर्थः। **तुल्यमिति**। लौकिकवाक्ये गुणनिवृत्तेरेवा-प्रामाण्यदर्शनात्, भ्रान्तप्रतारकवाक्ये संवादिनीश्वरज्ञानस्य गुणस्य सत्त्वादिति भावः। **तदप्रामाण्ये** लौकिकवाक्याप्रामाण्ये वक्तुर्यथार्थज्ञानाभावः सन्नपि न तन्त्रमित्यर्थः। प्रामाण्येऽपि गुण एव तन्त्रम्। दोषनिवृत्तिर्विद्यमानापि न तन्त्रमित्याह – **प्रामाण्यमिति**। ननु वक्तुर्यथार्थज्ञानं तत्र भ्रमादयो दोषा उत्सारिता भवन्तीति तत्रैव गुणोऽन्यथासिद्ध इति शङ्कते – **गुणानामिति**। तर्हि भ्रमादीनामपि गुणोत्सारकतयैवान्यथासिद्धिः स्यादिति परिहरति – **दोषाणामपीति। निःस्वभावत्वमिति**। गुणदोषयोरभावात् प्रामाण्याप्रामाण्ययोर्बहिर्भूतत्वमित्यर्थः। **आत्मानमिति**। पौरुषेयत्वाङ्गीकारे प्रामाण्यमेव *वेदस्य* सिद्ध्यतीति। तदनङ्गीकर्तुस्तवैव दोषोऽयमित्यर्थः। **तस्मादिति**। यथा रागद्वेषौ प्रवृत्तिनिवृत्ती प्रत्येकं जनयतो न त्वेकाभावेनापरमन्यथासिद्धं, तथा गुणदोषौ प्रामाण्याप्रामाण्ये जनयतो न त्वेकाभावेनापरान्यथासिद्धिरित्यर्थः। **विशेषाभावादिति**। अन्वयव्यतिरेकयोरुभयत्र सत्त्वविशेषादित्यर्थः। ननु वक्तृदोषासत्त्वेन प्रामाण्यञ्चेन्निश्चितं *वेदस्य*, तदा प्रामाण्यं प्रति गुणस्य तत्रैव व्यभिचार इति

तथापि वेदानामपौरुषेयत्वे सिद्धे, अपेतवक्तृदोषत्वादेव प्रामाण्यं सेत्स्यति। ततः सिद्धे प्रामाण्ये गुणाभावेऽपि तदिति दोषाभाव एव हेतुरकारणं गुणा इति चेन्न। अपेतवक्तृगुणत्वेन सत्प्रतिपक्षत्वप्रसङ्गात्। स्वत एव प्रामाण्यनिश्चयः, किन्तु शङ्कामात्रमनेनापनीयते। दोषनिबन्धनत्वात्तस्य तदभावेऽभावात्। अतो नेदमनुमानवत् सत्प्रतिसाधनीकर्तुमुचितमिति चेन्न। गुणनिवृत्तिनिबन्धनायाः शङ्कायाः सुलभत्वात्। तस्याः केवलाया अप्रामाण्यं प्रत्यनङ्गत्वान्न शङ्केति चेत्, दोषनिवृत्तेरपि केवलायाः प्रामाण्यं प्रत्यनङ्गत्वान्न तया शङ्कानिवृत्तिरिति तुल्यमिति।

एवं प्रामाण्यं परतो ज्ञायते, अनभ्यासदशायां सांशयिकत्वात्,

आमोदः– कथमत्रापि कारणत्वमिति शङ्कते – **तथापीति**। न 'चापौरुषेयविषयेयं व्यवस्थे'त्यनेन पौनरुक्त्यम्। अत्रापेतवक्तृदोषत्वेन वेदप्रामाण्यनिश्चयानन्तरं गुणव्यभिचारस्य तत्रानुक्तस्यात्रोक्तत्वात्। वेदो न प्रमाणमपेतवक्तृगुणत्वादिति सत्प्रतिपक्षमाह – **अपेतेति**। अपसिद्धान्तमाशङ्कमानः पूर्वपक्षी झटिति संवरणेन सिद्धान्तमुद्धरन्नाह – **अत एवेति**। कथमप्रामाण्यशङ्कापनय इत्यत आह – **दोषेति। तस्येति**। अप्रामाण्यस्येत्यर्थः। **अत इति**। न मया प्रामाण्यानुमानं प्रयुक्तमित्यर्थः। **गुणनिवृत्तीति**। प्रामाण्यं प्रति गुणस्य हेतुत्वावधारणात् कारणनिवृत्तेरावश्यकत्वादप्रामाण्यशङ्कया भवितव्यमेवेत्यर्थः। ननु गुणनिवृत्तिमात्रं न शङ्काधायकं किन्तु दोषसहितम्। नित्ये च वेदे दोषो नास्तीति तत्र कथं शङ्का स्यादिति शङ्कते – **तस्या इति**। दोषनिवृत्तिमात्रमपि न प्रामाण्ये तन्त्रं येनाप्रामाण्यशङ्कामपनयेत्, किन्तु गुणनिवृत्त्यधीना शङ्का स्यादेवेति परिहरति – **दोषेति**। ननु प्रमाया गुणजन्यत्वे स्तम्बादि(?)शुकबालकादिवाक्यात् कथं प्रमा स्यात्, कथं वा धूमभ्रमाद्वह्निमत्येव वह्निज्ञानं प्रमा स्यात्, सल्लिङ्गपरामर्शाभावादिति चेत्, न। तत्रेश्वरयथार्थलिङ्गज्ञानस्य गुणत्वात्। एवं सत्यप्रमा क्वापि न स्यादिति चेत्, यत्र विषयासत्त्वं तत्र सम्भवात्। न हि तत्रापीश्वरज्ञानं सम्भाव्यते। तदियता प्रबन्धेन प्रामाण्यस्य गुणजन्यत्वं साधितं, गुणश्च वक्तृयथार्थवाक्यार्थज्ञानमिति ईश्वरसिद्धिरित्युक्तम्।

इदानीं प्रामाण्यस्य ज्ञप्तौ परतस्त्वं प्रसाध्यते – **एवमिति**। तथा च

प्रकाशः– निःस्वभावत्वमिति। वेदे प्रमाणत्वाप्रमाणत्वप्रयोजकगुणदोषयोरभावादित्यर्थः। **तस्मादिति**। यथा प्रवृत्तौ द्वेषाभावहेतुकत्वे निवृत्तौ रागाभावहेतुकत्वे सत्यपि उपेक्षाज्ञानादपि प्रवृत्तिनिवृत्ती स्यातामिति रागद्वेषयोः प्रवृत्तिनिवृत्तिहेतुत्वमित्येकैकाभावोऽन्यथासिद्धः, तथा प्रमाऽप्रमयोरपि गुणदोषौ, न तु दोषाभावगुणाभावावित्यर्थः।

नन्वन्यत्र गुणस्य प्रमाहेतुत्वेऽपि *वेदस्या*पौरुषेयतया वक्तृगुणाभावाद्दोषाभावमात्रप्रयुक्तमेव प्रामाण्यमिति प्रामाण्ये गुणस्य व्यभिचारान्न हेतुत्वं, किन्तु दोषाभावस्यैवेत्याह **तथापीति**। **सिद्धिर्ज्ञप्तिः**। **सिद्धे** निश्चिते। *वेदाः* प्रमाणम्, अपेतवक्तृदोषत्वादित्यनुमानादित्यर्थः। अत्र *वेदा* न प्रमाणम्, अपेतवक्तृगुणत्वादिति सत्प्रतिपक्षमाह **अपेतेति**। ज्ञानग्राहकादेव प्रमात्वं स्वीक्रियते, दोषाधीना तु शङ्का अपेतवक्तृदोषत्वादेव निरस्येत्याह **स्वत एवेति**। तथापि गुणाभावहेतुकोऽप्रामाण्यसंशयस्तदवस्थ एवेत्याह **गुणनिवृत्तीति**। **तस्या** इति। दोषसहित गुणनिवृत्तेरेवाप्रमात्वहेतुत्वादित्यर्थः। **दोषेति**। गुणसहितदोषनिवृत्तेरेव प्रमात्वप्रयोजकत्वादित्यर्थः।

ननु तथापि शुकादिवाक्यं भ्रान्तप्रतारकवाक्यं च संवादि कथं प्रमाणं, गुणाजन्यत्वात्। धूमभ्रमाद्वह्निमत्येव वह्न्यनुमितिर्वा कथं प्रमा, यथार्थलिङ्गज्ञानाजन्यत्वात्। न च वह्न्यन्तरमेव तद्विषयः। प्रत्यभिज्ञानात्। गोत्वाद्येकव्यक्तिके तदभावाच्च। उच्यते, शुकादिवाक्ये भ्रान्तप्रतारकवाक्ये च प्रमाणशब्दत्वेनाप्तो–

मकरन्दः– रागद्वेषयोरिति। अत्रेदं चिन्त्यम्। प्रवृत्तिविरह एव निवृत्तिरिति न प्रयत्नद्वैविध्यं, मानाभावात्। न च वैपरीत्यापत्तिः। सुषुप्तिदशायामपि निवृत्तिविरहस्य सत्त्वेन प्रवृत्तिसाध्यचेष्टादिकार्योत्पत्त्यापत्तेः। न च तदा निवृत्तिरेवेति वाच्यम्, तदा तत्कारणद्वेषाभावेन तदभावात् द्वेषाभावश्च तत्कारणदुःखसाधनत्त्वज्ञानाभावादिति।

भ्रान्तप्रतारकवाक्य इति। अत्राहार्यारोपं विना प्रतारणाया अभावात् स एव विषयाबाधात् प्रमारूप इति तमादाय यद्यपि गुणजन्यत्वमप्रत्यूहं तथापि समाधिसौकर्यादेतदुक्तम्। यद्वा, भ्रान्तप्रतारकस्येव वाक्यं भ्रान्तप्रकारकवाक्यम्, तथा च बाधितमन्यदवगत्यान्यदबाधितं यत्र दैववशाद् ब्रूते, तत्र भगवद्बुद्धेर्गुणत्वमिति वयं पश्यामः। अत एवोक्तगुणजन्यत्वेऽपि भ्रमादिदोषजन्यत्वादप्रामाण्यमपि

प्रकाशः– क्तत्वाद्वेदवदीश्वरस्यैव यथार्थवाक्यार्थज्ञानं गुणो हेतुः, तस्य कार्यमात्रकर्तृत्वात्। शुकादिवाक्ये वेदतुल्यतया दोषाभावादिनापि मन्तव्यत्वात्। न चैवं शब्दाभासोच्छेदः, तस्यापीश्वरकर्तृकत्वादिति वाच्यम्। तद्वाक्यार्थस्यासत्त्वेनेश्वरज्ञानाविषयत्वात्। एवं लिङ्गाभासजन्यप्रमायामपीश्वरस्यैव यथार्थलिङ्गज्ञानं गुणः।

एवं प्रमाया गुणजन्यतया शाब्दप्रमाया अपि गुणजन्यतया वेदे वक्त्रन्तरस्याभावात् तदाश्रयेश्वरसिद्धिरित्युक्तम्। सम्प्रति प्रमात्वग्रहोऽपि न स्वतः, अपि तु परत इति वैदिकप्रमाया अपि तत्त्वमाप्तोक्तवाक्यजन्यत्वेन ग्राह्यमिति ततोऽपीश्वरः सिद्ध्यतीत्याह **एवमिति**। अत्र यद्यपि ज्ञानप्रामाण्यं ज्ञानग्राहकसामग्रीग्राह्यं न वेति न संशयः, परतः पक्षेऽपि ज्ञानस्याति पक्षतया प्रमात्वानुपपत्तेर्ज्ञानग्राहकत्वात्, अप्रामाण्यस्यापि स्वतो ग्राह्यत्वापत्तेश्च। तथापि तज्ज्ञानविषयकज्ञानाजन्यज्ञानग्राह्यं न वेति संशयः। स्वतः पक्षे प्रामाण्यवत एव ज्ञानस्य ग्रहात्। परतः पक्षे ज्ञात एव ज्ञानेऽनुमित्या प्रामाण्यग्रहात्। तत्र तेनैव प्रामाण्यग्रह इति *प्राभाकराः*। ज्ञानस्यातीन्द्रियतया तदनुमित्या तद्ग्रह इति *भाट्टाः*। मनसैव ज्ञानस्वरूपवत् तत्प्रामाण्यग्रह इति *मुरारिमिश्राः*। त्रितयसाधारणं च स्वतस्त्वं निरुक्तमेव।

मकरन्दः– स्यादित्यपास्तम्। भ्रमस्य भिन्नविषयत्वेन तद्वाक्याजनकत्वात्, प्रतारणायाञ्चाभावात्। *केचित्तु* विप्रलिप्सा विसंवादिप्रवृत्तिजनकेच्छा, सापि यथार्थैव दोषः, तादृशी च तत्र नास्त्येवेत्याहुः।

वस्तुतो गुणविरह एव दोषः, स च तत्र नास्तीति। अत एव लिङ्गाभासजन्यप्रमायामीश्वरयथार्थलिङ्गज्ञानजन्यत्वेऽप्ययथार्थलिङ्गज्ञान रूपदोषजन्यतया व्यापकांश एव भ्रमत्वमपि स्यादित्यपास्तम्। एतदपि सम्प्रदायानुरोधादुक्तम्। वस्तुतोऽसङ्कीर्णबाधस्थले बाधानवतारकाले यथार्थ-परामर्शादप्ययथार्थानुमित्युत्पत्तेरबाधितत्वप्रमागुणः, तद्भ्रमो दोषः। शब्दे च वाक्यार्थभ्रमो दोषस्तत्प्रमा गुणः, योग्यताभ्रमो दोषस्तत्प्रमागुण इति वा विवक्षितमिति सर्वमवदातम्। **तज्ज्ञानविषयकेति**। पक्षश्च ज्ञानप्रामाण्यमित्यनुषज्यते। *प्रत्यक्षप्रकाशे* चैतदनुसन्धेयम्।

प्रकाशः– पूर्वपक्षस्तु, यद्यपि विशेष्यावृत्त्यप्रकारकत्वम्, अगृहीतग्राह्यत्वं वा, *प्रभाकरपक्षे* स्मृत्यन्यज्ञानत्वं विशिष्टज्ञानत्वं वा प्रामाण्यं नानुव्यवसायग्राह्यम्। विशेषणज्ञानं विना विशिष्टज्ञानाभावात्। तथापि तद्वति तत्प्रकारकज्ञानत्वं प्रामाण्यं ग्राह्यम्, निष्कम्पप्रवृत्त्यङ्गत्वाल्लाघवाच्च। तच्च ज्ञानग्राहकसामग्रीग्राह्यमेव। तथा हि विशेष्ये तद्धर्मवत्त्वं तत्प्रकारकत्वं च व्यवसायस्यानुव्यवसायेन गृह्यते। ज्ञानस्य विषयनिरूप्यतया ज्ञानवित्तिवेद्यो विषय इति व्यवसाये भासमाने धर्मधर्मिवत्तद्वैशिष्ट्यमपि विषयः, व्यवसायरूपप्रत्यासत्तेस्तुल्यत्वात्। अत एव रजतत्वेन पुरोवर्तिनं जानामीति तदाकारः। अन्यथा, पुरोवर्त्तिनं रजतञ्च जानामीति तदाकारापत्तिः। अप्रामाण्यं तु परतो ज्ञायते, तदभाववत्त्वस्य भ्रमानुल्लिखितत्वेनानुव्यवसायाविषयत्वात्। न चैवमनुव्यवसायस्य यावद्व्यवसायविषयविषयकत्वे भ्रान्तभ्रान्तिज्ञसङ्करः। बाधानवतारदशायामिष्टत्वात्। तदवतारे तस्यैव प्रतिबन्धकत्वादिति।

तत्र सिद्धान्त्याह **एवमिति**। अनभ्यासदशायामिति भागासिद्धिवारणार्थम्, न तु व्यभिचारनिरासार्थम्। परतो ज्ञेयत्वस्य केवलान्वयित्वात्। ननु स्वस्याप्यन्यापेक्षया परत्वाद् *भट्टमते* ज्ञानानुमितिग्राह्यत्वाच्च सिद्धसाधनम्। परतो ग्राह्यत्वेऽपि कदाचित् स्वतो ग्राह्यत्वाविरोधाद्, अर्थेन व्यभिचारश्च। तस्य तज्ज्ञानग्राह्यस्य ज्ञानप्रामाण्यसन्देहेन सन्दिह्यमानत्वात्। न च ज्ञानत्वेन हेतुर्विशेषणीयः। ज्ञानविषयकज्ञानप्रामाण्यसन्देहाहितज्ञानरूपार्थसन्देहेऽपि तस्य निश्चितत्वेन तथापि व्यभिचारात्। उच्यते, अनभ्यासदशोत्पन्न ज्ञानप्रामाण्यं न स्वाश्रयग्राह्यं

मकरन्दः– भागासिद्धिरिति। पक्षविशेषणं बोध्यमिति शेषः। **न त्विति**। हेतुविशेषणमिति शेषः। **न च ज्ञानत्वेनेति**। ज्ञानाविषयप्रतीत्यविषयत्वेनेत्यर्थः। यथाश्रुते स्वरूपासिद्धिप्रसङ्ग इति बोध्यम्। यत्तु ज्ञानधर्मत्वेनेत्यर्थ इति तन्न। ज्ञानरूपार्थेऽनुपदं व्यभिचारोपदर्शनविरोधात्। ज्ञानत्वे व्यभिचारोपदर्शनपरं तदिति ज्ञानधर्मपरत्वेऽप्यदोष इत्यन्ये। **अनभ्यासदशापन्नेति**। कर्त्तव्यहेतुर्यावति तावत एव पक्षत्वमभिमतम्। अनभ्यासदशापन्नेऽपि सर्वत्र न संशय इति यथाश्रुते भागासिद्धितादवस्थ्यापत्तेरिति।

न स्वाश्रयेति। न यावत्स्वाश्रयग्राह्यमित्यर्थः। तेन योगीश्वरज्ञानस्य सर्वप्रामाण्याश्रयतया तद्ग्राह्यत्वेन न बाधः। यद्यपि सर्वविषयक ज्ञानमात्रवृत्तिप्रामाण्यांशे बाधः। तथापि तस्य पक्षबहिर्भाव एवेति बोध्यम्।

प्रकाशः– तदन्यग्राह्यं वा, स्वाश्रये सत्यपि तदुत्तरतृतीयक्षणवृत्तिसंशयविषयत्वात् प्रामाण्यसंशयाजन्यसंशयविषयत्वाद्वा, अप्रामाण्यवत्। अर्थे निश्चितेऽपि न निश्चयानन्तरतृतीयक्षणेऽर्थसंशयो न वा प्रामाण्यसंशयं विनेति नार्थेन व्यभिचारः। स्वशब्दस्य सम्बन्धिशब्दत्वेन समभिव्याहृतपरत्वान्न स्वस्य परत्वम्। यथोक्तं, 'यावद्व्यवसायोल्लिखितप्रकारविशिष्ट एव धर्म्यनुव्यवसाये भासते' तन्न। तथा हीदं रजतञ्च जानामीति नानुव्यवसायः, बहिर्विशेष्यके मनसोऽस्वातन्त्र्यात्, किं त्विदमिदन्त्वेन रजतत्वेन जानामीति। तत्रेदन्त्वरजतत्वे प्रकारत्वेन, तत्प्रकारकज्ञानवत्त्वञ्चात्मनि भासते, अन्यथा प्रकारवाचितृतीयार्था –

मकरन्दः– **तदन्येति**। स्वाश्रयान्येत्यर्थः। ननु परेषामपि प्रामाण्यस्यानुमिति-ग्राह्यत्वाभ्युपगमेन सिद्धसाधनम्। न च स्वाश्रयातिरिक्तमात्रग्राह्यत्वमित्यर्थः। उक्तन्यायेन प्रामाण्यमात्रस्यैव स्वाश्रयीभूतयोगीश्वरज्ञानादिग्राह्यतया बाधापत्तेरिति चेन्न। स्वाश्रयपदेन स्वाश्रयत्वावच्छिन्नं न विवक्षितं, येनोक्तदोषः स्यात्, किन्तु स्वाश्रयीभूतास्मदादिज्ञानव्यक्तिः, तदतिरिक्तमात्रग्राह्यमित्यर्थः।

स्वाश्रये सत्यपीति। विपक्षबाधकतर्कसूचनायापिशब्दः, सतिसप्तमीमहिम्ना च स्वाश्रयसामानाधिकरण्यं पक्षविशेषणं लभ्यते। तथा च स्वाश्रय-समानाधिकरणस्वाश्रयाधिकरणक्षणावधिक तृतीयक्षणवर्त्तिद्विमात्रकोटिक संशयकोटित्वादित्यर्थः। तेन यत्र रूपं गुण इति ज्ञाने गुणत्वतदभाव-प्रामाण्यतदभावकोटिकः समूहालम्बनः संशयः, तत्र गुणत्वे हेत्वभावादेव न व्यभिचारः। यत्र च गुणत्वतदभावमात्रकोटिकः संशयः, तत्र तादृशसंशय विषयप्रामाण्याश्रयज्ञानग्राह्यत्वाभावरूपसाध्यसत्त्वादेव न व्यभिचार इति। यद्वा, तादृशतदधिकरणकसंशयकोटित्वादिति हेतुः। तथा च यत्र तादृशतदधिकरणक संशयकोटित्वं तत्र तन्निष्ठतया न स्वाश्रयग्राह्यत्वमिति सामान्यतो व्याप्तिरभिमता। एवञ्च गुणत्वस्य रूपनिष्ठतया स्वाश्रयेण ग्रहेऽपि स्वाश्रयनिष्ठतयाऽग्रहेण विशिष्टाभावसत्त्वात् तत्र न व्यभिचार इति। *केचित्तु* यद्व्यवसायविषयकोटिको यद्व्यवसायधर्मिकश्च सन्देहस्तृतीयक्षणे जायते तत्प्रामाण्यस्यैव पक्षत्वात् तत्प्रामाण्याश्रयग्राह्यत्वाभावो गुणत्वेऽस्त्येवेति न व्यभिचार इत्याहुः।

प्रामाण्यसंशयेति। स्वाश्रयविशेष्यकप्रामाण्यसंशयायोग्यत्वादित्यर्थः। विस्तरस्तु *प्रत्यक्षप्रकाशे*ऽनुसन्धेयः।

प्रकाशः– सम्भवः। न च रजतत्ववैशिष्ट्यमेव तृतीयार्थः, व्यवसायेऽपि तदुल्लेखापत्तेः। अतः, इदन्त्वरजतत्ववैशिष्ट्यं पुरोवर्त्तिनो नानुव्यवसायविषय इति कुतः स्वतः प्रामाण्यग्रहः।

ननु परतः प्रामाण्यपक्षेऽपि परस्य शब्दादेरभावेऽनुमानं वाच्यम्, तच्च लिङ्गाभावादसम्भवि। समर्थप्रवृत्तिजनकत्वं लिङ्गमिति चेन्न। कारणतावच्छेदकरूपग्रहं विना तदग्रहात्। तद् यदि प्रमात्वमेव, तदाऽऽत्माश्रयः। अन्यच्चेत्, तदेव प्रामाण्ये लिङ्गमस्तु उपजीव्यत्वात्। न च तृणारणिमणिन्यायेन व्यक्तावेव कारणत्वं गृहीत्वा समर्थप्रवृत्तिजनकत्वग्रहः, ग्राहकाभावात्। न च प्रत्यक्षमेव तद्ग्राहकम्। तद्धि न बहिरिन्द्रियजन्यम्। आन्तरत्वात्। नापि मानसम्। तद्धि समर्थप्रवृत्तेः प्रागुत्तरकालं वा? नाद्यः, समर्थप्रवृत्तेरभावात्तद्वैशिष्ट्याग्रहात्। नान्त्यः, ज्ञानस्य नष्टत्वेन मनसा प्रत्यासत्त्यभावात्। **नापि** तज्जातीयत्वं लिङ्गम्। तद्धि करचरणवति शरीरज्ञानत्वादि। तत्र करचरणाद्यन्तरवति करचरणाद्यन्तरवत्त्वज्ञाने व्यभिचारः। तत्रापि शरीरांशे प्रमात्वमेवेति चेत्, तर्हि, करचरणादीति व्यर्थम्। शरीरभ्रमेऽपि कस्याश्चिच्छरीरव्यक्तेर्भानात्, तत्र तस्य प्रामाण्यात्। अन्यथा शरीरत्वस्यैव भानायोगात्। करचरणादिशून्ये यच्छरीरत्वेन ज्ञानं तद्व्यावृत्त्यर्थं तदिति चेत्। करचरणादिमत्त्वमुपलक्षणं विशेषणं वा? नाद्यः, व्यावृत्तोपलक्ष्याभावात्। नान्त्यः विषयतया हि न ज्ञानविशेषणत्वं करचरणवत्त्वप्रकारकज्ञानविषयत्वस्य व्यभिचारात्, अशरीरेऽपि तादृशभ्रमसम्भवात्, शरीरज्ञाने तदसिद्धेश्च। विषयविशेषणत्वे च करचरणवद्विषयकशरीरज्ञानत्वस्य व्यभिचारात्। **शरीरभ्रमस्यापि**। वस्तुतः करादिमद्विषयकत्वात्। न च करचरणशून्ये यच्छरीरत्वेन ज्ञानं न भवतीति विवक्षितम्। तृतीयार्थस्य विषयत्वे स्वरूपासिद्धेः। शरीरज्ञानस्य तच्छून्यशरीरत्वादिविषयकत्वनियमात्।

मकरन्दः– समर्थेति। न च जनकतावच्छेदकस्य प्रामाण्यस्याग्रहे कथं तद्ग्रह इति वाच्यम्। उक्तग्राहकसत्त्वे तृणारणिमणिन्यायेन व्यक्तावपि तद्ग्रहसम्भवात्। यद्वा, ज्ञानवृत्तिप्रवृत्तिसामान्यजनकत्वमेव हेतुप्रविष्टम्। तथा चोपनीते ज्ञाने प्रवृत्तिजनकत्वे प्रवृत्तौ च समर्थत्वमुपनीतं गृह्यत इत्यर्थाद्विशिष्ट वैशिष्ट्यरूपहेतुग्रह उपपद्यत इति।

प्रकाशः- अत्राहुः। समर्थप्रवृत्तिजनकत्वं प्रवृत्त्युत्तरकालं संस्कारोपनीतज्ञाने प्रमेयत्वाभिधेयत्वव्याप्तिवद् गृह्यते। यद्वा पूर्वं पृथिवीज्ञाने पृथिवीत्वप्रकारकनिश्चयत्वानुव्यवसितौ कदाचित् तत्रैव गन्धस्य तद्विरोधिविरहस्य साक्षात्कारे पुनः स्मृतिरूपे पृथिवीज्ञाने सति तत्सन्निकृष्टेन प्रत्यभिज्ञान इव विशेषणज्ञानजनितसंस्कारापेक्षेण मनसा गन्धवत्येवायं निश्चय इत्याकारेण सुरभि चन्दनमिति चाक्षुषवज्ज्ञानजननान्न ग्राहकाभावाद्धेत्विसिद्धिः। तज्जातीयत्वमपि करचरणवद्विशेष्यकशरीरत्वप्रकारकज्ञानकत्वादि। शरीरभ्रमे करचरणवतो विशेषणत्वात्। प्रथमं च प्रामाण्यानुमितिः केवलव्यतिरेकिणा।

ननु प्रामाण्यप्रसिद्धिं नाव्याप्त्यग्रहात् कथमनुमानम्? अथ, व्याघातात् प्रमातद्विषयसिद्धौ सामान्यतः साध्यप्रसिद्ध्या न तदप्रसिद्धिः, विशिष्यानिर्णयाच्च नान्वयित्वासाधारणत्वे इति चेत् तर्हि, कस्यापि प्रथमं स्वार्थे प्रामाण्यानुमितिर्न स्यात्। प्रामाण्यनिषेधरूपस्य परकीयव्याघातस्य तदानुपस्थितेः। स्वयं प्रामाण्यनिषेधस्य च तद्धीपूर्वकत्वात्। मैवम्। प्रागभवीयसंस्कारा-द्विशेष्यावृत्त्यप्रकारकत्वं तद्वति तत्प्रकारकज्ञानत्वं वा प्रामाण्यमात्रं स्मृतं, पृथिवीज्ञानादौ साध्यभानं सर्वनाममहिम्ना पक्षधर्मताबलात् पृथिवीज्ञानस्य विशेष्यावृत्त्यकारकत्वादौ पर्यवस्यति। स्वतः प्रामाण्यनिषेधे प्राथमिक प्रामाण्यज्ञानस्यान्यथोपपादयितुमशक्यत्वादिति *साम्प्रदायिकाः*।

अस्मत्पिचरणास्तु प्रथमं प्रामाण्याभाव एव प्रामाण्यं व्यतिरेकिणा साध्यम्।

मकरन्दः- स्मृतिरूपे पृथिवीज्ञाने इति। पृथिवीज्ञानज्ञाने इत्यर्थः। अन्यथा पृथिवीस्मरण एव गन्धवद्विशेष्यकत्वनिश्चयलाभे पृथिवीत्वप्रकारकनिश्चयत्वानु व्यवसितावित्यनर्थकमापद्येत। एवञ्च तत्सन्निकृष्टेनेत्यस्य स्मृतिरूपसविषयक सहकारिणेत्यर्थः। तथा च स्मृत्युपनीते पूर्वानुभव एव गन्धवद्विशेष्यकत्वनिश्चय इति तद्विशेष्यकपृथिवीत्वप्रकारकज्ञानत्वादिहेतुग्रह इति भावः।

सर्वनाममहिम्नेत्यनेनानुपपत्तिविशेषः। पक्षधर्मतासहकारी विवक्षित इति नानुमाने तदुपयोग इति दूषणमनवकाशमि*त्येके*। दृष्टान्तपरतया तदि*त्यन्ये*। ननु तद्वत्त्वस्यैकस्याभावाद् देवदत्तादिज्ञानप्रामाण्यं जन्मान्तरे नानुभूतमिति तत्र नोक्तगतिसम्भवः। गत्यन्तरसत्त्वे प्राग्भवीयसंस्कारोद्बोधे मानाभावश्चेत्य-नुशयादाह **प्रथममिति।**

प्रकाशः– तत एव निष्कम्पप्रवृत्तेरुपपत्तेः। तदेव वा सिद्ध्यत् पक्षधर्मताबलेन तद्वति तत्प्रकारकनिश्चयत्वादिकमादाय सिद्ध्यति। तथा हि अयं पृथिवीत्वेनानुभवो न पृथिवीत्वाभाववति पृथिवीत्वप्रकारकः, गन्धवद्विषयकप्रयत्नजनकपृथिवीत्व प्रकारकज्ञानत्वात् यन्नैवं तन्नैवम्। यथा पृथिवीभ्रमः। एवञ्च पृथिवीभ्रमे पृथिवीत्वाभाववति पृथिवीत्वप्रकारकत्वसमर्थप्रवृत्तिजनकत्वाभावयोर्व्याप्ति ग्रहादप्रामाण्यव्यापकहेत्वभावाभावरूपाद्धेतोर प्रामाण्याभावरूपं साध्यं सिद्ध्यति। यद्व्यापकतया हेत्वभावो गृहीतस्तदभाव एव हि हेतुना साद्ध्यते। यत्र त्वभावव्यापकता हेत्वभावस्य ज्ञायते, तत्र साध्यप्रसिद्धिरनुमानाङ्गम्, तां विना तदभावात्। यत्र च भावव्यापकता हेत्वभावस्य, तत्र न साऽङ्गम्, तां विनाऽपि व्यतिरेकव्याप्तिग्रहात्। विशेषणज्ञानं विना कथं प्रामाण्यविशिष्टानुमितिरिति चेत्। प्रथमं न कथञ्चित्। ज्ञाने प्रामाण्यमित्यनुमित्यनन्तरं तेनैव हेतुना तत्र

मकरन्दः– तत एवेति। अप्रामाण्यशङ्काविधूननस्य ततोऽपि भावादिति भावः। **तदेवेति।** यद्यपि पक्षधर्मताबलादप्यखण्डाभावस्य पक्षीयत्वं व्यापकतानवच्छेदप्रकारेण सिद्ध्यति, न तु तद्वतीत्यादिकं, तथापि तदनन्तरमर्थात् तत्सिद्धिरित्यत्र तात्पर्यम्। अत्र चाप्रसिद्धाभावोऽपि प्रतियोगिप्रसिद्ध्या व्यतिरेकव्याप्तिग्रहे सति सिद्ध्येत्। न चाप्रामाण्यं प्रसिद्धं, प्रामाण्यवत्तस्याप्यतीन्द्रियत्वात्। तदर्थं प्राग्भवीयसंस्काराद्यनुसरणं च प्रामाण्यानुमानार्थमेव तदनुसरणमर्हम्, लाघवादावश्यकत्वाच्च। प्रमेयमित्यादिज्ञाने चाप्रामाण्याभावानुमानासम्भवे तत्र प्रकारान्तरानुसरणे स एव प्रकारः सर्वत्रानुस्रियतामित्यादि दूषणं *प्रत्यक्षप्रकाशे* द्रष्टव्यम्।

अयमिति। अनुभवपदं निश्चयपरम्। तेन संशयव्यावृत्तसाध्यसिद्धिः, स्मृतेरपि प्रवृत्तेस्तत्साधारण्यञ्चेत्याहुः। निष्प्रकारकत्वेनार्थान्तरवारणाय तृतीयान्तम्। पृथिवीत्वाभाववति नेत्येव साध्यम्। व्यतिरेकव्याप्तौ साध्याभावस्य व्याप्यत्वेन तत्र नीलधूमवदधिकस्य व्यर्थत्वात्। अप्रामाण्यस्य भावरूपतया साध्याभावस्याखण्डत्वेन न वैयर्थ्यमित्यस्याप्यसम्भवादिति ध्येयम्। पृथिवीत्वभ्रमे व्यभिचारवारणाय जनकान्ताम्। अत्र पृथिवीत्वमिति निश्चयस्य पृथिवीत्वाभाववत्पृथिवीत्वविशेष्यकस्य पृथिवीप्रवर्त्तकत्वाभ्युपगमपक्षे तत्र व्यभिचार इत्यत उक्तं, **पृथिवीत्वप्रकारकेति।** निश्चयपदं च निश्चयपक्षतासूचनार्थम विवक्षितार्थकम्। विस्तरः *प्रत्यक्षप्रकाशे* ।

अप्रामाण्यवत्। यदि तु स्वतो ज्ञायेत कदाचिदपि प्रामाण्यसंशयो न स्यात्, ज्ञानत्वसंशयवत्। निश्चिते तदनवकाशात्। न हि साधकबाधक-प्रमाणाभावमवधूय समानधर्मादिदर्शनादेवासौ। तथा सति तदनुच्छेदप्रसङ्गात्। अथ प्रमाणवदप्रमाणेऽपि तत्प्रत्ययदर्शना द्विशेषादर्शनाद् भवति शङ्केत्यभिप्रायः, तत्किं प्रमाणज्ञानोपलम्भेऽपि न तत्प्रामाण्यमुपलब्धम्, प्रमाणज्ञानमेव वा नोपलब्धम्?। आद्ये, कथं स्वतः प्रामाण्यग्रहः? प्रत्ययप्रतीतावपि तदप्रतीतेः। द्वितीये, कथं तत्र शङ्का? धर्मिण एवानुपलब्धेरिति।

यदपि झटिति प्रचुरतरसमर्थप्रवृत्त्यन्यथानुपपत्त्या स्वतः प्रामाण्यमुच्यते, तदपि नास्ति। अन्यथैवोपपत्तेः। झटिति प्रवृत्तिर्हि झटिति तत्कारणोपनिपातमन्तरेणानुपपद्यमाना तमाक्षिपेत्, प्रचुरप्रवृत्तिरपि स्वकारणप्राचुर्यम्। इच्छा च प्रवृत्तेः कारणम्। तत्कारणम-पीष्टाभ्युपायताज्ञानम्। तदपि तज्जातीयत्वलिङ्गानुभवप्रभवम्।

आमोदः – वेदेऽप्याप्तोक्तत्वात् प्रामाण्यं ग्राह्यम्। आप्तश्च ईश्वर एवेति तत्सिद्धिरिति भावः। विपक्षबाधकमाह – **यदि त्विति**। न हि ज्ञाने संशयः सम्भवतीति भावः। यत्तु प्रथममप्रामाण्याभाव एव प्रामाण्यमनुमीयत इति *केषाञ्चिन्मतं* तत्रेदं चिन्त्यम् – अप्रामाण्यस्यापि प्रथमं धर्म्यनुपस्थितिः, *परै*रपि तस्य नित्यानुमेयत्वाभ्युपगमात्। येन प्रकारेण तदुपस्थितिः, स प्रकारः प्रामाण्योपस्थितयेऽप्यनुसन्धीयतामिति। ननु गृहीतेऽपि प्रामाण्ये संशयः स्यादित्यत आह – **न हीति**। 'आदि'-पदादसाधारणविप्रतिपत्तिसंग्रहः। ननु प्रमापि प्रमेत्येव गृह्यते क्वचित्, तथा च प्रमैवेयं प्रमात्वेन गृहीताऽप्रमा वेति संशयः कथं न स्यादिति शङ्कते – **अथेति**। अयं संशयः प्रामाण्याश्रयज्ञानधर्मिको वाऽप्रामाण्यविषयकज्ञानधर्मिको वा? द्वयमपि दूषयति – **तत् किमिति**। ननु प्रवृत्तिः प्रामाण्याग्रहाधीना। तथा च स्वतः प्रामाण्यग्रहमन्तरेण कथं झटिति प्रचुरासमर्थात् प्रवृत्तिरित्यर्थापत्तिबाधितं परतः प्रामाण्यबोधकमनुमानमित्यत आह – **यदपीति**।

अन्यथैवेति। स्वत इत्यादि प्रामाण्यग्रहमन्तरेणैवेत्यर्थः। अन्यथोपपत्तिमाह – **झटितीति**। तोयं पिपासोपशमनकारणं तोयत्वात् पूर्वपीततोयवदित्यनुमानादिच्छा, तया च प्रवृत्तिः। पुनरनुमानम्, पुनरिच्छा, पुनः प्रवृत्तिरिति झटिति प्रचुरप्रवृत्तिः,

सोऽपीन्द्रियसन्निकर्षादिजन्मा, न तु प्रामाण्यग्रहस्य क्वचिदप्युपयोगः। उपयोगे वा स्वत एवेति कुत एतत्?। ततः समर्थप्रवृत्तिप्राचुर्यमपि प्रामाण्यप्राचुर्यात्, तद्ग्रहणप्राचुर्याद्वा। स्वतस्त्वं तु तस्य क्वोपयुज्यते। न हि पिपासूनां झटिति प्रचुरा समर्था च प्रवृत्तिरम्भसीति पिपासोपशमनशक्तिस्तस्य प्रत्यक्षा स्यात्।

स्यादेतत्। प्रामाण्यग्रहे सति सर्वमिदमुपपद्यते। स च स्वतो यदि न स्यात्, न स्यादेव। परतःपक्षस्यानवस्थादुःस्थत्वादिति चेन्न। तदग्रहेऽप्यर्थसन्देहादपि सर्वस्योपपत्तेः। न चानवस्थाऽपि, प्रामाण्यस्यावश्यज्ञेयत्वानभ्युपगमात्। अन्यथा स्वतःपक्षेऽपि सा स्यात्। लिङ्गं निश्चितमेव निश्चायकम्। ततस्तन्निश्चयार्थमवश्यं लिङ्गान्तरा-पेक्षायामनवस्थेति चेत्, तत्किमनुपपद्यमानोऽर्थोऽनिश्चित एव

आमोदः– सा तु प्रामाण्यग्रहमपि नापेक्षते, दूरे स्वतःप्रामाण्यग्रहमित्यर्थः। ननु लिङ्गानुसन्धानविलम्बेनेष्टसाधनताज्ञानविलम्बः स्यादित्यत आह – **सोऽपीति**। तोयत्वमत्र लिङ्गम्। तच्च प्रत्यक्षदृष्टमित्यर्थः। **क्वचिदिति**। झटिति प्रवृत्त्यादिस्थले इत्यर्थः। उपसंहरति – **तत इति**। प्रामाण्यग्रहप्राचुर्याद्वेत्यभ्युपगमवादः। ननु स्वतस्तस्याप्रयोजकत्वे झटिति प्रवृत्तिर्न स्यात्, लिङ्गानुसन्धानेन विलम्बादित्यत आह – **न हीति**। पिपासोपशमनशक्तिग्रहमन्तरेण त्वन्मतेऽपि न प्रवृत्तिरिति झटिति प्रचुरप्रवृत्त्यन्यथानुपपत्त्या सापि प्रत्यक्षा स्यादित्यर्थः।

सर्वमिदमिति। प्रामाण्यव्यवहारो निष्कम्पप्रवृत्तिः, प्रवृत्तेश्च सामर्थ्यमिति 'सर्वमि'त्यर्थः। अर्थसन्देहादपि प्रवृत्तिः, तया प्रामाण्यानुमानम्, ततश्च तद्व्यवहार इति सर्वं प्रथमप्रामाण्याग्रहेऽप्युपपद्यत एवोक्तमाह – **तदग्रह इति**। भवतु वा प्रवृत्तौ प्रामाण्यग्रहापेक्षा, तथापि नानवस्थेत्याह – **न चेति**। विषयान्तरसंचारेण प्रामाण्यग्रहधाराविच्छेदात्। अन्यथा *भट्टमिश्रयोः* सुतरामनवस्था। *गुरोरपि* स्वतस्त्वं परग्राह्यमेव। तस्यापि स्वग्राह्यत्वं परग्राह्यमित्यनवस्थेत्यर्थः। 'प्रामाण्यग्रहाधीन एवार्थनिश्चय' इत्यभिमानेनाह – **लिङ्गमिति**। *भट्टमते* तुल्यतामुपपादयति – **तत् किमिति**। अनुपपद्यमानोऽर्थ*स्तन्मते* ज्ञातताज्ञानं विना नोपपद्यत इति तदन्यथानुपपत्त्या ज्ञानमर्थापत्तेरनुमितेर्वा विषय इति ज्ञानं गृह्यमाणं प्रामाण्योपहितमेव गृह्यते। तथा च ज्ञातताज्ञानगोचरप्रामाण्यग्रहं विना कथं ज्ञाततानिश्चय इति

प्रकाशः– प्रामाण्यविशिष्टानुमितिः, अभावविशेष्यकज्ञानानन्तरम्, अभाववद् भूतलमिति ज्ञानवत्। एवं तदभाववति तत्प्रकारकत्वव्यतिरेकः सिद्धस्तद्वति तत्प्रकारकत्वमादाय पक्षधर्मताबलेन सिद्ध्यतीति *तत्त्वचिन्तामणा*वाहुः। **कदाचिदपीति**। प्रामाण्यग्रहोत्तरकालमिव तत्पूर्वमपीत्यर्थः। न च ज्ञानत्वस्य साधारणधर्मस्य ज्ञानमात्राद् इत्याह **न हीति**। प्रामाण्यज्ञानमात्रं न विरोधि, अपि तु प्रमाणमेवेत्यवधारणात्मकमित्याशयेन शङ्कते **अथेति**। निश्चयमात्रमेव संशयविरोधि, न तु तद्विशेषोऽवधारणमित्याशयेन परिहरति **तत्किमिति**। **प्रमाणेति**। प्रमाणरूपं ज्ञानमित्यर्थः। **तदप्रतीतेः** प्रमाण्याप्रतीतेः।

धर्मिण एवेति। ननु धर्मिज्ञानं न संशयहेतुः कोटिस्मरणविशेषादर्शन धर्मीन्द्रियसन्निकर्षात् प्रामाण्यसंशयरूप एव ज्ञानग्रह उत्पद्यते। अन्यत्र विशिष्टज्ञाने विशेष्यज्ञानस्याहेतुत्वात्। अत्राहुः। तुरगादौ वेगेन गच्छतस्तद्विषयेन्द्रियसन्निकर्षेऽपि यावद्विषयाज्ञाने यदेव धर्मि ज्ञायते तत्रैव विशेषादर्शनादितः संशयो जायते, न त्वज्ञाते धर्मिणीति धर्मिज्ञानं तद्धेतुः। किञ्च, यद्धर्मिगतसाधारणधर्मस्य येन सह भूयःसहचारावसायस्तत्रोत्कटकोटिकता। संशयस्य धर्मिज्ञानस्याहेतुत्वे न स्यात्।

यदपीति। प्रामाण्यस्यानुमेयत्वे लिङ्गपरामर्शापेक्षया विलम्बः स्यादित्यर्थः। तथा चार्थापत्त्या परतस्त्वसाधनं प्रतिबद्धमिति भावः। **अन्यथैवेति**। प्रवृत्तिमात्रे प्रामाण्यग्रहो न हेतुः, अर्थसन्देहादपि प्रवृत्तेरित्यन्यथोपपत्तेरित्यर्थः। **उपयोगे वेति**। झटित्यभ्यासापन्नलिङ्गानुसन्धानादप्युपपत्तेरित्यर्थः। *परमतेऽपि* व्यभिचारमाह **न हीति**। न ह्यविलम्ब इत्येव लिङ्गानपेक्षता। तथा सति पिपासोपशमन शक्त्यनुभवस्याप्यलैङ्गिकत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः।

मकरन्दः– कदाचिदपीतीति। तत्र दोषात् कदाचित् प्रामाण्यसंशयेऽपि क्वचिन्मनसा तद्ग्रहे बाधकाभावान्मनोयोग्यत्वलक्षणं स्वतस्त्वं न खण्डितं भवति, अन्यथा रजतत्त्वादेश्चक्षुरादियोग्यत्वं न स्यात्। दोषतदभावाभ्यामुभयोपपत्तिरिति तु तुल्यम्। न च तत्र सामग्रीबलात् तथा, प्रकृते मनसो बहिरस्वातन्त्र्यात्। स्वातन्त्र्येण तद्वत्त्वग्राहकस्यैव तत्सत्तानिश्चयरूपतया प्रामाण्याग्राहकत्वान्न तथेति वाच्यम्। तर्हि सामग्रीविरहान्न स्वतस्त्वमित्यायातं, संशयानुपपत्तेः क्वोपयोगः?। न च सोऽपि उपनीते मनसः स्वातन्त्र्याभ्युपगमात्। अन्यथा तवाप्युपनयसहकारेण ततस्तदग्रहणं सर्वसिद्धं विरुद्ध्येतेति चिन्त्यम्।

प्रकाशः- सर्वमेतदिति। झटिति प्रवृत्त्यादिकमित्यर्थः। **स चेति**। यद्यगृहीतप्रामाण्यमेव ज्ञानं परप्रामाण्यनिश्चायकमास्थेयं, तदा व्यवसायोऽप्यगृहीतप्रामाण्य एव विषयं निश्चाययतु किं तत्प्रामाण्यग्रहेण। यदि च तस्याप्रामाण्यसंशयान्न तन्मात्रादर्थनिश्चयस्तर्हि प्रामाण्यानुमितेरप्रामाण्यसंशयान्न ततोऽपि प्रामाण्यनिश्चयः। ततस्तस्या अपि प्रामाण्यनिश्चयावश्यकत्वेनानवस्था। एवं लिङ्गव्याप्त्यादि ज्ञानानामपि प्रामाण्यानिश्चये हेत्वाद्यसिद्धिः, तन्निश्चये चानवस्था। नहि, न लिङ्गादिज्ञाने प्रामाण्यसंशयोऽनुभवविरोधात्। तथा च परिशेषात् स्वतः प्रामाण्यग्रह इत्यर्थः। **तदग्रहेऽपीति**। न तज्ज्ञानप्रामाण्यनिश्चयादेवार्थनिश्चयः, किन्तु न यत्राप्रामाण्यशंका करतलादिज्ञाने तत्र व्यवसाय एवार्थनिश्चय इति। तत एव निष्कम्पप्रवृत्त्युपपत्तिरिति न प्रामाण्यानुमितिलिङ्गादिज्ञानानामपि प्रामाण्यानुसरणमिति नानवस्थेत्यर्थः। तथाप्यनभ्यासदशापन्नज्ञानप्रामाण्यसंशयेनार्थनिश्चयस्य परिभवात् तत्प्रामाण्यानुसरणेऽनवस्थेत्यत आह **नचेति**। अगृहीतप्रामाण्यमेव ज्ञानं परप्रामाण्यं निश्चाययति, अप्रामाण्यशंकाकलङ्काभावात्। यत्र प्रामाण्यज्ञानेऽप्यप्रामाण्यशङ्कया प्रामाण्यसंशयस्तत्र प्रामाण्यज्ञानप्रामाण्यनिश्चयादेव प्रामाण्यनिश्चयः। एवं यावदप्रामाण्यशङ्कं तज्ज्ञानप्रामाण्यनिश्चयादेव तन्निश्चयः। न चैवमनवस्था चरमप्रामाण्यज्ञानस्य ज्ञानाभावाद्धर्मज्ञानाभावेन कोटिस्मरणाभावात् विषयान्तर सञ्चाराद्वा प्रामाण्यसंशयानवश्यम्भावादित्यर्थः। **अन्यथेति**। *भाट्टानां* प्रामाण्यस्य ज्ञानानुमितिग्राह्यत्वे तस्या अपि प्रामाण्यानुस्मरणेऽनवस्था। *प्राभाकराणा*मपि प्रामाण्यस्य स्वग्राह्यत्वं न स्वग्राह्यं, स्वग्राह्यत्वस्य स्वरूपप्रामाण्यान्यत्वादिति परग्राह्यत्वेऽप्यनवस्थानात् परिशेषानुमानेन मानान्तरेण वा ग्राह्यम् । तथा च तत्प्रामाण्यस्यापि स्वग्राह्यत्वमन्येनेत्यनवस्थया विषयान्तरसञ्चारो न स्यादित्यर्थः। कारणमुखीमनवस्थामाह-**लिङ्गमिति**। प्रामाण्यसंशयेन लिङ्गस्य सन्दिग्धत्वान्न-निश्चय इत्यर्थः। *भट्टमते* ज्ञाततारूपलिङ्गज्ञानस्य प्रामाण्यसंशयान्न तन्निश्चय इति तद्ग्राहकपरम्पराप्रामाण्यानुस्मरणेऽप्यनवस्थेत्याह **तत्किमिति**।

मकरन्दः- अन्यथेतीति। प्रवृत्त्यनुपयोग्यऽप्यस्तीत्येव यदि प्रामाण्यमवश्यं ज्ञेयं, तदास्य ग्राह्यत्वेऽप्यनवस्थेति भावः। *मिश्रमते*ऽप्यनवस्था द्रष्टव्या। **फलमुखीमिति**। यद्यपि पूर्वमेवमाशङ्का परिहृतैव, तथापि सामान्यतः सा, विशिष्येदानीमाशङ्केति न दोष *इत्येके*। प्रसङ्गान्तरेण दोषान्तरदानाय पुनराशङ्के*त्यन्ये*।

स्वोपपादकमाक्षिपति, येनाऽनवस्था न स्यात्? प्रत्यक्षेण तस्य निश्चयात्तस्य च सत्तयैव निश्चायकत्वान्नैवमिति चेत्, ममापि प्रत्यक्षेण लिङ्गनिश्चयात्तस्य च सत्तयैव निश्चायकत्वान्नैवमिति तुल्यम्। लिङ्गज्ञानस्य प्रामाण्यानिश्चये कथं तन्निश्चय: स्यादिति चेत्, अनुपपद्यमानार्थज्ञानप्रामाण्यानिश्चये कथं तन्निश्चय इति तुल्यम्। न हि निश्चयेन स्वप्रामाण्यनिश्चयेन वा विषयं निश्चाययति प्रत्यक्षम्, अपि तु स्वसत्तयेत्युक्तमिति चेत्, तुल्यम्। तथापि यदि तल्लिङ्गाभास: स्यात्तदा का वार्तेति चेत्, अनुपपद्यमानोऽप्यर्थो यद्याभास: स्यात्तदा का वार्तेति तुल्यम्। सोऽपि प्रामाण्यमाक्षिपतीत्युत्सर्ग:। स च क्वचिद्बाधकेनापोद्यते इति चेत्, लिङ्गेऽप्येवमिति तुल्यम्। तर्हि प्रामाण्यानुमानेऽपि शङ्का तदवस्थैवेति निष्फल: प्रयास इति चेत्, एतदपि तादृगेव। अनुपपद्यमानोऽर्थ एवासौ तथाविध: कश्चित्, य: स्वप्नेऽपि नाभास: स्यात्, ततो नाशङ्केति चेत्, लिङ्गेऽप्येवमिति सम: समाधि:। क: पुनरसावर्थो य: स्वप्नेऽपि नाभास: स्यात्, यदनुपलम्भे विभ्रमावकाशो,

---

आमोद:– समानमित्यर्थ:। ननु ज्ञानेन घटादौ ज्ञातता जनिता, सा घटनिष्ठरूपादिवत् प्रत्यक्षैवेति तन्निश्चयो न तज्ज्ञानप्रामाण्यनिश्चयाधीनो येनानवस्था स्यादित्याह – **प्रत्यक्षेणेति**। तज्जातीयत्वादिकमपि प्रामाण्यग्रहलिङ्गम्। तदपि मानसप्रत्यक्षमेवेत्याह – **ममापीति**। लिङ्गज्ञानमप्रामाण्यशङ्कादु:स्थं कथं लिङ्गनिश्चायकं स्यादिति शङ्कते – **लिङ्गज्ञानस्येति**। अनुपपद्यमानार्थज्ञानम-प्रामाण्यशङ्कादु:स्थं कथं निश्चायकं स्यादिति समानमित्यर्थ:। अनुपपद्यमानार्थ-निश्चायकं प्रत्यक्षमेव तत्र तत्प्रामाण्यग्रहे तन्त्रमिति यदि ब्रूषे, तदपि समानमेवेत्याह – **न हीति**। ननु लिङ्गाभास-शङ्कानिरासार्थमवश्यं प्रामाण्यग्रह इति शङ्कते – **तथापीति**। तदपि समानमेवेत्याह – **अनुपपद्यमानोऽप्यर्थ इति**। **सोऽपीति**। अनुपपद्यमानोऽर्थ इत्यर्थ:। अपरीक्षितलिङ्गजा प्रामाण्यानुमिति: क्वचिदाभासीभूतापीति प्रामाण्यसमाश्वास: क्वापि न स्यादित्याह – **तर्हीति**। प्रमाहिता ज्ञातता प्रामाण्यं न व्यभिचरति। भ्रमाहितायां क्वचिद्व्यभिचारेऽपि न दोष इत्याशङ्कते – **अनुपपद्यमान इति**। तद्वति तत्प्रकारकज्ञानत्वादिलिङ्गमपि न व्यभिचरतीति तुल्यतया परिहरति – **लिङ्गेऽप्येवमिति**। सुहृद्भावेन पृच्छति – **क: पुनरिति**। उत्तरम् – **यदिति**। यस्य गन्धवत्तादेरनुपलम्भेऽपि भ्रमावकाश:, तस्यैवोपलम्भे नैतज्जलं किन्तु पृथिव्येवेति तत्त्वम्।

यादृगुपलम्भे च तद्बाधव्यवस्था? अन्यथा हि, तथाभूतस्यापि व्यभिचारे सापि न स्यात्। मा भूदिति चेन्न। भवितव्यं हि तत्त्वातत्त्वविभागेन। अन्यथा व्याघातात्। कथं हि नियामकनिःशेषविशेषोपलम्भेऽपि विपरीतारोपः?। तथाभावे वा तदतिरिक्तविशेषानुपलम्भे कथं बाधकम्?। तदभावे त्वबाधस्य कथं भ्रान्तत्वमिति?।

स्यादेतत्। परतः प्रामाण्येऽपि नित्यत्वाद्वेदानामनपेक्षत्वं, महाजनपरिग्रहाच्च प्रामाण्यमिति को विरोधः?। न, उभयस्याप्यसिद्धेः। न हि वर्णा एव तावन्नित्याः। तथा हि 'इदानीं श्रुतपूर्वो गकारो नास्ति, निवृत्तः कोलाहल' इति प्रत्यक्षेणैव शब्दध्वंसः प्रतीयते। न हि शब्द एवान्यत्र गतः, अमूर्तत्वात्। नाप्यावृतः, तत एव सम्बन्धविच्छेदानुपपत्तेः।

नाप्यनवहितः श्रोता, अवधानेऽप्यनुपलब्धेः। नापीन्द्रियं दुष्टं, शब्दान्तरोपलब्धेः। नापि सहकार्यन्तराभावः, अन्वय

आमोदः- सापीति। विभ्रमाभावव्यवस्थापीत्यर्थः। अत्रान्तरे *माध्यमिकः* शङ्कते – **मा भूदिति**। 'प्रत्यक्षादीनामप्रामाण्यं त्रैकाल्यासिद्धे'रिति (न्या.सू. २।१।८।) भावः। *शून्यतापि* तवाभिमता प्रमाणमन्तरेण कथं सिद्ध्येत्? कथं वा त्रैकाल्यासिद्धिरपि तवाभिमतो हेतुः सिद्ध्येदित्याशयेनाह – **भवितव्यमिति**। **अन्यथेति**। निषेधकप्रमाणमन्तरेण निषेधानुपपत्तेः। प्रवृत्तिविलोपश्चेत्यादि बहुमुखो व्याघात इत्यर्थः। प्रकृताभिप्रायेणाह – **कथमिति**। शुक्तित्वादिग्रहे रजतत्वारोपो यदि, तदा कस्यान्यस्य धर्मस्य ग्रहे तद्बाधव्यवस्था। तथा च शुक्तित्वादिरेव तादृशो धर्मो यस्मिन्नुपलब्धे विपरीतारोपसम्भावना न भवतीति भावः।

प्रमायाः पारतन्त्र्यमुत्पत्तौ ज्ञप्तौ च प्रसाध्य **सर्गप्रलयसम्भवादिति** कारिकाभागं व्याख्यातुं शब्दानित्यतां साधयितुं शङ्कते – **स्यादेतदिति। अनपेक्षत्वं** वक्तृगुणानपेक्षत्वमित्यर्थः। तथा च कथमीश्वरसिद्धिरिति भावः। **महाजनपरिग्रहादिति**। न त्वाप्तोक्तत्वात्। तथा च क्वेश्वरसिद्धिरिति भावः। **उभयस्यापीति**। सर्गप्रलयसम्भवेन न वेदनित्यत्वं, न वा महाजनपरिग्रह इत्यर्थः। **न हीति**। कुतस्तदानुपूर्वीघटितो वेद इति शेषः। **तत एव** अमूर्तत्वादेवेत्यर्थः। *भट्टमते* शब्दस्य विभुत्वाद*स्मन्मते* शब्दसमवायस्य श्रोत्रसम्बन्धात्, तस्य च नित्यत्वानुविच्छेद इति भावः।

प्रकाशः- सोऽपीति। मायालिङ्गिनि झटिति परिव्राजकत्वबुद्धिवदप्रमापि प्रमेत्येव गृह्यत इत्यर्थः। फलमुखीमनवस्थामाह **तर्हीति**। **यदनुपलम्भ इति**। यस्य विशेषस्य शुक्तित्वादेरनुपलम्भे शुक्तौ रजतभ्रमो यस्य तु शुक्तित्वादेरुपलम्भे भ्रमबाधो व्यवतिष्ठते, स लोकसिद्ध इत्यर्थः। यद्यपि यदुपलम्भ इति वक्तुमुचितं, तथापि वस्तुगत्या विशेषस्य ज्ञानं न भ्रमविरोधि, अपि तु विशेषत्वेनेति दर्शयितुं यादृगित्युक्तम्। एवमनभ्युपगमे लोकव्यवहारविरोध इत्याह **अन्यथेति**। **सा** भ्रमबाधव्यवस्था। बाधकस्य व्यभिचारिजातीयत्वे बाध्यबाधकयोरविशेषाद् बाधकत्वमेव न स्यादित्यर्थः। **अन्यथेति**। लोकमर्यादाऽतिक्रमे किमपि न तत्त्वमित्यस्याप्यतत्त्वे क्वान्यस्यातत्त्वमिति, बाधकस्य तत्त्वं बाध्यस्यातत्त्व मभ्युपेयमित्यर्थः। **तथाभावे वेति**। यदि नियामकनिःशेषविशेषोपलम्भेऽपि विपरीतारोपः स्यात् तदा तस्यारोपत्वं न तावद् बाधकं विना निश्चेयम्। सर्वस्यारोपत्वप्रसङ्गात्। बाधकात् तन्निश्चये बाधकाभिमतस्यापि बाध्यतायामबाधकत्वप्रसङ्गात्। अबाध्यत्वे तु कथमशेषविशेषोपलम्भे समारोपसम्भव इति भावः। एवञ्च प्रामाण्यस्यानुमेयत्वे बहुवित्तव्ययायाससाध्येऽपि गृहीतप्रामाण्यं न ज्ञानं प्रवर्तकम्। तस्य प्रामाण्यानुमितेः प्रागेव नाशात्। किन्तु तज्ज्ञानसमानविषयमप्रामाण्यशङ्काशून्यं ज्ञानान्तरमेव। न चैवं प्रामाण्यानुमितिरफला, तां विना तत्समानविषयज्ञानेऽप्रामाण्यसंशयादिति सारम्।

अस्तु सवक्तृकशब्दे प्रामाण्यस्योत्पत्तौ ज्ञप्तौ च परतस्त्वम्। वेदे तु नित्यतया वक्तुरभावान्न तत्र गुणाधीनं प्रामाण्यम्। ज्ञप्तिरपि तस्याप्तोक्तत्वं विनापि महाजनपरिग्रहादेव स्यादित्याह **स्यादेतदिति**। सर्गप्रलयसम्भवेन वेदस्य

मकरन्दः- बाधकाभिमतस्यापीति। अशेषविशेषोपलम्भेऽपि विपरीता-रोपाभ्युपगमपक्षे इति शेषः। **तां विनेति**। न चान्यत्र विशेषदर्शनस्य धर्म्यन्तरे शङ्काप्रतिबन्धकत्वेऽतिप्रसङ्ग इति वाच्यम्। अन्वयव्यतिरेकाभ्यामनन्यगत्याऽत्रैव तथा कल्पनादि*त्येके*। तद्विषयकत्वावच्छेदेन पूर्वज्ञाने प्रामाण्यग्रहात् तज्ज्ञानत्वमेव विशेषदर्शनमि*त्यन्ये*। वस्तुतस्तु तस्योपनीतभानसामग्रीत्वेन तद्ग्रहानन्तरमुपनीतं प्रामाण्यं तत्र भासत इति न तत्र शङ्केति *प्रत्यक्षप्रकाशे* विपञ्चितम्। अन्यथा तस्य व्याप्यत्वेनाग्रहे शङ्काविरोधित्वानुपपत्तेरिति ध्येयम्। धूमत्वदर्शनस्य व्याप्तिसंशयविरोधित्ववत् पृथगेव तस्य तद्विरोधित्वमित्यप्याहुः।

व्यतिरेकवतस्तस्यासिद्धेः। नाप्यतीन्द्रियम्, तत्कल्पनायां प्रमाणाभावात्। अन्यथा, घटादावपि तत्कल्पनाप्रसङ्गात्। न च शब्दनित्यत्वसिद्धौ तत्कल्पनेति युक्तम्, निराकरिष्यमाणत्वात्। ये त्वेकदेशिनो नैवमिच्छन्ति, तान् प्रत्युच्यते। विवादाध्यासितः शब्दप्रध्वंसः, इन्द्रियग्राह्य ऐन्द्रियकाभावत्वात्, घटाभाववत्। नैतदेवम्। इन्द्रियासन्निकृष्ट-त्वादतीन्द्रियाधारत्वाद्वेति चेन्न। इदं ह्युपाध्युद्भावनं वा स्यात्,

---

आमोदः- मनःसंयोगादीनामतीन्द्रियत्वेऽपि श्रोतुरवधानेन शब्दान्तरोपलब्धेस्तत्समवधानं सिद्धमिति तदतिरिक्ताभिप्रायेणाह – **तत्कल्पनायामिति।** एतावता योग्यानुपलब्धिः साधिता। तथा च घटाद्यभावग्रहे सा यथेन्द्रियसहकारिणी, तथा शब्दाभावग्रहेऽपीति भावः। **तत्कल्पनेति।** अतीन्द्रियसहकारिकल्पनमित्यर्थः। तथा च तदभावादेव शब्दानुपलम्भ इति न योग्यानुपलब्धिरिति भावः। अधिकरणयोग्यताऽभावग्रहे तन्त्रमिति शब्दाभावो नाध्यक्षः। न चेन्द्रियविशेषणतया पदार्थान्तरग्रहोऽपीत्*येकदेश्य*भिप्रायं निराकर्तुमाह – **ये त्विति।** अन्त्यशब्दध्वंसे भागासिद्धिवारणायाह – **विवादाध्यासित इति।** श्रूयमाणशब्दध्वंस इत्यर्थः। अतो नान्त्यशब्दध्वंसे भागासिद्धो हेतुः। **ऐन्द्रियकेति।** ऐन्द्रियक-प्रतियोगिकाभावत्वादित्यर्थः। न च मूर्तत्वाभावेऽनैकान्तिकमिदम्। गुणादौ तस्यापि प्रत्यक्षत्वात्। अभावपदेन ध्वंसस्य वा विवक्षितत्वात्। योग्यायोग्यमूर्तघटितत्वेन वायुवनस्पतिसंयोगवन्मूर्तवत्त्वस्यैवातीन्द्रियत्वाद्वा। *एकदेशी* स्वाभिप्रायमाह – **नैतदिति।** शब्दध्वंसो न प्रत्यक्ष इत्यर्थः। **इन्द्रियासन्निकृष्टत्वादिति।** इन्द्रियविशेषणतया अप्रत्यासत्तित्वादिति भावः। **अतीन्द्रियाधारत्वादिति।** अतीन्द्रियमात्राधारत्वादित्यर्थः। तेन पृथिवीत्यादौ परमाण्वादिवृत्तितायामपि न व्यभिचारः, अतीन्द्रियाधाराभावत्वादिति कृतेऽपि गोत्वात्यन्ताभावान्योन्या-भावयोर्व्यभिचारतादवस्थ्यात् 'मात्र'पदमवश्यं देयम्। ननु वायुस्पर्शध्वंसे तथापि व्यभिचार इति चेत्, न। आश्रयनाशमात्रजन्यस्य तस्य तदनाधारत्वात्। अत एवाश्रयनाशजन्यगुणध्वंसात्यन्ताभावस्य केवलान्वयित्वसिद्धिः। **इदमिति।** उक्तद्वयं स्वव्यतिरेकद्वारा उपाधिर्वा इन्द्रियग्राह्यं प्रति इन्द्रियसन्निकृष्टत्वमैन्द्रियकाधारत्वं च व्यापकं तदनुपलब्ध्या सत्प्रतिपक्षत्वं चेत्यर्थः। यद्यप्यैन्द्रियकाधारत्वं नेन्द्रियग्राह्यत्वव्यापकं त्रसरेणावात्मनि च व्यभिचारात्, तथापि द्रव्यभिन्नत्वेन

प्रकाशः– नित्यत्वं महाजनपरिगृहीततत्वञ्चासिद्धमित्याह **उभयस्येति**। यद्यपि वर्णानां नित्यत्वेऽप्यर्थप्रत्ययानुकूलानित्या नुपूर्वीविशेषघटितत्वेन वेदोऽनित्य एवेति तत्र वक्तृगुणापेक्षाऽस्त्येव, तथापि वर्णस्यानित्यत्वव्युत्पादने तत्समूहविशेष वाक्यविशेषरूपस्य तस्य सुतरामनित्यत्वं सिद्ध्यतीत्याशयेन वर्णमात्रस्यानित्यत्वं साधयति **तथा हीति**। अनभिव्यक्तवर्णत्वव्याप्यजातिविशेषो वर्णसमूह एव कोलाहलः। प्रत्यक्षमेव वर्णस्यानित्यत्वम्। योग्यानुपलब्धेः प्रत्यक्षप्रतियोगिका भावत्वेनैव घटाभावस्येव तदभावस्य प्रत्यक्षत्वादित्यर्थः। प्रत्यक्षस्यान्यथासिद्धिं निराकरोति **न हीति**। येन सन्नपि नोपलभ्यत इत्यर्थः। **तत** एव अमूर्तत्वादेव। इन्द्रियसम्बन्धविच्छेदो ह्यावरणम्। स च शब्दस्य विभुत्वादाकाशविशेषगुणत्वे च श्रोत्रसमवायस्य नित्यत्वादयुक्त इत्यर्थः। **तत्कल्पनेति**। अतीन्द्रिय शब्दोपलम्भककल्पनेत्यर्थः।

ननु प्रतियोगियोग्यतामात्रं नाभावप्रत्यक्षत्वे तन्त्रं, किन्त्वधिकरणयोग्यतापि। सा च शब्दध्वंसे नास्तीति कथं प्रत्यक्षः सः। न चेन्द्रियविशेषणतया कस्यचिद् ग्रहो दृष्टः, अपि त्विन्द्रियसम्बद्धविशेषणतया इत्यत आह **ये त्विति**। **विवादेति**। श्रूयमाणशब्दध्वंस इत्यर्थः। अतो नान्त्यशब्दध्वंसे भागासिद्धिः। तस्य साक्षात्कारकाले नाशादिति भावः। **ऐन्द्रियकेति**। ऐन्द्रियकप्रतियोगिका भावत्वादित्यर्थः। नन्विदं मूर्त्तवत्त्वाभावेऽनैकान्तिकं, भूतलस्य हि मूर्त्तवत्त्वं प्रत्यक्षम्। यत्किञ्चिन्मूर्त्तग्रहेऽपि तद्ग्रहात्, तदभावस्तु न प्रत्यक्षः। अयोग्यस्यापि मूर्त्तस्य सम्भवेन यावद्विशेषाभावाप्रत्यक्षतया मूर्त्तसामान्याभावस्याप्रत्यक्षत्वात्। न च प्रत्यक्षाशेषमूर्त्ताभावग्राहिणा प्रत्यक्षेण प्रत्यक्षेतर-मूर्त्ताभावनिश्चयसहकारिणा सोऽपि गृह्यत एवेति वाच्यम्। लिङ्गवत्त्वावगमसहकारिणा पक्षग्राहकप्रत्यक्षेणैव

मकरन्दः– ननु कोलाहलस्य ध्वन्यात्मकत्त्वात् तदनित्यत्वेऽपि वर्णानित्यत्वं न सेत्स्यतीत्यत आह **अनभिव्यक्तेति**। शब्दस्य विभुत्वादिति *भट्टमते*। अन्त्यशब्दध्वंसेऽपि कदाचिद्विवादसम्भवादाह **श्रूयमाणेति**। अन्त्येत्युपलक्षणम्। इन्द्रियासन्निकृष्टशब्दान्तरध्वंसेऽपि द्रष्टव्यम्। न च तस्यापि स्वरूपयोग्यत्वा-दैन्द्रियकत्वमेवेति वाच्यम्। अन्त्यशब्दस्यापि सहकारिवैकल्य-प्रयुक्तकार्याभाववत्त्वेन तथात्वसम्भवात्। **तस्येति**। अन्त्यशब्दस्येत्यर्थः। एतदपि प्रत्यक्षे स्वसमयवर्त्तित्वेन विशिष्य हेतुत्वपक्षे द्रष्टव्यम्। कर्मधारयपक्षे साध्यावैशिष्ट्यमाशङ्क्याह **ऐन्द्रियकेति**। **लिङ्गवत्त्वेति**। तथा च यावद्विशेषाभावात्

व्यापकानुपलब्ध्या सत्प्रतिपक्षत्वं वा?। न प्रथमः। स्वरूपयोग्यतां प्रति सहकारियोग्यताया अनुपाधित्वात्। तस्यास्तामपेक्ष्यैव सर्वदा व्यवस्थितेः। नाप्यैन्द्रियकाधारत्वप्रयुक्तमभावस्य प्रत्यक्षत्वम्। धर्माद्यभावस्यापि तथात्वप्रसङ्गात्। अत एव नोभयप्रयुक्तम्।

नापि द्वितीयः, प्रथमस्यासिद्धेः। अस्ति हि श्रोत्रशब्दाभावयोः स्वाभाविको विशेषणविशेष्यभावः। विशेष्यस्यातीन्द्रियत्वात् कथमैन्द्रियकविशिष्टज्ञानविषयत्वम्?। तथा विशेष्यमव्यवस्थापयतश्च कथं विशेषणत्वमिति चेन्न। तथा विशेष्यव्यवस्थापनायाः फलत्वात्। न तु तदेव विशेषणत्वम्, आत्माश्रयत्वप्रसङ्गात्। विशेषणभावेन समवाया–

आमोदः– हेतुर्विशेषणीयः। न च समवाये व्यभिचारः, तस्यापि स्वरूपसम्बन्धेनाधारत्वात्। **स्वरूपयोग्यतामिति।** 'इन्द्रियग्राह्य इति इन्द्रियग्रहणयोग्य इत्येव साध्यार्थः। तथा च इन्द्रियसन्निकर्षस्तत्र सहकारियोग्यता, स कथमुपाधिः स्यात्, साध्यव्यापकत्वात्। न हि यत्र स्वरूपयोग्यता तत्र सहकारियोग्यतावश्यकता, भक्षितनष्टबीजादौ व्यभिचारात्। **तस्या इति।** स्वरूपयोग्यतायाः, सहकारियोग्यतामपेक्ष्यैवाव्यवस्थितेरित्यकारप्रश्लेषः। यद्वा स्वरूपयोग्यता फलोपहितं स्वरूपं साध्यम्, तत्र च सहकारियोग्यता नोपाधिः, पक्षवृत्तित्वेन साधनव्यापकत्वात्। एतदेवाह – **तस्या इति।** तथा च नाकारप्रश्लेषः। नेन्द्रियसन्निकर्षः शब्दध्वंसप्रत्यक्षतायामुपाधिर्भवितुमर्हति। शब्दध्वंसस्य सर्वदैवेन्द्रियसन्निकृष्टत्वेन पक्षादव्यावृत्तेरित्यर्थः। द्वितीयस्योपाधित्वं निरस्यति – **नापीति।** समव्याप्तोपाध्यभिप्रायेणाह – **धर्मादीति। अतएवेति।** धर्माभावप्रत्यक्षत्वापत्तेरेवेत्यर्थः। **उभयेति।** ऐन्द्रियकाधारत्वमिन्द्रियसन्निकृष्टत्वं चेत्यर्थः। धर्माभावे च प्रयोजकमेवास्तीति भावः। सत्प्रतिपक्षपक्षं दूषयति – **नापीति। प्रथमस्येति।** इन्द्रियासन्निकृष्टत्वस्य हेतोरित्यर्थः। एतदेवोपपादयति – **अस्ति हीति।** ननु श्रोत्रमतीन्द्रियं कथं विशिष्टप्रत्यक्षे विशेष्यं स्यात्? एवं शब्दध्वंसोऽपि न विशेषणीभवितुमर्हति, विशेष्ये श्रोत्रे व्यावृत्तबुद्ध्यजनकत्वादित्याशङ्कते – **विशेष्यस्येति। तथेति।** व्यावृत्तत्वेनेत्यर्थः। परिहरति – **तथेति।** व्यावृत्तत्वेन विशेष्यव्यवस्थितिर्हि विशिष्टबुद्धिरेव। सा च स्वरूपसतो विशेषणविशेष्यभावादेव उत्पद्यत इति को दोष इत्यर्थः। **तदेवेति।** व्यावृत्तत्वेन विशेष्यव्यवस्थापनमेवेत्यर्थः। आत्माश्रयमेवाह – **विशेषणभावेनेति।**

प्रकाशः– लैङ्गिकावगमेऽनुमानमात्रविलयापत्तेः। मूर्त्तवत्त्वसामान्यस्य योग्यायोग्यघटितत्वेनायोग्यतया तदभावे हेतोरग्रहात्। येन रूपेण प्रतियोगियोग्यता, तेनैव तदभावस्य योग्यतावगमात्। अत्राभावपदेन ध्वंस उक्त इति न व्यभिचार इत्*येके*। द्रव्यनिष्ठमूर्त्तवत्त्वाभावस्याप्रत्यक्षत्वेऽपि गुणादौ स प्रत्यक्ष एवेत्*यन्ये*। **उपाध्युद्भावनमिति**। स्वव्यतिरेकेणेति शेषः। तेनेन्द्रियसन्निकृष्टत्वमैन्द्रियकाधार–त्वञ्चोपाधिरित्यर्थः। न चैन्द्रियकाऽऽधारत्वं नोपाधिः, धर्माभावस्यापि प्रत्यक्षतापत्तेरिति वाच्यम्। उपाधेरधिकदेशत्वेऽपि दूषकताबीजसाध्य व्यापकत्वानपायात्।

मकरन्दः– सामान्याभावोऽनुमीयत एव, न प्रत्यक्ष इति भावः।

ननु मूर्त्तवत्त्वस्य योग्यायोग्यघटितत्वेऽपि नायोग्यत्वं, किञ्चिद्विशेषयोग्य तयैव सामान्यस्य योग्यत्वात्। घटवति भूतले मूर्त्तवदिदं भूतलमिति चाक्षुषप्रत्यक्षदर्शनाच्च। अन्यथा घटवत्त्वसामान्यस्यापि सन्निकृष्टासन्निकृष्ट घटघटितत्वेनैन्द्रियकत्वानुपपत्तेः। स्वरूपायोग्यतया सहकारिविरहेण वा फलाभावस्याविशेषादित्यनुशयान आह **अत्राभावपदेनेति**। न चैन्द्रियकाभावत्वा–विशेषेऽपि घटत्वसामान्याभावस्य प्रत्यक्षत्वे किं विनिगमकमिति वाच्यम्। सन्निकृष्टघटस्यापि तत्र तर्कितं सत्त्वमनुपलब्धिविरोधीति यावद्विशेषा–भावप्रत्यक्षासम्भवादयोग्यमूर्त्ताभावस्यातथात्वादिति विशेषात्। **द्रव्यनिष्ठेति**। द्रव्यविशेषणतयाऽप्रत्यक्षत्वेऽपीत्यर्थः। एतेनाधिकरणभेदेनाभावभेदानभ्युपगमाद्, अभ्युपगमे वा द्रव्यनिष्ठतदभावे व्यभिचारतादवस्थ्यादित्यपास्तम्। एकस्यैवाधि–करणभेदेन प्रत्यक्षत्वाप्रत्यक्षत्वोपगमात्। योग्यायोग्यजले पृथिवीत्वात्यन्ताभाववत्। अत्र यावद्विशेषाभावाप्रत्यक्षतयाऽप्रत्यक्षत्वं गुणेऽपि समानम्। अनुमानादिना तन्निश्चये तत्प्रत्यक्षत्वं द्रव्येऽपि तुल्यम्। यावद्विशेषाभावनिश्चये तन्निश्चयोऽनुमित्यात्मक इत्यपि समानमित्यनभिमतिबीजं द्रष्टव्यम्।

ऐन्द्रियकाधारत्वञ्चेति। तथा चातीन्द्रियाधारत्वादित्यस्य ऐन्द्रियकानाधारत्वादित्यर्थो बोध्यः। तेन तद्व्यतिरेकत्वमस्योपपद्यते। अत एवानुपदं तथैव विभावयिष्यतीति। न च शब्दादौ साध्याव्यापकत्वम्। साधनाद्यवच्छिन्न–साध्यव्यापकत्वादिति भावः। भवेदेवं यदि समव्याप्त एवोपाधिः स्यात्। न चैवम् विषमव्याप्तस्यापि तथात्वादित्याह **उपाधेरिति**।

प्रकाशः– अथ नायमुपाधिः, व्यतिरेकोपसंहारसामर्थ्याभावात्। तथा हि अभावत्त्वे सत्यतीन्द्रियाधारत्वादिति यद्यपि नैन्द्रियकाधारत्वस्य व्यतिरेकः। उभयाधारत्वेऽप्यविरोधात्। तथाप्यभावत्त्वे सत्यैन्द्रियकाऽनाधारत्वादिति सम्भवति, किन्तु योग्यताविरहस्तत्रोपाधिः। न च साधनव्यापकत्वं, न ह्यतीन्द्रियाधारत्वमेव योग्यताविरहः, पृथिवीत्वाभावादेरयोग्यतापत्तेः। नाप्यैन्द्रियकाधारत्वाभावः सः। तदर्थासहिततदभावस्य योग्यतात्मकत्वे धर्माभावस्य योग्यतापत्तेः। मैवम्। ऐन्द्रियकाभावमन्तर्भाव्याभावस्य योग्यतेत्युक्तेऽपि साधनव्यापकताया अपरिहारादिति भावः। **व्यापकेति**। प्रत्यक्षव्यापकैन्द्रियकाधारत्वेन्द्रियसन्निकर्षानुपलब्धेरित्यर्थः। यद्यपि शब्दध्वंसो न प्रत्यक्षोऽतीन्द्रियाधारत्वादिति पृथिवीत्वादौ व्यभिचारि, तथाप्यैन्द्रियकानाधारत्वादिति हेतूकर्तव्यम्। तत्र प्रथममुपाधिन्निरस्यति **स्वरूपेति**। स्वरूपयोग्यतां प्रत्यक्षोपहितस्वरूपसम्पत्तिं प्रति, सहकारियोग्यताया स्तत्सम्पत्तेरिन्द्रियसन्निकर्षस्यानुपाधित्वात्। कुतः? **तस्या इति**। **तस्याः** प्रत्यक्षतायाः, **ताम्** इन्द्रियसन्निकर्षरूपसहकारियोग्यतामित्यर्थः। तथा च पक्षवृत्तित्वेन साधनव्यापकत्वान्नोपाधिरिति भावः। यद्वा, स्वरूपयोग्यतारूपं साध्यं प्रति, सहकारियोग्यता नोपाधिः, साध्याव्यापकत्वादित्यर्थः। द्वितीयमुपाधिं निरस्यति **नापीति**। यद्यप्युपाधौ सति साध्याभावो न दोषाय, तथापि समव्याप्तोपाधिमभिप्रेत्योक्तम्। विषमव्याप्तोपाधिपक्षे तु त्र्यणुके साध्याव्यापकत्वम्। अभावत्वपक्षधर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापकत्वे तु नष्टाश्रयद्रव्यधर्माद्यभावे –

मकरन्दः– **तथापीति**। आत्मादौ व्यभिचारवारणाय सत्यन्तम्। ऐन्द्रियकप्रतियोगिकाभावत्वे सत्यैन्द्रियकाधारत्वं योग्यत्वम्। तथा च न धर्माभावस्य योग्यता, तद्विरहश्च साधनव्यापक एवेत्याह **ऐन्द्रियकाभावमिति**। स्वरूपयोग्यतापदस्य फलोपधानपरत्वेऽपदार्थव्याख्यानमित्यनुशयान आह **यद्वेति**। एवञ्चात्र कल्पे **तस्याः** स्वरूपयोग्यतायाः। **तां** सहकारियोग्यतामपेक्ष्य सर्वदा अव्यवस्थितेरित्यकारप्रश्लेषेण मूलफक्किका योज्या, तेन साध्याव्यापकत्वं निर्वहतीति ध्येयम्। **अभावत्वेति**। अत एव साधनावच्छिन्नसाध्यव्यापकत्वमपि निरस्तम्। वस्तुत आधारपदं प्रतियोगिसमवायिपरमिति भूतलादिवृत्तित्वेऽपि साध्याव्यापकत्वम्। अन्यथा शब्दध्वंसस्यापि वीणादिवृत्तित्वेन साधन-व्यापकत्वापत्तेरिति। **द्रव्यधर्मादीति**। तदभावस्य कालाद्यतीन्द्रियाधारनिरूप्यत्वात् साध्याव्यापकत्वमिति भावः। ऐन्द्रियकत्वमिन्द्रियग्राह्यत्वमात्रं, तदिन्द्रियग्राह्यत्वं

प्रकाशः- साध्याव्यापकत्वम्। किञ्च प्रत्यक्षयोग्यतात्र साध्या, सा चाभावस्य नैन्द्रियकाधारत्वमात्रं, धर्माभावस्य प्रत्यक्षतापत्तेः। नाप्यैन्द्रियकाधारत्वे सत्यैन्द्रियकप्रतियोगिकाभावत्वम्, गौरवात्। तदिन्द्रियाग्राह्येऽप्यधिकरणे गन्धरसाभावयोर्घ्राणादिना ग्रहाच्च। न चैन्द्रियकप्रतियोगिकाभावत्वस्य योग्यतात्वे वायुस्पर्शध्वंसोऽपि प्रत्यक्षः स्यादिति वाच्यम्। तस्याश्रयनाशजन्यस्य ग्राहकेन्द्रियसन्निकर्षाभावादिति भावः। **अत एवेति**। इन्द्रियसन्निकृष्टत्व मैन्द्रियकाधारत्वं चेत्युभयम्। तत्प्रयुक्तमपि नाभावस्य प्रत्यक्षत्वम्। धर्माभावस्य प्रत्यक्षतापत्तेरित्यर्थः। सत्प्रतिपक्षद्वये प्रथमस्यासिद्धिमाह **नापीति**। अत्र स्थापनानुमाने योग्यत्वे साध्ये प्रत्यनुमाने तदभावः साध्यः। तत्र चेन्द्रियासन्निकृष्टत्वं व्यभिचारि, इन्द्रियासन्निकृष्टेऽपि योग्यताया अनपायात्। तस्माद्यदा साक्षात्कारविषयत्वं साध्यं, तदा फलाभावे योग्यता व्यर्थेति तत्राऽसिद्धिरुक्तेत्याहुः। ननु विशेषणत्वमभावस्य तदा स्याद् यदा श्रोत्रं शब्दध्वंसज्ञाने भासेत, न चैवम्, श्रोत्रस्यापीन्द्रियत्वात्। ततो न शब्दध्वंसस्य तद्विशेषणत्वम्। स्वसम्बन्धेन विशेष्ये व्यावृत्तिबुद्ध्य जनकत्वात्। नापि श्रोत्रं विशेष्यं, व्यावृत्तबुद्ध्यविषयत्वादित्याह **विशेष्यस्येति**। श्रोत्रस्यातीन्द्रियत्वेऽपि शब्दलिङ्गजश्रोत्रज्ञानसहकारि-मनः-प्रसूतानुमितिविषयत्वं स्यादित्यभिप्रेत्याह **तथेति**। विशेषणतासम्बन्धस्य हि विशिष्टज्ञानं फलं, न तु तदन्तर्भावेणैव स इत्यर्थः। आत्माश्रयमेवाह **विशेषणभावेनेति**। तथापि सम्बन्धं विना कथं विशेषणत्वमित्युपसंहरन्नेव निराकरोति **तस्मादिति**। संबन्धान्तरं-

---

मकरन्दः- वा? आद्ये **गौरवादिति**। अन्त्ये, **तदिन्द्रियेति**। **तस्येति**। कालादावाश्रयान्तरे प्रत्यक्ष एवेतीष्टापत्तिरपि बोध्या। फलोपधानाभिप्रायेण समाधत्ते **तस्मादिति**। फलोपधानाभावरूपे साध्ये सति योग्यतासत्यपि व्यर्था व्यभिचाराप्रयोजिकेति स्वरूपासिद्धिरेवोक्तेत्यर्थः। वस्तुतः, स्थापनायां योग्यत्वमेव साध्यम्, अन्यथा व्यभिचारप्रसङ्गादिति तदभाव एवात्र साध्यः। तत्र चाप्रसिद्धिरुपलक्षणतयोक्तेति व्यभिचारसत्त्वेऽप्यदोष इति तत्त्वम्। अत एवास्वरसादुक्त**मित्याहुरिति**। **शब्दलिङ्गजेति**। शब्दरूपलिङ्गजेत्यर्थः। अनुमितिविषयत्वमित्युपलक्षणम्। मानसप्रत्यक्षविषयत्वमित्यपि द्रष्टव्यम्। यद्यपि श्रौत्रप्रत्यक्षविषयत्वमपि सम्भवति, तथापि तत्र श्रोत्रस्य विशेष्यत्वमिति तन्नोक्तम्। **तथापीति**। उपसंहरन्नेव इति निराकरोतीत्यन्वयः। **विशेष मिति** विशेष्यत्वेनेति शेषः।

भावयोर्ग्रहणं, तथा ग्रहणमेव च विशेषणत्वमिति। तस्मात् सम्बन्धान्तरमन्तरेण तदुपश्लिष्टस्वभावत्वमेव हि तयोः। सैव च विशिष्टप्रत्ययजननयोग्यता विशेषणतेत्युच्यते। सा चात्र दुर्निवारा, प्रतियोग्यधिकरणेन स्वभावत एवाभावस्य मिलितत्वात्। तथापि तया तथैव प्रतीतिः कर्तव्येति चेन्न। गृह्यमाणविशेष्यत्वावच्छिन्नत्वाद्व्याप्तेः।

अन्यथा संयुक्तसमवायेन रूपादौ विशिष्टविकल्पधीजननदर्शनात् गन्धादावपि तथात्वप्रसङ्गात्। तथापि नेन्द्रियविशेषणतया कस्यचिद् ग्रहणं दृष्टम्, अपि त्विन्द्रियसंबद्धविशेषणतया। सा चातो निवर्तते इति चेन्न। अस्य प्रतिबन्धस्य इन्द्रियसन्निकृष्टार्थप्रतिसंबन्धिविषयत्वात्।

आमोदः– अनयैवानुपपत्त्या *भट्टैः* समवायोऽपि नाङ्गीक्रियत इति तमादायैव परिहृतम्। यद्यपि प्रत्यनुमाने योग्यताविरहः साध्यस्तत्र चेन्द्रियासन्निकृष्टत्वं न हेतुर्व्यभिचारात्, योग्यस्यापि घटादेरिन्द्रियासन्निकृष्टत्वात्; तथापि सार्वत्रिकमिन्द्रियसन्निकृष्टत्वं हेतुः, फलोपधानाभावो वा साध्यस्तत्र चासिद्धिरुक्ता। सम्बन्धं विनापि विशेषणत्वमुपपादयन्नुपसंहरति – **तस्मादिति। सम्बन्धान्तरं** संयोगसमवायौ तावन्तरेणेत्यर्थः। **उपश्लिष्टस्वभावत्वं** सम्बद्धस्वभावत्वम्। **तयोरिति।** श्रोत्रशब्दध्वंसयोरित्यर्थः। तथापि कथं विशिष्टप्रत्यय इत्यत आह – **सैवेति। विशिष्टप्रत्ययजननयोग्यतेति।** विशिष्टप्रत्ययजननयोग्यं स्वरूपद्वयमेव स्वरूपसम्बन्ध इत्यर्थः। **प्रतियोगीति।** शब्दप्रतियोगी, तदधिकरणेनाकाशेनेत्यर्थः। **तयेति।** विशेषणतयेत्यर्थः। **तथैवेति।** अधिकरणविशेष्यकैवेत्यर्थः। तथा च शब्दाभाववदाकाशमिति विशिष्ट'प्रतीतिः' स्यादिति भावः। **गृह्यमाणेति।** तादृशि प्रतीतौ विशिष्य योग्यता तन्त्रं, प्रकृते च श्रोत्रमतीन्द्रियं कुतो विशेषणमात्रज्ञानमिह विशेषणतया भवतीत्यर्थः।

अत्रानुरूपमुदाहरणं विपक्षदण्डमुखेनाह **अन्यथेति।** स्पर्शगन्धादयः संयुक्तसमवायेन गृह्यन्ते, न त्वधिकरणविशेषणतया प्रथमं भासन्ते। अन्यथा तदधिकरणवायुचम्पकभागाद्यननुमानापत्तेरिति भावः। इन्द्रियसम्बद्धविशेषणतैव प्रत्यासत्तिः, न त्विन्द्रियविशेषणतेत्याह **तथापीति। अस्य प्रतिबन्धस्येति।** इन्द्रियसम्बद्धविशेषणतयैव प्रत्यासत्त्याऽभावो गृह्यते। ननु साक्षाद्विशेषणतयेति स्वरूपस्य प्रतिबन्धस्य यत्रेन्द्रियसन्निकृष्टोऽर्थो भूतलादिः प्रतिसम्बन्धी द्वितीयः सम्बन्धी यस्य विशेषणस्य तद्विषयत्वादित्यर्थः। अन्यत्र परम्परागर्भः समवायः

प्रकाशः- विना विशिष्टप्रत्ययजननयोग्यत्वमेव स्वरूप सम्बन्धोऽस्तीत्यर्थः। तथापि कथं विशेषणतेत्यत आह **सैव चेति**। **प्रतियोगीति**। प्रतियोगिनः शब्दस्याधिकरणेन श्रोत्रेण शब्दाभावस्य स्वभावसन्निकृष्टत्वादित्यर्थः। **तथापीति**। **तया** विशेषणतया। **तथैव** सन्निकर्षेण विशिष्टविशेष्यविषयैव बुद्धिः कर्तव्या। विशेष्यस्य श्रोत्रायोग्यतया च साऽत्र न सम्भवतीत्यर्थः। **गृह्यमाणेति**। तद्विशेष्यकप्रत्यक्षे तद्योग्यता प्रयोजिका, अत्र तु विशेष्यं श्रोत्रमयोग्यम्, अतो विशेष्यमविषयीकृत्य विशेषणतया प्रत्यासत्त्या शब्दध्वंसप्रत्यक्षं जन्यत इत्यर्थः। **अन्यथेति**। यदि नैवं, तदा स्वाश्रये गृह्यमाणे रूपादिप्रत्यक्षदर्शनादगृह्यमाणे वायावाश्रये तत्स्पर्शप्रत्यक्षं न स्यादित्यर्थः। **तथापीति**। सम्बन्धान्तरं विना विशिष्टप्रत्ययजननयोग्यतयेन्द्रियप्रत्यासत्त्या सम्बन्धविशेषणस्यैव प्रत्यक्षजननदर्शनान्नेन्द्रियविशेषणता प्रत्यासत्तिरित्यर्थः। **अस्येति**। इन्द्रिय सन्निकृष्टोऽर्थो घटादिस्तस्य प्रतिसम्बन्धी द्वितीयः स तथेति, न विशेषणतामात्रमेवम्, अपि तु गृह्यमाणविशेष्यम्। साक्षात्सम्बन्धाभावे सत्येव हि परम्परासम्बन्ध आश्रीयते, अत्र तु साक्षादेव सम्बन्धोऽस्तीति न तदाश्रयणमित्यर्थः। द्वितीयं सत्प्रतिपक्षं निरस्यति **नापीति**। शब्देन व्यभिचारवारणार्थ**मभावत्वे सतीति**। **योग्यतेति**। तथा चोपाधिमत्वेनातुल्यबलत्वादित्यर्थः।

ननु स्थापनानुमाने योग्यतायाः साध्यत्वात् प्रत्यनुमाने तदभावः साध्य इति स एव नोपाधिः। साधनव्यापकत्वात्, व्यभिचारानुमाने साध्याविशेषप्रसङ्गाच्च। न च योग्यतावच्छेदकरूपाभाव उपाधिः, योग्यतासाधके स्थापनानुमाने नैन्द्रियकाभावत्वमेव योग्यत्वं हेतुः, साध्याविशेषप्रसङ्गात्। अपि तु योग्यतावच्छेदकरूपवत्त्वमिति तदभावो नोपाधिः पूर्वसाधनव्यतिरेकत्वात्। मैवम्। साध्यप्रयोजकत्वेन तादृशस्याप्युपाधित्वात्। न चैवं सत्प्रतिपक्षोच्छेदः। स्थापनाया यत्राभासत्वं तत्र पूर्वसाधनव्यतिरेकस्य साध्याव्यापकत्वेनानुपाधित्वात्। यथा शब्दोऽनित्यो गुणत्वाद् इत्यत्र व्योमैकगुणत्वेन सत्प्रतिपक्षे अगुणत्वमुपाधिः।

मकरन्दः- यद्वा, एतन्मते निरधिकरणाप्यभावप्रतीतिः, कालाद्यधिकरणा वेति तथोक्तम्। ननु भवेदेवं यदि साधनं साध्यव्याप्यं स्यात्, तदेव चोपाधिवादिमतेऽसिद्ध मित्यनुशयादाह **व्यभिचारानुमान इति**।

अन्यथा संयुक्तसमवायेन गन्धादावुपलब्धिदर्शनात्, समवायेनादर्शनात् शब्दस्याग्रहणप्रसङ्गात्। नाप्यभावत्वे सतीन्द्रियाधारत्वात् सत्प्रतिपक्षत्वम्, योग्यताविरहप्रयुक्तत्वाद्व्याप्तेः। न चातीन्द्रियाधारत्वमेव तस्य योग्यताविरहः। तद्विपर्ययस्यैव योग्यतात्वापत्तेः। न चैवमेव, धर्मादिप्रध्वंसग्रहणप्रसङ्गात्। दृश्याधारत्वं दृश्यप्रतियोगिता चेति द्वयमप्यस्य योग्यतेति चेन्न। उभयनिरूपणीयत्वनियमानभ्युपगमात्। प्रतियोगिमात्र–निरूपणीयो ह्यभावः। अन्यथा, 'इह भूतले घटो नास्ती'त्येषाऽपि प्रतीतिः

आमोदः– प्रत्यासत्तिरिति शब्देऽपि तथा स्यात्। तथा च यथा शुद्धसमवायः शब्दे प्रत्यासत्तिस्तथा शुद्धा विशेषणताऽभावग्रहे हेतुरेष्टव्येत्याह **अन्यथेति**। द्वितीयं सत्प्रतिपक्षं प्रतिक्षिपति **नापीति**। शब्दे वायवीयस्पर्शादौ च व्यभिचारवारणायाह **अभावत्वे सतीति**। **ध्वंसत्वे सतीति**। अतो नात्यन्ताभावेनान्योन्याभावेन वा व्यभिचारः। 'अतीन्द्रियमात्राधारत्वादिति' वा हेतुः। अयोग्यत्वेनोपाधिना सत्प्रतिपक्षस्य हीनबलत्वमाह **योग्यतेति**। ननु स्थापनानुमाने यत् साध्यं तत् कथमत्रोपाधिः स्यात् साधनव्यापकत्वादिति चेत्, न। योग्यतावच्छेदकरूपविरहस्य उपाधित्वात्। न च पूर्वसाधनव्यतिरेकपर्यवसायितया तथाप्युपाध्याभासोऽयमिति वाच्यम्। दूषकताबीजसत्त्वेन तादृशस्याप्युपाधित्वात्। न च सत्प्रतिपक्षोच्छेदः। स्थापनाया आभासत्वे तस्य सावकाशत्वात्। यथा शब्दोऽनित्यो गुणत्वादित्यत्र श्रावणत्वेन सत्प्रतिपक्षेऽगुणत्वं नोपाधिः। जलपरमाणुरूपादौ साध्याव्यापकत्वादित्येके। तन्न। एवमपि सत्प्रतिपक्षोच्छेदात्। तत्रोपाधिविरहस्य साध्याव्यापकत्वग्रहाधीनत्वात्। तद्ग्रहश्च व्यभिचारग्रहाधीनः। तथा च यदि पूर्वसाधने व्यभिचारग्रहस्तदा तत एव हीनबलत्वं व्यभिचाराग्रहे उपाधेरेव ग्रहाद् द्वितीयस्य हीनबलत्वमतः पूर्वसाधनव्यतिरेको नोपाधिः। न त्वतीन्द्रियाधारत्वेनायोग्यः शब्दध्वंसः कथं प्रत्यक्ष इत्यत आह **न चेति**। एवं सति ऐन्द्रियकाधारत्वेनाभावस्य योग्यता स्यात्तत्रेष्टापत्तौ बाधकमाह **न चैवमित्यादि**। धर्मादिध्वंसे दृश्यप्रतियोगित्वाभावादयोग्यत्वमिति शङ्कते **दृश्येति**। तर्हि दृश्यप्रतियोगित्वमेव लाघवादभावग्रहे योग्यतावच्छेदकमस्तु किं दृश्याधारतयेत्याह – **उभयेति**। नियमाभावमेव दर्शयति **प्रतियोगिमात्रेति**। प्रतियोगिज्ञानमात्रनिरूपणीय इत्यर्थः। मात्रपदेनाधिकरणग्रहं व्यवच्छिनत्ति। अधिकरणग्रहनिरूपणीयत्वे विपक्षदण्डमाह **अन्यथेति**।

प्रत्यक्षा न स्यात्। संयोगो ह्यत्र निषिद्ध्यते। तदभावश्च भूतलवत् घटेऽपि वर्तते। तत्र यदि प्रत्यक्षतया भूतलस्योपयोगो घटस्यापि तथैव स्यादविशेषात्। अथ घटस्यान्यथोपयोगः, भूतलस्याप्यन्यथैव स्यादविशेषात्। कथमन्यथेति चेत्, प्रतियोगिनिरूपणार्थमभाव सन्निकर्षार्थञ्च। तत्र प्रतियोगिनिरूपणं स्मरणलक्षणमनुपलभ्यमानेनापीति न तदर्थमध्यक्षगोचरत्वमपेक्षणीयमन्यतरस्यापि, कुत उभयस्य? सन्निकर्षस्तु भूतलघटसंयोगस्येन्द्रियेण साक्षान्नास्ति। येनास्ति, तेनापि यदीन्द्रियं न सन्निकृष्येत, कथमिव तं गमयेत्? न चोपलब्धोपलभ्यमानाभ्यामेवेन्द्रियं

आमोदः– न त्वधिकरणस्य भूतलस्य ग्रहोऽस्त्येवेति कुतो व्यभिचार इत्यत आह **संयोगो हीति**। न तु घट इत्यर्थः। भूतले घटस्य कराद्विद्यमानस्य संसर्गाभावत्रयस्यासम्भवात् संयोगस्य च यथायथं तत्त्रितयसत्त्वादिति भावः। ननु तथापि भूतलसंयोगाधिकरणं तत्र निरूपितमेव, अत आह **तदभावश्चेति**। तथा च यत्र घटो ध्वस्तोऽन्यत्र वा गतस्तत्र तस्याधिकरणस्याग्रहादभावग्रहः कथं स्यादित्यर्थः। ननु भूतले घटो नास्तीति धीर्न तु घटसंयोगो नास्तीति। तथाच संयोगस्तत्र कथं प्रतियोगीति चेत्? सत्यम्। घटोऽस्तीति प्रतीतिर्यथा घटसंयोगविषया तथा घटो नास्तीति प्रतीतेरपि तत्संसर्गविषयतौचित्यात्। ननु तथाप्यधिकरणज्ञानं वृत्तमेव भूतलस्याधिकरणत्वात्, न तु यावदधिकरणज्ञानस्य हेतुत्वं घटात्यन्ताभावादेरप्यग्रहप्रसंगादत आह **तत्र यदीति**। उभयाधारतायां भूतलमात्राधेयतया तद्ग्रहे विनिगमनाविरह इति भावः। यद्वा, अभावज्ञान-विषयीभूतयावदधिकरणकप्रत्यक्षफलोपधानस्य हेतुत्वादिति भावः। न तु ध्वंसस्य प्रतियोगी प्रकृते संयोगः। सोऽपि प्रतियोगिनो घटस्य यावत् स्मरणं न भवेत् तावन्न स्मर्येत। अस्मृतप्रतियोगिकश्चाभावो दुर्ग्रह इति तदर्थं घटस्मरणा-पेक्षेत्याशङ्क्याह **अथेति**। भूतलमपि तथैवोपयुज्यताम्, न तु भावग्रहे तदुपयोग इत्यर्थः। **कथमिति**। कोऽन्यः प्रकार इत्यर्थः। तमेव प्रकारं स्पष्टयति **प्रतियोगीति**। तर्हि घटवद्भूतलस्यापि स्मृतस्यैव घटभूतलसंयोगध्वंसप्रतीतिरस्तु किं भूतलस्यापि सन्निकर्षेणेत्यत आह **सन्निकर्षस्त्विति**। संयोगध्वंसे ग्राह्ये इन्द्रिय-सम्बद्धविशेषणताप्रत्यासत्तिनिर्वाहार्थं भूतलोपयोग इत्यर्थः। नन्वेवमधिकरण-ग्रहणमभावोपलब्धौ तन्त्रमित्यायातम्। तदुपलम्भमन्तरेण सन्निकर्षस्यैवाभावादित्यत आह **न चेत्यादि**। सन्निकर्षघटकतया भूतलसन्निकर्षोपयोगे सामग्र्यधीनं तज्ज्ञानमपि

प्रकाशः– जलपरमाणुरूपादौ साध्याव्यापकत्वात्। पूर्वं योग्यताविशेषो हेतुरत्र योग्यतामात्रव्यतिरेक उपाधिरित्यन्ये।

प्रयोजकत्वमेवाह **न चेति**। न दृश्याधारत्वमात्रं योग्यता, किन्तु दृश्यप्रतियोगिकत्वसहितम्, न चैतद् धर्मादिध्वंसस्यास्तीत्याह **दृश्येति**। तद्विरहश्च नोपाधिः, साधनव्यापकत्वात्। नाऽप्युभयस्य साध्यप्रयोजकत्वेनाप्रयोजकत्वम्। ऐन्द्रियकत्वरूपसाध्यसामान्याव्यापकत्वेनानुपाधित्वादितिः भावः। विपक्षे बाधकमाह **अन्यथेति**। यद्युभाभ्यां प्रत्यक्षाभ्यामेवाभावः प्रत्यक्ष इत्यर्थः। ननु भूतलमात्रमत्राऽऽधारः, तच्च दृश्यमेवेत्यत आह **संयोगो हीति**। न चात्र मानाभावः। घटनिषेधे हि भूतले घटाभावो न प्रागभावध्वंसाऽऽत्मकः प्रतियोगिसमानकालत्वात्। नाप्यत्यन्ताभावः, कदाचित् तस्य तत्र भावात्। तस्माद् घटसंयोगो निषिद्ध्यते, स च संयोगो य एतद्घटस्य तत्र भावी तस्य प्रागभावः, अतीतस्य ध्वंसः, सर्वदैवाऽभवतश्चात्यन्ताभावः। ननु भूतले घटो नास्तीति घटप्रतियोगिकाभावोऽनुभूयते, संयोगस्य तु प्रतियोगित्वे संयोगो नास्तीत्यनुभवापत्तिः। मैवम्, घटो नास्तीति बुद्धेरेव संयोगाभावविषयत्वात्। यथा हि भूतले घटास्तित्व बुद्धिस्तत्संयोगेन, तथा तदभावेन घटाभावबुद्धिः। यत्सम्बन्धपुरस्कारेण यत्र यद्भावबुद्धिस्तदभावपुरस्कारेण तत्र तन्नास्तिताप्रतीतिः।

मकरन्दः– नाप्युभयस्येति। दृश्याधारत्वसमानाधिकरणदृश्यप्रतियोगित्व साध्यप्रयोजकतया उपाधित्वेन स्थापनाहेतोरप्रयोजकत्वं नेत्यर्थः। **ऐन्द्रियकत्वरूपेति**। न चाभावत्वपक्षधर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापकत्वं, नष्टाश्रयकरूपाद्यभावे साध्याव्यापकत्वादिति भावः। एतेन पूर्वपक्षिवचनत्वेनास्य ग्रन्थस्यासङ्गतिरित्यपास्तम्। सिद्धान्तिनैव स्वातन्त्र्येण स्वहेतोरप्रयोजकत्वमाशङ्क्य परीहारकरणात्। *केचित्तु* नापीत्यस्य पूर्वं तदेतन्निराकरोति नोभयस्येति प्रक्षिप्य सिद्धान्तिवचनं कृत्वा योजयन्ति। नन्वेवं घटे भूतलं नास्तीति बुद्धेरपि तत्संयोगाभावविषयत्वे भ्रमत्वापत्तिः। न चेष्टापत्तिः, तस्याः प्रमात्वेन सर्वसिद्धत्वात्। एवं रूपे घटो नास्तीति बुद्धेरपि तत्संबन्धाभावविषयकत्वे भ्रमत्वापत्तिः। न च तत्संबन्धाभावविषयकत्वं तद्विशिष्टसंबन्धाभावविषयकत्वं, विशिष्टाभावश्च विशेषणाभावाधीनस्तत्रास्त्येवेति न भ्रमत्वमिति वाच्यम्। हन्तैवमावश्यक-विशेषणाभावविषयत्वेनैवोपपत्तौ विशिष्टाभावविषयत्वकल्पने गौरवान्माना–

प्रकाशः- *केचित्तु*, घटात्यन्ताभाव एव तद्विषयः। उत्पादविनाशधीस्तु तत्सम्बन्धतथात्वप्रयुक्ता, स च तत्संयोगध्वंसरूपः। न चैवं घटात्यन्ताभावसम्बन्धस्य संयोगध्वंसरूपतया नित्यत्वाद् घटधीस्तत्र कदापि न स्यादिति वाच्यम्। न हि यत्र यत्संयोगोऽस्ति तत्र तत्संयोगध्वंसः सामान्यध्वंसस्य यावद्विशेषध्वंसव्याप्यत्वादेकविशेषवति सामान्यध्वंसस्याभावेन तदुपपत्तेरित्याहुः। यथा प्रतियोगिभेदेनाभावभेदः, तथा तदवच्छेदकभेदेनापीति संयुक्तघटस्याभावस्तत्र, स चान्यविशिष्टाभाववदुत्पादविनाशशीलोऽन्य एवे*त्यन्ये*। यथाऽनादिसंसर्गाभाववैषम्येऽप्यभावबुद्धेरनन्यथासिद्धत्वादुत्पादशीलो ध्वंसः स्वीकृतः, तथा तत एवोत्पादविनाशशीलस्तुरीयः संसर्गाभावो घटस्ये*त्यपरे*।

मकरन्दः- भावाच्चेत्यनुशयादाह **केचित्त्विति। तत्सम्बन्धतथात्वेति।** तत्सम्बन्धसत्त्वासत्त्वप्रयुक्तेत्यर्थः। **सामान्यध्वंसस्येति।** प्रतियोगितावच्छेदकभेदेनाभावभेदाद् अभावान्तरवद् ध्वंसस्यापि सामान्याभावत्वमिति मतेनेदम्। न च ध्वंसस्य प्रतियोगिजन्यत्वनियमात् कथं तथेति वाच्यम्, चरमप्रतियोगिजन्यतया तथात्वात्, यावत्प्रतियोगिजन्यत्वे गौरवात्। ननु संयोगध्वंसस्य घटात्यन्ताभावसम्बन्धरूपत्वे गुणादौ तदत्यन्ताभावसम्बन्धो न स्यात्। यदि च तत्र स्वरूपमेव सम्बन्धः, तदा प्रकृतेऽपि तथास्तु, तत्कादाचित्कत्वाभ्युपगमाच्च प्रतीतेरपि तथात्वोपपत्तेः। किञ्च, सामान्यध्वंसस्य तद्घटसंयोगसामान्यं वा, तद्भूतलघटसंयोगसामान्यं वा प्रतियोगि? नाद्यः, व्यधिकरणस्यानागतस्य च संयोगस्य तदा तत्र भूतले ध्वंसासम्भवेनात्यन्ताभावसम्भवानुपपत्तेः। नान्त्यः, यत्र भूतले कदापि न तद्घटसंयोगस्तत्र प्रतियोग्यप्रसिद्ध्या तादृशध्वंसाभावेनात्यन्ताभावसम्बन्धानुपपत्तेः, अनागतसंयोगमादाय पूर्वदोषापत्तेश्चेति पूर्वास्वरसादाह **यथेति**। यथा दण्डोपनयापनयाभ्यां दण्डावच्छिन्नपुरुषविरहः कादाचित्कः, संयोगावच्छिन्नघटविरहोऽपि तथेत्यर्थः। नन्वेवं संयुक्तत्वेनैव घटोपस्थितिरभावप्रतीत्यङ्गं स्यात्, न तु घटत्वमात्रेण, तस्य प्रतियोगितावच्छेदकत्वात्। न चेष्टापत्तिः, तत्प्रकारकतदुपस्थित्यनन्तरमपि भूतले तद्घटाभावप्रतीतेरनुभवसिद्धत्वादित्यनुशयादाह **यथाऽनादीति**। समयविशेषसंसर्गिणा नित्याभावेनैवोपपत्तौ न तुरीयकल्पनमित्यनभिमतिबीजमत्रापि द्रष्टव्यम्।

प्रकाशः- ननु घटसंयोगाभावो योग्यानुपलब्ध्या ग्राह्यः, सा च प्रतियोगितद्व्याप्येतरयावत्तदुपलम्भकसत्त्वेऽनुपलब्धिः। अत्र च संयोगस्योपलम्भको घट एव नास्तीति न संयोगाभावः प्रत्यक्षः। मैवम्।

यो ह्यनुपलम्भः प्रतियोगिसत्वविरोधी, स एवाभावग्राहकः। अत एव पृथिवीत्वाभावो जलपरमाणुषु न प्रत्यक्षः। प्रत्यक्षश्च वायौ रूपाभावः। रूपस्य महति वायौ सत्त्वेऽनुपलब्धिविरोधात्। स च शब्दाधाराप्रत्यक्षत्वेऽपि प्रकृतेऽस्तीति शब्दाभावः प्रत्यक्ष इति भावः। **कथमिति**। अन्यथेत्यत्र कोऽन्यः प्रकार इत्यर्थः। ननु संयोगाभावप्रतीतौ सन्निकर्षमात्रार्थं भूतलस्योपयोगे गन्धतदभावबुद्धौ द्रव्यग्रह इव नियमेन भूतलोपलम्भो न स्यात्। अतः सन्निकर्षवदस्योपलब्धि रभावप्रत्यक्षाङ्गमित्युपलब्धौ सत्यामेव सन्निकर्ष इत्यत्राह **न चेति**। अत्रोपलब्धेनेत्यत्रेन्द्रियसन्निकर्षे भूतलोपलम्भस्तस्मिन् सतीन्द्रियसन्निकर्ष इति

मकरन्दः- तदुपलम्भकं प्रतियोग्युपलम्भकं, तस्य सत्त्वे समवधाने मेलने इति यावत्। **उपलम्भो** लौकिकप्रत्यक्षम्। तथा च प्रतियोगितद्व्याप्याभ्यामितरद् यावत् तदुपलम्भकं, तत् सत्त्वे अनुपलब्धिरित्यर्थः। चक्षुरादिकरणसमवधानमात्रे तु न योग्यानुपलब्धिः, अन्धकारे घटाभावप्रत्यक्षापत्तेः। किन्तु यावत्प्रतियोग्युपलम्भक सामग्रीसमवधाने सत्यनुपलब्धिः। तथा सति नान्धकारे घटाभावग्रहापत्तिः, घटोपलम्भकसामग्रीमध्यपातिनो यावदन्तर्गतस्यालोकसम्बन्धस्य तदानीमभावात्। प्रतियोग्युपलम्भे प्रतियोगिनोऽपि विषयविधया हेतुतया तस्यापि यावदन्तर्गतत्वात्। **प्रतियोगीतरेति**। प्रतियोगिसत्त्वेऽपि तेन सममिन्द्रियसन्निकर्षश्च प्रतियोगिव्याप्यः, व्याप्तिश्च भेदगर्भा विवक्षिता। अतः प्रतियोगिनः प्रतियोगिव्याप्यत्वेऽपि न क्षतिः। यत्किञ्चिदुपलम्भकसत्त्वेऽप्यन्धकारादौ तदभावग्रहाभावाद् **यावदिति**। तथा च प्रतियोगितद्व्याप्यभिन्नं प्रतियोग्युपलब्धिव्यापकं यद् यत्, समुदिततत्सत्त्व इत्यर्थः। विभिन्नदेशावच्छेदेन यावत्तदुपलम्भकसत्त्वेऽप्यभावाग्रहात् समवधान इति व्याख्यातम्। तत्र तद्धर्मावच्छिन्नतद्धर्मावच्छिन्नव्याप्येतरतद्धर्मावच्छिन्नलौकिक प्रत्यक्षयावत्कारणसमवधाने सति तद्धर्मावच्छिन्नानुपलब्धिः कारणमिति तु निष्कर्षः।

यो हीति। तथा चेयमेव योग्यानुपलब्धिरभावग्राहिकेति संयोगाभावोऽपि प्रत्यक्ष एवेति भावः। एवं सति प्रकृतः शब्दाभाव एव प्रत्यक्षो न स्यादिति नाशङ्कनीयं, तत्राप्युक्तानुपलब्धिसत्वादित्याह **स चेति**। एतेन शब्दाभावमधिकृत्य पूर्वपक्षाभावादिदमसङ्गतमित्यपास्तम्।

सन्निकृष्यते, इतरेतराश्रयप्रसङ्गात्।

तस्मात् सन्निकर्षे सति योग्यत्वाद्भूतलमप्युपलभ्यते, न तु तस्योपलभ्यमानत्वमभावोपलब्धेरङ्गमिति युक्तमुत्पश्यामः।

प्रकृते तु न प्रतियोगिनिरूपणार्थं तदुपयोगः, तस्य संयोगवदा

आमोदः- जायते। ननु तज्ज्ञानमपि तन्त्रम्। सन्निकर्षस्य च उपलम्भसापेक्षत्वे उपलम्भे सति सन्निकर्षः। सन्निकर्षे च सत्युपलम्भ इत्यन्योन्याश्रय इत्यर्थः। नन्विन्द्रियसन्निकर्षानन्तरं भूतलोपलम्भोऽस्ति। उपलब्धेनोपलभ्यमानेन वा भूतलेनाभावसन्निकर्षः स्यात्। क्वान्योन्याश्रय इति चेत्, न। भूतलानुपलम्भ-दशायामप्यभावेन सम्बन्धे समवधानविशेषणतायाः प्रत्यासत्तेः सम्भवादिति भावः। ननु भूतलोपलम्भश्चेन्न लिङ्गं कथं नियमतस्तत्र तत्सत्त्वमित्यनुपपत्तिं निरस्यन्नेवोपसंहरति **तस्मादिति**। ननु योग्यानुपलब्ध्या घटसंयोगाभावः कथं ग्राह्यः? एकप्रतियोगिनाशे प्रतियोग्युपलम्भकयावत्कारणसत्त्वात्। तत्तद्व्याप्येतरयावत् तदुपलम्भकसत्त्वे अनुपलम्भस्य योग्यानुपलब्धित्वादिति चेत्? न। एकधर्मावच्छेदेन यत्र द्वयोर्बहूनां वा कारणत्वं तत्रैककारणसमवधान एव प्रतियोग्युपलम्भकयावत्समवधानस्य विवक्षितत्वात्। तत्र हि प्रतियोगित्वेनैव द्वयोः संयोगोपलम्भकता। तथाचैकसमवधानेऽपि तदवतारग्रहोऽस्तु। अन्यथा प्रदीपसौरालोकादीनां घटोपलम्भकत्वेनैकतरसमवधाने घटाभावेऽप्युपलभ्येत, यावद् घटोपलम्भसमवधानविरहात्। तत्र बाह्यालोकत्वेनैव कारणत्वमिहापि प्रतियोगित्वेनेति तुल्यम्। न चैकप्रतियोगिसन्निकर्षमात्रात् संयोगग्रहप्रसङ्गः, व्यासज्यवृत्तिधर्मग्रहे व्यासज्यवृत्तिसन्निकर्षस्य तन्त्रत्वात्। न च तादृशसन्निकर्षश्चेत् प्रतियोग्यु-पलम्भकस्तदा तदभावोऽपि कथं गृह्यत इति वाच्यम्, तस्य प्रतियोगिव्याप्यत्वेनैव पर्युदस्तत्वात्। एवं चैतदनुरोधेन प्रतियोगिसत्त्वविरोध्यनुपलम्भो योग्यानुपलम्भ इत्युक्तम्। ननु घटानुपलम्भः प्रतियोगिसत्त्वविरोधी, न त्वालोक इत्यत्र तद्व्याप्येतरतदुपलम्भकयावत्सत्त्वमेव प्रयोजकं वाच्यम्। तथाच तदावश्यकमिति। नन्वेवं घटाभावः क्वापि न सिद्ध्येत्। तत्संसर्गाभावेनैव तत्प्रतीतेरुपपत्तेरिति चेत्? मैवम्। तत्समवायिकारणे तद्ध्वंसप्रतीतेस्तत्संसर्गध्वंसानालम्बनत्वात्। तत्संसर्गस्य तत्र समवायलक्षणत्वात्।

प्रकृते त्विति। शब्द-ध्वंस इत्यर्थः। **तदुपयोग** इति। अधिकरण प्रत्यक्षोपयोग इत्यर्थः। **तस्येति**। शब्दस्येत्यर्थः। **संयोगवदिति** व्यतिरेकदृष्टान्तः।

धारानिरूप्यत्वात्। नापि सन्निकर्षार्थं, तदभावस्य साक्षादिन्द्रियसन्निकर्षादिति। न चेदेवं, कुत एषा प्रतीतिरिदानीं श्रुतपूर्वः शब्दो नास्तीति? अनुमानादिति चेन्न। शब्दस्यैव पक्षीकरणे हेतोरनाश्रयत्वात्। अनित्यत्वमात्रसाधनेऽभावस्य नियतकालत्वासिद्धेः। आकाशस्य पक्षत्वे तद्वत्तयानुपलभ्यमानत्वस्य हेतोरनैकान्तिकत्वात्। शब्दसद्भावकालेऽपि तस्य सत्त्वात्। एवं कालपक्षेऽपि दोषात्। अहमिदानीं निःशब्दश्रोत्रवान्, शब्दोपलब्धिरहितत्वात्, बधिरवदिति चेन्न। दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वात्, व्याहतत्वाच्च। बधिरश्च श्रोत्रवांश्चेति व्याहतम्। तस्यापि च श्रवसः निःशब्दत्वे प्रमाणं नास्ति। अनुपभोग्यस्य उत्पादवैयर्थ्यं प्रमाणमिति चेन्न। आद्यादिशब्दवदुपपत्तेः। तेषां शब्दान्तरारम्भं प्रत्युपयोगः, अन्त्यस्य न तथेति चेन्न।

आमोदः- सन्निकर्षार्थमिति सन्निकर्षघटकमित्यर्थः। **तदभावस्येति**। शब्दध्वंसस्य साक्षादेव श्रोत्रसन्निकृष्टत्वादित्यर्थः। **न चेदेवमिति**। यदि शब्दध्वंसो न प्रत्यक्ष इत्यर्थः। **श्रुतपूर्व इति**। ध्वंसप्रतीतिपर्यवसानार्थम्। न त्विदानीं श्रुतपूर्वः शब्दो नास्ति योग्यत्वे सत्यनुपलभ्यमानत्वादित्यनुमानादेव तत्प्रतीतिरिति शङ्कते **अनुमानादिति**। ध्वस्तः शब्दो धर्मी तदा नास्ति इति नेदमनुमानमिति परिहरति **शब्दस्येति**। ननु सामान्यतः शब्देऽनित्यत्वं सिद्ध्येदेतादृशप्रतीतिविषयतामादाय सिद्ध्यतीत्याशङ्कां निराकरोति **अनित्यत्वेति**। तथाच शब्दोऽनित्य इत्येव प्रतीतिः स्यान्न त्विदानीं शब्दो नास्तीति प्रतीतिः। तत्र तस्यासामर्थ्यादित्यर्थः। न त्विदानीमाकाशं शब्दाभाववत् तद्वत्तयाऽनुपलभ्यमानत्वादित्यनुमानमाशङ्क्य निराकरोति **आकाशस्येति**। अनैकान्तिकत्वमेव स्फुटयति **शब्देति**। सत्यपि शब्दे आकाशस्य तद्वत्तयाऽनुपलभ्यमानत्वादित्यर्थः। **अहमिदानीमिति**। यद्यप्येतावतापीदानीं श्रुतपूर्वः शब्दो नास्तीति प्रतीतिर्नोपपद्यते, तथाप्यनेनानुमानेन शब्दध्वंसः प्रत्येतुं शक्यत एवैतावता शङ्काशूकोपपाद्यतया पश्चादुक्तमपि व्याघातं प्रथमं स्फुटयति – **बधिर इति**। अदृष्टविशिष्टकर्णशष्कुल्यवच्छिन्नं नभो बधिरे नास्तीत्यर्थः। अदृष्टं शब्दग्रहे सहकारि न तु तद्घटितमेव श्रोत्रमिति न व्याघात इत्यनुशयेन साध्यवैकल्यं स्फुटयति **तस्यापि चेति**। बधिरकर्णे शब्दोत्पत्तेः प्रयोजनाभावादसत्त्वमित्याह **अनुपभोग्यस्येति**। **आद्यादीत्यादि**' पदेनानुपभोग्यशब्दान्तरसंग्रहः। **तेषामिति**। आद्यादिशब्दानामित्यर्थः। **अन्त्यस्येति**। बधिरकर्णोत्पन्नस्येत्यर्थः।

प्रकाशः- इतरेतराश्रयत्वम्। उपलभ्यमानेनेत्यत्र यद्युपलब्धिसम्बन्धिनेत्यर्थः। तदा पूर्ववदितरेतराश्रयत्वम्।

यदि तु सन्निहितोपलम्भकारणेनेत्याभिमतं, तदैकसामग्री प्रसूतत्वेनाव्यभिचारेऽपि भावप्रतीत्यङ्गत्वमवर्जनीयसन्निधेरप्यन्यथासिद्धित्वादित्याह **तस्मादिति**। न च शब्दध्वंसग्रहेऽपि शब्दनिरूपणार्थमाधारग्रहस्योपयोग इत्याह **प्रकृते त्विति**। **तस्य** शब्दस्य। **संयोगवदिति** व्यतिरेकदृष्टान्तः। **तदभावस्येति** शब्दध्वंसस्य प्रतियोगिदेशाकाशे विशेषणत्वादित्यर्थः। **न चेदेवमिति**। यदि योग्यप्रतियोगिकत्वमात्रं नाभावयोग्यतावच्छेदकमित्यर्थः। **शब्दस्यैवेति**। शब्दं पक्षीकृत्य यदि ध्वंसवत्त्वं साध्यं, तदा शब्दसत्वकाले उपलभ्यमानत्वं हेतुः स्वरूपासिद्धः। तदसत्त्वकाले तु हेतोः पक्षे वृत्तावपि साध्यस्य ध्वंसवत्त्वस्य तत्रावृत्तेर्बाधितविषयत्वेनापक्षधर्मत्वादित्यर्थः।

ननु ध्वंसप्रतियोगित्वे साध्ये न बाध इत्यत आह **अनित्यत्वेति**। यदा कदाचिद् ध्वंससिद्ध्याऽर्थान्तरत्वादित्यर्थः। **कालपक्षेऽपीति**। तद्देशेऽन्यत्र वा शब्दसत्त्वकालेऽपि तद्वत्तया कालस्यानुपलभ्यमानत्वादित्यर्थः। **शब्दोपलब्धीति**। पूर्वोपलब्धत्वेन शब्दो विशेषणीयः, तेन ध्वंसः सिद्ध्यति। पश्चादुक्तमपि सन्निधानात् पूर्वं स्फुटयति **बधिरश्चेति**। शब्दोपलम्भकादृष्टविशिष्टकर्णशष्कुल्यवच्छिन्नं नभः श्रोत्रं बधिरस्य नास्तीत्यर्थः। ननु चादृष्टविशेषः शब्दोपलब्धौ सहकारी न तद्घटितं श्रोत्रमित्यतो दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यं विवृणोति **तस्यापीति**। श्रोत्रस्यादृष्ट घटितत्वसंशयेऽपि न साध्यसिद्धिरिति भावः।

ननु बधिरश्रोत्रे शब्दोत्पत्तौ स उपभुज्येत, उपभोगाभावाच्छब्दो नास्तीत्याह **अनुपभोग्यस्येति**। आद्यादिशब्दानामनुपभोग्यानामनुपभोग्यत्वमनैकान्तिकमित्याह **आद्यादीति**। उपभोग्यशब्दान्तरारम्भकत्वेन परम्परयोपभोग्यत्वं तेषाम्। प्रकृतस्य तु शब्दान्तराजनकतया न तथात्वमित्याह **तेषामिति**।

मकरन्दः- तदैकेति। यद्यप्येवं समसमयत्वात् पूर्ववर्त्तित्वाभावेनानङ्गत्वमित्यन्यथा सिद्ध्युपदर्शनमयुक्तं, तथापि यत्रापि पूर्ववर्त्तित्वं तत्रापि तदनङ्गत्वमिति दर्शयितुमन्यथासिद्धत्वादित्युक्तम्। एतदपि संयोगरूपप्रतियोगिसमवायितया भूतलस्य न निरूपकत्वमित्येवं परम्। अधिकरणनिरूपकत्वस्याग्रेऽभ्युपगमादिति ध्येयम्। **बाधितेति**। *प्राचीनमते*नेदम्। **घटादाविति**। तादृशगन्धाद्य नुपलम्भेऽप्युपलभ्यमानस्य घटस्य गन्धादिमत्त्वाद्व्यभिचार इत्यर्थः।

अन्त्यत्वासिद्धेः। सर्वेषाञ्चोत्पादवतां प्रयोजनतदभावयोरस्मादृशैरनाकलनात्। सुषुप्त्यवस्थायां श्वासप्रश्वासप्रयोजनवच्च तदुपपत्तेः। आरम्भे सति प्रयोजनमवश्यमिति व्याप्तेः। न त्वापाततः प्रयोजनानुपलम्भमात्रेणारम्भनिवृत्तिः। तथा सति कर्णशष्कुल्यवच्छेदोत्पाद एव नभसः तं प्रति निवर्तेत। बधिरस्य तेनानुपयोगात्। विवादकाले बधिरकर्णः शब्दवान्, योग्यदेशस्यानावृतकर्णशष्कुलीसुषिरत्वात्, तदितरकर्णशष्कुलीसुषिरवदिति।

निःशब्दाः पणववीणावेणवः। तदेकज्ञानसंसर्गयोग्यत्वस्य तदनुपलम्भेऽप्युपलभ्यमानत्वात्। यत् यदेकज्ञानसंसर्गयोग्यस्यानुपलम्भेऽप्युपलभ्यते तत् तदभाववत्। यथा - अघटं भूतलमिति चेन्न। एकज्ञानसंसर्गयोग्यत्वाभावात्। शब्दस्य श्रौत्रत्वाद्वीणादीनां चाक्षुषत्वात्। अभिमानमात्रादिति चेन्न। तथापि शब्दप्रध्वंसस्यातद्देशत्वात्, अत्यन्ताभावस्य च कालानियमात्।

आमोदः– बधिरकर्णेऽन्त्यशब्द एव उत्पद्यते इत्यत्र न प्रमाणमित्याह **अन्त्यत्वेति**। बधिरकर्णोत्पन्नशब्दस्यापि प्रयोजनं किञ्चिद् भविष्यतीत्याह **सर्वेषामिति**। **श्वासेति**। तेन जीवनावच्छेदेन यथा प्रयोजनं तथा कालकलावच्छेदादेवान्त्यशब्दस्यापि प्रयोजनसत्त्वादित्यर्थः। आरम्भस्तावदस्तु, सामग्रीसद्भावात् बधिरकर्णे शब्दस्य क्रमेण प्रयोजनं गवेषणीयमित्याह, **आरम्भ** इति। उपयोगस्यापाततोऽदर्शनेनारम्भनिवृत्तौ बधिरकर्णशष्कुल्यपि निवर्ततामित्याह **तथा सतीति**। यदा बधिरसमानदेशवर्तमानानामबधिराणां शब्दश्रवणमस्ति तदा बधिरस्यापि श्रोत्रे शब्देनोत्पत्तव्यमिति। साध्यवैकल्यमनुमानेन द्रढयति **विवादेति**। यदा बधिरकर्णस्य शब्दवत्तायां विवदाम तदेत्यर्थः। पुर्वोक्तरीत्यनुपपादनेऽपि शब्दध्वंससिद्धिमात्रमभिप्रेत्याह **निःशब्दा** इति। एकज्ञानसंसर्गयोग्यता चात्र नियता विवक्षिता। अतो न समूहालम्बने घटमादायैकज्ञानसंसर्गयोग्यत्वाद् व्यभिचारः। अत्र स्वरूपासिद्धिमाह **एकेति**। तामेव स्फुटयति **शब्दस्येति**। ननु शब्दवती वीणा वीणायां वा शब्द इत्युपनीतभानाभिमानिक्येकज्ञानसम्बन्धयोग्यता अस्त्येवेत्यत आह **अभिमानेति**। **निःशब्दा** इति शब्दध्वंसवन्त इति साध्ये बाधः। शब्दात्यन्ताभाववन्त इति साध्ये ध्वंसो न सिद्ध्येदित्याह **तथापीति**।

स्यादेतत्। शब्दवदाकाशोपाधयो हि भेर्यादयः। तेन तेषु विधीयमानः शब्दः आकाश एव विहितो भवति। प्रतिषिद्ध्यमानश्च तत्रैव प्रतिषिद्धो भवति, शरीरे सुखादिवदिति चेन्न। तत्र सोपाधावात्मनि प्रत्यक्षसिद्धे सुखादिनिषेधस्यापि प्रत्यक्षसिद्धत्वात्। न चैवमिहापि, तदुपहितस्य नभसोऽप्रत्यक्षत्वात्। उपाधयस्तावत् प्रत्यक्षा इति चेन्न। तैरभावानिरूपणात्। निरूपणे वा प्रत्यक्षेणापि ग्रहणप्रसङ्गात्। न चैवं सति पारमार्थिकाधिकरणनिरूपणीयत्वमभावस्य। न च तेऽपि प्रत्यक्षसिद्धाः। सर्वत्र शब्दकारणव्यवधानेऽप्युपलब्धस्य शब्दस्य नास्तिताप्रतीतेः। आनुमानिकैस्तैस्तथा व्यवहार इति चेन्न। हेतोस्तद्वृत्तयानुपलभ्यमानत्वस्यानैकान्तिकत्वात्। अभावप्रतीतिकाले सन्दिग्धा-

---

आमोदः– ननु वीणायां शब्दध्वंसः साध्यमान आकाश एव सेत्स्यतीति न बाध इति शङ्कते **स्यादेतदिति**। आकाशस्य उपाधयो भेर्यादय इति। तत्र विधिनिषेधौ क्रियमाणावाकाश एव पर्यवस्यत इत्यर्थः। **शरीर इति**। सुखवच्छरीरं सुखाभाववच्छरीरमितिवत् पादे मे वेदना शिरसि मे सुखमिति हि प्रतियन्तीत्यर्थः। यद्यपि गन्धविभुत्वयोः शरीरे विधीयमानयोरपि नात्मनि विधिनिषेधौ, तथापि यदवच्छेदेन यद्वर्तते तत्रेयं गतिरिति भावः। अवच्छेद्यं यत्र प्रत्यक्षं तत्र प्रत्यक्षेणावच्छेदकौ विधिनिषेधौ तथा, प्रकृते तु नावच्छेद्यस्याकाशस्य प्रत्यक्षतेत्याह **तत्रेति**। उपाधिप्रत्यक्षतामात्रं तत्र तन्त्रं, न तूपधेयप्रत्यक्षतापीति शङ्कते **उपाधय इति**। **तैरिति**। शब्दाभावस्य तत्रावृत्तेरिति भावः। निरूपणे वा सिद्धं नः समीहितमित्याह **निरूपणे वेति**। समीहितमेव स्फुटयति **न चैवमिति**। *एकदेशिनः* प्रतियोगिसमवायिकारणनिरूप्यत्वमभावस्याहुस्तद् भग्नमित्यर्थः। अधिकरणस्य पारमार्थिकत्वं प्रतियोगिसमवायिदेशत्वम्। **तेऽपीति**। वीणादयोऽपीत्यर्थः। तथा च तत्र नास्तिताप्रतीतिर्न स्यादित्यर्थः। अनुमितेषु वीणादिषु शब्दनास्तितानुमान-मित्याशङ्कते **आनुमानिकैरिति**। **तथा व्यवहारः** शब्दनास्तिताव्यवहारः। **अनैकान्तिकत्वादिति**। दूरव्यवहिततया शब्दवतोऽपि वीणादेस्तद्वृत्तयाऽनुपलम्भ-सम्भवादिति भावः। **सन्दिग्धेति**। तदा वीणादेर्नाशसम्भवे सन्दिग्धाश्रयत्वादित्यर्थः। इदानीं सा वीणा शब्दाभाववतीति विशिष्टप्रतीत्यनुदयादिति भावः।

प्रकाशः– प्रकृतस्याप्युत्पादकत्वेनान्त्यत्वासिद्ध्याऽनुपभोग्यत्वासिद्धिरित्याह **अन्त्यत्वेति**। प्रत्युत बधिरश्रोत्रस्य शब्दसद्भाव एव मानमस्तीत्याह **विवादेति**। यद्वा तद्देशवासिभिः श्रोत्रवद्भिरुपलभ्यते शब्दस्तदेत्यर्थः। धर्म्यन्तरं पक्षीकृत्य शब्दध्वंसानुमानमाह **निःशब्दा इति**। एकज्ञानसंसर्गयोग्यत्वमात्रं घटादौ व्यभिचारीति नियमेन तथात्वं वाच्यम्। तथा चासिद्धिरित्याह **एकज्ञानेति**। शब्दे भासमाने उपनीतो वीणादिरपि भासते इति तत्सिद्धिरित्याह–**अभिमानेति**। **निःशब्दा इति**, शब्दध्वंसवन्त इति साध्यं शब्दसमवायित्वरहिता इति वा? नाद्यो, बाधादित्याह **तथापीति**। **अतद्देशत्वाद्वीणाद्यदेशत्वादित्यर्थः**। ध्वंसस्य प्रतियोगिसमानदेशत्व–नियमादत्रापि नियमेनैकज्ञानसंसर्गयोग्यत्वमसिद्धमिति भावः। अन्त्ये नियतकालप्रतीत्यनुपपत्ति–रित्याह **अत्यन्तेति**। सिद्धसाधनञ्च द्रष्टव्यम्। एवमन्योन्याभावेऽपि साध्ये इति भावः।

उपाधौ विधिनिषेधावुपाधिमति भवत इति वीणादिदेशत्वमेव शब्दध्वंसस्येति शङ्कते **स्यादेतदिति**। **उपाधिः** अवच्छेदकः। यद्यपि शरीरे गन्धविधौ, विभुत्वनिषेधे चात्मनि तौ न भवत इति नायं नियमः। तथापि यदवच्छेदेन यद् वर्त्तते तत्रावच्छेदके विधिनिषेधधीरवच्छिन्नविधिनिषेधविषयेति नियम इति भावः। उपनीतशरीरावच्छेदेनाऽऽत्मनि योग्ये, सुखाद्यभावग्रहेऽपि नाकाशे शब्दाभावग्रहः, उपाधिमतोऽपि तस्यायोग्यत्वादिति परिहरति **तत्रेति**। **तैरिति**। वीणादयः प्रत्यक्षा अपि न शब्दसमवायिन इति न तैः शब्दध्वंसो निरूप्यते इत्यर्थः। **निरूपणे वेति**। तथा च विवादाभावो दृश्याधारत्वदृश्यप्रतियोगित्वयोः सम्भवादिति भावः।

दूषणान्तरमाह **न चैवमिति**। मुख्यप्रतियोग्याधारविषय एवाभावनिरूपकत्वादित्यर्थः। यदि च मुख्यामुख्यसाधारणमाधारमात्रं तन्निरूपकं तत्राह **न चेति**। अप्रत्यक्षे वीणादौ शब्दाभावप्रतीत्यनुदयापत्तेरित्यर्थः। व्यवहिते वीणादौ शब्दविशेषानुमिते शब्दध्वंसव्यवहार आनुमानिकः स्यादित्याह **आनुमानिकैरिति**। वीणाया अश्रौत्रत्वेन सशब्दवीणा न श्रोत्रेणोपलभ्यते इति

मकरन्दः– एवमिति। शब्दसमवायिभिन्ना, इत्यत्र साध्ये इत्यर्थः। **उपाधिमतीति**। तथा च विशिष्टस्य तदाश्रयता विशेषणस्यापि तथात्वमिति भावः। तदेवाह **वीणादीति**। वीणादिदेशत्वं भवत्येवेत्यर्थः। तथा च न बाध इति भावः। यद्यप्येवमुपाधिमात्रदेशत्वमेव साधयितुमर्हमित्याकाश एव विहितो भवतीति मूलमसङ्गतं, तथाप्यवच्छेदकतया तस्या तदधिकरणत्वं तच्चावच्छेद्यसापेक्षमिति विशिष्टदेशत्वसाधनमिति भावः। **उपाधिमतोऽपीति**।

श्रयत्वाच्च। उपलभ्यमानविशेष्यत्वपक्षे चासिद्धेः। इन्द्रियव्यवधानाच्छब्द-लिङ्गस्य चानुपलम्भात्।

अपि च, नष्टाश्रयाणां द्रव्यगुणकर्मणां नाशोपलम्भः कथम्? न कथञ्चिदिति चेत्, आश्रयनाशात्कार्यनाश इति कुत एतत्? अनुमानतस्तथोपलम्भादिति चेन्न। तुल्यन्यायेनोक्तोत्तरत्वात्। तन्तुषु नष्टेष्वपि यदि पटो न नश्येत्तद्वदेवोपलभ्येतेति चेत्, एतस्य तर्कस्यानुग्राह्यमभिधीयताम्। यदत्रोपलभ्यते न तत् कार्यपरम्परावत्, योग्यस्य तथानुपलभ्यमानत्वे सति उपलभ्यमानत्वादिति चेन्न।

तन्त्ववयवानां पटानाधारत्वे साध्ये सिद्धसाधनात्। पटप्रध्वंसवत्त्वे साध्ये बाधितत्वात्। तस्य स्वप्रतियोगिकारणमात्रदेशत्वात्। ये पटध्वंसवन्तस्तन्तवस्तदभाववन्त एते अंशव इति साध्यमिति चेन्न। तन्तुनाशोत्तरकालं पटनाशात् तद्वत्तानुपपत्तेः।

आमोदः– ननु शब्दवत्तयाऽनुपलभ्यमानत्वे सत्युपलभ्यमानत्वादिति हेतूकर्तव्येति तत्राह **उपलभ्यमानेति**। **असिद्धेरिति**। स्वरूपासिद्धेरित्यर्थः। स्मर्यमाणत्वादिना तूपलभ्यमानत्वसिद्धौ नियतकालाभावप्रतीत्यनुदय इति भावः। असिद्धिमेव स्फुटयति **इन्द्रियेति**। ननु प्रत्यक्षासम्भवेऽपि अनुमानं स्यादत आह **शब्दलिङ्गस्य चेति**। ननु यदि प्रतियोगिसमवायिदेशयोग्यताऽभावग्रहे तन्त्रं तदाश्रयनाशे यत्र द्रव्यादिनाशस्तद्द्रव्यादिध्वंसः कथं प्रत्यक्षः स्यादित्याह – **अपि चेति**। तदुपलम्भे न क्षतिरित्याह – **न कथञ्चिदिति**। तर्हि सिद्धान्तभङ्ग इत्याह **आश्रयेति**। **तुल्येति**। पट इदानीं ध्वंसप्रतियोगी अनुपलभ्यमानत्वादित्याश्रया-सिद्धमनैकान्तिकञ्च पटावयवः। पटः ध्वंसवानिति च तत्र बाधितमित्यर्थः। **तद्वदेवेति** पूर्ववदेवेत्यर्थः। यद्वा, पटवानत्र तन्तुरुपलभ्येतेत्यर्थः। **एतस्येति**। तर्कस्य, स्वातन्त्र्येणाप्रमाणत्वात्। **यदत्रोपलभ्यते इति**। अंश्वादिकमित्यर्थः। **तथानुपलभ्यमानत्वे सतीति**। कार्यपरम्परावत्त्वेनानुपलभ्यमानत्वे सतीत्यर्थः। **तन्त्विति**। अंशूनां पटाधारत्वं सिद्धम्। पटध्वंसवत्त्वञ्च बाधितमित्यर्थः। बाधमाह **तस्येति**। ध्वंसस्य प्रतियोगिसमवायिकारणातिरिक्तानाश्रयत्वादित्यर्थः। ननु तन्तूनां पटध्वंसवत्त्वम् अंशूनां तन्तुध्वंसवत्त्वञ्च साध्यमतो न सिद्धसाधनम्, न वा बाध इत्याशङ्कते **य इति**। **तद्वत्तेति**। तद्वत्त्वं तन्तूनामेव पटध्वंसवत्त्वं बाधित–

प्रकाशः– व्यभिचार इत्याह **हेतोरिति**। **सन्दिग्धेति**। यत्र शब्दविशेषेणानुमिता वीणा न प्रत्यक्षा, तत्र वीणायाः सत्त्वासत्त्वसन्देहादित्यर्थः। यद्यपि पक्षस्य लिङ्गविशिष्टज्ञानादेवानुमितिसम्भवे सन्देहो नानुमितिविरोधी, तथापि प्रथमं वीणाध्वंससन्देहाच्छब्दध्वंसस्तत्र वर्तते इति धीर्न स्यात्। यद्वा, वीणाद्यननुमानेऽपि पक्षनिश्चयादनुमानाभावेऽपि शब्दस्यानुपलम्भादभावनिश्चयादित्येवम्परोऽयं ग्रन्थः। शब्दवत्तयाऽनुपलभ्यमानत्वे सत्युपलभ्यमानत्वादिति हेतुकरणान्नोक्तदोष इत्याह **उपलभ्यमानेति**। **असिद्धेः**। उपलभ्यमानत्वस्येति शेषः। तत्र हेतुमाह **इन्द्रियेति**। **शब्दरूपस्य** लिङ्गस्येत्यर्थः, आप्तोपदेशस्य चाभावादिति भावः। ननु शब्द एतत्कालप्रध्वंसप्रतियोगी, एतत्पूर्वकालत्वे सति शब्देतरयावत्तदुपलम्भक सत्त्वेऽप्यनुपलभ्यमानत्वादित्यस्तु। मैवम्। एवं सति घटाभावस्याप्यनुमेयतायामभाव मात्रस्याप्रत्यक्षतापत्तेः। यदि च योग्यानुपलब्धेस्तत्र सत्तयैव हेतुत्वान्नानुमानं, तर्हि प्रकृतेऽपि तुल्यमिति भावः।

अपि चेति। यदि प्रतियोग्याश्रयेणैवाभावो निरूप्यते इति शेषः। **तुल्यन्यायेनेति**। स्वरूपकालाकाशपक्षे आश्रयासिद्ध्यनैकान्तिकत्वात्, पटतदवयवादिपक्षत्वे बाधादित्यादिनेत्यर्थः। **तन्तुष्विति**। पटारम्भकतन्तुष्वित्यर्थः। प्रागुक्तदोषभिया पटध्वंसविशिष्टतन्तुध्वंसवत्वमंशुषु साध्यमाशङ्क्य प्रकारान्तरेण बाधसिद्धसाधने आह **य इति**। **तद्वत्ता** तन्तूनां पटध्वंसवत्ता। नन्वेतेंऽशवः पटध्वंससमानकालस्वजन्यतन्तुध्वंसवन्तस्तद्वत्तयाऽनुपलभ्यमानत्वादित्यनुमानं स्यात्। अत्र, यदा कदा चित् समानकालत्वविवक्षायामिदानीं नष्टः पट इति प्रतीत्यनुपपत्तिः। अथेदानीं तथात्वं विवक्षितं, तदा हेतोरसिद्धिरित्येके ।

मकरन्दः– तथा च त्वन्मते नोपाधिमति विधिनिषेधौ सम्भवत इति भावः। **शब्दरूपस्येति**। यद्यपि शब्दञ्च लिङ्गञ्च शब्दलिङ्गं, तस्येत्यर्थे उभयोरपि लाभे आप्तोपदेशस्येत्यग्रिमफक्किका विफला, तथापि लिङ्गं शब्द एव वाच्यमिति तथैव व्याख्यात इत्याहुः। **एतत्काल इति**। एतत्कालीनध्वंसप्रतियोगीत्यर्थः। प्रागभावदशायां व्यभिचारवारणाय **सत्यन्तम्**। अप्रसिद्धिवारणाय **शब्देतरेति** स्वस्वव्याप्येतरेत्यर्थः। तथा च दृष्टान्तसौलभ्यम्। उपलम्भपदं प्रत्यक्षपरम्। **नन्वेत इति**। यद्यपि स्वजन्यत्वपदं व्यर्थं यत्किञ्चित्पटसमानकालतन्तुध्वंस वत्तयाऽर्थान्तरञ्च, तथापि स्वजन्यत्वपदं स्वप्रयोज्यत्वपरं पटविशेषणमेव बोध्यमिति नोक्तदोषः। **हेतोरसिद्धिरिति**। व्यापकेऽपि व्यर्थविशेषणत्वमिति मते

योग्यतामात्रसाधने च पट प्रध्वंसासिद्धेः। तस्य नाशानाशयोः समानत्वात्। अनन्यगतिकतया विशिष्टनिषेधे कृते विशेषणानामप्यभावः प्रतीतो भवति। गुणक्रियावत्पटाधारास्तन्तवो न सन्ति स्वावयवेष्विति हि प्रत्यय इति चेत्, तथापि गुणकर्मणां पटस्य च प्रध्वंसः किमधिकरणः प्रतीयते इति वक्तव्यम्। अंशवधिकरण एवेति चेत्, भ्रान्तिस्तर्हीयम्। तस्यातद्देशत्वात्। आश्रयावच्छेदकतया तेषामप्यदूरविप्रकर्षेण तद्देशत्वम्। एवम्भूतेनापि देशेन तन्निरूपणयोग्यताया अव्याभिचारादिति चेत्, न तर्हि प्रतियोगिसमवायिदेशेनैव प्रध्वंसनिरूपणमिति नियमः। प्रकारान्तरेणापि निरूपणात्। तस्मात् यस्य यावती ग्रहणसामग्री तं विहाय तस्यां सत्यां तदभावो यत्र क्वचिन्निरूप्यो देशे काले वा।

आमोदः-मित्यर्थः। ये तन्तवः पटध्वंसाधारयोग्यास्तदभाववन्त एव तेऽशंव इत्यत्र दोषमाह **योग्यतेति। तस्येति।** पटध्वंसानाधारसमयेऽप्यतादृशयोग्यता सम्भवादित्यर्थः। **अनन्यगतिकतयेति।** पटध्वंसप्रतीतेरिहानुमानेनोपपादयितुम शक्यत्वमनन्यगतिकत्वं प्रकृते विशेषणसिद्धौ न चेन्मानं तदा विशिष्टाभावसाक्षात्कारो विशेषणाभावमादायैव पर्यवस्यतीति भावः। एतावतापि प्रतियोगिसमवायि-देशनिरूप्यत्वं न ध्वंसस्य समाहितं तच्च प्रकृतमित्याह **तथापीति। तस्य** पटध्वंसस्य **अतद्देशत्वात्** तन्तुदेशत्वाभावादित्यर्थः। **आश्रयावच्छेदकतयेति।** पटध्वंसाश्रयाणां तन्तूनामाधारतयांशवोऽवच्छेदकास्ते च सन्निकृष्टा एव। तथा च तत्रैव पटध्वंसा अपि प्रतीयन्ताम् को दोष इत्यर्थः। **तन्निरूपणयोग्यतायाः** अभावप्रत्यक्षयोग्यतायाः **अव्यभिचारादिति।** अन्वयव्यतिरेकसिद्धत्वादित्यर्थः। एवं सति शब्दध्वंसः प्रत्यक्ष इति सिद्धं नः समीहितमित्याह **तर्हीति।** उपसंहरति **तस्मादिति।** प्रतियोगितद्व्याप्येतरतदुपालम्भकसामग्रीसत्त्वं प्रकृतेऽप्यस्तीति भावः। न च शब्दव्यञ्जकनादाद्यभावादुपालम्भकसामग्रीविरह इति वाच्यम्। समानदेशानां समानेन्द्रियग्राह्याणां प्रतिनियतव्यञ्जकव्यङ्ग्यत्वादर्शनात्। वाद्यादिव्यञ्जकताया निषेधात्।

प्रकाशः- यत्र परस्परादिनोपलभ्यते तत्र कथमनुमानमित्*यन्ये*। ननु यत्र विशिष्टनिषेधे विशेष्यासिद्धौ मानं, तत्रैव तस्य विशेषणमात्रनिषेधपर्यवसायित्वम्। प्रकृते चातथात्वाद् गुणक्रियावत्पटाधारतन्तुनिषेधे गुणकर्मपटानामपि निषेधः स्यादिति शङ्कते **अनन्येति**। अत्रापि बाध इत्यभिप्रेत्य परिहरति **तथापीति**। **तस्येति**।

प्रकाशः– पटध्वंसस्यांशवनाधारत्वादित्यर्थः। **आश्रयेति**। गुणक्रियावत्पटाश्रय–तन्त्ववच्छेदकानामंशूनामपि गुणादिदेशत्वमित्यर्थः। **तं विहायेति**। तं प्रतियोगिनम्, तद्व्याप्यञ्चेति द्रष्टव्यम्। शब्दस्य तु नाश्रयग्रहान्तर्भावेण ग्रहणसामग्री, येन तदग्रहे न गृह्येतेति भावः। **यत्रेति**। एतेन निरधिकरणाभावधीरिति सत्यं, किन्तु प्रतियोगिसमवायिदेशनिरूप्यतानियमो नास्तीत्युक्तम्।

मकरन्दः– व्याप्यत्वासिद्धिरित्येके। आकाशादौ व्यभिचारेण सेत्यन्ये। साध्याप्रसिद्ध्या अज्ञानरूपाऽसिद्धिरित्यपरे। **विशेष्यसिद्धाविति**। विशेषणसिद्धाविति युक्तः पाठः। एवं विशेषणमात्रनिषेधेत्यत्र विशेष्यमात्रनिषेधेति। **गुणक्रियावदिति**। यद्यपि गुणक्रियापटाधारेति वक्तुमर्हति, तथापि पटनिष्ठयोरपि गुणक्रिययोः परम्परया तन्तुविशेषणत्वमित्यभिप्रायेण तथोक्तम्। **पटध्वंसस्येत्युपलक्षणं**, गुणादिध्वंसस्येत्यपि द्रष्टव्यम्। **तन्त्ववच्छेदकानामिति**। तन्त्वाश्रयाणामित्यर्थः। तथा च परम्परासम्बन्धेन तेषां गुणादिदेशत्वात्तद्ध्वंशदेशत्वमपीतिभावः।

इयांस्तु विशेषः। सा सती चेत्, प्रत्यक्षेण। असत्येव ज्ञाता चेत्, अनुमानादिनेति स्थितिः। एतेन 'सद्भ्यामभावो निरूप्यते' इत्यादिशास्त्रविरोधः परिहृतो वेदितव्यः। उभयनिरूपणीय–प्रतियोगिविषयत्वात्, अनुमानविषयत्वाच्च। अन्यथा, आश्रयासिद्धि–प्रसङ्गात्। तत्रापि न ग्रहणे नियमो, ज्ञानमात्रन्तु विवक्षितम्,

---

आमोदः– ननु प्राङ्नास्तितास्थले योग्यानुपलम्भाभावात् कथमभावनिश्चय इत्यत आह **इयानिति**। योग्यानुपलम्भः स्वरूपसन्नेव प्रत्यक्षसहकारी प्राङ्नास्तितास्थले नास्तीति ज्ञातः सन् लिङ्गं भवतीत्यर्थः। यत्र नोपलब्धः चैत्र इति ब्रूते तत्रानुमानं, यत्र तु स्मरणार्हस्यास्मरणादिना लिङ्गेन चैत्राभावं निर्णीय ब्रूते नासीत्तत्र चैत्र इति। तत्र शब्देन प्राङ्नास्तितां गृह्णाति। स एव चादिपदग्राह्यः। **एतेनेति**। यत्र क्वचिद्देशे काले वेत्यभ्युपगमेनेत्यर्थः। **सद्भ्यामिति** ज्ञाताभ्यामित्यर्थः। प्रतियोग्यधिकरणाभ्यामिति शेषः। तथाच प्रतियोग्याश्रयाकाशज्ञानं विनापि निरधिकरणशब्दाभावप्रतीतौ न क्षतिः। ननु तर्हि निरधिकरणाभावप्रतीतिरस्तीति ग्रन्थविरोध इत्यत आह **उभयेति**। उभयनिरूप्यो यत्र प्रतियोगी तत्र तदभावोऽपि तथेत्यर्थः। अधिकरणज्ञानं विना यत्र न प्रतियोगिज्ञानं संयोगादिस्थले तदभिप्रायकत्वाद् ग्रन्थस्य शास्त्रविरोधपरीहारप्रकारान्तरमाह **अनुमानेति**। अधिकरणनिरूप्यतायां तत्र प्रमाणमाह **अन्यथेति**। **तत्रापीति**।

तावन्मात्रस्यैव तदुपयोगात्, क्वचिद्ग्रहणस्य सामग्रीसंपातायातत्वात्। यदि चाधिकरणग्रहे शास्त्रस्य निर्भरः स्यात्, 'वह्नेर्दाह्यं विनाश्यानुविनाशवत्तद्विनाशः' (न्या०सू० ४-१-२७) इति नोदाहरेत्, असिद्धत्वात्। न हि वह्निविनाशः तदवयवपरम्परास्वनिरूप्यः, तासामनिरूपणात्। नाप्यन्यत्र गमनाभावादिना पारिशेष्यादनुमेयः, हेतोरेव निरूपयितुमशक्यत्वात्, आश्रयानुपलब्धेः। नापि निमित्त-विनाशात्सर्वमिदमेकवारेण सेत्स्यतीति युक्तम्, तस्यानैकान्तिकत्वात्। तेजसा विशेषितत्वाद्दयमदोष इति चेन्न। व्याप्त्यसिद्धेः। न हि इन्धनविनाशात्तेजोद्रव्यमवश्यं विनश्यतीति क्वचित्सिद्धम्, प्रत्यक्षवृत्तेरनभ्युपगमात्। तस्मात् यत्त्यागेनान्यत्र गमनं न संभाव्यते, तेन निमित्तादिनापि देशेन प्रध्वंसो निरूप्यते इत्यकामेनापि स्वीकरणीयम्,

---

आमोदः– उभयनिरूप्यप्रतियोगिस्थलेऽप्यनुमाने च नानुभवनियमः। स्मर्यमाणा-श्रयकस्यापि संयोगादिध्वंसस्यांशौ पटध्वंसवद्भूतलादौ च तत्कालनष्टप्रतियोगिकादौ निरूपणादित्यर्थः। अत एव नोभयसंयोगिनिरूप्यत्वं संयोगध्वंसस्येति भावः। **तावन्मात्रस्यैवेति।** अभावसाक्षात्कारे व्यापकाभावेन व्याप्याभावानुमाने चाधिकरणज्ञानमात्रस्यैवोपयोगित्वादित्यर्थः। तर्हि भूतलादिघटपुरःसरः कथमघटं भूतलमिति प्रत्यय इत्यत आह **क्वचिदिति।** अपसिद्धान्तं परिहरन्नाह **यदि चेति।** उदाहरणाभावे हेतुमाह **असिद्धत्वादिति।** असिद्धत्वमेव स्फुटयति **न हीति।** ननु दाह्यनाशानन्तरं वह्निरिह नष्टः। अन्यत्र गमनाभावे सति योग्यतायामिहानुपलभ्यमानत्वादित्यनुमानाद्वह्निनाशसिद्धिः स्यादिति शङ्कते **नापीति।** **हेतोरिति।** वह्निनाशवतो देशस्यानुपलम्भात् कुत्र पक्षे हेतुरयमुपसंह्रियेतेत्यर्थः। ननु वह्नितदवयवपरम्परा नष्टा नष्टनिमित्तत्वादित्यनुमानाद्वह्न्यादिनाशसिद्धिः स्यादिति शङ्कते **नापीति।** **सर्वमिदमिति।** वह्नितदवयवपरम्परानाशरूपमित्यर्थः। सर्वेषामिन्धननिमित्तकत्वाविशेषादिति भावः। **अनैकान्तिकत्वादिति।** दण्डादिनाशेऽपि घटाद्यनाशादित्यर्थः।

ननु तैजसत्वे सति नष्टनिमित्तकत्वादिति हेतुः स्यादित्यत आह **तेजसेति।** व्याप्यत्वासिद्धिमेवाह **न हीति।** **अवश्यमिति** स्फुटार्थम्। ननु प्रत्यक्षत एव व्याप्तिः सेत्स्यतीत्याह **प्रत्यक्षेति।** **वृत्ति** व्यापारः। **अनभ्युपगमादिति** त्वयेति शेषः। **निमित्तादिनेति।** अर्धदग्धेनेन्धनादिनेत्यर्थः।

प्रकाशः– नन्वेवं प्राङ्नास्तितायामप्यनुपलम्भानुमानं न स्यादित्यत आह **इयांस्त्विति**। प्रत्यक्षसामग्र्याः **सतीत्वं** योग्यानुपलम्भसहकृतत्वम्। यत्र तु प्राङ्नास्ति–तादावाधारेन्द्रियसन्निकर्षाभावात् तदभावस्तत्रासती, ज्ञाता चेदनुमानेन, स्मरणार्हस्यास्मरणादिना। आदिग्रहणादाप्तोपदेशेनापीत्यर्थः। **स्थितिः** व्यवस्थितिः।

प्रामाणिकत्वाच्छास्त्रस्य विशेषविषयत्वात् तद्विरोधोऽपि नास्तीत्याह **एतेनेति**। सद्भ्यां प्रतियोग्यधिकरणाभ्याम्। विशेषविषयत्वमाह **उभयेति**। उभाभ्यां संयोगिभ्यां संयोगो निरूप्यते इति तदभावोऽपि तथेत्यर्थः। **अनुमानेति**। यत्र व्यापकाभावेन व्याप्याभावोऽनुमीयते, तत्राश्रयग्रह उपयुज्यते इत्यर्थः। **अन्यथेति**। तत्राश्रयाग्रहादित्यर्थः। **तत्रापीति**। उभयनिरूप्यप्रतियोगिविषयेऽपि नानुभवनियमः। स्मरणेनाप्याश्रयनिरूपणाल्लाघवाच्चेत्यर्थः। यत्तु क्वचिदघटं भूतलमित्यत्र ग्रहणनियमः, सोऽन्यथासिद्ध इत्याह **क्वचिदिति**। आश्रयग्रहणनियमश्च न *सूत्रकारस्यापि* सम्मत इत्याह **यदि चेति**। दृष्टान्तस्य वह्निनाशस्याज्ञानादित्यर्थः। असिद्धत्वमेव व्युत्पादयति **न हीति**। **हेतोरेवेति**। अनुपलभ्यमानत्वादित्यस्य हेतोरभावाश्रयाप्रसिद्धेरपक्षधर्मतया येन रूपेण हेतुत्वं तेनानिरूपणादित्यर्थः। **नापीति**। वह्निनिमित्तेन्धननाशस्य प्रत्यक्षत्वात्। ततोऽन्यत्र प्रतियोगिगमनाभाव-स्तत्प्रध्वंसश्चेति सर्वमित्यर्थः। **तस्येति**। **निमित्तनाशेऽपि** नैमित्तिकानाम-नाशादित्यर्थः। **तेजसेति**। निमित्तनाशे अग्निर्नश्यतीति व्याप्तेरित्यर्थः। **गमनं**, प्रतियोगिनः। **निमित्तादिनेति**। अत एव यत्र कपालादिपरम्परानाशाद् घटनाशस्तत्रापीह भूतले घटो नास्तीति धीः समर्थिता। **अत एवेति**। यत एव निमित्तादिनापि देशे ध्वंसनिरूपणमित्यर्थः। अन्यथाऽऽलोकावयवानाम निरूपणात्तदवयवविनाशात्मकं तमो न प्रत्यक्षं स्यादिति भावः।

मकरन्दः– शास्त्रस्येति। यद्यपि निरधिकरणाभावसामग्रीत्यनभ्युपगमे विरोधशङ्कैव नास्ति, तथाप्यधिकरणपदस्य प्रतियोगिसमवायिपरत्वेऽपि न विरोधो विशेष-विषयत्वादित्याशयः। **स्मरणेनापीति**। स्मरणरूपाश्रयनिरूपणेनाप्य-भावप्रतीतेरित्यर्थः। अन्यत्र गमनाभावे सत्यनुपलभ्यमानत्वादनुमेयस्तत्राह **अनुपलभ्यमानत्वादित्यस्येति**। गमनाभावस्येत्यपि द्रष्टव्यम्।

तेजोऽन्तरे व्यभिचारात्तेजः पदमग्निपरमित्याह **अग्निरिति**।

गत्यन्तराभावात्। अत एव तमसः प्रत्यक्षत्वेऽप्यभावत्वमामनन्त्याचार्याः।

एतेन शब्दप्रागभावो व्याख्यातः। एवं स्थिते अनुमानमप्युच्यते - शब्दोऽनित्यः उत्पत्तिमत्वाद्घटवत्। न चैतत् प्रत्यभिज्ञानबाधितम्, तस्य ज्वालादिप्रत्यभिज्ञानेनाविशेषात्। नैवमबाधितस्य तस्य स्वतः प्रमाणत्वादिति चेत्, तुल्यम्। ज्वालायां तन्नास्ति, विरुद्धधर्माध्यासेन बाधितत्वात्। अन्यथा वेदव्यवहारविलोप्रसङ्गो, निमित्ताभावात्। आकस्मिकत्वे वा अतिप्रसङ्ग इति चेत्, तुल्यम्। शब्देऽपि, तीव्रतीव्रतरत्वमन्दमन्दतरत्वादेर्भावात्। तदिह न स्वाभाविकमिति चेन्न। स्वाभाविकत्वावधारणन्यायस्य तत्र तत्र सिद्धस्यात्रापि तुल्यत्वात्। न ह्यपां शैत्यद्रवत्वे स्वाभाविके, तेजसो वा औष्ण्यभास्वरत्वे इत्यत्रान्यत्प्रमाणमस्ति प्रत्यक्षाद्विना। तत्तथैव युज्यते। अन्यस्योपाधेरनुपलम्भान्नियमेन तद्गतत्वेन चोपलम्भादिति चेत्तुल्यमेतत्।

आमोदः- गत्यन्तरेति। अनुमानस्यात्र निरस्तत्वादित्यर्थः। अन्यथा तेजोध्वंसात्मकं तमोऽपि न प्रत्यक्षं स्यादित्याह **अत एवेति**। तेजोध्वंसाश्रयस्य तेजोऽवयवस्य तत्रानुपलब्धेरिति भावः। **एतेनेति**। शब्दध्वंसप्रत्यक्षताव्युत्पादनेन शब्दप्रागभावप्रत्यक्षतापि व्याख्यातेत्यर्थः। संसर्गाभावग्रहे प्रतियोगियोग्यतामात्रस्यैव प्रयोजकत्वात्। न त्वाधिकरणयोग्यतापीति भावः। **एवमिति**। प्रत्यक्षतस्तावच्छब्दानित्यत्वं साधितमनुमानेनापि साध्यत इत्यर्थः। **उत्पत्तिमत्त्वादिति**। सत्तावच्छिन्नप्रागभावप्रतियोगित्वादित्यर्थः। नाशकत्वाभिमतशब्दान्तरसत्त्वेऽपि स एवायं गकार इति प्रत्यभिज्ञानं नित्यत्व-विषयकमित्यनुमानेनानुमानं बाधितमित्याह - **न चैतदिति**। प्रत्यभिज्ञानस्य विरुद्धधर्मसंसृष्टत्वेन भ्रान्तत्वमित्याह, **तस्येति**। अप्रामाण्यशङ्काविरहादित्यर्थः। शब्दे विरुद्ध-धर्म-संसर्गो नास्ति ज्वालायां तु विरुद्धपरिमाणयोगोऽस्तीति न तुल्यतेत्याह **ज्वालायाम् इति**। **अन्यथेति**। यदि विरुद्धधर्माध्यासेनापि भेदो न स्यादित्यर्थः। **निमित्तेति**। भेदव्यवहार **निमित्तेति** भेदव्यवहारनिमित्तस्य विरुद्धधर्मसंसर्गस्याभावादित्यर्थः। ननु कस्मादेव भेदव्यवहारः स्यादत आह **आकस्मिकत्व इति**। **तुल्यमिति**। गकारेऽपि विरुद्धधर्मसंसर्गस्य सत्त्वादित्यर्थः। **तदिति** तीव्रमन्दत्वादिकमित्यर्थः। अवधारणन्यायमेवाह **न हीति**। अत्रापि तीव्र मन्द इत्यनुभवसत्त्वादित्यर्थः। **तत्तथैवेति**। औष्ण्यादिकं स्वाभाविकमेवेत्यर्थः।

प्रकाशः- एतेनेति। प्रतियोगियोग्यतामात्रनिरूप्यत्वेन। **व्याख्यातः** प्रत्यक्षतया। एतच्च संसर्गाभावविषयम्। अन्योन्याभावस्यायोग्यप्रतियोगिकस्य प्रत्यक्षत्वात्। कथमन्यथा स्तम्भः पिशाचो नेति धीः प्रत्यक्षा। प्रतियोगिसत्त्वविरोधिन एवानुपलम्भस्याभावप्रत्यक्षतायां तन्त्रत्वात्। यदि हि स्तम्भः पिशाचः स्यात् स्तम्भात्मकतयोपलभ्येतेति न पिशाचानुपलम्भः स्यात्। ननु शब्दाभावो न योग्यानुपलम्भग्राह्यः। तत्तद्व्याप्येतरतदुपलम्भकस्य वायोस्तत्राभावात्। तथा च सत एव शब्दस्य व्यञ्जकवायुविरहादनुपलब्धिमात्रं, न तु ध्वंसग्रहः। विनष्टधीरपि व्यञ्जकवायुध्वंसोपाधिकैव। अत एव यत्र यस्य सत्त्वमनुपलब्धिविरोधि, तस्याभावस्तत्र गृह्यत इति योग्यानुपलब्ध्यर्थ इति पक्षेऽपि न शब्दाभावोऽध्यक्षः। व्यञ्जकाभावेन सतोऽपि शब्दस्योपलब्धेरभावात्। नैवम्। वर्णा न प्रतिनियत-व्यञ्जकव्यङ्ग्याः एकावच्छेदेन समानदेशत्वे सति समानेन्द्रियग्राह्यत्वात् पटैकत्वपरिमाणवदिति प्रतिनियतव्यञ्जकव्यङ्ग्यत्वानुपपत्त्या वायोर्व्यञ्जकत्व-निरासात्।

मकरन्दः- यदि हीति। यद्यपि यथाश्रुते इष्टापत्तिः। न च पिशाचो यदि स्तम्भात्मा स्यादिति विवक्षितमिति वाच्यम्, अधिकरणे प्रतियोगिसत्त्वस्य तर्कविषयत्वाभ्युपगमात्। तथापि स्तम्भो यदि पिशाचात्मा स्यात् पिशाचात्मतया प्रमाविषयः स्यादित्यत्र तात्पर्यम्। ननु वायोर्व्यञ्जकत्वे सर्वशब्दोपलब्धिः स्यात्, यदि च कार्य्ये प्रतिनियतजनकजन्यत्ववत् शब्देऽपि प्रतिनियतव्यञ्जक-व्यङ्ग्यत्वमिति ब्रूयात् तत्राह - **वर्णा नेति**। अत्र प्रतिनियतव्यञ्जकव्यङ्ग्यत्वं दोषाभावे सति परस्परविलक्षणपरस्परसाक्षात्कारहेतुकज्ञानविषयत्वं तदभावः साध्यः। तेनैकत्वद्वित्वभ्रमजनकेन परिमाणग्राहिणा, परिमाणभ्रमजनकेनैकत्वग्राहिणा च न व्यभिचारः। न चैवमप्येकाधिकरणकक्रमिकगन्धादिभिर्व्यभिचारः, एककालावस्थायित्वे सतीत्यपि साध्ये प्रतियोगिविशेषणत्वात्। *केचित्तु* अवच्छेदकं देशकालसाधारणं, तथा चान्यूनानतिरिक्तदेशकालत्वे सतीति सत्यन्ततात्पर्य्यम्, अतो हेतोरेव तत्रागमनान्न व्यभिचारः। न चैवं *स्वमते*ऽसिद्धिः, वर्णानां क्रमिकोत्पादत्वेनाव्याप्यवृत्तितया च तुल्यदेशकालत्वाभावादिति वाच्यम्। *परमतेन* कृतत्वादि*त्येके*। कर्णावच्छेदेनैकदाऽपि नानावर्णोत्पादसम्भवेन तत्तद्वर्णविशेषाणामेव पक्षत्वमि*त्यपरे*। ननु तत्तद्वर्णप्रागभावत्वादिकञ्च प्रतिनियतव्यञ्जकमादाय बाध इति चेत्, न। तदन्यत्वेनापि -

तथाप्यतीन्द्रियान्यधर्मत्वशङ्का स्यादिति चेत्, एतदपि तादृगेव। तत् किं यद्गतत्वेन यदुपलभ्यते, तस्यैव स धर्मः?

नन्वेवं पीतः शङ्खो, रक्तः स्फटिको, नीलः पट इत्यपि तथा स्यादविशेषात्? न। पीतत्वादीनामन्यधर्मत्वस्थितौ शङ्खादीनाञ्च तद्विरुद्धधर्मत्वे स्थिते जपाकुसुमाद्यन्वयव्यतिरेकानुविधानाच्च बाधेन भ्रान्तत्वावधारणात्। न चेह तारतारतरत्वादेरन्यधर्मत्वस्थितिः। नापि शुकसारिकादिगकाराणां तद्विरुद्धधर्मत्वं, नाप्यन्यस्य तद्धर्मिणोऽन्वय-व्यतिरेकावनुविधत्तेः। तथापि शङ्का स्यादिति चेदेवमियं सर्वत्र। तथा च न क्वचित् किञ्चित् कुतश्चित् सिद्ध्येत्। न चैतच्छङ्कितुमपि शक्यते, अप्रतीते संस्काराभावात्। संस्कारानुपनीतस्य चारोपयितुम-शक्यत्वात्। न च ध्वनिधर्मा एव गृह्यन्तो। स्पर्शाद्यनन्तर्भावेन भावेषु त्वगादीनामव्यापारात्।

न च श्रवणेनैव तद्ग्रहणम्। अवायवीयत्वेन तस्य वायुधर्माग्राहकत्वात्, चक्षुर्वत्। तारतारतरत्वादयो वा न वायुधर्माः, श्रावणत्वात्, कादिवत्। वायुर्वा न श्रवणग्राह्यधर्मा मूर्तत्वात्, पृथिवीवत्। यदि च नैवं, कादीनामपि वायवीयत्वप्रसङ्गः। ततः किम्?

आमोदः- तथापीति। यद्यपि नान्य उपाधिरुपलभ्यत इत्यर्थः। **एतदपीति**। औष्ण्यादिकमपीत्यर्थः। ननु प्रकृतेऽपि ध्वनिधर्मा एव तारत्वादयः स्युरित्यत आह **न चेति**। शुकेत्यादिना तदनुमापकजातिभेदोऽपि तारत्वाद्यतिरिक्तोऽस्तीति सूचितम्। **शङ्का स्यादिति**। अननुभूयमानधर्म्यन्तरधर्मशङ्का स्यादित्यर्थः।

एवमिति। अनया शङ्कया *चार्वाकमते* क्वचित् किञ्चिन्न सिद्ध्येदित्यर्थः। अननुभूतधर्मिधर्मशङ्काकोटिस्मरणं चानुभवाधीनम्, अनुभवश्च नास्त्येवेत्याह **न चेति**(?)। ननु ध्वनिरूपस्य वायोरेव धर्मास्तारत्वादयः शब्दे समारोप्यन्तामित्यत आह **न चेति**। त्वचा गृह्यमाणस्य वायुधर्मस्यारोपे दोषमाह **स्पर्शादीति**(?)।

अवायवीयत्वेनेति। अवायवीयबहिरिन्द्रियत्वेनेत्यर्थः। वायुधर्मा वायुमात्रधर्माऽतो न सत्तादिना व्यभिचारः। **न वायुधर्मा** इति न वायुमात्रधर्मा इत्यर्थः। **श्रावणत्वादिति** श्रोत्रमात्रबहिरिन्द्रियग्राह्यत्वादित्यर्थः। **न ग्राह्यधर्मेति**। न श्रोत्र-ग्राह्येतरजातिमानित्यर्थः। **यदि चेति**। यदि वायवीयोऽपि धर्मः श्रोत्रग्राह्यः स्यादित्यर्थः। **ततः किमिति**। *सांख्यमत*माश्रित्य शङ्का। आद्यमनिष्टं भवत एव,

प्रकाशः- एवमिति। प्रत्यक्षेणानित्यत्वे साधित इत्यर्थः। **उत्पत्तिमत्त्वात्**, स्वसमानकालीनप्रतियोगिध्वंसानाधारक्षणाधारत्वादित्यर्थः। भावत्वेन विशेषणान्न ध्वंसेन व्यभिचारः। **न चेदमिति**। यद्यपि स एवायं गकार इति प्रत्यभिज्ञानं नित्यत्वं न गोचरयति किन्त्वभेदमात्रं, तथापि नाशकत्वाभिमतशब्दानन्तरमपि शब्दं नित्यत्वं न गोचरयति किन्त्वभेदमात्रं, तथापि नाशकत्वाभिमतशब्दानन्तरमपि शब्दं गोचरयद् नित्यतायामेव पर्यवस्यति, आश्रयनाशस्याभावादिति भावः। **स्वत इति**। स्वयमप्रामाण्यशङ्काविरहादित्यर्थः। **विरुद्धेति**। परिमाणभेदाध्यासेनेत्यर्थः। **अन्यधर्मत्वस्थितिः**, शब्दं विहायेति शेषः। **तद्विरुद्धधर्मत्वम्** तीव्रत्वादि विरुद्धधर्मत्वम्। **तद्धर्मिणः** तीव्रत्वादिधर्मिणः। *चार्वाकमत*मालम्ब्याह–**तथापीति**। *मीमांसकस्य* तन्मतावलम्बनेऽनुमानप्रामाण्यस्वीकारे व्याघात इत्याह **एवमिति**। न च शङ्कापि तत्र सम्भवतीत्याह **न चैतदिति**। ननु ध्वनिधर्मास्तारत्वादयो गृह्यमाणा एव शब्द आरोप्यन्ते, न स्मर्यमाणा इत्यत आह **न चेति**। ध्वनयो वायवीया एवेति तेषान्त्वगादिभिरग्रहे तद्धर्मास्तारत्वादयो न गृह्यन्ते इति न गृह्यमाणारोप इत्यर्थः। अग्रहे हेतुमाह **स्पर्शादीति**। **अवायवीयत्वेनेति**। श्रोत्रं न वायुमात्रधर्ममात्रग्राहकम्, अवायवीयबहिरिन्द्रित्वात् चक्षुर्वदित्यर्थः। अतो न सत्ताद्रव्यत्वग्राहकेण चक्षुषा मनसा वा व्यभिचारः।

ननु चाप्रयोजकमिदम्। न हि यदिन्द्रियं यद्द्रव्यजातीयं तत् तज्जातीयस्यैव धर्मं गृह्णाति। तैजसेन चक्षुषा नीलाद्यग्रहप्रसङ्गात्। न, यद्बहिरिन्द्रियं यद्विशेषगुणग्राहकं तत्तज्जातीयगुणवदेवेति नियमेन श्रोत्रस्य वायुगुणतारत्वादिग्राहकत्वे

मकरन्दः– साक्षात्कारहेतुविशेषणात्। इतरनिरूपणानधीन-निरूपणत्वे सतीत्यपि हेतुविशेषणं, तेन घटान्योन्याभावपटत्वात्यन्ताभावयोः पृथक्त्वदीर्घत्वयोर्वा न व्यभिचारः। अधिकं *शब्दप्रकाशे* विपञ्चितम्। उत्पत्तेस्तादृशसम्बन्धरूपतया तद्वत्वस्य हेतुत्वे व्यर्थविशेष्यत्वमित्यत आह **स्वसमानेति। ननु चेति**। यद्यपि सामान्यव्याप्तौ दुष्टायामपि विशेष-व्याप्तेरवैकल्यमेव। तथा च किं तन्निरासेन, तथापि विशेषव्याप्तेरेवा-प्रयोजकत्वशङ्कायां सामान्यव्याप्तिस्तत्प्रयोजकत्वमाशङ्क्य निरस्तेति नोक्तदोषः। **यद्बहिरिन्द्रियमिति**। ननु स्नेहग्राहकचक्षुरादौ व्यभिचारो विशेषपदवैयर्थ्यञ्चेति चेत्, न। विशेषपदस्यैव बहिरिन्द्रियव्यवस्थापक-परतयोभयदोषनिरासात्। तज्जातीयत्वञ्च गुणत्वव्याप्यजात्या, अतो न सङ्ख्यादिमत्तयाऽर्थान्तरम्।

अवयविगुणत्वेऽनित्यत्वम्, परमाणुगुणत्वेऽग्रहणम्। द्वयमप्येतदनिष्टं भवतः। अवश्यञ्च श्रवसा ग्राह्यजातीयगुणवता भवितव्यम्। बहिरिन्द्रियत्वात्, घ्राणादिवत्। सन्तु ध्वनयोऽपि नाभसाः। तथा च तद्धर्मग्रहणं श्रवसोपपत्स्यते इति चेन्न। तारस्तारतरो वाऽयं गकार इत्यत्र ध्वनीनामस्फुरणात्। न च व्यक्त्या विना सामान्यस्फुरणम्, कारणाभावात्।

व्यक्तिस्फुरणसामग्रीनिविष्टा हि जातिस्फुरणसामग्री। कुत एतत्? अन्वयव्यतिरेकाभ्यां तथावगमात्। ऐन्द्रियकेष्वेव घटादिषु सामान्यग्रहणात्। अतीन्द्रियेषु च मनःप्रभृतिष्वग्रहणात्। स्वरूपयोग्यतैव तत्र निमित्तम्, अकारणं व्यक्तियोग्यतेति चेत्, एवं तर्हि सत्ताद्रव्यत्वपार्थिवत्वादीनां स्वरूपयोग्यत्वे परमाण्वादिष्वपि ग्रहणप्रसङ्गः। अयोग्यत्वे घटादिष्वपि तदनुपलम्भापत्तिरिति दुरुत्तरं व्यसनम्। तस्माद्व्यक्तिग्रहणयोग्यतान्तर्गतैव जातिग्रहणयोग्यतेति तदनुपलम्भे जातेरनुपलम्भ एव। तथा च न तारत्वादीनामारोपसम्भव इति स्वाभाविकत्वस्थितौ विरुद्धधर्माध्यासेन भेदस्य पारमार्थिकत्वात् प्रत्यभिज्ञानमप्रमाणमिति न तेन बाधः।

आमोदः– उत्तरं तु द्वयोरपीत्यर्थः। ननु वायवीयेनैवेन्द्रियेण वायुधर्मास्तारत्वादयो गृह्यन्तां को दोष इत्यत आह **अवश्यमिति**। श्रोत्रं तावन्नाभसमित्युभयसिद्धम्। तेनावश्यं ग्राह्यजातीयविशेषगुणवता भाव्यम्। स च गुणः शब्द एव। तत्रैव तारत्वादिकं गृह्यत इत्यर्थः। श्रोत्रस्य नाभसत्वे प्रमाणमिदमित्येके। **नाभसा** इति नभोगुणा इत्यर्थः। **तारो गकार** इति वर्णात्मक एव शब्दो गृह्यते, न तु ध्वन्यात्मक इत्याह **तार इति**। **कारणाभावादिति**। व्यक्तिग्रहकारणानामेव जातिग्राहकत्वात्तानि चात्र सन्तीत्यर्थः। तदेवाह **व्यक्तीति**। **कुत एतदिति**। व्यक्तिभानेऽपि सामान्याग्रहात्। अन्यथा गौरयमश्वो वेति संशयो न स्यादिति भावः। **तथावगमादिति**। जातिग्रहे व्यक्तेरवश्यं भानादित्यर्थः। तथा च प्रत्यक्षेण सामान्ये गृह्यमाणे व्यक्तिभानमावश्यकमिति भावः। यद्वा व्यक्तौ गृह्यमाणायां जातिरवश्यं भासते। तद्पदवाच्यत्वे तु सन्देहः। रत्नत्वे ब्राह्मणत्वेऽस्यैवमेवेति तदनुरूपावेवान्वयव्यतिरेकौ दर्शयति। **ऐन्द्रियकेष्विति**। ननु मनस्त्वं स्वरूपायोग्यमतो न गृह्यते, न तु व्यक्तेरयोग्यतयेत्याशङ्कते **स्वरूपेति**। **परमाण्वादिष्विति**। परमाण्वादिगतत्वेनेत्यर्थः। **अयोग्यत्व इति**। सत्तादीनामित्यनुषङ्गः। उपसंहरति **तथा चेति**। **प्रत्यभिज्ञानमप्रमाणमिति**।

प्रकाशः- तद्गुणवत्त्वप्रसङ्गे वायवीयत्वप्रसङ्गात्। श्रावणत्वात् श्रवणमात्रबहिरिन्द्रियग्राह्यत्वादित्यर्थः। तेन न सत्तायां व्यभिचारः। **श्रवणग्राह्येति**। श्रवणमात्रग्राह्यधर्मेत्यर्थः। अत्र विपक्षे बाधकमाह **यदि चेति**। श्रोत्रस्य नभस्त्वे मानमाह–**ग्राह्येति**। ग्राह्यजातीयविशेषगुणवतेत्यर्थः। **ध्वनीनामिति**। ध्वनयो नाभसा विभुसमवायिकारणत्वाद् गुणा एव, तद्धर्मश्च तारत्वादयः सामान्यरूपाः स्युः। तथा च ध्वनीनां तारत्वादिसमवायिव्यक्तीनामज्ञाने गकारादिगतत्वेन न भासेरन्नित्यर्थः। **न चेति**। जातिज्ञाने व्यक्तिविषयकत्वनियमादित्यर्थः। प्रत्यक्षेऽयं नियमोऽतो न जातिपदजन्यज्ञाने व्यभिचारः। जातिपदेनापि वा जातित्वज्ञानं व्यक्तिविषयकमेव जन्यते। नित्यानेकवृत्तित्वस्य जातित्वात्। **एवं तर्हीति**। ननु परमाणुवृत्तिसत्तादिकं गृह्यत एवेतीष्टापत्तिः। न च परमाणुगतत्वेन तद्बुद्धिरापाद्या। विशेषणज्ञानं विना विशिष्टज्ञानाभावात् परमाणोश्चायोग्यत्वेनाज्ञानात्। न, परमाणुघटितेनेन्द्रियसन्निकर्षेण पार्थिवान्तरे चागृह्यमाणे सत्तादिर्गृह्येतेत्यर्थात्। न च योग्यव्यक्तिवृत्तिसन्निकर्षेण तद्ग्रहः, जातेर्योग्यव्यक्तिघटितसन्निकर्षेण ग्रहे योग्यव्यक्तिभानस्यावश्यकत्वात्। **तथा चेति**। न च स्मर्यमाणतारत्वाद्यारोपः। प्रथमतस्तारत्वाद्यग्रहापाताद् बाधकाभावांच्च। अत एव यथा लोहितः स्फटिक इत्यत्र जपात्वेनाप्रतीतस्यापि लौहित्येनैव प्रतीयमानस्य जपापुष्पस्य लौहित्यमारोप्यते, तथा ध्वनित्वेनाप्रतीतावपि तारत्वेनैव ध्वनीनां स्फुरणं स्यादिति निरस्तम्। गकारगतत्वे बाधकाभावात्।

ननु तारत्वादयो न गकारादिजातयः। गत्वादिना सङ्करप्रसङ्गात्। न च नानैव तारत्वम्। ताराकारानुगतप्रतीत्यभावापत्तेः। न च गतारत्वाद्येव जातिः।

मकरन्दः- श्रवणमात्रेति। सत्तायां व्यभिचारवारकं मात्रपदं, बहिःपदञ्चा-प्रसिद्धिवारकम्। सत्तावत्वाद्वाध इत्यत आह **श्रवणमात्रेति**। श्रवणमात्रबहिरिन्द्रियग्राह्येत्यर्थः। **श्रोत्रस्य नभस्त्व इति**, कादीनां नाभसत्वेऽपि श्रोत्रं वायवीयमिति तद्धर्मतारत्वादिग्रहस्तेन स्यादिति शङ्कानिरासाय इति शेषः। **ग्राह्येति**। तथा च श्रोत्रस्यापि कादिमत्वे नभस्त्वमिति भावः। यद्यपि श्रोत्रस्य सामान्यगुणाग्राहकत्वादर्थान्तरानवकाशे विशषेपदान्तर्भावो व्यर्थः, तथापि ताद्रूप्यसिद्ध्यर्थं चक्षुरादिसाधारण्यार्थं वा तदित्याहुः। **प्रथमत इति**। यथा प्रथमं चाकचिक्यविशिष्टव्यक्तिधीमात्रं न तु विशिष्टधीः धर्मिज्ञानस्यारोपहेतुत्वात्, तथात्रापि स्यादिति भावः। वायुगतजातित्वाभ्युपगमपक्षे बाधवारणायाह **गकारादीति**।

नापि सत्प्रतिपक्षत्वं, मिथो विरुद्धयोर्वास्तवतुल्यबलत्वाभावात्। एकस्यान्यतमाङ्गवैकल्यचिन्तायामस्य वैकल्ये तस्यैवोद्भाव्यत्वात्। अवैकल्ये त्वदीयेनैव विकलेन भवितव्यमिति हीनस्य न सत्प्रतिपक्षत्वम्। तथापि नित्यः शब्दोऽद्रव्याद्रव्यत्वादित्यत्रापि साधनदशायां किञ्चिद्वाच्यमिति चेदसिद्धिः। द्रव्यं शब्दः साक्षात्संबन्धेन गृह्यमाणत्वात्, घटवदिति सिद्ध्यतीति चेन्न। एतस्याप्यसिद्धेः। न हि श्रोत्रगुणत्वे द्रव्यत्वे वाऽसिद्धे साक्षात्संबन्धे शब्दस्य प्रमाणमस्ति। परिशेषोऽस्ति। तथा हि -

---

आमोदः- यदि व्यक्तेरभेदं गृह्णाति तदैवम्। यदि च तज्जातीयत्वविषयता तदा भिन्नविषयतया न बाधकत्वशङ्कैवास्तीति भावः। ननु तारत्वमन्दत्वे न जाती सप्रतियोगिकत्वात्। गन्धादिना परापरभावानुपपत्तेश्च गन्धादिव्याप्य नानातारत्वाद्यङ्गीकारे वाचानुगतप्रतीत्यनुदयः। जातित्वेऽपि नानयोर्विवादः। य एव गकारस्तार आसीत् स एवायं मन्द इति सामानाधिकरण्यग्रहात्। तारमन्दगकारयोरभिभाव्याभिभावकभावोऽपि नास्ति, येन भेदः स्यात्। किन्तु तद्व्यञ्जकवायोरेव तथात्वादिति चेत्, न। इक्षुक्षीरादिमाधुर्यवत्। शुकसारिकामनुष्यप्रभवेषु स्फुटतरवैजात्यानुभवात् कथमन्यथा शुकाद्यनुमानम्? न चैतदौपाधिकम्। उपाधेरननुभवात् तारत्वादयोऽपि गत्वादिव्याप्या नानाजातय एव। अनुगतधीस्तु सजातीयसाक्षात्कारप्रतिबन्धकतावच्छेदकत्वादनुगतादुपाधेः। न चोपाधेरज्ञानेऽपि तदनुगतबुद्धे(रे?)वमिति वाच्यम्, स्वाभाविकत्वेनोपाधि-स्फुरणावश्यकत्वात्। स्फुरणे वा नानुगतबुद्धिरपि सर्ववर्णसाधारणीति दिक्।

तुल्यबलेन सत्प्रतिपक्षे दूषणमाह **मिथ** इति। अन्यथा वस्तुनो विरुद्धद्वैरूप्यापत्तेरिति भावः। **अस्येति**। स्थापनानुमानस्येत्यर्थः। **तस्यैवेति**। वैकल्यप्रयोजकदोषस्येत्यर्थः। ननु यदाऽहमेव स्थापनावादी तदा मयाप्येवं वक्तुं सुकरमिति *भट्टः* शङ्कते **तथापीति**। न विद्यते द्रव्यं समवायिकारणं यस्य द्रव्यस्य तदद्रव्यद्रव्यं तथा वा समवेतद्रव्यत्वादित्यर्थः।

असिद्धिरिति। तत्र विशेष्यपदं प्रागभावे व्यभिचारवारणाय, विशेषणपदं च घटादौ व्यभिचारवारणाय। **असिद्धिरिति** वाच्येति शेषः। स च विशेषणविशेष्ययोर्द्वयोरपीति भावः। विशेष्यासिद्धिं परिहरति **द्रव्यमिति**। गूढाभिसन्धिराह **एतस्यापीति**। द्रव्यत्वे श्रोत्रेणाजः संयोगः गुणत्वे च समवाय

प्रकाशः– तारत्वस्य निश्चयेऽपि गत्वे संशयात्। तारत्वमन्दत्वे च न जाती, सप्रतियोगित्वात्। नापि तयोर्विरोधः, य एव गकारस्तार आसीत् स एवेदानीं मन्द इति कालभेदेन वक्तृभेदेन च तयोरेकत्र प्रतीतेः। तारान्मन्दोऽन्य इत्यपि धीरस्तीति चेन्न। अभेदेन धर्मिणि भासमाने विशिष्टभेदबुद्धेर्धर्मभेदविषयत्वात्। पाकरक्ते घटे, रक्तोऽयं न श्याम इति धीवत्। न च तारमन्दककारयोरभिभाव्याभिभावकभावात् तयोर्भेदः। तद्व्यञ्जकवायोरेव तथात्वेन मन्दस्याग्रहणादिति बाधकादेव **स्मर्यमाणारोपः स्यात्**। अस्तु वा गृह्यमाणारोपः। श्रोत्रेणैव तद्ग्रहात्। चक्षुरादिना यत्र न वायुधर्मग्रहस्तत्रायोग्यत्वमुपाधिः। अन्यथा श्रोत्रेण स्वगुणो न गृह्येत, इन्द्रियस्य स्वगुणाग्राहकत्वात्। सन्तु वा तारमन्दरूपा भिन्ना एव गकाराः। तत्प्रत्यभिज्ञाने बाधकाभावात्।

उच्यते। शुकशारिकामनुष्यप्रभवेषु स्त्रीपुंसतद्विशेषप्रभवेषु चेक्षुक्षीरादि माधुर्यवत् स्फुटतरं वैजात्यमनुभूयते। न चेदमौपाधिकम्। तत्त्वं हि आनुभविकम्, औपपत्तिकं वा?। नाद्यः। इन्द्रियासन्निकर्षेण स्त्रीपुंसतद्विशेषाननुभवेऽपि शब्दभेदप्रत्ययात्। यतः स्त्रीपुंसप्रभवत्वमनुमीयते। अन्यथाऽन्योन्याश्रयात्। स्त्रीप्रभवत्वे ज्ञाते भेदधीस्ततश्च तदनुमानात्। नान्त्यः, उपाधेरन्वयव्यतिरेकानुविधानाभावात्। न च व्यञ्जकवायुवैजात्यं गकारगतत्वेन भासते, वायोश्च ज्ञानं तेनैव रूपेणेति वाच्यम्। गकारगतत्वे बाधकाभावात्। न चाभेदप्रत्यभिज्ञानं बाधकम्। य एव शुकशब्दः स एव स्त्रीशब्द इत्यननुभवात्। तथात्वे वा भेदज्ञानाभावेन वक्तृविशेषाननुमानापत्तेः। अस्ति च कोऽपि गकारस्य विशेषो यतो दिग्विशेषप्रभवत्वमनुमीयते। अव्यपदेश्यत्वेऽप्यानुभविकत्वात्। तस्माद् गकारादौ भेदे भासमानेऽनुगतबुद्धेर्गत्वादिकञ्जातिः। तारत्वमपि गत्वादिव्याप्यं –

मकरन्दः– तारत्वमन्दत्वे चेति। चकारो भिन्नक्रमः। तथा च सप्रतियोगिकत्वाच्चेत्यर्थः। **आनुभविकमिति**। यत्रोपाध्याश्रयसम्बन्धात्तथाधीस्तत्रोपाधेरानुभविकत्वं, यत्र च तदाश्रयानुविधानमात्रं न सम्बन्धस्तत्रौपपत्तिकत्वमिति भेदः। यद्वा, कुङ्कुमेनारुणा न तु स्वभावत इति कुङ्कुमस्योपाधित्वमनुभूयमानं, कृपाणे तु तथात्वमन्वयव्यतिरेकगम्यं, न तु तद्वत् कृपाणदीर्घं मुखमिति प्रत्ययभेदः। अपरं *शब्दप्रकाशे* द्रष्टव्यम्। विरोधमाशङ्क्य व्याचष्टे–**न द्रव्यमिति**। यद्यप्येवं समवायिकारणशून्यद्रव्यत्वादिति फलिते हेतौ

प्रकाशः– भिन्नम्। अनुगतव्यवहारश्च सजातीयसाक्षात्कारप्रतिबन्धकतावच्छेद-करूपादनुगतादुपाधेः। तदज्ञाने च तद्व्यवहारासिद्धेः। परैरपि शुकादिगकारादि-व्यञ्जकवायूनां वैजात्यं वाच्यम्। तत्र यदि शुकवर्णाभिव्यञ्जक वायुत्वं गकारव्यञ्जक वायुत्वव्याप्यं तदा शुककककारव्यञ्जकवायौ न स्यात्। अथ व्यापकं, तदा सर्व एव गकारव्यञ्जकवायवः शुकवर्णाभिव्यञ्जक वायवः स्युरिति वायुवृत्तित्वेऽपि वैजात्यन्नानैव।

तथापि यावद्वक्तृभेदं नित्या एव वर्णाः सन्तु, तत्प्रत्यभिज्ञाने बाधकाभावात्। मैवम्। अस्ति हि स एवायं गकार इति प्रत्यभिज्ञानम्, अस्ति च तत्रोत्पादविनाशधीः। न चानयोरन्योन्यं विहायान्यद् बाधकमस्ति। न चानयोरेकं भ्रमः। एकानन्तरं विशेषदर्शनेन अपरोत्पत्त्यभावापत्तेः, अतस्तयोरवश्यं विषयभेदो वाच्यः। एकविषयत्वे विरोधेनैकोत्तरमपरानुत्पादापत्तेः। एवञ्च भेदे भासमाने प्रत्यभिज्ञानस्य तज्जातीयत्वं विषयः। न चैवं तज्जातीयोऽयमिति तदाकारापत्तिः। तज्जातीयत्वविषयाया अपि बुद्धेः सोऽयमित्याकारदर्शनात्। यथा तानेव शालीनुपभुञ्जते, तानेव तित्तिरीनिति। यत्र च प्रथमं न भेदधीस्तत्र प्रत्यभिज्ञानं व्यक्त्यभेदविषयम्। तस्माद् यत्र भेदधीस्तदितरबाधकाबाध्या तत्र प्रत्यभिज्ञानमेव न भवति, भवद्वा तज्जातीयत्वमालम्बते इत्य*स्मात्पितृचरणाः*।

सत्प्रतिपक्षत्वञ्च वस्तुतस्तुल्यबलेन, तत्तया प्रतिसंहितेन वा?। नाद्य इत्याह **मिथ इति**। तथात्वे वा वस्तुनो विरुद्धद्वैरूप्यापत्तेरिति भावः। **अङ्गं** पक्षसत्वादि। **अस्य** शब्दानित्यत्वसाधनस्य। द्वितीयं शङ्कते **तथापीति**। न केवलं प्रतिपक्षतादशायां, साधनदशायामपीत्यपरेर्थः। न द्रव्यं समवायिकारणं यस्य तदद्रव्यम्, अद्रव्यत्वादित्युच्यमाने प्रागभावेन व्यभिचारः स्यादिति द्रव्यं विशेषणम्। **असिद्धिरिति**। विशेषणविशेष्ययोरित्यर्थः। असिद्धस्य न सत्प्रतिपक्षत्वसाधनत्व इति भावः। विशेष्यसिद्धौ मानमाह **द्रव्यमिति**। संयोगसमवायान्यतरत्वं साक्षात्त्वम्। यद्यपि *भट्टानां* श्रोत्रेण शब्दस्याजः संयोगोऽन्येषां समवाय इति साक्षात् सम्बन्धेन

मकरन्दः–समवायिपदमधिकं, तथाप्यखण्डाभावे वैयर्थ्यं नेति ध्येयम्। **तथापीति**। यद्यपि गुणत्वानभ्युपगमेऽपि द्रव्यगुणान्यतरत्वनिश्चयदशायां तत् प्रत्येतुं शक्यमेव, तथापीयं शङ्का मूल एवानुपदं निरस्येति भावः। वस्तुतो बाधादेव न द्रव्यत्वसिद्धिः, बाधकञ्च मूल एवोक्तमिति प्रघट्टकतात्पर्य्यम्। न चानेनैव तस्यापि सत्प्रतिपक्षितत्वात् कथं तेनास्य बाध इति वाच्यम्, संयोगसमवायान्यतरसम्बन्धेन गृह्यमाणत्वादित्यत्र, समवायगर्भत्वेन व्यर्थविशेषणतया व्याप्यत्वासिद्धत्वेन, अन्यथा स्वरूपासिद्धत्वेन, वक्ष्यमाणेन चोपाधिनाऽस्य हीनबलत्वात्।

सदाद्यभेदेन सामान्यादित्रयव्यावृत्तौ मूर्तद्रव्यसमवायनिषेधेन कर्मत्वनिषेधात् द्रव्यगुणत्वपरिशेषे संयोगसमवाययोरन्यतरः संबन्ध इति चेन्न। बाधकबलेन परिशेषे द्रव्यत्वस्यापि निषेधाल्लिङ्गग्राहकप्रमाणबाधापत्तेः। बाधके सत्यपि वा द्रव्यत्वाप्रतिषेधे कर्मत्वादीनामप्यप्रतिषेधप्रसक्तौ परिशेषासिद्धेः। तस्मादेकदेशपरिशेषो न प्रमाणं सन्देहसङ्कोचमात्रहेतुत्वात्। अथ द्रव्यत्वे किं बाधकम्? उच्यते - शब्दो न द्रव्यं, बहिरिन्द्रियव्यवस्थाहेतुत्वात्, रूपादिवदिति परिशेषात् गुणत्वेन समवायिसिद्धौ लिङ्गग्राहक-प्रमाणबाधितत्वात् नाव्यवहितसंबन्धग्राह्यत्वेन द्रव्यत्वसिद्धिः। न चासिद्धेन सत्प्रतिपक्षत्वम्, असिद्धस्य हीनबलत्वात्।

ननु शब्दस्तावदश्रोत्रगुणो नैवेति त्वयैव साधितं प्रबन्धेन। न च श्रोत्रगुणः, तेन गृह्यमाणत्वात्। यद् येनेन्द्रियेण गृह्यते नासौ तस्य गुणः। यथा गृह्यमाणो गन्धादिः। श्रोत्रं वा न स्वगुणग्राहकम्, इन्द्रियत्वात्, घ्राणवदिति न गुणत्वसिद्धिरिति चेत्, ततः किम्? न चैतदपि,

---

आमोदः– इति उभयथापि नासिद्धिरित्याह **सदाद्यभेदेनेति**। सत्तावत्त्वजातिसत्त्वादिनेत्यर्थः। यथा शब्दस्य कर्मादित्वे बाधकमस्ति तथा द्रव्यत्वेऽपि। तथाच गुणत्वमेवास्य परिशेषलब्धम्। तेन गुणत्वे सत्येवास्य साक्षात्सम्बन्धेन गृह्यमाणत्वं लिङ्गं सेत्स्यतीति तद्ग्राहकेण प्रमाणेन द्रव्यत्वमस्य बाधितमित्याह **बाधकबलेनेत्यादि**। ननु द्रव्यत्वे बाधकं न गवेषणीयमत आह **बाधक** इति। तथाच कर्मत्वेऽपि बाधकं माऽन्विष्यतामिति न परिशेषसिद्धिरित्यर्थः। **सन्देहेति**। द्रव्यत्वगुणत्व-कोटिसन्देहस्य तादवस्थ्यादित्यर्थः। ननु द्रव्यत्वे बाधकमेव नास्तीत्याह **अथेति**।

बहिरिन्द्रियेति। रूपादिषु मध्ये रूपस्यैव व्यञ्जकत्वादित्यादिना यच्च जरादीनां (?) तैजसत्वादिव्यवस्थापनं तत्प्रयोजकत्वं हेतुः। रूपत्वादौ च द्रव्यत्वाभावरूपसाध्यसत्त्वादेव न व्यभिचारः। चक्षुरग्राह्यजातिमत्त्वमनेन विवक्षितमित्*यन्ये*। **नाव्यवहितेति**। न साक्षात्सम्बन्धग्राह्यत्वेनेत्यर्थः। **प्रबन्धेन** श्रवसा ग्राह्यजातीयगुणवता न भवितव्यमित्यादिनेत्यर्थः। **तेन गृह्यमाणत्वादित्यत्र** विशेषव्याप्तौ सत्ता दृष्टान्तः। सामान्यव्याप्तिमाह **यद्येनेति**।

ततः किमिति। गुणत्वं प्रासैत्सीत्, द्रव्यत्वमपि भवदभिमतं न सिद्धमित्यर्थः। तत् किं तवापि गुणत्वे विप्रतिपत्तिरित्यत आह **न चैतदिति**। प्रथमानुमाने श्रोत्रग्राह्यगुणकत्वव्याप्यजातिशून्यत्वस्य, द्वितीयानुमाने चायोग्यगुण-वत्त्वस्योपाधित्वादिति भावः।

प्रकाशः- गृह्यमाणत्वं न कस्याप्यसिद्धं, तथापि शब्दस्य गुणत्वानभ्युपगमे तत् प्रत्येतुमशक्य-मित्युपजीव्यविरोध इत्याशयवानाह- **न हीति**। **सदादीति**। सत्तावत्त्वजातिमत्त्वादिनेत्यर्थः। इतरनिषेधकवद् द्रव्यत्वेऽपि निषेधकसत्त्वात्तन्निषेधे गुणत्वसिद्धौ द्रव्यत्वसाधकं बाधितमित्याह- **बाधकेति**। परिशेषसिद्धिमभ्युपेत्याह- **तस्मादिति**। द्रव्यादिकोटिसंशयप्रवृत्तेरेकदेशे कर्मादिकोटौ संशयोच्छेदेऽपि द्रव्यगुणकोटिमादाय संशयस्य तादवस्थ्याद् द्रव्यत्वे बाधिते क्व तत्साधनत्व-मित्यर्थः। **बहिरिन्द्रियेति**। चक्षुरग्राह्यबहिरिन्द्रियग्राह्यजातिमत्त्वाद्रसादिवदित्यर्थः। अथ परिशेषो नोपजीव्यस्तत्राह-**न चेति**। अनेन द्रव्यत्वसाधनस्य प्रतिरुद्धत्वादद्रव्य द्रव्यत्वासिद्धौ न तेनाऽनित्यत्वसाधने सत्प्रतिपक्षत्वमित्यर्थः।

ननु गुणत्वेऽपि बाधकाद् न तत्सिद्धिस्ततो न आदिलिङ्गग्राहकमानबाध इत्याह **नन्विति**। गुणत्वासिद्धावपि द्रव्यत्वासिद्धौ न साक्षात्सम्बन्धेन गृह्यमाणत्वे प्रमाणमुक्तं स्यादित्याह- **तत इति**। ननु गुणत्वे निषिद्धे परिशेषाद् द्रव्यत्वं सेत्स्यतीत्यत आह- **न चेति**। प्रथमानुमाने श्रोत्रयोग्यगुणत्वव्याप्यजातिशून्यत्व-मुपाधिरन्त्यानुमाने त्वयोग्यगुणत्वमुपाधिरित्यप्रयोजकत्वमुभयत्रेत्यर्थः। अत एवाप्रयोजकान्तरतुल्यत्वमाह- **अन्यथेति**। साक्षात्संबन्धेन गृह्यमाणत्वादित्यत्र

मकरन्दः- उपजीव्येति। हेतुसिद्ध्यर्थं गुणत्वसिद्धेरुपजीव्यत्वात्तद्विरोध इत्यर्थः। ननु बहिरिन्द्रियव्यवस्थापकत्वं, तत्तद्बहिरिन्द्रियमात्रग्राह्यत्वं, तथा च प्रभादौ व्यभिचारः, अतीन्द्रियशब्दांशे चाश्रयासिद्धिरित्यत आह **चक्षुरग्राह्येति**। एतच्च प्रभादावेव व्यभिचारवारणाय जातिविशेषणम्। आत्मनि तद्वारणाय **बहिरिन्द्रियेति**। उक्तभागासिद्धिनिरासाय जातिगर्भत्वम् जातित्वपर्य्यन्तञ्च गन्धादिकमादाय द्रव्ये व्यभिचारवारणार्थम्। एवं सति मूलदृष्टान्तस्य साधनवैकल्यादाह **रसादिवदिति**। **प्रतिरुद्धत्वादिति**। बाधितत्वादित्यर्थः। **श्रोत्रयोग्येति**। एतच्च रूपादौ साध्याव्याप्तिवारणार्थम्। सत्तामादाय दोषतादवस्थ्यादाह **गुणत्वव्याप्येति**। गुणान्यान्यत्वमादाय दोषतादवस्थ्यादाह **जातीति**।

अत एवेति। उत्कर्षरूपत्वादेवेत्यर्थः। एतदपि मतान्तरेणेति ध्येयम्। तन्मते सत्ताजातेर्विशेषपदार्थस्य चानभ्युपगमादस्वरसमाविष्करोति **इत्याहुरिति**। आकाशमात्रवृत्तित्वस्य तदितरावृत्तित्वे तात्पर्य्यम्। एवञ्च तन्मते समवाये व्यभिचारवारणाय गुणपदमित्*यन्ये*। गुणपदमप्रधानार्थकं, तथा चाकाशैक-परतन्त्रत्वादित्येव विवक्षितमित्यप्याहुः। हेत्वन्तरव्याख्यानं *शब्दप्रकाशे* द्रष्टव्यम्।

घ्राणादिसमवेतगन्धाद्यग्रहे स्वगुणत्वस्याप्रयोजकत्वात्। अयोग्यत्वं हि तत्रोपाधिः। अन्यथा, सुखादिर्नात्मगुणः, तेन गृह्यमाणत्वात् रूपादिवत्। न वा तेन गृह्यते तत्समवेतत्वात् अदृष्टवत्। आत्मा वा न तद्ग्राहकः तदाश्रयत्वात्। गन्धाद्याश्रयघटादिवदित्याद्यपि शङ्केत। तस्मात् स्वगुणः परगुणो वाऽयोग्यो न गृह्यते। गृह्यते तु योग्यो योग्येन। तत्किमत्रानुपपन्नम्? अवश्यञ्च श्रोत्रेण विशेषगुणग्राहिणा भवितव्यम्, इन्द्रियत्वात्। अन्यथा तन्निर्माणवैयर्थ्यात्। तदन्यस्येन्द्रियान्तरेणैव ग्रहणात्। न च द्रव्यविशेषग्रहणे तदुपयोगः। विशेषणयोग्यतामाश्रित्यैवेन्द्रियस्य द्रव्यग्राहकत्वात्, न द्रव्यस्वरूपयोग्यतामात्रेण। अन्यथा चान्द्रमसं तेजः स्वरूपेण योग्यमिति तदप्युपलभ्येत। आत्मा वा मनोग्राह्य इति सुषुप्त्यवस्थायामप्युपलभ्येत। अनुद्भूतरूपेऽपि वा चक्षुः प्रवर्तेत। तस्मात् गुणयोग्यतामेव पुरस्कृत्येन्द्रियाणि द्रव्यमुपाददते, नातोऽन्यथेति स्थितिः। अत एव नाकाशादयश्चाक्षुषाः।

आमोदः– विपक्षबाधकतर्कशून्यं चैतदनुमानद्वयमिति प्रतिवन्दिद्वारेण स्फुटयति **अन्यथेति**। सुखं नात्मग्राह्यं तत्समवेतत्वादित्यर्थः। **न तद्ग्राहक** इति। न सुखग्राहक इत्यर्थः। **किमत्रेति**। श्रोत्रस्य स्वगुणग्राहकत्वे शब्दस्य वा श्रोत्रग्राह्यत्व इत्यर्थः। किञ्च बलवदत्र प्रमाणमस्तीत्याह **अवश्यञ्चेति**। स च विशेषगुणः शब्द एव पर्यवस्यतीत्यर्थः। **अन्यथेति**। यदि शब्दं न गृह्णीयादित्यर्थः। ननु रूपादिग्रहणार्थमेव श्रोत्रनिर्माणं स्यादत आह **तदन्यस्येति**। ननु शब्दो द्रव्यमेव तद्ग्रहणेन श्रोत्रनिर्माणं सफलं स्यादित्याह **न चेति**। तर्हि तत्र विशेषगुणेनापि भवितव्यमन्यथा किमुपग्रहेण तद्ग्रहणं स्यादतद्गुणत्वात्, तारत्वादीनां च जातित्वात्। स्फोटस्याप्रामाणिकत्वादिति भावः। **त्वचेति(?)**। अनुद्भूतस्पर्शतया त्वगिन्द्रियस्य तत्राप्रवृत्तेरित्यर्थः। **सुषुप्तीति**। तदानीं योग्यविशेषगुणविरहादेव मनसस्तत्राप्रवृत्तेरित्यर्थः। **अनुद्भूतेति**। ऊष्मादावित्यर्थः। एतच्च *परमते*। *तन्मते* उद्भूतस्पर्शवत्त्वस्यैव योग्यतात्वात्। **तस्मादिति**। शब्दे न तादृशः कोऽपि गुणो येन तस्य द्रव्यस्य ग्रहणं श्रोत्रेण भवेत्। तेन गुण एव शब्दः श्रोत्रेण गृह्यत इत्यवश्यमङ्गीकार्यम्। न चाकाशग्रहणे श्रोत्रस्योपयोगः, तस्य नीरूपबहिर्द्रव्यत्वेना– प्रत्यक्षत्वादिति भावः। **अत एवेति**। चक्षुर्योग्यविशेषगुणरहितत्वादेवेत्यर्थः।

अस्तु तर्हि शब्दो नित्यः, नित्याकाशैकगुणत्वात्, तद्गतपरममहत्परिमाणवदिति प्रत्यनुमानमिति चेन्न। अकार्यत्वस्योपाधेर्विद्यमानत्वात्। अन्यथा आत्मविशेषगुणा नित्याः, तदेकगुणत्वात्, तद्गतपरममहत्त्ववदित्यपि स्यात्। अस्य प्रत्यक्षबाधितत्वादहेतुत्वमिति चेन्न। निरुपाधेर्बाधानवकाशात्। स्वभावप्रतिबद्धस्य च तत्परित्यागे स्वभावपरित्यागप्रसङ्गात्। तस्मात् बाधेन वोपाधिरुन्नीयते, अन्यथा वेति न कश्चिद्विशेषः।

एतेन श्रावणत्वात् शब्दत्ववदित्यपि परास्तम्, अत्रापि तस्यैवोपाधित्वात्। अन्यथा गन्धरूपरसस्पर्शा अपि नित्याः प्रसज्येरन्। घ्राणाद्येकैकेन्द्रियग्राह्यत्वात्, गन्धत्वादिवदित्यपि प्रयोगसौकर्यात्। विरोधव्यभिचारावसम्भाविताववेवात्रेत्यसिद्धिरवशिष्यते। सापि नास्ति। तथा

आमोदः– सत्प्रतिपक्षान्तरं शङ्कते **अस्त्विति। आकाशैक-गुणत्वादिति।** आकाशमात्रसमवेतत्वादित्यर्थः। तेन संयोगादौ न व्यभिचारो न वाच्यार्थविशेषणत्वम्। यद्वा ध्वंसानवच्छिन्नसत्तावत्त्वं नित्यत्वमिह साध्यं, तथाच शब्दप्रागभावध्वंसयोर्विशेषपदार्थे च व्यभिचारवारणार्थं **गुणपदमिति।** वस्तुतस्तु ध्वंसाप्रतियोगित्वमेव साध्यम्। आकाशमात्रवृत्तित्वञ्च हेतौ आकाशे तदा समवेतत्वमात्रम्। तथा च प्रागभावे व्यभिचारवारणाय **गुणपदमिति** वदन्ति। **अकार्यत्वस्येति।** न च पूर्वसाधनव्यतिरेकरूपत्वादनुपाधित्वमिति वाच्यम्। साध्यव्यापकतानिश्चयात्। किं च प्रयोगपौर्वापर्यमनियतमिति प्रथमप्रयोगे स्यादेवानुपाधीत्युत्तरप्रयोगे तु नायमुपाधिरिति कथं स्यादिति भावः। न चायं साधनव्यापकत्वादनुपाधिः। पक्ष एव तदव्यापकत्वात्। अप्रयोजकत्वमाह **अन्यथेति।** सुखादीनामनित्यत्वं प्रत्यक्षमिति। प्रत्यक्षबाधितमिदमनुमानमित्याह **अस्येति। उपाधेरिति।** (निरुपाधेरिति मूलम्) एतच्च पक्षवृत्तिनि साधने। **स्वभावेति।** स्वाभाविकः सम्बन्धो व्याप्तिः। स्वाभाविकत्वं त्वनौपाधिकत्वमेव। तथा च उपाधिमन्तरेण स्वाभाविकसम्बन्धविरहो न स्यादित्यर्थः। **एतेनेति।** सोपाधित्वेनेत्यर्थः। ननु कोऽत्रोपाधिरित्यत आह **तस्यैवेति।** अकार्यत्वस्यैवेत्यर्थः। *सिद्धान्तिमते* शब्दत्वं जातिरिति दृष्टान्तः, न तु *परमते*। तेन शब्दत्वजात्यनङ्गीकारात्। कालश्च न दृष्टान्तः *प्राभाकरै*स्तस्य षडिन्द्रियवेद्यत्वानभ्युपगमात्। अत्राप्रयोजकत्वमप्याह **अन्यथेति।** ननु कण्टकोद्धारो न्यून इत्यत आह **विरोधेति। असिद्धिरिति।**

प्रकाशः– बाह्येन्द्रियत्वावच्छिन्न साध्यव्यापकं सावयवकत्वमुपाधिः। ननु बहिरिन्द्रियव्यवस्थापकत्वमप्यप्रयोजकमित्याशङ्क्य तत्र विपक्षबाधकमाह– **अवश्यञ्चेति**। अत्रापि विपक्षबाधकमाह **अन्यथेति**। ननु स्वरूपयोग्यतैव द्रव्यप्रत्यक्षत्वे तन्त्रम्। अत एव विशेषगुणशून्यानां कालादीनां न प्रत्यक्षत्वमित्यत आह **तस्मादिति**। न च नाद एव तस्य विशेषगुणः स्यात्। ध्वन्यात्मकस्य नादस्याग्रहेऽपि वर्णसाक्षात्कारात्। नापि तारत्वादिकं तेषामुत्कर्षादिरूपतया जातित्वात्। अत एव तस्य जातिरूपत्वे–ऽप्यवधिनिरूप्यत्वमिति भावः। **अत एवेति**। तद्विशेषगुणस्य चक्षुरग्राह्यत्वादित्यर्थः।

आकाशैकेति। अनेकगुणेन संयोगादिना व्यभिचारवारणार्थमेकग्रहणम्। अत्र यद्यपि आकाशैकगुणत्वमाकाशमात्रवृत्तिगुणत्वं, तत्र गुणत्वं व्यर्थम्। तथापि ध्वंसानवच्छिन्नसत्तायोगित्वं साध्यम्। तत्र विशेषपदार्थेऽनैकान्तिकवारणार्थं गुणग्रहणमित्याहुः। **अकार्यत्वस्येति**। पूर्वसाधनव्यतिरेकोऽपि साध्यप्रयोजकतया यथोपाधिस्तथोक्तमधस्तात्। अपि चोपाधेर्नित्यदोषत्वात् साधनपौर्वापर्यस्य चानियतत्वाद्यदा तदेव साधनं स्थापनायां प्रयुज्यते तदा सोपाधिः, यदा तु दूषणतया तदेवोच्यते तदा पूर्वसाधनव्यतिरेकादकार्यत्वमनुपाधिरिति तदेव नित्यत्वेन व्याप्तमव्याप्तञ्चेति महद्वैशसमिति भावः। उपाधेः साध्यव्यापकताग्राहकं तर्कमाह **अन्यथेति**। **निरुपाधेरिति**। बाधे हि पक्षाभिमते व्याभिचारस्तत्र चावश्यमुपाधिरित्यर्थः। एतच्च जलह्रदो वह्निमान् धूमवत्त्वादित्यादावपक्षवृत्तिनि साधने नास्तीति पक्षधर्मे तत्र बोद्धव्यम्। **अन्यथा वेति**। बाधमनुपजीव्येत्यर्थः।

श्रावणत्वादिति। गुणवृत्तिजात्यनभ्युपगन्तृमते शब्दत्वं श्रोत्रग्राह्यत्वम्। तत्र न श्रावणत्वमिति कालस्य षडिन्द्रियवेद्यत्वात् स एव दृष्टान्त इति भावः। **तस्यैवेति**। अकार्यत्वस्यैवेत्यर्थः। शब्दो नित्यः पृथिवीतरनित्यभूतविशेषगुणत्वाद्, अपाकजनित्यभूतैकसमवेतत्वात्, जलपरमाणुरूपवत्। अव्यासज्ज्यवृत्तित्वे सत्यनात्मविभुगुणत्वाद्, विशेषगुणान्तरासमानाधिकरणैकवृत्तिगुणत्वात्, कालपरिमाणवदित्यत्राप्यकार्यत्वमुपाधिरिति भावः। **पूर्वोक्तेति**। उपाधेरनुपलम्भेन तद्गततया चोपलम्भेन चेत्यर्थः। **प्रकर्षनिकर्षाभ्यामिति**। ननूत्कर्षापकर्ष योर्जात्योर्जातिसङ्करापत्त्या रसत्वशब्दत्वव्याप्यजात्योर्भिन्नत्वेन रसशब्दसाधारण्यं

हि - शब्दस्तावत् पूर्वोक्तन्यायेन स्वाभाविकतीव्रमन्दतरतमादिभावेन प्रकर्षनिकर्षवानुपलभ्यते। इयञ्च प्रकर्षनिकर्षवत्ता कारणभेदानुविधायिनी सर्वत्रोपलब्धा। अकारणका हि नित्याः प्रकर्षवन्त एव भवन्ति, यथाकाशादयः। निकृष्टा एव वा, यथा परमाण्वादयः। न तु किञ्चिदतिशयानाः कुतश्चिदपकृष्यन्ते। तदियं नित्येभ्यो व्यावर्तमाना कारणवत्सु च भवन्ती जायमानतामादायैव विश्राम्यतीति प्रतिबन्धसिद्धौ प्रयुज्यते। शब्दो जायते, प्रकर्षनिकर्षाभ्यामुपेतत्वात्, माधुर्यादिवत्। अन्यथा नियामकमन्तरेण भवन्ती नित्येष्वपि सा स्यात्, नियमहेतोरभावात्। शब्दादन्यत्रेयं गतिरिति चेन्न। साध्यधर्मिणं विहायेति प्रत्यवस्थानस्य सर्वानुमानसुलभत्वात्।

न चेद्व्यञ्जकतारतम्याद्व्यञ्जनीयतारतम्यम्, अस्वाभाविकत्व प्रसङ्गात्। व्यवस्थितञ्च स्वाभाविकत्वम्। न च व्यञ्जकोत्पादकाभ्यामन्यस्यानुविधानमस्ति। न च स्वाभाविकत्वौ-पाधिकत्वाभ्यामन्यः प्रकारः सम्भवति।

स्यादेतत्। तथाप्युत्पत्तेर्नित्यत्वेन को विरोधः, येन प्रतिबन्धसिद्धिः स्यात्। असिद्धे च तस्मिन्, भवतां व्यापकत्वासिद्धोऽस्माकमप्रयोजकः। *सौगतानां* सन्दिग्धविपक्षवृत्तिरयमुपक्रान्तो हेतुरिति चेन्न। इदं ह्युत्पत्तिमत्त्वं विनाशकारणसन्निधिविरुद्धेभ्यो नित्येभ्यः स्वव्यापकनिवृत्तौ निवर्तमानं विनाशकसन्निधिमति विनाशिनि विश्राम्यतीति। विनाशकारणेनावश्यं जायमानस्य भवितव्यमिति कुतो निर्णीतमिति चेन्न। तदसन्निधानं हि न तावदाकाशादेरिव, स्वभावविरोधात्। उत्पत्तिविनाशयोः संसर्गदर्शनात्।

प्रकाशः- साधनावच्छिन्नसाध्यव्यापकस्य मूर्तगुणत्वस्य स्पर्शवत्समवेतत्वस्य चोपाधित्वञ्च। मैवम्। उत्कर्षापकर्षशब्दप्रवृत्तिनिमित्तजातिमत्त्वादिति विवक्षितत्वात्। रसत्वादिव्याप्यजातिभेदेऽपि तादृशशब्दप्रवृत्तिनिमित्तत्वस्य साधारण्यात्। सर्वत्र वर्णात्मकशब्दपक्षीकरणे चानित्यध्वनिषु व्योमगुणेषूपाधीनां साध्याव्यापकत्वात् पक्षमात्रव्यावर्त्तकविशेषणवत्त्वेन पक्षेतरत्वतुल्यत्वाच्चेति भावः। विपक्षबाधकाभावेनोत्पत्तिमत्त्वमप्रयोजकमित्याह-**तथापीति**। उत्पत्तिमदपि किञ्चिन्नित्यं स्यादित्यर्थः। **स्वव्यापकेति**। उत्पत्तिमत्त्वव्यापकं विनाशकारणं, तस्य निवृत्तावित्यर्थः। **पूर्वोक्तादेवेति**। उत्पत्तिविनाशयोः संसर्गदर्शनादेवेत्यर्थः।

अविरुद्धयोरसन्निधिस्तु देशविप्रकर्षात् हिमवद्विन्ध्ययोरिव स्यात्। देशयोरपि विप्रकर्षो विरोधाद्वा हेत्वभावाद्वा। पूर्वोक्तादेव न प्रथमः। द्वितीयस्तु पटकुङ्कमयोरिव स्यात्। यदि कुङ्कुमसमागमादर्वागिव प्रध्वंसक-संसर्गादर्वागेव पटो विनश्येत्। यथा हि विनाशकारणं विना न विनाशः, तथा यदि कुङ्कुमसमागमं विना न विनाशः पटस्येति स्यात्। कस्तयोः संसर्गं वारयेत्? तस्मादविरुद्धयोरसंसर्गः कालविप्रकर्षनियमेन व्याप्तः। स चातो निवर्तमानः स्वव्याप्यमुपादाय निवर्तते इति प्रतिबन्धसिद्धिः।

आमोदः– अन्यतराप्रसिद्धिरित्यर्थः। गन्धासमानाधिकरणनित्यभूतविशेषगुणत्वात्। गन्धासमानाधिकरणनित्यभूतैकवृत्तिगुणत्वादित्यादिष्वप्यकार्यत्वमेवोपाधिरिति भावः। **पूर्वोक्तेति।** तद्गततयोपाधिमन्तरेणोपलम्भेनेत्यर्थः। प्रकर्षनिकर्षौ जातिरूपौ शब्दत्वरसत्वादिव्याप्यौ नानैवेति न जातिसंकरः। **स चेति।** कालविप्रकर्ष इत्यर्थः। **अत इति।** उत्पत्तिविनाशकारणसमवधानादित्यर्थः। **स्वव्याप्यमिति।** असंसर्गमित्यर्थः। **प्रतिबन्धसिद्धिरिति** यदुत्पत्तिमद्भावस्वरूपं तद्विनाशि तद्विनाशकारणसमवधाननियतमिति प्रतिबन्धद्वयसिद्धिरित्यर्थः। न चात्राप्य-प्रयोजकत्वशङ्का। अन्वयव्यतिरेकाभ्यामुत्पत्तिमत्त्वविनाशकसमवहितत्वयोः सुदृढप्रमाणावधृतनियमत्वादिति भावः। एवं शब्दोऽनित्यः प्रत्यक्षविशेषगुणत्वात्, प्रत्यक्षानात्मगुणत्वात्, इन्द्रियवृत्तिगुणत्वात्, इन्द्रियव्यवस्थाहेतुगुणत्वात्, भूतप्रत्यक्षगुणत्वादित्याद्यूह्यम्।

प्रकाशः– द्वितीयस्त्विति। पटकुङ्कुमयोः संसर्गस्तावदविरुद्धोऽपि कस्यचित्पटस्यान्तरा ध्वंसान्न भवति। तद् यदि विनाशकसंसर्गं विनैव नाशः स्यात्तदा नाशकासन्निधिः स्यात्, न त्वेवमित्यर्थः। **तस्मादिति।** यद्यपि अत्रापि व्याप्तावप्रयोजकत्वशङ्का तदवस्थैव, तथापि भावानां नाशं प्रति स्वरूपयोग्यत्वमुत्पत्तिमत्त्वेनैवावच्छिद्यत इति न शङ्केति भावः। **स चेति। स** कालविप्रकर्षस्तदा स्याद्यदि नाशकसम्बन्धमनपेक्ष्यैव कार्यस्य नाशः स्यात्, न चैवमित्यर्थः।

एवं, शब्दोऽनित्यः, व्यापकप्रत्यक्षविशेषगुणत्वात्, सुखवत्। बहिरिन्द्रियव्यवस्थाहेतुगुणत्वाद्, भूतप्रत्यक्षविशेषगुणत्वाद्, इन्द्रियविशेषगुणत्वाद्, अस्मदादिप्रत्यक्षविशेषगुणत्वाद्, गन्धवदित्याद्यूहनीयम्। हेत्वाभासानां निरासादिति।

मकरन्दः- सुखादौ साध्याव्याप्तेराह **साधनावच्छिन्नेति**। ननु सुखादावुत्कर्षापकर्ष सम्भवात्तद्दोषतादवस्थ्यम्। न च सजातीयसाक्षात्कारप्रतिबन्धकतावच्छेदकत्वादिना तन्निर्वचनं, तादृशोत्कर्षादेः सुखादावसम्भवोऽविदिते तत्र मानाभावादिति वाच्यम्। तस्य रसचरमशब्दसाधारण्ये उत्कर्षापकर्षशब्देत्यादिविवक्षाविरोधात्। तथा सत्युत्कर्षापकर्षयोरन्यतरगर्भत्वेनैव सामञ्जस्ये व्यर्थविशेषणत्वापत्तेश्च। न च हेतुद्वये तात्पर्य्यम्, मूलविरोधादिति चेत्, न साधनपदेन पक्षधर्म्मस्य विवक्षितत्वात्। स च बहिरिन्द्रियव्यवस्थाहेतुत्वादिः। **उत्कर्षापकर्षेति**। उत्कृष्टापकृष्टेत्यर्थः। पक्षे साध्याव्यापकत्वमनुद्भाव्यमित्यत आह **सर्वत्रेति**। यद्यपि द्वयोरेवोक्तत्वादुपाधीनामित्ययुक्तं, तथाप्यन्यस्यापि तत्समनियतस्य तात्पर्य्यविषयत्वात्तदभिप्रायेण तथोक्तम्। **पक्षमात्रेति**। ननु सुखादेरपि व्यावर्त्तनान्न पक्षमात्रव्यावर्त्तकत्वम्, न च साधनवत्पक्षमात्रमेव व्यावर्त्तयतीति तथोक्तमिति वाच्यम्। यथाश्रुतस्य तत्रापि सत्त्वादिति चिन्त्यम्। **उत्पत्तिमत्त्वेति**। भावत्वसमानाधिकरणोत्पत्तिमत्त्वव्यापकत्वमित्यर्थः। **अप्रयोजकत्वशङ्के**त्युपलक्षणं, ध्वंसे व्यभिचारश्चेत्यपि बोध्यम्। अत एवाह **भावानामिति**।

व्यापकेति। आशुविनाशित्वं यदि साध्यं तदाऽयं हेतुर्बोध्यः। एवञ्च घटरूपादौ व्यभिचारवारणाय **व्यापकेति**। ईश्वरज्ञानादौ व्यभिचारादाह **प्रत्यक्षेति**। आत्मैकत्वस्य प्रत्यक्षत्वे तत्र व्यभिचारादाह **विशेषेति**। हेत्वन्तरं *शब्दप्रकाशे* व्याख्यातम्।

स्यादेतत्। यद्येवमस्थिरः शब्दः कथमर्थेन संगतिरस्योपलभ्यते इति चेत्, यथैवार्थस्यास्थिरस्य तेन। जातिरेव पदार्थः, न व्यक्तिरिति चेन्न। शब्दात्तदलाभप्रसङ्गात्। आक्षेपत इति चेत्, कः खल्वयमाक्षेपो नाम? न तावदनुमानम्, अनन्ताभिः सह सङ्गतिवदविनाभावस्यापि ग्रहीतुमशक्यत्वात्। शक्यत्वे वा सङ्गतेरपि तथैव सुग्रहत्वात्। व्यक्तिमात्ररूपेणाविनाभाव इति चेन्न। व्यक्तित्वस्य सामान्यस्याभावात्। भावे वा तदाक्षेपेऽपि विशेषानाक्षेपात्। वाच्यत्वमपि वा तथैवास्तु, किमाक्षेपेण? सङ्गतेरविरोधादिति। अर्थापत्तिराक्षेप इति चेन्न, व्यक्त्या विना किमनुपपन्नम्? जातिरिति चेन्न।

आमोदः– नन्वेवं गृहीतसङ्गतिकशब्दनाशे कथमगृहीतसङ्गतिकशब्दादर्थावगम इति शङ्कते **यद्येवमिति**। एवं सति गृहीतसङ्गतिकघटाद्यर्थनाशे घटान्तरोपस्थितिः कथमिति तुल्यानुपपत्तिः। तत्र यदि घटत्वादिसामान्यमवच्छेदकं तदा घटपदेऽपि पदत्वमवच्छेदकमिति तुल्यमित्याह **यथेति**। ननु व्यक्तिशक्तावानन्त्यादिदोषात् विशिष्टशक्तौ च गौरवात् जातिरेव पदार्थ इत्याह **जातिरेवेति**। तथाच नोक्तदोषो जातेर्नित्यत्वादिति भावः। आक्षेपान्तरं नानुमानान्तरमनन्ताभिर्व्यक्तिभिरविनाभावाग्रहात्। ग्रहे वा शक्तिग्रहेऽप्येवमस्तु इत्याह **न तावदिति**। व्यक्तित्वमेवाविनाभावावच्छेदकं स्यादिति शङ्कते **व्यक्तिमात्रेति**। जातेरपि व्यक्तित्वमस्ति। न च तत्सामान्यं व्यापकतावच्छेदकप्रकारिकैवानुमितिर्व्यक्तिविशेषानुपस्थितिश्चेत्याह **व्यक्तित्वस्येति**। अभ्युपेत्याह **वाच्यत्वमपीति**। यद्यप्याक्षेपकयोः प्रतीतिभेदः तत्र तन्त्रं जातिव्यक्त्योः समानसंवित्संवेद्यत्वनियमतयानाक्षेपः। प्रकृते अनुमानं न वा अर्थापत्तिः। तथापि

प्रकाशः– ननु वर्णानित्यत्वे, गृहीतसङ्गतिकपदनाशे कालान्तरे पदादगृहीतसङ्गतिकादर्थप्रतीतिर्न स्यादित्यर्थप्रतीत्यन्यथानुपपत्त्या शब्दनित्यत्वं स्यादित्याह **यद्येवमिति**। तथा सति गृहीतसङ्गतिघटनाशे तदन्यघटव्यक्तेः पदात् प्रतीतिर्न स्यात्। अथानित्येऽपि घटादावेकधर्मोपग्रहेण शक्तिग्रहस्तर्ह्यनित्ये पदेऽपि स तथैवास्त्वित्याह **यथैवेति**। **तेन** शब्देनेत्यर्थः।

ननु यद्यपि आनयनादिव्यवहाराद्, व्यक्तावेव शक्तिरुचिता, तथाप्यानन्त्यव्यभिचाराभ्यां शक्तिग्रहस्तत्र न सम्भवति। सर्वव्यक्तेः शक्यत्वे, गां दद्यादित्यादौ सर्वोपादानासामर्थ्यादननुष्ठानापत्तिरेकशक्यत्वेऽनध्यवसायः। नापि गोत्वेनोपलक्षिता व्यक्तिः शक्येति न शक्त्यानन्त्यव्यभिचारौ। रूपान्तरेण ज्ञातस्यैवान्येन रूपेण लक्ष्यत्वात्, काकेन गृहविशेषस्येव। न च व्यक्तीनां जातिं विना रूपान्तरमस्ति। गोत्वविशिष्टे कार्यान्वयेन गोत्वस्य विशेषणत्वाच्च। न च व्यक्तिः शक्या गोत्वमवच्छेदकं कारणत्वे दण्डत्ववत्। गोपदाद् गोत्वविशिष्टबुद्धेरनुत्पादापत्तेः। अत एव न जातिविशिष्टे शक्तिः। विशेष्यभेदाद्विशिष्टानन्त्यात्। तस्माज्जातिरेव पदानां शक्या, न व्यक्तिरिति नोक्तदोष इत्यभिप्रेत्याह **जातिरेवेति**। तर्हि जातिशक्तात् पदाद् व्यक्त्युपस्थितिर्न स्यादित्याह **शब्दादिति**। न पदात् तदुपस्थितिः किन्त्वाक्षेपत इत्याह **आक्षेपत इति**।

प्रकाशः– ननु जातिव्यक्त्योरेकवित्तिवेद्यत्वान्नाक्षेपः। समानानां भावः सामान्यं, समानां व्यक्तिं विना न भासते इति चेन्न। स्वरूपेणैव जातेः शक्यत्वात्। सामान्यत्वन्तु तद्धर्मो, न तु तत्स्वरूपम्। प्रत्यक्षादौ तु जातिज्ञानस्य व्यक्तिविषयतानियमो व्यक्तिज्ञानसामग्रीसमाजाधीनः। गोत्वं गवाविषयकज्ञानविषयो जातित्वाद् गोभिन्नभावत्वाद्वेति जातिमात्रधीसिद्धेश्च। अथ यद्यत्परतन्त्रं तत्तेनैकवित्तिवेद्यं, यथार्थपरतन्त्रज्ञानमर्थेन, जातिश्च व्यक्तिपरतन्त्रेति व्यक्तौ भासमानायामेव भासते इति चेन्न। परतन्त्रत्वं हि न परसमवेतत्वं, शब्दादिना व्यभिचारात्। नापि तन्निरूपणाधीननिरूपणत्वम्, असिद्धेः। नापि परस्मिन् भासमान एव भासमानत्वम्। साध्याविशेषात्। तस्माद्गोत्वं व्यक्त्याश्रितं जातित्वादित्यनुमानाद् गोत्वाश्रयव्यक्तिज्ञानमिति भावः। व्याप्तिरपि शक्तिरिव व्यक्तीनामानन्त्यान्न ग्राह्या इत्याह **अनन्ताभिरिति**। अथैकरूपावच्छेदेन व्याप्तिग्रहस्तदा शक्तिग्रहोऽपि तथैवास्त्वित्याह **शक्यत्वे वेति**। गोत्वस्य व्यक्त्याश्रितत्वव्याप्तेः पक्षधर्मताबलाद् गोव्यक्तिलाभः स्यादित्याह **व्यक्तिमात्रेति**। व्यक्त्याश्रितत्वव्याप्तिरपि न व्यक्तित्वमनुगतं विना ग्राह्येति। न च तज्जातिः जातेरपि व्यक्तित्वादित्याह **व्यक्तित्वेति**। उपाधित्वे तस्य दोषमाह **भावे वेति**। व्यक्तिमात्रलाभेऽपि व्यक्तिविशेषानाक्षेपात्तत्प्रतीत्यनुपपत्तिरित्यर्थः।

मकरन्दः– **गोत्वमिति**। न च नित्यत्वादिसामान्यप्रत्यासत्त्या तादृशप्रतीति सम्भवात्तमादायार्थान्तरम्। एकवित्तिवेद्यत्वनियमनिषेधार्थं सामान्यत एव तादृशधीसिद्धेरुद्देश्यत्वात्। अत एव वक्ष्यति, **जातिमात्रधीसिद्धेश्चेति**। नन्वेवं जातिपदार्थविवेचने नित्यत्वादित्येव हेतुरस्तु, न चैवं गवान्योन्याभावादौ व्यभिचारः, नित्यत्वप्रकारकोक्तप्रतीतिमादाय तत्रापि साध्यसत्त्वात्, गोघटितोपाधेश्चानित्य-

---

तन्नाशानुत्पाददशायामपि सत्त्वात्। तथापि न व्यक्तिमात्रं विनेति चेन्न। मात्रार्थाभावात्। व्यक्तिज्ञानमन्तरेण जातिज्ञानमनुपपन्नमिति चेन्न। तदभावेऽप्युत्पादात्। व्यक्तिविषयत्वं विना जातिविषयता तस्यानुपपन्नेति चेन्न। एवं तर्ह्येकज्ञानगोचरतायां किमनुपपन्नं किं प्रतिपादयेदिति? जातीनामन्वयानुपपत्त्या व्यक्तिरवसीयते इति चेन्न। परस्पराश्रयप्रसङ्गात्।

स्यादेतत्। प्रतिबन्धं विनापि पक्षधर्मताबलात् यथा लिङ्गं विशेषे पर्यवस्यति, तथा सङ्गतिं विनापि शब्दः शक्तिविशेषाद्विशेषे पर्यवस्यति।

आमोदः– गोत्वं गवाविषयकप्रतीतिविषयो जातित्वात् गोभिन्नभावत्वादित्याद्यवष्टम्भेन जातिज्ञानं व्यक्त्यविषयकमपि साधयितुं शक्यम्। तत्रेयमाशङ्केति द्रष्टव्यम्। जातिर्व्यक्तिं विना न तिष्ठति व्यक्तिज्ञानं विना न ज्ञायते वा जातिविषयकं ज्ञानम्, व्यक्तिविषयतां विना न सम्भवति वा? तत्राद्ये तावदाह **तन्नाशेति**। **न व्यक्तिमात्रमिति**। व्यक्तिसत्त्वान्तरीयकमेव जातिसत्त्वमित्यर्थः। *परेण* प्रलयानभ्युपगमात्। **मात्रार्थेति**। व्यक्तिसामान्यं विनेति यदि मात्रार्थस्तदा विशेषानुपस्थित्यादिकं दोष उपस्थितौ वा शक्तिग्रहोऽपि तथैव स्यात् इत्यर्थः। द्वितीयस्य चतुर्थेऽन्तर्भावात् तृतीयमाशङ्क्य दूषयति **व्यक्तिज्ञानमित्यादि**। **तदभावेऽपीति**। व्यक्तिज्ञानाभावेऽपीत्यर्थः। न हि व्यक्तिज्ञानमन्तरेण जातिज्ञानमित्यर्थः। प्रत्युत जातिमात्रसविकल्पकपक्षे वैपरीत्यमेवेति भावः। तथाच समानसंवित्संवेद्यत्वमेव नाक्षेप्याक्षेपकभाव इत्याह **एवं तर्हीति**। गामानयेत्यत्रानयनानुपपत्तिर्जाताविति लक्षणया व्यक्तेरुपस्थितिरिति शङ्कते **जातीनामिति**। **परस्परेति**। जातिज्ञाने सति लक्षणया व्यक्तिज्ञानं व्यक्तिमादायैव च जातिज्ञानमित्यर्थः। लक्षणीयस्य प्रकारान्तरेणोपस्थिते लक्षणा, प्रकृते च गोत्वेनैवोपस्थिते क्व लक्षणेति भावः।

प्राभाकरमतं शङ्कते **स्यादेतदिति**। विशिष्य प्रतिबन्धज्ञानं विनापि यथा लिङ्गं विशेषपरं तथा सङ्गतिग्रहं विनापि शब्दः स्वरूपसद्व्यक्तिविशेषपर्यवसन्नः स्यात्। न ह्यनुमितौ विशेषव्याप्तिग्रहोऽप्युपयुक्तः, किन्तु स्वरूपसत्या एव व्याप्तेर्विशेषपर्यवसानाद्दर्शनादिहापि तथैव कल्पनीयमित्यर्थः। जातिशक्ति–ज्ञानाद् व्यक्तिज्ञानं जातिज्ञानानन्तरं वा जायते। जातिज्ञानमेव वा व्यक्तिविषयम्?

प्रकाशः– ननु पक्षधर्मताबलाद् व्यक्तिविशेषः सिद्ध्येदित्यभिप्रेत्याह **वाच्यत्वमपीति**। यदि व्यक्तित्वेनोपस्थिते व्याप्तिस्तदा गोत्वेनोपस्थिते शक्तिग्रहोऽपि स्यादित्यर्थः। वस्तुतः पक्षधर्मताबलाद्विशेषस्य भानेऽपि विशेषत्वेनोपस्थितिर्न स्यादनुमितेर्व्यापकतावच्छेदकप्रकारकत्वनियमादिति भावः। व्यक्तिं विना जातिरनुपपन्ना तामाक्षिपतीत्याह **अर्थापत्तिरिति**। **तन्नाशेति**। व्यक्तिं विनापि गोत्वस्योक्तरीत्या प्रतीतेर्नानुपपत्तिरित्यर्थः। यद्यप्येकव्यक्तिनाशानुत्पाददशायामपि जातिरस्ति, तथापि व्यक्त्यन्तरमस्त्येवेति न व्यक्तिमात्रं विना जातिरस्तीत्याह **तथापीति**। मात्रार्थो हि नाशेषव्यक्तिः, एकव्यक्तिनाशेऽपि गोत्वादेर्ज्ञानात्। नापि व्यक्तित्वं, तद्धि न जातिरुक्तदोषात्। उपाधित्वे तु व्यक्तित्वेन उपस्थितसर्वव्यक्त्यन्यथानुपपत्तिग्रहवच्छक्तिग्रहोऽपि स्यादित्याह **मात्रार्थेति**। **तदभावेऽपीति**।

प्रकाशः- गोभिन्नभावत्वेन गां विनापि त्वया गोत्वज्ञानाभ्युपगमादित्यर्थः। **एवं तर्हीति**। व्यक्तिं विनापि जातेरज्ञानात् केवला जातिर्नोपस्थितेति जातित्वविशिष्ट एव पदानां शक्तिः। विशिष्टानामानन्त्येऽप्येकत्र विशिष्टे तत्त्वं विहाय गोत्वमादाय गोत्वविशिष्टं शक्यमिति शक्तिग्रहात् सर्वत्रोदासीनस्य गोः शक्यत्वाद्यत्किञ्चिदेकोपादानेऽपि गोरुपादानान्नोपादानाशक्यत्वमेकोपादानेऽनध्यवसायो वा, व्यक्तिवाचक पश्वादिपदवदुपपत्तेः। वस्तुतो नानुमानार्थापत्तिभ्यां व्यक्तिलाभः। न हि यत्र यदा वा गोत्वं तत्र तदा वा, यद् गोत्वं सा व्यक्तिरिति वा व्याप्तिर्व्यभिचारात्। नापि जातित्वं व्यक्त्याश्रितत्वे लिङ्गम्। जातित्वस्य पदादनुपस्थितेः। तथात्वे वा, जातिरिति वेद्यैव व्यक्तिः, नित्यानेकसमवेतत्वस्य जातित्वात्। व्यक्तेश्चापदार्थत्वे विभक्त्यर्थसंख्याकर्मत्वादेर्व्यक्तावनन्वयः स्यात्। सुब्विभक्तीनां प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थबोधकत्वस्य व्युत्पत्तिसिद्धत्वात्। न च प्रकृतितात्पर्यविषये तदन्वयव्युत्पत्तिः। लक्षणोच्छेदापत्तेः। एवं तर्हि गामानयेत्यादौ जातेरानयनाद्य-न्वयानुपपत्त्या जातिशक्तपदेन व्यक्तिर्लक्ष्यते। अत एव व्यक्तेः प्रकृतिप्रतिपाद्यत्वे विभक्त्यर्थान्वयस्तत्र सङ्गच्छत इत्याह **जातीनामिति**। जातिज्ञाने सति लक्षणया व्यक्तिज्ञानं, व्यक्तिमादाय जातिज्ञानमित्यन्योन्याश्रय इत्याह **परस्परेति**।

वस्तुतः स्वार्थादन्येन रूपेण ज्ञाते लक्षणा, तीरत्वेन ज्ञाते गङ्गापदस्येव। न च गोत्वादन्येन रूपेण व्यक्तेरुपस्थितिः, किन्तु गोत्वेनैव। न च व्यक्तित्वेन तदुपस्थितिः। गोपदाद् व्यक्तित्वप्रकारकबुद्ध्यापत्तेः। गां पश्य, गौस्तिष्ठतीत्यादौ जातेरप्यन्वययोग्यत्वे व्यक्तेरलाभप्रसङ्गश्च। तस्मादेकवित्तिवेद्यत्वान्न व्यक्तेराक्षेपः किन्तु विशिष्टे शक्तिरेवेति भावः।

ननु जातिशक्ततया ज्ञातं पदं प्रथमं जातिं बोधयति, अनन्तरं स्वरूपसद्व्यक्तिशक्त्या व्यक्तिम्। एवञ्च जातौ ज्ञाता शक्तिर्बोधिका, व्यक्तौ तु स्वरूपसती, यथा लिङ्गं वह्निसामान्यव्याप्ततया ज्ञातं तद्विशेष व्याप्ततया

मकरन्दः- गोघटितत्वेनानित्यत्वादित्यस्वरसादाह **गोभिन्नेति**। एतच्च गवि व्यभिचारवारणाय। गोघटितोपाधौ व्यभिचारवारणाय **भावपदम**खण्डपरम्। न त्वभावे व्यभिचारवारणाय तत्, उक्तरीत्या तत्र साध्यसत्वात्। अन्यथा गोसादृश्यादौ व्यभिचारतादवस्थ्यापत्तेरिति। अस्तु वा इतरनिरूपणानधीननिरूपणपरं भावपदम्। **तस्मादिति**। अत्र जातिपदार्थविवेचने व्यर्थविशेषणत्वं चिन्त्यम्। **जातेरपीति**। गोत्वत्वाद्युपाधिव्यक्तीभूतगोत्ववृत्तिव्यक्तित्वस्य जातित्वे जातावपि

स एवाक्षेप इत्युच्यते इति चेत्, न तावत्प्रतीतिः, क्रमेण अपेक्षणीयान्तराभावेन विरम्य व्यापारायोगात्। जातिप्रत्यायनमपेक्षते इति चेत्, कृतं तर्हि शब्दशक्तिकल्पनया। तावतैव तत्सिद्धेः। ओमिति चेन्न। व्यक्त्यनालम्बनायाः जातिप्रतीतेरसम्भवादित्युक्तत्वात्। प्रमाणान्तरापातप्रसङ्गाच्च। स्मरणं तदित्ययमदोष इति चेन्न। अननुभूतानन्वयप्रसङ्गात्। अस्त्वेकैव प्रतीतिरिति चेत्, कृतं तर्हि शक्तिभेदकल्पनया। एवञ्च यथा सामान्यविषया शक्तिरेकैव तद्वति

आमोदः– तत्र नाद्य इत्याह **न तावत् प्रतीतिरिति**। **अपेक्षणीयान्तराभावेनेति**। व्यक्त्युपस्थिताविति शेषः। व्यक्तौ स्वरूपसती शक्तिर्जातिज्ञान-सहकृतव्यक्त्युपस्थापिकेति क्रमसिद्धिरिति शङ्कते **जातीति**। जातिप्रतीतिः प्रथमं यदि तदा सैव व्यक्तिप्रतीतिहेतुः, कृतं व्यक्त्यंशशक्तिकल्पनयेत्याह **कृतमिति**। ननूक्तजातिधीरेव व्यक्तिधीहेतुः को दोष इत्याह **ओमिति**। एकस्यामुभयविषयकसंविदि हेतुहेतुमद्भाव इत्याह **व्यक्त्यनालम्बनाया** इति। यदि च मनोजातिज्ञानमपेक्ष्य व्यक्तिज्ञानं जनयेत् तदा जातिज्ञानं लिङ्गज्ञानवन्मानान्तरं स्यादित्याह **प्रमाणान्तरेति**। व्यक्तिज्ञानं यदि प्रमा स्यात् तदा भवेदेवं तच्च स्मृतिरूपमित्याह **स्मरणमिति**। एवं सत्यननुभूता व्यक्तिर्न भासेतेत्याह **अननुभूतेति**। जातिज्ञानमेव व्यक्तिविषयकमिति द्वितीयविकल्पमाशङ्कते **अस्त्वित्यादि**। एवं सत्येकैव शक्तिर्जातिव्यक्तिनिष्ठास्तु। तथाच सिद्धं नः समीहितमिति परिहरति **कृतमिति**। प्रकृतमुपसंहरति **एवं चेति**। यदुक्तं यथार्थस्यास्थिरस्य तेनेति तदेतदायातम्। यथा पटत्वसामान्यविषया पटपदस्य शक्तिर्व्यक्तौ पर्यवस्यति। न च तत्र पृथक्-शक्तिः, तथा पटत्वसामान्याश्रयैव शक्तिः पदानां शक्तिः स्वरूपसती पदार्थे ज्ञाता *नैयायिकानां* तथा *ममापि* जातौ ज्ञाता व्यक्तौ स्वरूपसती शक्तिरस्तु, इयमेव हि शब्दशक्तिः। यद्वा, शब्दानित्यत्वेऽपि न दुर्ग्रहः समयग्रह इत्यर्थः। ननु या चान्वयांशे जातिशक्तादेव व्यक्त्युपस्थितिरस्तु, न हि ज्ञानाद्व्यक्तिज्ञानं पृथगिति, येन तत्रापि शक्तिः कल्प्येत। किं च गोत्वमनुगमनकं विशेषणं च गौर्गोपदवाच्य इत्यर्थः। तथाच नागृहीतविशेषणान्यायेन तत्रैव शक्तिरुचिता जातौ व्यक्तेर्विशेषणत्वेऽप्यानन्त्य-व्यभिचाराभ्यां न तत्र शक्तिः। जातिर्वा स्वत एव व्यावृत्ता विशेषपदार्थवदिति न तत्र व्यक्तेर्विशेषणत्वमिति चेत्, न। नियमतो यद्विषयकं ज्ञानं येन पदेन जन्यते

प्रकाशः- नवगतमपि वस्तुगत्या व्यापकं गमयतीत्याशयवानाह **स्यादेतदिति**। **प्रतिबन्धं विना** प्रतिबन्धग्रहं विना। **शक्तिविशेषात्** स्वरूपसद्व्यक्तिशक्तेः। एवं पदाद् युगपदेव जातिव्यक्तिज्ञानं स्यादुभयज्ञानसामग्र्या वृत्तत्वादित्याह **न तावदिति**। व्यक्तिज्ञाने कर्तव्ये जातिशक्ततया ज्ञातं पदं जातिज्ञानमपेक्षते इति क्रम इत्याह **जातीति**। यदि जातिज्ञानं व्यक्तिज्ञानहेतुस्तदा किं व्यक्तिशक्त्या?। जातिज्ञानादेव व्यक्तिशक्तिं विनापि तज्ज्ञानोपपत्तेरित्याह **कृतमिति**। नास्त्येव व्यक्तौ शक्तिः, जातिज्ञानमेव व्यक्तिज्ञानहेतुरस्त्वित्याह **ओमिति**। स्यादेवं, यदि व्यक्त्यविषयं जातिज्ञानं स्यान्न त्वेवमित्याह **व्यक्तीति**। किञ्चैवं व्यक्तिज्ञाने पदानामकरणत्वे जातिज्ञानं मानान्तरं स्यादित्याह **प्रमाणेति**। जातिज्ञानकरणकमपि व्यक्तिज्ञानं स्मरणं नानुभव इति। न तन्मानान्तरमित्याह **स्मरणमिति**। एवं गामानयेति वाक्यादननुभूतगोव्यक्त्यननुभवप्रसङ्ग इत्याह **अननुभूतेति**। अस्तु तर्हि जातिव्यक्तिविषयैकैव धीरुभयशक्तिसाध्येत्याशङ्कते **अस्त्विति**। उभयविषयैकशक्त्यैवैकज्ञानोपपत्तौ शक्तिद्वयकल्पनं व्यर्थमिति परिहरति **कृतमिति**। ननु मा भूच्छक्तिभेदकल्पनं, भवतु सङ्गतिरप्येका, तथापि कथं प्रकृतसिद्धिरित्यत आह **एवञ्चेति**। यथा पटशब्दत्वसामान्यविषया पटपदस्य शक्तिर्व्यक्तौ पर्यवस्यति, न तु तत्र पृथक्शक्तिस्तथा शब्दानित्यत्वेऽपि शब्दत्वसामान्यस्यैव

मकरन्दः- जातिवृत्तित्वाभ्युपगमेऽपसिद्धान्त इति भावः। **विशेषत्वेनेति**। गोत्वादिनेत्यर्थः। **उक्तरीत्येति**। गोत्वं गवाविषयज्ञानविषय इत्यादि त्वदुक्तरीत्येत्यर्थः। **इत्यर्थः**=इति तात्पर्यार्थः। अक्षरार्थानुसारेणाह **यद्यपीति**। **ज्ञानादिति**। सत्त्वाच्चेत्यपि बोध्यम्।

गोभिन्नेति। यद्यपि तेनैकवित्तिवेद्यत्वमपाकृतं तच्चानुपदमेव शङ्कितं, तथापि व्यक्तेर्ज्ञानान्तरमपि तदा नास्तीत्यस्यापि तन्निरस्यत्वमुक्तम्। वस्तुतो व्यक्तिज्ञान-कारणत्वशङ्केयं, तत्र च तुल्यग्रहसामग्रीकत्वात् तदभावेऽप्युत्पादादित्यर्थो युक्तः। **गामिति**। गोज्ञानं विनापीत्यर्थः। **जातित्वस्येति**। न च प्रकारान्तरात्तदुपस्थितिः, तस्यासार्वत्रिकत्वात्, व्यक्तिबुद्धेश्च सार्वत्रिकतया शक्तिरेवेति भावः।

ननु परेण व्यक्तिज्ञानं विनापि जातिज्ञानाभ्युपगमान्नान्योन्याश्रय इत्यरुचेराह **वस्तुत** इति। नन्विदमप्रयोजकम्, अत एव नीलो घट इत्यादौ तथैव लक्षणेत्यस्वर-सादाह **गां पश्येति**। यद्यपि यष्टीः प्रवेशयेतिवल्लक्षणा सम्भवत्येव, तथापि गोपदाद् व्यक्तिमादायैव जातिस्मृतेरनुभूयमानत्वाद्विशिष्टे शक्तिरेव न लक्षणेति भावः।

पर्यवस्यति, तथा सामान्याश्रया सङ्गतिस्तद्वति पर्यवस्येदिति। न च नित्या अपि वर्णाः स्वरानुपूर्व्यादिहीनाः पदार्थैः सङ्गम्यन्ते। न च तद्विशिष्टत्वमपि तेषां नित्यम्। तस्मात्तत्तज्जातीयक्रोडनिविष्टा एव पदार्थाः पदानि च सम्बध्यन्ते नातोऽन्यथेति, नैतदनुरोधेनापि शब्दस्य नित्यत्वमाशङ्कनीयमिति। यदा च वर्णा एव न नित्यास्तदा कैव कथा पुरुषविवक्षाधीनानुपूर्व्यादि-विशिष्टवर्णसमूहरूपाणां पदानां, कुतस्तराञ्च तत्समूहरचनाविशेष-स्वभावस्य वाक्यस्य, कुतस्तमां तत्समूहस्य वेदस्य?

परतन्त्रपुरुषपराधीनतया प्रवाहाविच्छेदमेव नित्यतां ब्रूम इति चेत्, एतदपि नास्ति, सर्गप्रलयसम्भवात्। अहोरात्रस्याहोरात्रपूर्वकत्वनियमात्, कर्मणां विषयविपाकसमयतया युगपद्वृत्तिनिरोधानुपपत्ते र्वर्णादिव्यवस्थानुपपत्तेः। समयानुपलब्धौ शाब्दव्यवहारविलोपप्रसङ्गात्, घटपटादिसम्प्रदायभङ्गप्रसङ्गाच्च कथमेवमिति चेत्। उच्यते –

आमोदः– तत्पदं तत्र शक्तम्। जन्यते च जातिविषयकं ज्ञानं गवादिपदेनेत्युभयमपि तत्पदशक्यमिति भावः। पटशब्दे वाचकत्वव्यवहारं करोतीति योत्तरपटत्व-विशिष्टपदाश्रिता। अपिच वर्णनित्यत्वेऽपि ज्ञानरूपानुपूर्वीविशेषघटित-पदानामनित्यतया *त्वन्मतेऽपि* कथं शक्तिग्रह इत्याह **न चेति**। उपसंहरति **तस्मादिति**। पदार्थेषु गोत्वघटत्वादिका जातिः। पदेषु गोत्तरौत्वघोत्तरटत्वादिक-मुपाधिरित्यर्थः। **नैतदनुरोधेनेति**। शक्तिग्रहानुरोधेनेत्यर्थः।

इदानीं वक्तृतया ईश्वरसिद्धिमभिप्रेत्याह **यदि च वर्णा एवेति**। पदानां नित्यत्वस्य च कैव कथेत्यन्वयः। ननु वेदा एव ध्वंसप्रतियोगिन इति न तन्नित्यतां ब्रूमोऽपि तु वेदप्रवाहः कदापि नोच्छिद्यत इत्याह **परतन्त्रेति**। तथाच शिष्योपाध्याये परम्पराधीनत्वात् सर्वदा वेदानुवृत्तिर्न त्वीश्वरवक्तृकतयेति भावः। तज्जातीयानुपूर्वीज्ञानजन्यानित्यज्ञानजन्यत्वमेव परतन्त्रपुरुषपरम्पराधीनत्वम्। प्रलये बाधमाशङ्कते **अहोरात्रेति**। सम्प्रति तथा दर्शनादिति भावः। कर्मणां धर्माधर्माणां विषमविपाकसमयतया क्रमिकसहकारिसमवधानवत्तया युगपद्वृत्तिनिरोधो यौगपद्येन भोगवैमुख्यम्। **वर्णादीति**। **वर्णानां** ब्राह्मणत्वादीनां या **व्यवस्था** ब्राह्मणत्वादि-पूर्वकत्वनियमः, **तदनुपपत्ते**रनुपपत्तिप्रसङ्गादित्यर्थः। **समयेति**। वृद्धव्यवहाराधीनः सङ्केतग्रहः सर्गादौ न स्यादित्यर्थः। **घटपटादीति**। कुविन्दकुलालादीनामुच्छेदे सर्गादौ कथं तन्निर्माणशिक्षा स्यादित्यर्थः। **कथमिति** उक्तबाधकेभ्यः कथं प्रलयसिद्धिरित्यर्थः।।१।

प्रकाशः- शक्तिः पटशब्दे वाचकत्वव्यवहारं करोति, न तु पटशब्दस्य जातिवाचकत्वं पृथगित्यर्थः।

प्राभाकरास्तु-व्यक्तौ जातिरनुगमिका विशेषिकाऽवश्यवाच्या चेति नागृहीतविशेषणान्यायेन सैव वाच्या। न च जातावपि व्यक्तिरेव विशेष इति नागृहीतविशेषणान्यायो व्यक्तावपीति वाच्यम्। जातेः स्वत एव व्यावृत्तत्वात्। अन्यथाऽन्योन्याश्रयात्। स्वतो व्यावृत्तत्वं च परेषामन्त्यविशेषस्येव स्वाश्रयवत् स्वस्मिन् व्यावृत्तधीजनकत्वम्। व्यक्तिधीस्तु जातिशक्तादेव पदात्, गोपदं हि नियमतो जातिव्यक्ती बोधयति। तत्रास्य जातिशक्तिज्ञानमेव सहकारि कल्प्यते, लाघवादावश्यकत्वाच्च, न तु व्यक्तिशक्ति ज्ञानं, गौरवात्। जातिशक्तिज्ञाने सति तज्ज्ञानं विना व्यक्तिज्ञाने विलम्बाभावाच्च। यथा परेषां पदार्थशक्तादेव पदादन्वयधीः। यद्वा, जातिशक्तिज्ञानाज्जातिज्ञानं जायमानं व्यक्तिमपि विषयीकरोति। यद्येन विना न भासते, तज्ज्ञानहेतोस्तद्बोधकत्वनियमात्। अन्यथा, जातिमपि न बोधयेत्। तस्मादेकवित्तिवेद्यत्वनियमाज्जातिज्ञानार्थं क्लृप्ता शक्तिर्व्यक्तिमपि ज्ञापयति। न च जातिं विनापि प्रत्यक्षादिनापि व्यक्तिज्ञानादन्यैव व्यक्तिज्ञानसामग्री, जातिविशिष्टज्ञानं चोभयज्ञापकसामग्रीसमाजादिति वाच्यम्। जातिव्यक्त्योः प्रत्यक्षादिना बोधे सामग्रीभेदेऽपि शाब्दव्यक्तिबोधे जातिशक्तिज्ञानस्यैव हेतुत्वात्। लाघवात्। तत्सत्वे तत्र विलम्बाभावेन सामग्र्यन्तराकल्पनाच्च। न चैवं व्यक्तिज्ञानस्य शक्यत्वात्तद्विषयत्वाज्जातिवद्व्यक्तिरपि शक्या स्यात्। यद्विषयतया ज्ञाने ज्ञाता शक्तिरुपयोगिनी तस्यैव विषयतया शक्यतावच्छेदकस्य शक्यत्वात्। एवञ्च जातिव्यक्तिज्ञानजनकत्वादुभयत्रापि पदशक्तिः। जात्यंशे तु सा ज्ञाता हेतुः। *परेणाऽ*प्यन्वये कुब्जशक्तिस्वीकारात्।

मकरन्दः- तदिदमाह **तस्मादिति। अननुभूतेति।** तन्मते इति शेषः। अपरं *शब्दप्रकाशे* व्याख्यातम्। *वैशेषिकमते* व्यावृत्तिबुद्धिसिद्धो विशेषनामा कश्चन पदार्थोऽस्ति। स च द्विविधः सामान्यविशेषः, अन्त्यविशेषश्च। सामान्यविशेषो द्रव्यत्वादिः, स खल्वनुवृत्तिबुद्धिहेतुः सन्नेव व्यावृत्तिबुद्धेरपि हेतुर्भवति। अन्त्यविशेषस्तु नित्यद्रव्यमात्रवृत्तिरेकमात्रगतश्च, स तु स्वत एव व्यावृत्त इति सिद्धान्तः। यत्र शक्तिरस्ति, परन्तु शाब्दबोधे तस्याः कारणता नास्ति, तत्रैव कुब्जशक्तिरि*त्येके*। यत्र स्वरूपसत्येव शक्तिः कारणं न तु ज्ञाता, तत्र कुब्जशक्तिरि*त्यपरे* ।।१।।

प्रकाशः– उच्यते। शक्यज्ञाने विषयतया जातेरवच्छेदकत्वं व्यक्तिमादायैव ज्ञायते, न तु केवलायाः। व्यक्तिं विना जातेरज्ञानादिति जातेरवच्छेदकत्वे नागृहीतविशेषणान्यायाद् व्यक्तेरवच्छेदकत्वमावश्यकमिति शक्यज्ञाने विषयतयाऽवच्छेदकत्वाज्जातिवद्व्यक्तिरपि शक्या। यद्वा, प्रथमं व्यवहारानुमितव्यक्तिज्ञाने पदानुविधानात् पदं शक्तमित्यवधारयति न तु जातिज्ञाने, व्यवहाराहेतुत्वेन तदा तस्यानुपस्थितेः। पश्चाद्व्यक्तेर्व्यावृत्त्यर्थमनुगमार्थञ्च जातिरपि तद्विषय इति मानान्तरेण ज्ञात्वा जातिज्ञानेऽपि तत्पदस्य कारणतां प्रत्येति। तथा च व्यक्तिशक्तिज्ञानमपि कारणम्। न च जातिशक्तिज्ञानेनान्यथासिद्धिः। व्यक्तिज्ञानकारणतामुपजीव्य जातिज्ञानकारणताग्रह इति उपजीव्यविरोधात्। अपि च पदस्य व्यक्तिज्ञानार्थं शक्यज्ञाने विषयतया व्यक्तेरवच्छेदकत्वमात्रं कल्पयति लाघवात्। जातिविषयत्वाद् व्यक्तिविषयत्वस्य ज्ञानवित्तिवेद्यत्वेनावश्यं शीघ्रोपस्थिततत्वात्। न तु जातौ शक्तिं तज्ज्ञानं कारणान्तरं वा तदवच्छेदकं कल्पयति गौरवात्। शक्तिग्रहकाले तेषां कल्पनीयोपस्थितिकत्वाच्चेत्य*स्मात्पितृचरणाः*।

इदानीं वर्णनित्यतापक्षेऽपि पदानित्यतया सङ्गतिरविशिष्टेत्याह– **न चेति**। **स्वरो** ध्वनिः। तन्मतेऽप्यनित्यः। न हि तावद्वर्णमात्रे शक्तिः, व्युत्क्रमेण ततोऽर्थप्रत्ययाभावादित्यानुपूर्वीविशेषविशिष्टे तत्र शक्तिः। सा चैकवर्णज्ञानानन्तर ज्ञानविषयत्वमपरवर्णस्य, ज्ञानं चानित्यमिति तद्घटितं पदमपि तथेत्यर्थः। अभिमतमुपसंहरति **तस्मादिति**।।१।।

ननु कूटस्थनित्यतां *वेदस्य* न ब्रूमः, किन्तु प्रवाहाविच्छेदरूपामित्याह। **परतन्त्रेति**। तज्जातीयानुपूर्वीज्ञानजन्यत्वव्याप्यज्ञानविषयत्वं परतन्त्रपुरुष–परम्पराधीनत्वम्। तथा च कालत्वस्य *वेदा*धिकरणत्वव्याप्यत्वमेव *वेदस्य* नित्यतेत्यर्थः। प्रलये बाधकमाह **अहोरात्रस्येति**। साम्प्रतिकाहोरात्रे तथा दर्शनादित्यर्थः। **विपाकः** सहकारिलाभः। **वर्णादीति**। **वर्णाः** ब्राह्मणादयः, तेषां **व्यवस्था** ब्राह्मणादिमातापितृजत्वेन, सर्गादौ तदभावात् सा न स्यादित्यर्थः। आदिपदाद्गवादिर्गृह्यते। **समयेति**। सर्गादौ प्रयोज्यप्रयोजकवृद्धव्यवहारा–भावाच्छब्दसङ्केतग्रहो न स्यादित्यर्थः। सर्वशब्दानामगृहीतसङ्केततयेश्वरेण शब्दतोऽपि व्युत्पादनस्याशक्यत्वादिति भावः। **घटादीति**। **सम्प्रदायः** प्रवाहस्तस्य **भङ्गो** विच्छेदः। यथा घटादिः क्रियते, तद्रूपस्यादर्शनादित्यर्थः।।१।।

वर्षादिवद्‌भवोपाधिर्वृत्तिरोधः सुषुप्तिवत्।
उद्भिद्वृश्चिकवद्वर्णा मायावत् समयादयः।।२।।

तत्पूर्वकत्वमात्रे सिद्धसाधनात्, अनन्तरतंत्पूर्वकत्वे अप्रयोजकत्वात्, वर्षादिदिनपूर्वकताद्दिननियमभङ्गवदुपपत्तेः। राश्यादिविशेष-संसर्गरूपकालोपाधिप्रयुक्तं हि तत्। तदभाव एव व्यावृत्तेः। तथेहापि सर्गानुवृत्तिनिमित्तब्रह्माण्डस्थितिरूपकालोपाधिनिबन्धनत्वात्तस्य तदभाव एव व्यावृत्तिः को दोषः? न च तदनुत्पन्नमनश्वरं वा, अवयवित्वात्।

वृत्तिनिरोधस्यापि सुषुप्त्यवस्थावदुपपत्तेः। न ह्यनियतविपाकसमयानि

आमोदः– वर्षादिवदिति। वर्षादिनपूर्वकत्वे साध्ये यथा वर्षप्रथमदिवसान्यराशिविशेष उपाधिः, तेन न वर्षादिनत्वरूपसाधनव्यापकमिति। तथाऽहोरात्रपूर्वकत्वेऽहोरात्रस्य साध्ये *भवो* ब्रह्माण्डस्थितिकालः स एवोपाधिरित्यर्थः। सुषुप्तौ यथा कर्मणां युगपद्वृत्तिनिरोधस्तथान्यत्रापि स्यादित्याह **वृत्तिरोध** इति। यथा तण्डुलीयकशाकवृश्चिकयोस्तत्पूर्वकत्वेऽप्याद्यौ तौ तण्डुलकणगोमयाभ्यां भवतः। तथा ब्राह्मणत्वादीनां तत्पूर्वकत्वेऽपि सर्गादौ तज्जनकधर्मोपगृहीतभूतभेदात् स्यादित्याह **उद्भिदिति।** प्रयोज्यप्रयोजककायाधिष्ठानादीश्वरतयैव व्यवहारान्मायादिव्यवहारादिव तद्दर्शी व्युत्पन्नः स्यादित्याह **मायावदिति।**

अहोरात्रस्याहोरात्रपूर्वकत्वं साध्यम्, अव्यवहिताहोरात्रपूर्वकत्वं वा? नाद्य इत्याह **तदिति।** पूर्वसर्गाहोरात्रपूर्वकत्वस्य मयाप्युपगमादित्यर्थः। द्वितीये त्वाह **अनन्तरेति।** वर्षर्तुप्रथमदिनस्य यथा न वर्षादिना व्यवहितपूर्वकत्वं तथा प्रकृतेऽपि स्यादित्यर्थः। ननु व्यभिचारे चावश्यमुपाधिरित्यत आह **राश्यादीति।** कर्कटप्रथमांशानवच्छिन्नकर्कटसिंहाद्यन्यतरावच्छिन्नाहोरात्रत्वं वर्षादिनपूर्वकत्वे साध्ये उपाधिः। अयं च वर्षादिनत्वरूपसाधनावच्छिन्नसाध्यव्यापकः। यथाश्रुते शरत्प्रथमदिने साध्याव्यापकत्वं स्यात्। न च साधनव्यापकत्वं कर्कटप्रथमांशा-वच्छिन्नदिने साधनाव्यापकत्वाद्यथा तथा ब्रह्माण्डस्थित्यवच्छिन्नप्रथमाहोरात्रातिरिक्ता होरात्रस्याव्यवहिताहोरात्रपूर्वकत्वमित्यर्थः। तथा च वर्षादिनमव्यवहित-वर्षादिनपूर्वकम्, वर्षादिनत्वादिति प्रयोग उपाधिरुक्त इति। भवोपाधित्वमेव स्फुटयति **तथेहापीति।** तस्याव्यवहिताहोरात्रपूर्वकत्वस्य तदभाव एव उक्तोपाध्यभाव एवेत्यर्थः। उपाधेः साधनव्यापकत्वमाशङ्क्याह **न चेति।** अवयवित्वं च ब्रह्माण्डस्यागमसिद्धम्। **सुषुप्तीति।** पुरुषस्य यदा सुषुप्तिः तदा सर्वाणि कर्माणि

प्रकाशः– वर्षादिवदिति। वर्षादौ, वर्षादिपूर्वकत्वे साध्ये यथा राश्यादिभेदसंसर्गभेद उपाधिः, तथाऽहोरात्रपूर्वकत्वेऽहोरात्रस्य साध्ये **भवो** ब्रह्माण्डस्य स्थितिकालः, स एवोपाधिरित्यर्थः। सुषुप्तौ यथा कर्मणां युगपन्निरोधस्तथा अन्यत्रापि स्यादित्याह **वृत्तिरोध इति**। यथा तण्डुलीयवृश्चिकयोस्तत्पूर्वकत्वेऽपि आद्यौ तौ तण्डुलकण–गोमयाभ्यां भवतः, तथा ब्राह्मणादीनां तत्पूर्वकत्वेऽपि सर्गादौ तज्जनककर्मोपगृहीतभूतभेदात् स्यादित्याह **उद्भिदिति**। प्रयोज्य–प्रयोजकाद्यधिष्ठातुरीश्वरस्यैव व्यवहारान्मायादिव्यवहारादिव तद्दर्शी व्युत्पन्नः स्यादित्याह **मायावदिति**।

विवादाध्यासिताहोरात्रस्याहोरात्रपूर्वकत्वं साध्यम्, अव्यवहिता–ऽहोरात्रपूर्वकत्वं वा?। नाद्य इत्याह **तत्पूर्वकत्वेति**। पूर्वसर्गाहोरात्रपूर्वकत्वेन प्रलयेऽपि साध्यसिद्धेरित्यर्थः। नान्त्योऽप्रयोजकत्वादित्याह **अनन्तरेति**। **वर्षादीति**। **तद्दिनं** वर्षादिनम्। ननु शरदाद्यदिनस्य वर्षादिनपूर्वकत्वं साध्यमस्ति, न च राशिविशेषावच्छेद इति साध्याव्यापकत्वम्। न, वर्षादिनत्वे सति यद्वर्षादिनपूर्वकं तद्राशिविशेषावच्छिन्नमिति साधनावच्छिन्नसाध्यव्यापकत्वात्। तथापि राशिविशेषावच्छिन्नत्वं वर्षादिनत्वस्य साधनस्य व्यापकम्। अत्र, यदा दिनत्वेन वर्षाद्यदिनस्य वर्षादिनपूर्वकत्वं साध्यते, तदा पक्षधर्मावच्छिन्नसाध्य व्यापकोऽयमुपाधिरिति *साम्प्रदायिकाः।* किञ्च, विवादाध्यासितत्वेनै–

मकरन्दः– ननु पूर्वविच्छेदेऽपि तदुत्तरं परतन्त्रपुरुषपरम्पराधीनत्वसम्भवान्न तावन्मात्रेण प्रवाहाविच्छेदसिद्धिरित्यन्यथा व्याचष्टे **तज्जातीयेति**। विच्छेदे सर्गाद्यवेदस्य तज्जातीयानुपूर्वीज्ञानजन्यत्वाभावादव्याप्त्यसिद्धिरिति भावः। **ज्ञानविषयत्वं** तद्वत्त्वमित्यर्थः।

वर्षादाविति। वर्षाद्यदिने इत्यर्थः। **प्रलये**=प्रलयाभ्युपगमपक्षे। **पक्षधर्म्मेति**। वर्षादिनत्वरूपपक्षधर्म्मावच्छिन्नेत्यर्थः। ननु वर्षाद्यदिनव्यावृत्तो राश्यादि–विशेषसंसर्गविशेष उपाधित्वेनाभिमतः। तदिदमुक्तं प्राक्, **राश्यादिभेदसंसर्गभेद उपाधिरिति**। तथा च वर्षादिनत्वरूपसाधनाव्यापकत्वमप्याद्यदिने सम्भवत्येवेत्यनुशयमाविष्करोति *साम्प्रदायिका* इति। *केचित्तु* राशिविशेषवत्–पूर्वकत्वमत्रोपाधित्वेनाभिमतं, तच्च शुद्धसाध्यव्यापकमेव, शरदाद्यदिनेऽपि तत्पूर्वकत्वसत्वात्। एवञ्चात्र न साधनव्यापकत्वशङ्कापि। वर्षाद्यदिने वर्षादिनत्वरूपस्य साधनस्याव्यापकत्वादित्याहुः। पक्षविकल्पभिया

कर्माणीति न तदानीं कृत्स्नान्येव भोगविमुखानि। न ह्यचेतयतः कश्चिद्भोगो नाम, विरोधात्। कस्तर्हि तदानीं शरीरस्योपयोगः? तं प्रति न कश्चित्। तर्हि किमर्थमनुवर्तते? उत्तरभोगार्थं, चक्षुरादिवत्। प्राणिति किमर्थम्? श्वासप्रश्वाससन्तानेनायुषोऽवस्थाभेदार्थम्। तेन भोगविशेषसिद्धेः। एकस्यैव तत् कथञ्चिदुपपद्यते, न तु विश्वस्येति चेत्, अनन्ततया, अनियतविपाकसमयतया, उपमर्द्योपमर्दकस्वभावतया च कर्मणां, विश्वस्यैकस्य वा को विशेषो येन तन्न भवेत्। भवति च सर्वस्यैव सुस्वापः क्रमेण, न तु युगपदिति चेन्न। कारणक्रमायत्तत्वात् कार्यक्रमस्य। न च स्वहेतुबलायातैः कारणैः क्रमेणैव भवितव्यम्, अनियतत्वादेव, सर्वग्रासवत्। ग्रहाणां ह्यन्यदा समागमानियमेऽपि तथा कदाचित्स्यात्। यथा कालाद्यनियमेऽपि सर्वमण्डलोपरागः स्यात्, त्रिदोषसन्निपातवद्वा। यथा हि वातपित्तश्लेष्मणाञ्चयप्रकोपप्रशमक्रमानियमेऽपि एकदा सन्निपातः स्यात्तदा देहसंहारः। तथा कालानलपवनमहार्णवानां सन्निपाते ब्रह्माण्डदेहप्रलयावस्थायां युगपदेव भोगरहिताश्चेतनाः स्युरिति को विरोधः। तथापि विदेहाः कर्मिण इति दुर्घटमिति चेत्, किमत्र दुर्घटम्?। भोगनिरोधवच्छरीरेन्द्रियविषयनिमित्तनिरोधादेव तदुपपत्तेः। वृश्चिक-तण्डुलीयकादिवद्वर्णादिव्यवस्थाप्युपपद्यते। यथा हि वृश्चिकपूर्वकत्वेऽपि

आमोदः– भोगविमुखानीत्यर्थः। ननु सुषुप्तावपि भोगः स्यादित्यताह **न हीति। विरोधादिति।** सुखदुःखसाक्षात्कारस्यैव भोगत्वादिति भावः। **तं प्रतीति।** सुस्वापवन्तमित्यर्थः। **तदुत्तरेति।** तस्यैवोत्तरभोगार्थमित्यर्थः। **चक्षुरादिवदिति।** अन्यथा निमीलितनयनस्य चक्षुरपि न स्यादित्यर्थः। **प्राणितीति।** अभुञ्जानस्य जीवनमनुपपन्नमित्यर्थः। आयुषोऽवस्थाविशेषो बाल्यादिः, तस्याप्युपयोगमाह **तेनेति।** यद्यपि सकलवृत्तिनिरोधे सुषुप्तस्य श्वासप्रश्वाससन्तानोऽप्यसम्भवी तथापि वृत्तिरोधो **भोगवैमुख्यमिति। अनन्ततयेति।** एकस्याप्यनन्तानि कर्माणि अनियतविपाकसमयानि च, **उपमर्द्योपमर्द्द**कस्वाभाव्यं प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावः। भवति ह्युत्कटेन कर्मणा अनुत्कटकर्मप्रतिबन्ध इत्यर्थः। **भवतीति।** तथा च प्रलयेऽपि युगपत्कर्मनिरोधो मा भवत्विति भावः। कारणयौगपद्ये कार्ययौगपद्यस्यावश्यकत्वमित्याह **कारणेति।** ब्रह्माण्डरूपो देहः **ब्रह्माण्डदेहः। तथापीति।** अवच्छेदकं देहमन्तरेण कर्माण्यनुवर्तिष्यन्त इत्यसम्भवीत्यर्थः।

प्रकाशः– तत्कालीनाहोरात्रस्य पक्षत्वे सिद्धसाधनम्, सर्गाद्यतत्पक्षत्वे च बाधः। न चाहोरात्रत्वमव्यवहिताहोरात्रपूर्वकत्वव्याप्यम्, अहोरात्रवृत्तिधर्मत्वात्, एतदहोरात्रत्ववत्। पक्षैकदेशस्यापि दृष्टान्तत्वाविरोधात्। साध्यवत्तया निश्चितत्वस्यैव तन्त्रत्वादिति वाच्यम्। अहोरात्रत्वसमानाधिकरणात्यन्ता–भावप्रतियोगित्वस्योपाधित्वात्। न च ब्रह्माण्डस्य नित्यत्वेन साधन–व्यापकोऽयमुपाधिरित्याह **न चेति**। **वृत्तिनिरोधस्येति**। यथा सुषुप्तौ विषमविपाकसमयान्यपि कर्माणि, युगपन्निरुद्धवृत्तीनि प्रतिबद्धभोगजननानि, तद्वत्तदापीत्यर्थः। **आयुष इति**। जीवनस्य कालावच्छेद आयुस्तदर्थमित्यर्थः। **उपमर्द्येति**। प्रतिबद्ध्यप्रतिबन्धकस्वभावतयेत्यर्थः। **सुस्वाप इति युक्तः** पाठः।

सुविनिदुर्भ्यः सुपिसूतिसमा (पा.सू. ८।३।८८।) इत्यनेन कृतसंप्रसारणस्यैव सुपेः षत्वविधानात्। **तथापीति**। कर्मभिर्भोगजनने देहस्यावश्योत्पाद्यत्वादित्यर्थः। **भोगेति**। तदानीं कर्मभिर्भोगजननात् तदर्थं देहोत्पादनमित्यर्थः। तण्डुलीयकमुद्भिद्

मकरन्दः– पक्षधर्मत्वमाशङ्क्य परिहरति न **चेति**। **अहोरात्रत्वं** अहोरात्रवृत्ति धर्म्म इत्यर्थः। तेन पक्षैकदेशस्यापीत्यग्रिमग्रन्थसङ्गतिः। अन्यथैतद्धर्मविशेष–स्यापक्षत्वे दृष्टान्तस्य तदेकदेशत्वाभावादसङ्गतिः स्यादिति ध्येयम्। न चैवं हेतुपक्षतावच्छेदकयोरभेदोंऽशतः सिद्धसाधनञ्चेति वाच्यं, तद्विशेष्यकोद्देश्य–प्रतीतेरसिद्धेरिति।

अहोरात्रत्वेति। अहोरात्रत्वस्य धर्मे पक्षान्तर्भूते साधनाव्यापकत्वमस्येति ध्येयम्। **न चेति**। न चानित्यत्वेऽपि ब्रह्माण्डस्य तत्कालीनत्वमहोरात्रत्वरूपसाधन व्यापकमेव प्रलयकालेऽहोरात्रानभ्युपगमादिति वाच्यम्। स्थितिकालपदेन सर्गाद्याहोरात्रव्यावृत्तस्य स्थितिकालविशेषस्योक्तत्वात्। श्वासजनककर्मणां वृत्तिलाभादसिद्धिरिति विवृणोति **प्रतिबद्धेति**। **तण्डुलीयकेति**।

वृश्चिकस्य गोमयादाद्यः, तण्डुलीयकपूर्वकत्वेऽपि तण्डुलीयकस्य तण्डुलकणादाद्यः, वह्निपूर्वकत्वेऽपि वह्नेररणेराद्यः, एवं क्षीरदधिघृततैल–कदलीकाण्डादयः। तथा मानुषपशुगोब्राह्मणपूर्वकत्वेऽपि तेषां प्राथमिकास्तत्तत्कर्मोपनिबद्धभूतभेदहेतुका एव। स एव हेतुः सर्वत्रानुगत इति सर्वेषां तत्सान्तानिकानां समानजातीयत्वमिति। किमसङ्गतम्? गतं तर्हि गोपूर्वकोऽयं गोत्वादित्यादिना। न गतं, योनिजेष्वेव व्यवस्थापनात्। मानसास्त्वन्यथापीति। गोमयवृश्चिकादिवदिदानीमपि किं न स्यादिति चेन्न।

कालविशेषनियतत्वात् कार्यविशेषाणाम्। न हि वर्षासु गोमयाच्छालूक इति हेमन्ते किं न स्यात्?

समयोऽप्येकेनैव मायाविनेव व्युत्पाद्यव्युत्पादकभावावस्थित नानाकायाधिष्ठानात् व्यवहारत एव सुकरः। यथा हि मायावी सूत्रसञ्चाराधिष्ठितं दारुपुत्रकमिदमानयेति प्रयुङ्क्ते। स च दारुपुत्रकस्तथा

आमोदः- क्षीरेति। परमाणोरक्षीरादेव क्षीरादयः। परमाणौ क्षीरत्वादिजातेरभावात् कदलीकाण्डं च दग्धवेत्रबीजात्। नन्वेवमननुगमः। सर्गादौ ब्राह्मणस्य ब्राह्मणपूर्वकत्वं नास्ति, इदानीं तु तदस्ति इत्यत आह **स एवेति।** अदृष्टविशेषोपगृहीतभूतभेदत्वं सर्गादाविवेदानीमप्यनुगतमेवेत्यर्थः। **गतमिति।** व्यभिचारादित्यर्थः। **योनिजेष्विति।** योनिजमात्रवृत्ति-गोत्वावान्तरजातिभेदात् गोपूर्वकत्वानुमानमित्यर्थः। **इदानीमपीति।** विनापि ब्राह्मणादिकम् इदानीमपि ब्राह्मणाद्युत्पद्यतामित्यर्थः। **कालविशेषेति।** सर्गाद्यकाल एव तददृष्टसहकारीत्यर्थः। इदानीं तु ब्राह्मणः सहकारी। तेन सर्गाद्यकाल-ब्राह्मणयोर्वैजात्यावच्छेदेन कारणता, ब्राह्मणमात्रे त्वदृष्टविशेषोपगृहीतभूतभेद एव हेतुरिति भावः। **समयोऽपीति।** प्रयोज्यप्रयोजकशरीरोपग्रहेण ईश्वर एव तटस्थान्*मन्वादीन्* व्युत्पादयतीत्यर्थः। तत्र प्रयोज्यबुद्धेर्गवादिपदजन्यत्वज्ञानं यद्यपि भ्रान्तं तथापि सास्नादिमती व्यक्तिः गोपदवाच्येति निकटस्थज्ञानमभ्रान्तमेवेति भावः। दृष्टान्तं विवृणोति **यथा हीति। अत एवेति।** कुलालादिशरीरोपग्रहेण

प्रकाशः:- दृष्टान्तः। **एवमिति।** क्षीरादक्षीराच्च परमाणोः क्षीरम्, एवं दध्याद्यपीत्यर्थः। नन्विदानीं ब्राह्मणत्वादिव्यवस्थापकं विशुद्धमातापितृजत्वादिकं, सर्गादौ तु कर्मेत्यननुगम इत्यत आह **स एवेति।** इदानीमप्यदृष्टविशेषोपगृहीतभूतजनितत्वेनैव तद्व्यवस्थेत्यर्थः। **गतमिति।** सर्गाद्यगोव्यक्तौ व्यभिचारादित्यर्थः। **योनिजेष्विति।** योनिजमात्रवृत्तिगोत्वव्याप्यजातेस्तत्र हेतुत्वादित्यर्थः। तन्निश्चयश्च कालविशेष-वृत्त्येति भावः।

समयोऽपीति। नन्वीश्वरव्यवहाराच्छक्तिग्रहे स भ्रमः स्यात्। व्यवहार-हेतुतज्ज्ञानस्य नित्यतया शब्दजन्यत्वबाधात्। तथा च तन्मूलकः सर्वशाब्दव्यवहारो भ्रमः स्यात्। न, घटपदजं घटज्ञानमित्यस्य भ्रमत्वेऽपि घटपदं घटशक्तमित्यस्य ज्ञानस्य सत्यज्ञानत्वाद् विषयबाधाभावात्। न च भ्रममूलकत्वेन भ्रमत्वम्। विशेष्यावृत्तिप्रकारकत्वस्योपाधित्वात्। अत एवानुरूपं दृष्टान्तमाह, **यथा हीति।**

करोति तदा चेतनव्यवहारादिवत्तद्दर्शी बालो व्युत्पद्यते, तथेहापि स्यात्। क्रियाव्युत्पत्तिरपि तत एव कुलालकुविन्दादीनाम्।

सर्गादावेव किं प्रमाणमिति चेत्, विश्वसन्तानोऽयं दृश्यसन्तानशून्यैः समवायिभिरारब्धः, सन्तानत्वात्, आरणेयसन्तानवत्। वर्तमान ब्रह्माण्डपरमाणवः पूर्वमुत्पादितसजातीयसन्तानान्तराः, नित्यत्वे सति तदारम्भकत्वात्, प्रदीपपरमाणुवदित्यादि। अवयवानामावापोद्वापादुत्पत्तिविनाशौ च स्यातां, सन्तानाविच्छेदश्चेति को विरोध इति चेन्न। एवं हि घटादिसन्तानाविच्छेदोऽपि स्यात्। विपर्ययस्तु दृश्यते।

आमोदः– घटादिनिर्माणं कुर्वाणमीश्वरं दृष्ट्वाऽन्यस्तत्र व्युत्पद्यत इत्यर्थः। अत एव नमः कुलालेभ्य., कमरिभ्य इत्यादि *श्रुतिर*पीति भावः। **विश्वसन्तानोऽयमिति।** मानुष-पशु-गो-ब्राह्मणादिरूपोऽयमिदानीं वर्त्तमानः पक्षः। **दृश्यसन्तानशून्यैरिति।** स्वसमानजातीयसहकारिशून्यैः समवायिभिः परमाणुभिरारब्ध इति साध्यं, तथा च गामन्तरेण गौः ब्राह्मणमन्तरेणापि ब्राह्मण इत्यादि सिद्ध्यति। **सन्तानत्वादिति।** समानजातीयकार्यप्रवाहत्वादित्यर्थः। **आरणेयेति।** यैस्तेजःपरमाणुभिरारणेय वह्निप्रवाहो जनितः, तत्र वह्निर्न सहकारीति दृष्टान्तः। तथा च ब्राह्मणप्रवाहस्यापि मूलभूतो ब्राह्मणो न ब्राह्मणसहकृतैः परमाणुभिरारब्धः, किन्त्वदृष्टविशेषोपगृहीतैरिति भावः। एतेन ब्रह्माण्डपक्षत्वे आश्रयासिद्धिः, कार्यमात्रपक्षत्वे क्रमारम्भेण सिद्धसाधनमित्यादि परास्तम्। यद्वा, द्रव्यत्वं प्रागभावसमानकालीनकार्य-द्रव्यानधिकरणवृत्तिधर्मत्वात्, शब्दत्ववत्। यद्वा, कार्यद्रव्यत्वं स्वाधिकरणानधिकरणकालवृत्तिध्वंसप्रतियोगिवृत्तिकार्यमात्रवृत्तिधर्मत्वात्, एतत्प्रदीपत्ववत्। यद्वा, परमाणवः कार्यद्रव्यासमानकालिकपरमाणु-क्रियातिरिक्तक्रियावन्तः मूर्त्तत्वादिवत्, एतदन्यगुणवत्त्वं चात्र नोपाधिः पक्षेतरतुल्यत्वात्। **वर्त्तमानेति।** ब्रह्माण्डे *चागम* एव मानमिति नाश्रयासिद्धिः। परम्परारम्भकत्वविवक्षया आरब्धब्रह्माण्डान्तरा इति साध्यमन्यथा त्वारब्ध-ब्रह्माण्डान्तरमूलद्व्यणुका इति साध्यम्। तत्र कपालादिषु व्यभिचारवारणाय **नित्यत्वे सतीति।** व्योमादौ तद्वारणार्थमा**रम्भकत्वादिति** द्रव्यारम्भकत्वादित्यर्थः। **आवापोद्वापौ** उपगमापगमौ यावत् प्रत्यभिज्ञमवयविस्थितिरिति *मीमांसकसिद्धान्तात्।* **एवं हीति।** घटपटादीनामत्यन्तमुच्छेदो न स्यादित्यर्थः। **विपर्ययस्त्विति।** घटादीनामत्यन्तोच्छेदस्त्वयापि स्वीक्रियतेऽनुभूयते च। तेन तत्तुल्यन्यायतया

प्रकाशः– **विश्वसन्तान इति**। ननु विश्वशब्देन ब्रह्माण्डपक्षत्वे तदसिद्ध्या आश्रयासिद्धिः, कार्यमात्रपक्षत्वे क्रमारब्धदहनपवनादिन्यायेनारम्भेऽपि प्रलयासिद्धौ सिद्धसाधनम्। एकदेति विशेषणे तेनैव व्यभिचारात्। एकदाऽऽरम्भहेतुसाकल्ये सतीति विशेषणासिद्धेः। साध्यमपि कार्यद्रव्यशून्यमवाय्यारभ्यत्वं कार्यमात्रशून्य-समवाय्यारभ्यत्वं वा?। आद्ये सिद्धसाधनमन्त्ये बाधः, आरम्भकसंयोगादेः सत्त्वात्। अथैककालीनाः सर्वे परमाणवः कदाचित् समग्रोपादेयप्रबन्धशून्याः, आरम्भ-कत्वान्नष्टपवनारम्भकपरमाणुवत्। सर्वत्र पक्षतावच्छेदकावच्छिन्नसाध्यं प्रतीयते इत्येककाले शून्यता लभ्यते। न च पवनपरमाणूनामपि पक्षत्वेनांशतः सिद्धसाधनम्। पक्षधर्मताबललभ्यसाध्याप्रतीतेः। अभेदानुमानवत् पक्षस्यापि दृष्टान्तत्वाविरोधः। न, कार्यद्रव्याधिकरणकालमात्रवृत्तित्वस्योपाधित्वात्।

मकरन्दः– उद्भित्पदेन शाकविशेष एव दृष्टान्ततयोक्त इति भावः। **तेनैवेति**। क्रमारब्धदहनपवनादिनेत्यर्थः। तस्यैकदारब्धत्वाभावादिति भावः। संप्रति तद्बाधितमित्यत आह **कदा चिदिति**। उपादेयपदं स्वोपादेयद्रव्यपरं, तेन खण्डप्रलयसाधने न बाधः। **कार्य्यद्रव्येति**। ननु मात्रपदोपादाने दृष्टान्तितपवनपरमाणावेव साध्याव्याप्तिः, तस्य प्रलयेऽपि वृत्त्या तादृशकालमात्रवृत्तित्वाभावात्। तदनुपादाने साधनव्यापकत्वम्। उपाधिदातुर्मते मात्रपदव्यवच्छेद्यकार्यद्रव्यानधिकरणकालाप्रसिद्धिश्च। अत एवेदमेवानुमानं सिद्धान्तितं *शब्दखण्डे*, अन्यथा सोपाधित्वे तदनुपपत्तेः। तस्मादयमनुपाधिरेव। प्रलयसन्देहदशायामुपाधित्वेनास्य सन्देहो दूषक इत्याशयेनास्योपाधित्वेनोद्भावनम्। न च मात्रपदव्यवच्छेद्यासिद्धेरस्यैवाप्रसिद्धतया कथं तथात्वमपीति वाच्यम्। *न्यायमतेन* तथात्वसम्भवादिति वदन्ति। वयन्तु ब्रूमः। *न्यायमतेनै*वास्योपाधित्वम्। एवञ्चोपाधित्वादित्यस्य पूर्वं त्वन्मत इति पूरणीयम्। तथा च नाप्रसिद्धिर्न वा साधनव्यापकत्वम्। साध्याव्यापकत्वन्त्ववशिष्यते, तदपि न, सावयवत्वाणु-भिन्नत्वाद्यवच्छिन्नसाध्यव्यापकतया पर्यवसितसाध्यव्यापकत्वात्। न चैवं स्वीकृतत्रिविधोपाधिबहिर्भावेऽपसिद्धान्तः, तस्योपलक्षणपरत्वात्। अतएव वायुः प्रत्यक्षः प्रमेयत्वादित्यादौ रूपवत्त्वावच्छिन्नसाध्यव्यापकमुद्भूतत्वमुपाधिः सर्वसिद्धः। न च *न्यायमतेन* सिद्धान्तितत्वादव्यभिचरिते प्रकृतहेतौ नोपाधिरिति वाच्यं, शून्यपदस्य ध्वंसपरतया कादाचित्काभावपरतया वा यथाश्रुते हेतोर्मनः प्रभृतौ व्यभिचारेणास्य सङ्गतत्वात्। अत एवारम्भकत्वादिति हेतुरुक्तः, अन्यथा

प्रकाशः– न च परमाणवः कार्यद्रव्यसमानकालिकपरमाणुक्रियातिरिक्तक्रियावन्तो मूर्तत्वात् पटवदित्यवान्तरप्रलये, महाप्रलये च कार्यद्रव्यसमानकालिकैतद्वृत्ति–ध्वंसान्यध्वंसवन्तः, तत एव तद्वदिति वाच्यम्। एतदन्यगुणवत्त्वस्योपाधित्वात्। नाप्यारम्भककालान्यवृत्तिध्वंसाप्रतियोगिवृत्तिकार्यद्रव्यत्वं, स्वाधिकरणानधिकरण–वृत्तिध्वंसप्रतियोगिवृत्ति, कार्यमात्रवृत्तिधर्मत्वात्, एतत्प्रदीपत्ववदिति वाच्यम्। स्वपदेन पक्षभिन्नाभिधानेऽनन्वयात्। पक्षाभिधाने त्वप्रसिद्धिः।

अत्राहुः। विश्वसन्तानपदेन कार्यमात्रवृत्त्यनेकवृत्तिर्द्धर्मः कार्यद्रव्यत्वं पक्षः। तथा हि, समयसमवायिभिन्नवृत्तिध्वंसप्रतियोग्यवृत्तिकार्यद्रव्यत्वं, कार्यद्रव्यप्रागभाव–

मकरन्दः– मेयत्वादिकमेव समर्थं स्यात्। द्रव्यसमवायिकारणत्वविवक्षया च सिद्धान्तत्वमिति न विरोधगन्धोऽपीति तत्त्वम्। कालमात्रपदयोरन्यतरान्तर्भावेण तन्मतेऽपि सन्दिग्धोपाधिपरत्वमित्याहुः। **न चेति**। व्योमादिसमानकालीनतया तदतिरिक्तत्वमसम्भवीत्यत आह **कार्येति**। बाधवारणाय **द्रव्येति**। दृष्टान्तसिद्ध्यर्थमाह **परमाण्विति मूर्त्तत्वादिति**। क्रियावत्त्वादित्यर्थः। तेन निष्क्रिये विनष्टे न व्यभिचारः। योग्यता साध्ये*त्यन्ये*। **तत एवेति**। मूर्त्तत्वादेवेत्यर्थः। अत्रापि योग्यतायाः साध्यत्वान्नोत्पन्नविनष्टे व्यभिचारः। वस्तुतो मूर्त्तपदं ध्वंसवत्परमन्यथा ऽवच्छिन्नपरिमाणवत्परत्वे व्यर्थविशेषणत्वापत्तेरिति ध्येयम्।

एतदन्येति। यद्यपि पक्षेतरत्वनिरासाय गुणवत्पदमयुक्तं, साध्यव्यापकता–ग्राहकसत्त्वे वह्नीतरत्ववत्त्वस्याप्युपाधित्वात्। तदसत्त्वे पर्वतेतरद्रव्यत्वादिवदस्यापि पक्षेतरतुल्यत्वेनानुपाधित्वात्। तथापि हेतोरप्रयोजकत्वे तात्पर्य्यम्। **अनन्वयादिति**। प्रकृतानन्वयात् कार्य्यद्रव्याधिकरणकालासिद्धेरित्यर्थः। **पक्षेति**। कार्यद्रव्याधिकरण द्रव्यादेः प्रसिद्धत्वेऽपि तादृशकालस्याप्रसिद्धेः साध्ये कालपदान्तर्भावादप्रसिद्धिरिति भावः। एतदनन्तर्भावेण सिद्धान्तमाह **तथा हीति**। समयेत्युपलक्षणं तदुपाधि - दिक् - तदुपाध्यादिकमपि बोध्यम्। एतच्च तादृशाकाशवृत्तिध्वंसप्रतियोगि वृत्तित्वेनार्थान्तरं मा भूदिति बाधस्फोरणाय समवायिपदं द्रव्यसमवायिपरम्। तादृशशब्दवृत्तित्वेनार्थान्तरवारणाय पक्षे द्रव्यपदम्। महाप्रलयेनार्थान्तरवारणाय कालीनान्तं ध्वंसविशेषणम्। कार्य्यप्रागभावपदयोरन्यतरान्तर्भावेण साध्यद्वयं बोध्यम्, अतो न व्यर्थविशेषणत्वम्। कार्यपदं भावकार्य्यपरम्। कार्य्यद्रव्यानधिकरणत्वं कार्यद्रव्याभाववत्त्वं, तच्च कपालादावपीति तद्वृत्तिध्वंस–

कर्त्रादिभोगविशेषसम्पादनप्रयुक्तोऽसाविति चेन्न। **द्व्यणुकेषु तदभावात्।** तथा च तदवयवानामपगमाभावेऽनादित्वप्रसङ्गे **द्व्यणुकत्वव्याघातः।** तस्मात् यत्कार्यं यन्निबन्धनस्थिति तदपगमे तन्निवृत्तिः। **यत् यद्धेतुकं** तदुपगमे तस्योत्पत्तिः। **न च कार्यस्य स्थितिनिबन्धनं नित्यमेव,**

आमोदः– समवाय्यसमवायिनाशे ब्रह्माण्डनाशोऽपि कथं न स्यादित्यर्थः। ननु घटादिध्वंसः कुलालादिदुःखानुभवरूपभोगसम्पादकतया स्वीक्रियताम्। ब्रह्माण्डध्वंसे तु नैवमिति तद्ध्वंसो नाभ्युपेयत इति शङ्कते **भोगेति।** द्व्यणुकनाशे कस्यापि न दुःखानुभव इति सोऽपि न स्यादित्यत आह **द्व्यणुकादिष्विति।** ननु तत्राप्यवयवोपगमाधीन एव द्रव्यध्वंसव्यवहारोऽस्तु, को दोष इत्यत आह **तथा चेति।** तथा च सन्तानमत्यन्तमुच्छिद्यत इति नियम इति भावः। **यन्निबन्धनस्थितीति।** अदृष्टं समवाय्यादि वा यत्कार्यस्थितिप्रयोजकं तद्विनाशे तत्कार्यं विनश्यतीत्यर्थः।

प्रकाशः– समानकालीनारम्भकातिरिक्तकार्यद्रव्यानधिकरणवृत्तिध्वंसप्रतियोगिवृत्ति, कार्यमात्रवृत्तिधर्मत्वात्, शब्दत्ववत्। न चात्र विभुवृत्तिवृत्तित्वमुपाधिः। अन्त्यावयविकर्मत्वे साध्याव्यापकत्वात्। **वर्तमानेति।** ब्रह्माण्ड-*स्यागमसिद्ध*त्वान्नाश्रयासिद्धिः। तदारम्भकत्वं तन्तुभिः पूर्वमनुत्पादितपटैरनैकान्तिकमित्यत उक्तम् **नित्यत्वे सतीति।** नित्यत्वमात्रन्तु व्योमादिभिरनैकान्तिकमिति तदारम्भकत्वादित्युक्तम्। प्रदीपपरमाणूनां तैजसद्रव्यत्वेन संसर्गिद्रव्यतया-ऽऽरब्धतेजोजातीयत्वसिद्धौ दृष्टान्तत्वम्। न चाप्रयोजकत्वम्। निरुपाधिभङ्गप्रसङ्गस्य विपक्षबाधकत्वात्। न *त्वागमो* विपक्षबाधकः। तस्य कार्यद्रव्यानाधार-कालाबोधकत्वात्। सन्तानाविच्छेदेऽपि उत्पत्तिविनाशयोरन्यथोपपत्तिरित्याह **अवयवानामिति। आवापोद्वापौ** उपगमापगमौ। यदि नैवं कार्यद्रव्यस्यात्यन्त-मुच्छेदस्तदाऽभिमतघटाद्युच्छेदोऽपि न स्यादित्याह **एवं हीति। विपर्ययस्त्विति।** अत्यन्तोच्छेद इत्यर्थः। ननु न सन्तानप्रयुक्तोऽत्यन्तोच्छेदः किन्त्वन्योपाधिप्रयुक्त इत्याह **कर्त्रादीति।** उपाधेः साध्याव्यापकत्वमाह **द्व्यणुकेष्विति। तदभावाद्** भोगविशेषसम्पादकत्वस्योपाधेरभावादित्यर्थः। न च तत्राप्यत्यन्तानुच्छेदेऽपि अवयवानामावापोद्वापाभ्यामेवोत्पादविनाशसम्भवः। तयोरत्राभावादित्याह **तथा चेति।** नाशस्य भोगविशेषसम्पादनप्रयोजकत्वे द्व्यणुकनाशो न स्यात्। तेन भोगाजननात्। तथा च विनाशिभावस्यानुत्पन्नत्वेन नित्यतया द्व्यणुकत्वव्याघात इति सन्तानत्वस्यात्यन्तोच्छेदेन स्वाभाविकः सम्बन्धो मन्तव्य इत्यर्थः।

नित्यस्थितिप्रसङ्गात्। न च नित्य एव हेतुः, अकादाचित्कत्वप्रसङ्गात्। तदतिनिस्तरङ्गमेतत्।

ईदृश्याञ्च वस्तुस्थितौ भोगोऽपि कर्मभिरेवमेव वस्तुस्वभावानतिक्रमेण सम्पादनीय इति द्व्यणुकवत् पिपीलिकाण्डादेः ब्रह्माण्डपर्यन्तस्यापि विश्वस्येयमेव गतिरिति प्रतिबन्धसिद्धिः। तथा च ब्रह्माण्डे परमाणुसाद्भवितरि परमाणुषु च स्वतन्त्रेषु पृथगासीनेषु तदन्तःपातिनः प्राणिगणाः क्व वर्तन्ताम्? कुपितकपिकपोलान्तर्गतोदुम्बरमशकसमूहवत्, दवदहनदह्यमानदारूदरविघूर्णमानघुणसङ्घातवत्, प्रलयपवनोल्लासनीयौर्वानलनिपातिपोतसांयात्रिकसार्थवद्वेति।२।

आमोदः– नित्यस्थितीति। कार्यस्येत्यनुषङ्गः। **न चेति।** हेतोर्नित्यत्वे कार्यमपि नित्यं स्यात्, कादाचित्कत्वे नियामकाभावादित्यर्थः। **निस्तरङ्गं** निःशङ्कम्। **एतदिति।** अनुमानद्वयोपपत्तेः साध्यद्वयमित्यर्थः। ननु कर्मभिर्भोगसम्पादनं क्रमिकमेवास्तु, तथा च कुतः प्रलय इत्यत आह **ईदृश्यामिति।** कार्याणां स्वनिबन्धन-स्थितिकत्वसिद्ध्यै कर्मभिरपि भोग एवमेव। वस्तुस्वभावानतिक्रमेणैव **सम्पादनीय** इति। **इयमेवेति।** पिपीलिकाण्डानामत्यन्तोच्छेदः तन्मूलपरमाणूनामुत्पादित-सजातीयत्वं चेत्यर्थः। ननु ब्रह्माण्डनाशेऽपि गिरिसागरादीनां तादवस्थ्यात् क्व लय इत्यत आह **तथा चेति। क्व वर्तन्तामिति।** आश्रयनाशेन नश्यन्तीत्यर्थः। ब्रह्माण्डवर्तीनि कार्यद्रव्याणि ब्रह्माण्डे नश्यन्ति विनश्यदाधारत्वात्, दह्यमानाधारत्वात्, विलीयमानाधारत्वात् इति। अत्र हेतुत्रये दृष्टान्तत्रयं द्रष्टव्यम्।२।

प्रकाशः– सन्तानस्यावस्थानमहेतुकं नित्यहेतुकं वा यदि स्यात्तदा सन्तानविच्छेदः स्यादित्याह **तस्मादिति। यद्धेतुकमिति** दृष्टान्तार्थम्। एतत्कार्यं यन्निबन्धनस्थितीत्यादिकम्।

ईदृश्यामिति। अनित्यहेतुनिबन्धनायां कार्यस्थितौ कर्मभिः सम्पादनीयो भोग एवमेव वस्तुस्वभावानतिक्रमणेति योजना। नन्वेवमपि ब्रह्माण्डनाशसिद्धौ गिरिसागरादीनां कुतः प्रलय इत्यत आह **तथा चेति। क्व वर्तन्तामिति।** विनश्यन्तीत्यर्थः। महाद्रव्यान्तरेण निहन्यमानाधारत्वाद्, महादहन-दह्यमानाश्रयत्वाद्, महापवनक्षुभितसमुद्रविलीयमानाश्रयत्वादित्यत्र हेतुत्रये क्रमेण दृष्टान्तत्रयमाह **कुपितेति।** एतेनाधाराभावात् पतन्त एव सन्तीत्यपास्तम्।२।

मकरन्दः– मादायार्थान्तरवारणायारम्भ**केति**। द्रव्यसमवायिकारणातिरिक्तेत्यर्थः। **कार्य्यमात्रेति**। ननु ध्वंसत्वे व्यभिचारः। न च कार्य्यपदं भावकार्यपरं, मात्रपदवैयर्थ्यापत्तेः। न च भाववृत्तित्वे सति कार्य्यमात्रवृत्तित्वमर्थः। तथा चानन्तत्वे व्यभिचारवारणाय मात्रपदमिति वाच्यं, तथापि चरमज्ञानत्वादौ व्यभिचारापत्तेरिति चेत् न, तादृशध्वंसप्रतियोगिजातीयवृत्तित्वस्य साध्यार्थस्य तत्रापि सत्वात्। न चैवमपि मात्रपदवैयर्थ्यमनन्तत्वे तज्जातीयव्योमादिवृत्तितयाऽपि साध्यसत्त्वादिति वाच्यम्। ध्वंसप्रतियोगित्वेनापि जातीयस्य विशेषणात्। अधिकं *शब्दप्रकाशे* द्रष्टव्यम्। अन्त्यावयविपदोपादानम्, तमादाय साध्याव्याप्तिरिति कृत्वा, वस्तुतः कर्मत्व एव साध्याव्यापकत्वम्। **तस्येति**। यद्यपि प्रलयबोधकागमसत्त्वादिदमयुक्तं, तथापि तदनाधारत्वेन तत्कालाबोधकत्वादित्यर्थादित्याहुः। **अभिमतेति**। घटात्यन्तोच्छेदो-ऽपीत्यर्थः।२।

अपि च –

जन्मसंस्कारविद्यादेः शक्तेः स्वाध्यायकर्मणोः।
ह्रासदर्शनतो ह्रासः सम्प्रदायस्य मीयताम्।।३।।

पूर्वं हि मानस्यः प्रजाः समभवन्, ततोऽपत्यैकप्रयोजनमैथुनसम्भवाः, ततः कामावर्जनीयसन्निधिजन्मानः, इदानीं देशकालाद्यव्यवस्थया पशुधर्मादेव भूयिष्ठाः।

पूर्वं चरुप्रभृतिषु संस्काराः समाधायिषत, ततः क्षेत्रप्रभृतिषु, ततो गर्भादितः, इदानीं तु जातेषु लौकिकव्यवहारमाश्रित्य।

आमोदः– प्रलयानुमाने प्रकारान्तरमाह – **अपि चेति**। तेन जन्मादिह्रासानामत्यन्त-ह्राससाधकत्वात् प्रत्येकमेव प्रलयानुमापकत्वम्। अत्र पक्षे **सम्प्रदायः** कार्यप्रवाहः, अथवा सम्प्रदीयते शिष्याय गुरुणेति सम्प्रदायो *वेदः*, तस्यात्यन्तह्रासः साध्यः। जन्मादिह्रासो दृष्टान्तः। स जन्मादिह्रासोऽपि लिङ्गमेव। यदि शाखोच्छेदो न भवेत्तदा पूर्व्ववदेव जन्मसंस्काराद्यनुवृत्तिरिदानीमपि स्यान्न चानुवर्त्तते। तेनानुमीयते तद्बोधक*वेदो*च्छेद इति। तत्र जन्मोच्छेदमाह **पूर्वमिति**। **अपत्यैकेति**। न च रागानुबन्धोऽपि तत्र। **तत इति**। रागस्य प्राधान्यं पुत्रैषणाया गौणत्वमित्यर्थः। **इदानीमिति**। काममात्रपरत्वं काकतालीयन्यायेनापत्योत्पत्तिरपि इत्यर्थः। **पशुधर्मेति**। पशोरिव धर्मो ग्राम्यधर्मः, तत्प्रभवभूयिष्ठाः प्रजाः इत्यनुषङ्गः, ग्राम्यधर्मातिरेकप्रभवा इत्यर्थः। संस्कारह्रासमाह **पूर्वं चरुप्रभृतिष्विति**। प्रभृतिपदेन

पूर्वं सहस्त्रशाखो वेदोऽध्यगायि, ततो व्यस्तः, ततः षडङ्ग एकः, इदानीं तु क्वचिदेका शाखेति। पूर्वम् ऋतवृत्तयो ब्राह्मणाः प्राद्योतिषत, ततोऽमृतवृत्तयः, सम्प्रति मृतप्रमृतसत्यानृतकुसीदपाशुपाल्यश्ववृत्तयो भूयांसः। पूर्वं दुःखेन ब्राह्मणैरतिथयोऽलभ्यन्त, ततः क्षत्रियातिथयोऽपि संवृत्ताः, ततो वैश्यावेशिनोऽपि, सम्प्रति शूद्रान्नभोजिनोऽपि। पूर्वममृतभुजः, ततो विघसभुजः, ततोऽन्नभुजः, सम्प्रत्यघभुज एव।

आमोदः– पुरोडाशादिग्रहः। संस्कृतापत्योत्पादनार्थं संस्काराः सम्यगाहिता इत्यर्थः। **क्षेत्रे** योनौ, पुत्रेष्ट्यादिना पुरुषे तत्। विद्याह्रासमाह **पूर्वमिति। व्यस्त इति।** असम्पूर्ण इत्यर्थः। **एक** इति। वेद इत्यनुषङ्गः। **क्वचिदिति**। कस्मिन्नपि पुरुष इत्यर्थः। नानार्थमेकमेवोदाहरणं विद्याशक्तिस्वाध्यायेषु दर्शितम्। अत एवादिपदन्तु शक्तिस्वाध्याये प्रागुक्तमपि तदुदाहरणं पश्चाद्दर्शितमिति बोध्यम्। आदिपदग्राह्यमाह **पूर्वमृतेति।**

ऋतमुञ्छशिलं प्रोक्तममृतं स्यादयाचितम्।
मृतं तु याचितं भैक्ष्यं प्रमृतं कर्षणं स्मृतम्।
सत्यानृतं तु वाणिज्यं कुशीदञ्च कलान्तरम्।।

पाशुपाल्यं गोरक्षादिः। **श्ववृत्तिः** सेवा। **भूयांस** इति ब्राह्मणा इत्यनुषङ्गाः। **वैश्यावेशिनोऽपि** वैश्यातिथ्यः। **अमृतं विघसो** यज्ञशेषभोजनशेषयोः। **अनुभुजो** भृत्यसहभुजः। **अघभुजः** स्वार्थसाधितभुजः।

प्रकाशः– एवं सर्वस्य नाशे अर्थाद् *वेदो*ऽपि नश्यतीत्युपपाद्य *वेद*ह्रासदर्शनेनापि तन्नाशोऽनुमेय इत्याह **अपि चेति**।

वेदह्रासे दृष्टान्तार्थं जन्मादिह्रास उक्तः। प्रतियुगं क्रमेण ह्रासमाह **पूर्वं हीति। समाधायिषत** सम्यगाहिता इत्यर्थः। श्रूयमाणा अपि *वेदा* उच्छेत्स्यन्ति, वाक्यत्वात्, उच्छिन्नशाखावदिति भावः।

ऋतमुञ्छशिलं ज्ञेय**ममृतं** स्यादयाचितम्।
मृतं तु याचितं भैक्ष्यं **प्रमृतं** कर्षणं स्मृतम्।।
सत्यानृतं तु वाणिज्यं **कुसीदञ्च** कलान्तरम्।।

पाशुपाल्यं गोरक्षादि। **स्ववृत्तिः** सेवा। **वैश्यावेशिनो** वैश्यातिथयः। **अमृतभुजो** यज्ञशेषभुजः। **विघशभुजो** अतिथिशेषभुजः। **अन्नभुजो** भृत्यशेषभुजः।

पूर्वं चतुष्पाद्धर्म आसीत्, ततस्तनूयमाने तपसि त्रिपात्, ततो म्लायति ज्ञाने द्विपात्, सम्प्रति जीर्यति यज्ञे दानैकपात्। सोऽपि पादो दुरागतादिविपादिकाशतदुःस्थोऽश्रद्धामलकलङ्कितः कामक्रोधादि-कण्टकशतजर्जरः प्रत्यहमपचीयमानवीर्यतया इतस्ततः स्खलन्निवोपलभ्यते। इदानीमिव सर्वत्र दृष्टान्नाधिकमिष्यते इति चेन्न। स्मृत्यनुष्ठानानुमितानां शाखानामुच्छेददर्शनात्। स्वातन्त्र्येण स्मृतीनामाचारस्य च प्रामाण्यानभ्युपगमात्। *मन्वादीना*मतीन्द्रियार्थदर्शने

आमोदः- चतुष्पादिति। तपोज्ञानयज्ञदानानि चत्वारि पादाः। **त्रिपादिति।** ज्ञानयज्ञदानादयः। **द्विपादिति।** यज्ञदानपादः। द्यूतोत्कोचाद्यागतं **दुरागतं, विपादिका** पादस्फोटः। शाखोच्छेदमाक्षिपति **इदानीमिति। अनुष्ठानमाचारः।** ननु स्मृत्याचारावेव कार्यतामिष्टसाधनतां वा बोधयेतां किं *वेदे*नेत्यत आह **स्वातन्त्र्येणेति।** वेदानुपायज्ञता **स्वातन्त्र्यम्।** तथा च विवादपदं स्मृतिः स्मृत्यर्थानुभावकवेदमूला, न्यायमूलकमहाजनपरिगृहीतस्मृतित्वात्, प्रत्यक्षवेदमूलक-स्मृतिवत्। लोभमूलिका तु या यूपहस्तिबन्धनादिस्मृतिः सा महाजनपदेनैव निरस्ता। एवं मङ्गलाद्याचारो वेदमूलकः, अलौकिकाविगीत-शिष्टाचारत्वात्, दर्शाद्याचारवदिति स्मृत्याचारयोरपि वेदमूलत्वानुमानात्। ननु मन्वादय एव स्मृत्याचारप्रयोक्तारस्ते च सर्वज्ञा एवेति किं *वेदानु*मानेनेत्यत आह ***मन्वादीनामिति।***

प्रकाशः- अघभुजः स्वार्थसाधितभुजः। **चतुष्पादिति।** तपोज्ञानयज्ञदानानि चत्वारः पादाः। **दुरागतं** दुष्टादुपायाद् द्यूतादेरागतम्, तदेव **विपादिका** पादरोगः।

ननु न शाखोच्छेदः, किन्तु यावान् **वेद** इदानीमधीयते तावानेव सदाध्ययनविषय इति वेदह्रासोऽसिद्ध इत्याह **इदानीमिति।** विवादपदं *स्मृतिः*, स्मृत्यर्थानुभावक*वेद*मूला अक्लृप्तमूलान्तरत्वे सति महाजनपरिगृहीतस्मृतित्वात्, प्रत्यक्षवेद-मूलस्मृतिवत्। अतो न न्यायादिमूलक*स्मृतौ* व्यभिचारः। तथा, मङ्गलाद्याचारो *वेद*बोधितः, अलौकिकविषयाविगीतशिष्टाचारत्वात् यागवदिति *स्मृत्या*चारमूलस्य *वेदस्या*प्रत्यक्षत्वात् तदुच्छेदे तद्वदधीयमान*वेदस्या*प्युच्छेदो भावीत्याह **स्मृतीति।** ननु *वेद*वत् *स्मृत्या*चारयोरदृष्टे स्वतः प्रामाण्यमेवेति न तन्मूलक*वेदा*नुमानमित्यत आह **स्वातन्त्र्येणेति।** *वेद*नैरपेक्ष्येण *स्मृत्या*देस्त्वयापि प्रामाण्यानभ्युपगमादित्यर्थः। ननु *स्मृति*कर्त्तारः स्वयमेवापूर्वं साक्षात्कृत्य तत्साधनमुपदेक्ष्यन्तीति न तेषां तदर्थं वेदापेक्षेत्यत आह **मन्वादीनामिति।** अतीन्द्रियार्थदर्शित्वे तेषामनाश्वासादिति

प्रमाणाभावात्। आचारात्स्मृतिः स्मृतेश्चाचार इत्यनादिताभ्युपगमे अन्धपरम्पराप्रसङ्गात्। आसंसारमनाम्नातस्य च वेदत्वव्याघातेनानुमानायोगात्। उत्पत्तितोऽभिव्यक्तितोऽभिप्रायतो वाऽनवच्छिन्नवर्णमात्रस्य निरर्थकत्वात्। यदि च शिष्टाचारत्वादिदं हितसाधनं कर्तव्यं वेत्यनुमितं किं वेदानुमानेन? तदर्थस्यानुमानत एव सिद्धेः। न च धर्मवेदनत्वादिदमेवानुमानम् – अनुमेयो वेदः, प्रत्यक्षसिद्धत्वात् अशब्दत्वाच्च।

अथ शिष्टाचारत्वात्प्रमाणमूलोऽयमिति चेत्, ततः सिद्धसाधनम्। प्रत्यक्षमूलत्वाभ्युपगमात्। तदसम्भवेऽप्यनुमानसम्भवात्। नित्यमज्ञायमानत्वात्तदप्रत्यायकं कथमनुमानम्? कथं च मूलमिति चेत्, वेदः किमज्ञायमानः प्रत्यायकोऽप्रत्यायक एव वा मूलं, येन जडतम! तमाद्रियसे? अनुमितत्वाज्ज्ञायमान एवेति चेत्, लिङ्गमप्येवमेवास्तु।

आमोदः– ननु *स्मृत्या*चारयोरेव परस्परमूलमूलिभावोऽस्तु, किं तन्मूल*वेदे*नेत्यत आह **आचारादिति**। अपरिचितस्य वेदत्वव्याघातो वेदनाजनकत्वव्याघातश्चेत्याह **आसंसारमिति। उत्पत्तित** इति स्वमते। **अभिव्यक्तित** इति परमते। **अभिप्रायत** इत्युभयमते मौनिश्लोकवत्। **निरर्थकत्वादिति** अर्थाप्रतिपादकत्वादित्यर्थः। **हितसाधनमिति** स्वमते, **कर्त्तव्यमिति** *गुरुमते*। **तदर्थस्य** वेदनार्थस्य। नन्विदमेवानुमानं *वेद* इत्येव नित्यानुमेयो *वेद* इति ब्रूम इत्यत आह **न चेति। अनुमानमनुमितिकरणम्**। तच्च ज्ञायमानं लिङ्गं, तच्चाचारस्वरूपमेव, तच्च प्रत्यक्षं न त्वनुमेयमित्यर्थः। **अशब्दत्वादिति**। *वेदो* हि शब्द उच्यते, आचारश्च न शब्दस्तथा च कथं *वेद* इत्यर्थः।

ननु सामान्यतः प्रमाणमूलत्वं साध्यं तदेव सिद्ध्यत् पक्षधर्मताबलाद्वेदमूलकत्वे पर्यवस्यतीति शङ्कते **अथेति**। ईश्वरप्रत्यक्षमूलकत्वेन सिद्धसाधनमित्याह **तत इति। तदसम्भवेऽपीति। त्वया** तदनभ्युपगमेऽपीत्यर्थः। **अनुमानेति**। सामान्यतो दृष्टस्य तत्रैव पर्यवसानादित्यर्थः। यदनुमानं मूलत्वेन कल्पनीयं तद्विशिष्य चेन्न ज्ञायते तदाऽनुमितिजनकत्वाभावादनुमानमेव न भवति, अत एव **मूलमिति**। शङ्कते **नित्यमिति**। *त्वन्मते* नित्यानुमेयो वेदोऽप्येवमेवेत्याह **वेदः किमिति**। ननु विशेषाकारेण *वेदो* न ज्ञायते, सामान्यतस्तु ज्ञायत इत्याशङ्कते **अनुमितत्वादिति**। लिङ्गमपि सामान्यत एव ज्ञायत इति परिहरति **लिङ्गमिति**।

प्रकाशः– भावः। ननु भूयः शिष्टाचारदर्शनात् *स्मृति*प्रणयनम्, ततः पुनरिदानीं शिष्टाचारपरम्परा स्यादिति किं तन्मूल*वेदा*नुमानेनेत्यत आह **आचारादिति**। उभयोरप्यनुमानमूलकत्वेनाव्यवस्थापकत्वात् तादृशस्मृत्याचारयोर्वेदमूलकत्व-व्याप्तेस्तव देशनाया एव धर्मे मानत्वाच्च तयोरमानकत्वापातादित्यर्थः। ननु नित्यानुमेयो वेदस्तन्मूलं स्यादतो न शाखोच्छेद इत्यत आह **आसंसारमिति**। **अनाम्नातस्य** अपठितस्य। **उत्पत्तित इति** *स्वमते*, **अभिव्यक्तित इति** *परपक्षे*, **अभिप्रायत** इति उभयत्र। यथा मौनिश्लोकोऽपठितः श्रोत्रानभिव्यक्तश्चाभि-प्रायस्थस्तथा वेदोऽपीत्यपि नेत्यर्थः। तथात्वेऽनिश्चितानुपूर्वीकपदकदम्बस्वरूपत्वे नित्यानुमेयत्वव्याघात इति भावः।

अत्र स्मृत्याचारमूलं *वेदो*ऽध्ययनविषयो न वा, *वेदत्व*मध्ययनविषयत्वव्याप्यं न वेति विप्रतिपत्तिः। ननु स्मृत्यर्थज्ञापकत्वेन ज्ञातस्यैव वेदस्य स्मृत्यर्थानुभावकत्वम्। न हि शाब्दबोधे नियतपदानुपूर्वी हेतुः, गामानयानय गामित्यत्र तदभावेऽपि तत्सत्त्वात्। पदस्य वर्णविशेषानुपूर्वीनियमेऽपि तत्तद्वर्णानुपूर्वीकपदविशेषो न हेतुः, घटकलशपदानां प्रत्येकं व्यभिचारात्। किन्त्वव्यभिचारितदर्थज्ञापकत्वेन ज्ञातस्य, लाघवादावश्यकत्वाच्च। अत एव, वर्णलोपे दन्त्यादिसकारादिसन्देहे सत्यपि वाक्यार्थधीः। न च क्रमिकपदवत्त्वं वाक्यत्वम्। अनुच्चार्यमाणस्य चोच्चारणघटित क्रमासंभव इति वाच्यम्। गौरश्व इत्यादौ तत्संभवेऽपि वाक्यत्वाभावात्।

मकरन्दः– विवादपदमिति। एतच्च प्रत्यक्षवेदमूलस्मृत्यंशे लोभादिमूलकस्मृत्यंशे च सिद्धसाधनबाधादिवारणार्थम्। ताद्रूप्यसिद्धयेऽनुभावकान्तम्। न्यायादिमूलकस्मृतौ व्यभिचारवारणाय **अक्लृप्तेति**। असम्भवन्मूलान्तरत्वे सतीत्यर्थः। ननु महाजनपरिगृहीतपदं व्यर्थमिति चेत्, सत्यम्। भ्रम एवात्र मूलमित्यसिद्धि शङ्कानिरासाय तदुपादानात्, न तु हेतुविशेषणत्वे तात्पर्य्यमि*त्येके*। लोभादिभिन्नन्यायादिमूलकत्वाभावमात्रे सत्यन्ततात्पर्य्यम्। एवञ्च लोभादिमूलकस्मृतावेव व्यभिचारवारणाय तदि*त्यन्ये*। लोभस्य वस्तुगत्या मूलत्वाभावान्मूलपदस्य प्रामाणिकमूलपरत्वाद्वा सत्यन्तेन लोभमूलकस्मृतौ व्यभिचारवारणाय तदुपादानमित्याहुः। **अलौकिकेति**। एतच्च *द्रव्यप्रकाशे* व्याख्यातम्। नन्वनुमानमूलकत्वेऽपि नान्धपरम्परा न हि प्रत्यक्षमात्रं प्रमाणमित्याश-यादाह **तादृशेति**। नन्वत्राप्यसम्भवन्मूलान्तरत्वमन्यथा न्यायादिमूलकस्मृतावपि तथात्वापत्तिरित्यनुशयादाह **तवेति**। मीमांसकस्येत्यर्थः। तथा च तवापसिद्धान्त इति भावः।

प्रकाशः– विशिष्टार्थपरशब्दत्वन्त्वत्रापि तुल्यम्। न चानुच्चार्यमाणस्य न वाक्यत्वम्। लिप्यनुमितानां मौनिश्लोकस्य च वाक्यत्वात्। किञ्च वाक्यमुच्चार्यते, न तूच्चारणाद्वाक्यत्वम्। वाक्यमुच्चारयेदित्यनन्वयापत्तेः। उच्चारणदशायां वाक्यत्वे वाक्यस्यासत्त्वापत्तेः। एकदा तावत् पदानामुच्चारणाभावात्। अथ तदर्थज्ञापकत्वेन ज्ञातात् पदात् पदार्थज्ञानमात्रं स्यान्न संसर्गज्ञानम्। अन्वयप्रकारकर्मत्वाद्युप–स्थापकविभक्त्यादिसमभिव्याहाराभावात्। मैवम्, अनुमित*वेदाद्वाक्*यार्थानुभवे सामग्र्याः वैलक्षण्यात्। धर्मिग्राहकमानेन तवाशरीरेश्वरकर्तृत्वस्यैव स्मृत्यर्थानुभावकत्वेनैव तस्य सिद्धेः। अन्यथान्यत्र क्लृप्तहेतुं विना न सोऽनुभावक इत्यादौ तदसिद्धावाश्रयासिद्धिस्तत्सिद्धौ च बाधः। अत एव स्तुतिनिन्दार्थवाद कल्पितविधिनिषेधकवेदादर्थमवगत्य प्रवृत्तिनिवृत्ती। अन्यथा विधिनिषेधक*वेदानां* नानाप्रकारकत्वेन विभक्त्यादिविशेषवत्पदस्यानुमातुमशक्यत्वान्न ततोऽर्थधीः स्यात्। एवमाचारानुमितवेदादपि प्रवर्तककर्तव्यताधीः स्मृत्याचारानुमितो वेदोऽर्थं बोधयतीति पूर्वपूर्वानुमितवेदादुत्तरोत्तरस्मृत्याचाराविति नान्धपरम्परा, स्वतन्त्र–प्रमाणमूलकत्वादिति।

अत्राहुः। उच्छिन्न*वेदादर्थं* प्रतीत्य *स्मृत्या*चारयोरुपपत्तेः सामग्र्यन्तरकल्पने गौरवम्। अत एव च न बाधाश्रयासिद्धी। *स्मृत्या*चारमूलस्य *वेदस्या*–स्माभिरभ्युपगमात्। तथा च *स्मृत्या*चारयोर्वेदजन्यानुभवमूलकत्वानुमानादेव पक्षधर्मताबलेन प्रत्यक्षवेदमूलकत्वसिद्धिः। अननुभावकस्य मूलत्वानुपपत्तेः। स्तुतिनिन्दार्थवादाभ्यामपि प्रवृत्तिनिवृत्तिपराभ्यां प्रवृत्तिनिवृत्तिहेतुरर्थ एव कल्प्यते, लाघवात्। न तु विधिनिषेधवाक्यं, गौरवादुक्तदोषाच्च। यत्र चार्थवादादेव तज्ज्ञानं, तत्र 'तरति मृत्यु' मित्यादौ न तत्कल्पनापि। न च बहुभिर्मेधा–विभिराध्यात्मिकशक्तिसम्पन्नैर्ध्रियमाणायाः शाखाया न शाखान्तरवदुच्छेदसम्भव इति वाच्यम्। एकस्य न समग्रशाखाऽध्ययने शक्तिरित्येकेनेवापरैरपि तदनध्ययने तदुच्छेदसम्भवात्। एकानधीतायास्तस्या अपराध्ययनविषयत्वनियमे मानाभावात्। न च शाखोच्छेदे वर्णादिहानिशङ्कया प्रत्यक्षवेदादपि वाक्यार्थप्रयोगयोरनिश्चये वैदिकव्यवहारोच्छेदः, श्रूयमाणमात्रस्यैव महाजनपरिगृहीतत्वेन तत एव तन्निश्चयात्। तस्माद् *स्मृत्या*चारानुमितो *वेदः* प्रत्यक्षोऽध्ययनविषयश्च वेदत्वात् संमतवत्। विपक्षे च बाधकमुक्तं गौरवमिति सङ्क्षेपः।

अनुमेयप्रतीतेः प्राक्तनी लिङ्गप्रतीतिरपेक्षिता कारणत्वात्, न तु पश्चात्तनीति चेत्, शब्दप्रतीतिरप्येवमेव। आचारस्वरूपेण शब्दमूलत्वमनुमीयते, तेन तु शब्देन कर्तव्यता प्रतीयते इति चेन्न। आचारस्वरूपस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वेन मूलान्तरानपेक्षणात्। तस्मात्कर्तव्यतायां प्रत्यक्षाभावादप्रमिततया च शब्दानुमानानवकाशात् प्रत्यक्षश्रुतेरसम्भवाच्छिष्टाचारत्वेनैव कर्तव्यतामनुमाय तया मूलशब्दानुमानम्। तथा च किं तेन? तदर्थस्य प्रागेव सिद्धेः। तथाप्यागममूलत्वेनैव तस्य व्याप्तेरिति चेत्, अत एव तर्हि तस्य प्रत्यक्षानुमानमूलत्वमनुमेयम्। आदिमतः तत्त्वं स्यात्, अयं त्वनादिरिति चेत्, आचारोऽपि तर्हि प्रथमतः तथा स्यात्। अयं त्वनादिर्विनाप्यागमं भविष्यति। आचारकर्तव्यतानुमानयोरेवमनादित्वमस्तु, किं नश्छिन्नमिति चेत्, प्रथमं तावन्नित्यानुमेयो वेद इति। द्वितीयञ्च देशनैव धर्मे प्रमाणमिति।

आमोदः- न त्वियमाचारकर्तव्यता अनुमानमूला तदाचारकर्त्तव्यतात्वान्मत-वदित्यनुमेयम्। तथा च पक्षीकृतायाः पूर्वमेव सिद्धेः परिहरति **शब्द** इति। इयमाचारकर्त्तव्यता *वेद*मूलेति न *वेदा*नुमानम्, अपि त्वयमाचारो *वेद*मूल इति *वेदा*नुमानम्, अनुमिताच्च *वेदात्* कर्तव्यताज्ञानमिति न तुल्यतेत्याशङ्कते **आचारेति**। आचारस्वरूपसिद्ध्यर्थं यदि *वेदा*नुमानं तदा तद्व्यर्थमिति परिहरति **आचारस्वरूपस्येति**। अथाचारकर्तव्यताया एव *वेद*मूलकत्वानुमानं, तथा च सिद्धैव सेति व्यर्थं वेदानुमानम्। मङ्गलं कर्तव्यं शिष्टाचारत्वादित्यनुमानादेव कर्तव्यता-सिद्धेरित्युपसंहरति **तस्मादिति**। यद्यप्यनुमानादाचारकर्तव्यता सिद्ध्यति, तथापि व्याप्तिबलात् वेदनयापि सेद्धव्यम् इत्याह **तथापीति**। यथा शिष्टाचारकर्तव्यताया वेदमूलकत्वेन व्याप्तिस्तथा प्रत्यक्षानुमानमूलकत्वेनापीति ताभ्यामपि कथं न सेद्धव्यमित्याह **अत एवेति**। अत्रादिमत्वमुपाधिरित्याह **आदिमत इति**। आचारस्या*गम*मूलत्वेऽप्यादिमत्वमुपाधिर्होलाकाद्याचारस्त्वनादिरागममन्तरेण स्यादित्याह। **आचारोऽपीति**। ईश्वरसिद्धिभिया प्रत्यक्षमूलकतां निरस्यन्नाशङ्कते - **आचारेति**। एवं सति *वेद*स्तन्मूलं न सिद्ध्येदिति **नित्यानुमेयो वेद** इति तव सिद्धान्तो भज्येत इत्याह **प्रथममिति**। **द्वितीयमिति**। अनुमानस्यापि धर्मे प्रमाणत्वाभ्युपगमाद्देशनैव **देशनैव** त्ववधारणानुपपत्तिरित्यर्थः।

प्रकाशः– दूषणान्तरमाह **यदि चेति**। *वेदेना*पि हि प्रवृत्तिहेतुकार्यत्वज्ञानं तद्धेतुत्वज्ञानं वोत्पाद्य प्रवृत्तिर्जन्येत्यावश्यकत्वाल्लाघवाच्च तदेवानुमीयतां, किं तद्बोधक*वेदेने*त्यर्थः। **तदर्थस्य** कार्यत्वज्ञानादेः। ननु धर्मवेदकत्वहेतुको वेदव्यवहारस्तच्च लिङ्गेऽप्यस्तीति तदेव नित्यानुमेयवेदशब्देनोच्यते इत्यत आह **न चेति**। प्रत्यक्षसिद्धत्वान्न नित्यानुमेयत्वम्, अशब्दत्वाच्च न वेदत्वमित्यर्थः।

प्रमाणसामान्यानुमानेऽपि पक्षधर्मताबलात् तद्विशेष*वेद*सिद्धिः स्यादित्याह **अथेति**। सामान्यबुद्धेरीश्वरप्रत्यक्षविषयत्वेनाप्युपपत्तेर्न सा विशेषमवगमयतीत्याह **प्रत्यक्षेति**। ईश्वरप्रत्यक्षानभ्युपगन्तृमतेऽपि भोजनादेरिव कर्त्तव्यताज्ञानेऽनुमानमेव मूलं स्यादित्याह **तदिति**। विशिष्य लिङ्गाज्ञानान्न तद् गमकमतो न मूलमित्याह **नित्यमिति**। नित्यानुमेयो वेदोऽपि विशेषाकारेणानिश्चितत्वान्न तद्बोधकः स्यादित्याह **वेद इति**। विशेषत इति शेषः। सामान्यतस्तज्ज्ञानं वेद इवानुमानेऽपि तुल्यमित्याह **अनुमितत्वादिति** आचारकर्त्तव्यतानुमानमूलेत्यनुमेयपूर्वमाचारकर्त्तव्यतासिद्धौ स्यात्।'सा च कर्तव्यताबोधकलिङ्गप्रतीतेः प्रागेव सिद्धेति नानुमानमित्याह **अनुमेयेति**। एवं शब्दप्रतीतिं विनापि कर्त्तव्यताबुद्धेः सिद्धत्वाद् व्यर्थं शब्दानुमानमिति तुल्यमित्याह **शब्देति**। विशिष्टशिष्टाचारेण वेदमूलत्वमनुमीयते, अतो न प्रत्यक्षादिना सिद्धसाधनमित्याह **आचारेति**। आचारस्वरूपसिद्ध्यर्थं वेदानुमानं, तत्कर्त्तव्यताबोधार्थं, व्याप्तिमात्रेण वा? नाद्यः। तत्र प्रत्यक्षस्यैव मूलत्वादित्याह **प्रत्यक्षेति**। **न द्वितीयः**। कर्त्तव्यतायामज्ञातायां वेदाननुमानात् तज्ज्ञाने च तदनुमानवैयर्थ्यादित्याह **तदिति**। तृतीयं शङ्कते **तथापीति**। दर्शादिव्यवहारस्य वेदपूर्वकत्वसहचारदर्शनादित्यर्थः। न हि सहचारमात्राद् व्याप्तिः। पौरुषेयवाक्यस्येव वैदिकवाक्यस्यापि प्रत्यक्षानुमानविवक्षापूर्वकत्व प्रसङ्गादिति परिहरति **अत एवेति**। अत्रोपाधिमाह **आदिमत इति**। आगमस्येत्यर्थः। आचारस्याप्यागमपूर्वकत्वे साध्ये स एवोपाधिरित्यनादिः, स तन्निरपेक्षोऽपि स्यादित्याह **आचारोऽपीति**। **द्वितीयमिति**। अनुमानस्यापि धर्मे –

मकरन्दः– **घटकलशेति**। घटकलसपदानामित्यर्थः। शेषं *शब्दप्रकाशे* द्रष्टव्यम्।

तदेवेति। कार्य्यत्वं तद्धेतुत्वं वेत्यर्थः। **तदर्थस्येति**। तत्प्रयोजनस्येत्यर्थः। प्रमाणत्वेनानुमितत्वादज्ञायमानत्वमसम्भवीत्यत आह **विशिष्येति**। उक्ताभिप्रायेणाह **विशेषत** इति। तथा च यथा न नित्यानुमेयलिङ्गमूलत्वं तथा न नित्यानुमेयवेद-मूलत्वमपीति निगर्वः। **आचारोऽपीतीति**। तथा च व्याप्तिबलादपि

अथायमाशयः – **वैदिका अप्याचाराः राजसूयाश्वमेधादयः समुच्छिद्यमाना दृश्यन्ते। यत इदानीं नानुष्ठीयन्ते। न चैते प्रागपि नानुष्ठिता एव। तदर्थस्य** *वेदराशेर*प्रामाण्यप्रसङ्गात्, समुद्रतरणोपदेशवत्। न चैवमेवास्तु, दर्शाद्युपदेशेन तुल्ययोगक्षेमत्वात्। एवं पुनः स कश्चित्कालो भविता यत्रैते अनुष्ठास्यन्ते। तथान्येऽप्याचाराः समुच्छेत्स्यन्ते, अनुष्ठास्यन्ते चेति न विच्छेदः। ततस्तद्वदागममूलतेति चेत्, एवं तर्हि प्रवाहादौ लिङ्गाभावे कर्तव्यत्वागमयोरननुमानादसत्यां प्रत्यक्षश्रुतौ, आचारसङ्कथापि कथमिति सर्वविप्लवः। तस्मात्प्रत्यक्षश्रुतिरेव मूलमाचारस्य। सा चेदानीं नास्तीति शाखोच्छेदः।

अधुनाप्यस्ति सान्यत्रेति चेत्, अत्र कथं नास्ति? किमुपाध्याय-वंशानामन्यत्र गमनात्? तेषामेवोच्छेदाद्वा? आहोस्वित् स्वाध्यायविच्छेदात्? न प्रथमद्वितीयौ, सर्वेषामन्यत्र गमने उच्छेदे वा नियमेन भारतवर्षे शिष्टाचारस्याप्युच्छेदप्रसङ्गात्। तस्याध्येतृसमानकर्तृकत्वात्। अन्यत आगतैराचारप्रवर्तने अध्ययनप्रवर्तनमपि स्यात्। न तृतीयः, आध्यात्मिकशक्तिसंपन्नानामन्तेवासिनामविच्छेदे तस्यासम्भवात्। तस्मादायुरारोग्यबलवीर्य-श्रद्धाशमदमग्रहणधारणादिशक्तेरहरहरपचीयमानत्वात्

आमोदः– ननु प्रत्यक्षवेदमूलानां राजसूयाश्वमेधादीनाम् इदानीमनुष्ठानेऽपि क्रमेणानुष्ठानं तावदस्ति, तत्रैव *परेषां* सर्गप्रलयव्यवहारो*ऽस्माक*मियमेव च प्रवाहानादिता राजसूयादिदृष्टान्तेनैवाष्टकाहोलाकाद्याचाराणां च वेदमूलत्वमपि सेत्स्यतीत्याशङ्कते **अथेति**। ननु राजसूयादिपरवेदानामप्रामाण्यमस्तु, को दोष इत्यत आह **न चेति**। तर्हि दर्शादिपराणामपि तथात्वं स्यादित्यर्थः। यदा पुनरेते विवादविषया आचारा उच्छेदानन्तरमनुष्ठास्यन्ते तदा केन लिङ्गेन तेषां कर्तव्यताऽनुमीयेत। शिष्टाचारस्य तदानीमभावात् लिङ्गाभावादेव च *नागमो*ऽनुमानमपीति तदनुष्ठानमेव पर्यवसन्नमिति परिहरति **एवं तर्हीति**। प्रकृतमुपसंहरति **तस्मादिति**। *भट्टमते* प्रच्छन्नशाखतां शङ्कतेऽ**धुनापीति**। परिहरति **कथमिति**। अध्ययनयोग्यतायास्तुल्यत्वादिति भावः। **तस्येति**। आचारस्याध्येतैवोत्सर्गतोऽनुष्ठाता दृष्ट इत्यर्थः। तथा चोच्छिन्नशाख-बोधितानुष्ठानेन व्यभिचारः। आध्यात्मिकी शक्तिर्ग्रहणधारणादिसामर्थ्यम्। तथा च भारतवर्षान्यदेशः स्मृत्याचारवेदाध्ययनशून्यः, देशत्वादेतद्देशवदित्यत्र तात्पर्यम्। एतद्देशवदन्यदेशेऽपि *वेदा*ध्ययनशून्यत्वमुपसंहरन्नाह **तस्मादिति**।

प्रकाशः– प्रमाणत्वाभ्युपगमादित्यर्थः। आचारस्यागममूलकत्वव्याप्तौ प्रयोजकमाह **अथेति**। **अप्रामाण्येति**। नित्यमननुष्ठानादित्यर्थः। **तद्वदिति**। विवादाध्यासिता आचारा *वेद*मूलाः, उच्छेदानन्तरभाविप्रवाहवत्त्वाद्राजसूयवदिति न प्रत्यक्षादिना सिद्धसाधनं, नाप्यत्यन्तमुच्छेद इत्यर्थः। प्रलये स्मृत्याचारयोरुच्छेदाल्लिङ्गा–भावेनासत्यां प्रत्यक्ष*श्रुतौ* अनुष्ठानमेव न स्यादित्यसिद्धो हेतुरित्याह **एवं तर्हीति**। न च घटादिसम्प्रदायप्रवर्त्तनार्थमीश्वरस्यापि शरीरपरिग्रहात् तदाचारादेव कर्त्तव्यतानुमितिः स्यादिति वाच्यम्। बहुव्यापारघटितस्य तत्तदाचारस्य गुरुत्वाल्लाघवेन *वेद*रूपवाक्यस्य कल्पनादिति भावः। **शाखोच्छेद इति**। *व्यासा*दीनां सहस्रशाख*वेद*ज्ञातृणां सत्त्वेऽपि साम्प्रतं तदध्ययनाभाव एव शाखोच्छेदः।

*स्मृत्या*चारमूलं *वेद* इदानीमप्यन्यत्राध्ययनगोचर इति *भट्टमतं* शङ्कते **अधुनापीति**। परिहरति **अत्रेति**। भारतवर्षे तदध्ययनाभावेऽप्यन्यत्र तदध्ययनकल्पनायां गौरवमिति भावः। **तस्येति**। यद्यप्याचारस्याप्यध्येतृसमान–कर्तृकतयाऽध्ययनगोचरशाखाबोधिताचारस्यानुपपत्तिः, तथाप्यत्राध्ययनाभावः शक्त्यभावप्रयुक्तः, स च नैतद्देशनियतः, प्रागप्यत्र तदभावापत्तेः। किन्त्वेतत्कालनियमः। अतो भारतवर्षान्यदेशः, *स्मृत्या*चारमूलाध्ययनशून्यो, देशत्वात्, एतद्देशवदिति भावः।

मकरन्दः– प्रत्यक्षश्रुतिमूलत्वमेव सिद्ध्यति। अन्यादृशश्रुतेरुक्तयुक्त्या मूलत्वानुपपत्तेरित्यभिसन्धिः। **असिद्ध**–इत्युपलक्षणं, चैत्यवन्दनाद्याचारप्रवाहे लौकिकाचारप्रवाहे च व्यभिचारोऽपीति द्रष्टव्यम्। **किन्त्वेतत्कालेति**। यद्यप्येतत्कालावच्छिन्नैतद् देशत्वाभ्युपगमे नोक्तदोषस्तथापि लाघवादेतत्काला–वच्छेदेनैव शक्त्यभावः कल्प्यते इति भावः। **स्मृत्याचारेति**। विवादपद–स्मृत्याचारेत्यर्थः। इदानीं तच्छून्य इति साध्यम्। तेन दृष्टान्तस्य न साध्यवैकल्यम्।

स्वाध्यायानुष्ठाने शीर्यमाणे कथञ्चिदनुवर्तते। विश्वपरिग्रहाच्च न सहसा सर्वोच्छेद इति युक्तमुत्पश्यामः। गतानुगतिको लोक इत्यप्रामाणिक एव आचारः, न तु शाखोच्छेदः। अनेकशाखागतेतिकर्तव्यतापूरणीयत्वात्। एकस्मिन्नपि कर्मण्यनाश्वासप्रसङ्गादिति चेत्, एवं हि महाजन–परिग्रहस्योपप्लवसम्भवे *वेदा* अपि गतानुगतिकतयैव लोकैः परिगृह्यन्ते इति न *वेदाः* प्रमाणं स्युः। तथा च वृश्चिकभिया पलायमानस्य आशीविषमुखे निपातः। एतमेव च कालक्रमभाविनमनाश्वासमाशङ्कमानैर्महर्षिभिः

प्रतिविहितमतो नोक्तदोषोऽपि। न चायमुच्छेदो ज्ञानक्रमेण येन श्लाघ्यः स्यात्। अपि तु प्रमादमदमानालस्यनास्तिक्यपरिपाकक्रमेण। ततश्चोच्छेदानन्तरं पुनः प्रवाहः। तदनन्तरञ्च पुनरुच्छेद इति सारस्वतमिव स्रोतः। अन्यथा कृतहानप्रसङ्गात्। तथा च भाविप्रवाहवद् भवन्नप्ययमुच्छेदपूर्वक इत्यनुमीयते। स्मरति च भगवान् *व्यासो* गीतासु भगवद्वचनम् -

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।।

कः पुनरयं महाजनपरिग्रहः? हेतुदर्शनशून्यैर्ग्रहणधारणार्थानुष्ठानादिः। स ह्यत्र न स्यात् ऋते निमित्तम्। न ह्यत्रालस्यादिर्निमित्तं दुःखमयकर्म

आमोदः- शाखोच्छेदे-ऽनिष्टमाह **अनेकेति**। महाजनपरिग्रहादेव तत्राश्वास इत्यभिप्रेत्याह **एवमिति। वेदा इति**। तत्रापि महाजनपरिग्रहादेव प्रामाण्यमभ्युपेयमित्यर्थः। उच्छिन्नशाख-*वेदा*भ्युपगमे नाश्वासो वृश्चिकभीः। तथा सति स्ववेदाप्रामाण्यमाशीविषमुखम्। शाखोच्छेदाहितमनाश्वासं परिहरति **एतमिति। महर्षिभिः** स्मृत्याचारप्रणेतृभिः। अन्यथा शाखान्तरोक्ताङ्गशङ्कया एकशाखाबोधितेऽपि कर्मण्यनाश्वासः स्यादित्यर्थः। नन्वध्येतृभिरप्रामाण्यशङ्कया शाखान्तरं त्यक्तम्। अतोऽनुवर्तमान-शाखायामप्यप्रामाण्यशङ्का तदवस्था इत्यत आह **न चेति**। शाखान्तरमप्यप्रामाण्यशङ्कया न त्यक्तमित्यर्थः। कथं तर्हि त्याग इत्यत आह **अपि त्विति**। तथा च *वेदा* उच्छेत्स्यन्ति वेदत्वात् उच्छिन्नशाखावत्, ह्रसमानत्वं वा हेतुर्जन्मादिदृष्टान्त इत्यर्थः। सर्गप्रलयमुपसंहरति **ततश्चेति। तदनन्तरं पुनः प्रवाह** इत्यत्रानुकूलतर्कमाह **अन्यथेति**। पूर्वजन्मार्जितानामदृष्टानां हानं भोगाजनकत्वं स्यात्, यद्यग्रे शरीरप्रवाहो न स्यादित्यर्थः। **तथा चेति**। कृतहानप्रसङ्गादेवेत्यर्थः। **आत्मानं सृजामीति** अस्य शरीरसम्बन्धं करोमीत्यर्थः। **सम्भवामीति**। शरीरवान् भवामीत्यर्थः।

एवं तर्हि महाजनानां *बुद्धर्षभादीनां* परिग्रहा*दस्मदागम* एव प्रमाणमित्यनुशयवान् पृच्छति *बुद्धः* **कः पुनरिति। हेतुदर्शनं** धर्मातिरिक्त-वक्ष्यमाणहेतुदर्शनम्। हेतुदर्शनशून्यतामाह **न हीति**।

प्रकाशः– उच्छिन्नशाखाबोधितेतिकर्त्तव्यताशङ्कया एकस्मिन्नपि कर्मणीति-कर्त्तव्यतेयत्तानिश्चयो न स्यादित्यमानक एवायमाचार इत्याह **गतेति**। महाजनपरिगृहीताचारस्यामानकत्वशङ्का *वेदे*ऽपि स्यादित्याह **एवं हीति**।

वृश्चिकेति। उच्छिन्नशाख*वेदा*ङ्गीकारेऽननुष्ठानं वृश्चिकभीः, तया पलायमानस्य सर्ववेदाप्रामाण्यापात आशीविषमुखे निपात इत्यर्थः। **अनेके**त्यादि दूषयति **एतमिति**। तत्तत्कर्मणि नानाशाखाबोधितेतिकर्त्तव्यताबोधनाय महर्षिप्रणीता महाजनपरिगृहीताश्च *स्मृतयः* सन्तीति नाऽनाश्वास इत्यर्थः। अन्यथैकस्य सकलानवगमाच्छाखान्तरबोधितेतिकर्त्तव्यताशङ्कया एकशाखातो नार्थनिश्चयः स्यादिति भावः। नन्वाचारस्योच्छिन्नशाखामूलकत्वे साऽपि शाखान्तर-वच्छिष्यैर्गृह्येतेति नोच्छेदः। स चेन्नूनं समुद्रतरणोपदेशवच्छाखैवाप्रमाणमित्यत आह **न चेति**। अप्रामाणिकधिया न तच्छाखानध्ययनमपि त्वन्यप्रयुक्तमित्यर्थः। तदेवं वेदत्वादाचारानुमितवेदवद्वेदा उच्छेत्स्यन्तीत्युपसंहरति **ततश्चेति**। दिनरात्रिह्रासैश्च न व्यभिचारस्तस्यापि पक्षत्वादिति भावः। ननु वर्तमान प्रवाहोच्छेदसिद्धावपि भाविप्रवाहोच्छेदसिद्धिः कुत इत्यत आह **अन्यथेति**। प्रागुपात्तादृष्टस्य देहाद्यभावेन भोगाजनकत्वादित्यर्थः। नन्वेवमपि प्राच्यविच्छेदासिद्धौ परतन्त्रपुरुषपूर्वकोऽनादिरेवायं सम्प्रदाय इत्यत्र न किञ्चिदनिष्टमित्यत आह **तथा चेति**। प्रवाहत्वादिति शेषः। **धर्मो**=यागादिः, तस्य **ग्लानि**रुच्छेदः। **अधर्मस्य**=मण्डलीकरणादेः। **संस्थापना**=व्यवस्था।

ननु महाजनपरिग्रहाद्वेद*स्य* प्रामाण्यधीः, स एव क इत्यत आह **कः पुनरिति**। **हेतुदर्शनेति**। अनन्यथासिद्धप्रवृत्तिविषयत्वमित्यर्थः। तदेवाह **न ह्यत्रेति**।

मकरन्दः- **भाविप्रवाहेति**। भाविप्रवाहतदुच्छेदयोः सिद्धिः कुत इत्यर्थः। परैः पूज्यानामप्यत्र प्रवेशादिति मूलम्। **पाषण्डैः** स्वमत-प्रवेशार्थं पूज्यमानानामप्यत्र प्रवेशदर्शनादनन्यगतिकतया नात्र प्रवेश इत्यर्थः। वस्तुतोऽप्रवेशादिति पाठः। अत एव *बौद्धाधिकारेऽपि* तथैव पाठः। तत्र तन्मत-प्रविष्टानां पूज्यानामेव नात्र प्रवेशाधिकारः, तत्राप्यनधिकृतानामत्र प्रवेशस्त्वसम्भावित एवेत्यर्थः।

प्रधानत्वात्। नाप्यन्यत्र सिद्धप्रामाण्येऽभ्युपायेऽनधिकारेणास्मिन्ननन्यगति कतयाऽनुप्रवेशः। परैः पूज्यानामप्यत्राप्रवेशात्। नापि भक्ष्यपेयाद्यद्वैतरागः तद्विभागव्यवस्थापरत्वात्। नापि कुतर्काभ्यासाहितव्यामोहः, आकुमारं प्रवृत्तेः। नापि सम्भवद्विप्रलम्भपाषण्डसंसर्गः, पित्रादिक्रमेण प्रवर्तनात्।

नापि योगाभ्यासाभिमानेनाव्यग्रताभिसन्धिः, प्राथमिकस्य कर्मकाण्डे सुतरां व्यग्रत्वात्। नापि जीविका, प्रागुक्तेन न्यायेन दृष्टफलाभावात्। नापि कुहकवञ्चना, प्रकृते तदसम्भवात्। सम्भवन्ति चैते हेतवो *बौद्धाद्यागम*परिग्रहे। तथा हि – भूयस्तत्र कर्मलाघवमित्यलसाः। इतः पतितानामप्यनुप्रवेश इत्यनन्यगतिकाः। भक्ष्याद्यनियम इति रागिणः। स्वेच्छया परिग्रह इति कुतर्काभ्यासिनः। पित्रादिक्रमाभावात्प्रवृत्तिरिति पाषण्डसंसर्गिणः। 'उभयोरन्तरं ज्ञात्वा कस्य शौचं विधीयते' इत्यादिश्रवणादव्यग्रताभिमानिनः, सप्तघटिकाभोजनादिसिद्धे जीविकेत्ययोग्याः, आदित्यस्तम्भनं पाषाणपाटनं शाखाभङ्गो भूतावेशः प्रतिमाजल्पनं धातुवाद इत्यादिधन्धनात् कुहकवञ्चिताः। ततस्तान् परिगृह्णन्तीति सम्भाव्यते। अतो न ते महाजनपरिगृहीता इति विभागः।

स्यादेतत्। यद्येवं सर्वकर्मणां वृत्तिनिरोधो न किञ्चिदुत्पद्यते, न किञ्चिद्विनश्यतीति स्तिमिताकाशकल्पे जगति कुतो विशेषात् पुनः सर्गः। प्रकृतिपरिणतेरिति *साङ्ख्यानां* शोभते। ब्रह्म परिणतेरिति *भास्करगोत्रे* युज्यते।

आमोदः- नापीति। सिद्धप्रामाण्य ईदृशाभ्युपायान्तराभावादित्यर्थः। **परैः** पाखण्डैः। **भक्ष्येति।** सर्वं भक्ष्यं सर्वं पेयमित्यद्वैतराग इत्यर्थः। **कुतर्कः** क्षणिकत्वाद्यनुकूलतर्काभासः। **योगाभ्यासेति।** सन्ध्योपासनादिपरित्यागे सत्यव्यग्रो योगो भवति इत्यभिमानः। **प्राथमिकस्य** ब्रह्मचारिणः। **जीविका** धार्मिकत्वख्यापनेन जीवनोपायधनलाभः। **प्रागुक्तेनेति।** यो वैनं पूजयिष्यति स किमर्थमित्यादिना। **कुहकवञ्चना** ऐन्द्रजालिकवञ्चना। **अलसाः** तद्वन्ध(धन्ध)व्यावर्त्तीय(?) उदुम्बरगर्तीयतन्तुवायादयः। **अनन्यगतिकाः** *कीर्तिप्रज्ञाकरादयः।* **रागिणः** शरभादयः। **कुतर्काभ्यासिनः** काणाचार्यादयः। **पाखण्डसंसर्गिणः** शौण्डिकादयो *बौद्धविशेषाः।* **अव्यग्रताभिमानिन** *सुभूत्यादयो बौद्धाः।* **अयोग्याः** सामान्यश्रवणकादयः। कुहकवञ्चनाहेतूनाह **आदित्येति। तानिति।** *बौद्धागमानित्यर्थः।* ते *बौद्धागमाः।*

प्रकृतिपरिणतेरिति। सत्त्वरजस्तमःस्वभावा प्रकृतिः पङ्गुः, चेतनोपरागमन्तरेण न प्रवर्तते। यदा तु चेतनस्य पुरुषस्योपरागः प्रकृतौ स एव परिणामस्तत इत्यर्थः। तदुक्तं 'पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि सम्बन्धस्तत्कृतः सर्गः' (सां०का०21) इति। **ब्रह्मेति।** घटादिभावेन ब्रह्मैव परिणमत इति

वासनापरिपाकादिति *सौगतमत*मनुधावति। कालविशेषादिति चोपाधि विशेषाभावादयुक्तम्। असतां चोपलक्षणानां न विशेषकत्वम् सर्वदा तुल्यरूपत्वात्। न च ज्ञानद्वारा। अनित्यस्य तस्य तदानीमभावात्। नित्यस्य च तस्य विषयतः स्वरूपतश्च अविशेषादिति चेन्न। शरीरसंक्षोभश्रमजनितनिद्राणां प्राणिनामायुःपरिपाकक्रमसम्पादनैकप्रयोजन श्वाससन्तानानुवृत्तिवन्महाभूतसंप्लवसंक्षोभलब्धसंस्काराणां परमाणूनां मन्दतरतमादिभावेन कालावच्छेदैकप्रयोजनस्य प्रचयाख्यसंयोगपर्यन्तस्य कर्मसंतानस्येश्वरनिःश्वसितस्यानुवृत्तेः। कियानसावित्यत्रा विरोधादागमप्रसिद्धिमनतिक्रम्य तावन्तमेव कालमित्यनुमन्यते। ब्रह्माण्डान्तरव्यवहारो वा कालोपाधिः। तदवच्छिन्ने काले पुनः सर्गः। यथा खल्वलाबुलतायां विततानि फलानि, तथा परमेश्वरशक्तावनुस्यूतानि सहस्रशोऽण्डानीति श्रूयते। एवं विच्छेदसम्भवे कस्य केन परिग्रहः, यतः

आमोदः– *भास्करीयास्त्रिदण्डिनः। एकदण्डिनस्तु* प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वमाहुः। **वासनेति**। अनादिवासनाधीना संवृतिस्तन्मात्राधीना घटादिव्यवहृतिर्न तु घटादिः पारमार्थिक इत्यर्थः। **कालविशेषादिति**। कालोपाधिरेव कश्चित्तादृशो यत्र पुनः सर्गस्तदा स्याद् यदि प्रलयावस्थायां सूर्यपरिस्पन्दाः कालोपाधयः स्युरित्यर्थः। ननु सर्वसर्ग एव ये सूर्यस्पन्दास्त एव कालोपाधयः स्युरित्यत आह **असतामिति**। ते यद्यज्ञाता एव कालमवच्छिन्द्युस्तदाऽतिप्रसङ्ग इत्यर्थः। ननु ज्ञानद्वाराऽवच्छेत्स्य-न्तीत्यत आह **ज्ञानेति**। प्रलये ज्ञानाभावादित्यर्थः। ननु नित्यज्ञानमस्त्येव तदानीमपीत्यत आह **नित्यस्य चेति**। यद्युपाधयस्तदा स्युस्तदा नित्येन ज्ञानेन विषयीक्रियेरन्नत एव तु तदानीं न सन्तीत्यर्थः। **महाभूतेति**। प्रलयोपक्रमे महाभूतानां जलादीनां यः संक्षोभस्तेन नोदनेन परमाणूनां यत् कर्मोत्पन्नं तेन पुनर्वेगस्तेन पुनः कर्मेति कर्मसन्तान एवानुवर्तते। तेन कर्मणाऽदृष्टसहकारेण परमाणुद्वय-संयोगमुत्पाद्य द्व्यणुकादिप्रक्रमेणारम्भ इत्यर्थः। **प्रचयो** द्रव्यारम्भकसंयोगमात्रमत्र विवक्षितम्। ***आगमेति।*** ब्रह्मवर्षशतान्तकालस्यैवागमप्रतिपादितत्वादित्यर्थः। ब्रह्माण्डान्तरसूर्यादिस्पन्दा एव वा तत्रोपाधय इत्याह **ब्रह्माण्डान्तरेति**। ब्रह्माण्डनानात्वे प्रमाणमाह **यथा खल्विति**। **एवमिति**। तथा च प्रलयानन्तरं यथा *वेदा* ईश्वरेण प्रगीयन्ते तथा महाजना अपि *मन्वादयो* मनसैव सृज्यन्ते इत्यवश्यमभ्युपेयम् इत्यर्थः। किं च प्रमाया गुणजन्यत्वं साधितमेव। तथा च

प्रकाशः- निमित्तमित्यग्रे सर्वत्रानुषज्यते। **योगेति**। योग एव कर्त्तव्यो, न तु चित्तविक्षेपहेतुर्यागादिरित्यभिमानेनेत्यर्थः। **प्राथमिकस्येति**। ब्रह्मचारिण इत्यर्थः। योगव्यग्रताभिमानेन कर्मकाण्डे प्रवृत्तिर्न स्यात्, तस्य योगबहिर्भावादित्यर्थः। **प्रागुक्तेन=विफला विश्ववृत्तिर्न** - इत्यादिना। *बौद्धाद्यागम*परिग्रहे अन्यथासिद्धिमाह - **सम्भवन्तीति**। **उभयोरिति**। "अत्यन्तमलिनः कायो देही चाऽत्यन्तनिर्मलः" (प्र.वा. .....) - इति पूर्वार्द्धम्। **साङ्ख्यानामिति**। प्रकृतिपरिणतावपि प्रयोजनाकाङ्क्षायाः सत्त्वात् तेषामेव शोभते, न *त्वस्माक*मित्यर्थः। एवमग्रेऽपि। **भास्करः** त्रिदण्डिमतभाष्यकारः। ननु वर्तमानोपाध्यभावेऽप्यतीतसूर्यस्पन्दा उपाधयः स्युरित्यत आह **असतामिति**। **तस्य** = ज्ञानस्येत्यर्थः। **शरीरेति**। यथा सुषुप्तौ कर्मणां युगपद्वृत्तिनिरोधेऽपि श्वासानुवृत्तिबलात् कदाचित् प्रबोधस्तथा परमाणूनां कर्मसन्तानानुवृत्तिवशात् कदाचित् सर्ग इत्यर्थः। **प्रचयेति**। यावत् प्रचयाख्यः संयोगोऽनुवर्त्तते, तावत् कर्मसन्तानानुवृत्तिरित्यर्थः। प्रचयश्च यद्यप्यवयवमात्रवृत्तिः संयोगस्तथापि द्व्यणुकारम्भकसंयोगमात्रमत्र विवक्षितम्।

कियानिति। ब्रह्मवर्षशतमेव कालोपाधिरि*त्यागम*प्रसिद्धेरास्थीयते इत्यर्थः। यद्वा, प्रकृतब्रह्माण्डान्यब्रह्माण्डवृत्तिः कालोपाधिरित्याह **ब्रह्माण्डेति**। पूर्वं शब्दनित्यत्वस्य प्रवाहाविच्छेदरूपस्य नित्यत्वस्य चासिद्धिरुक्ता। इदानीमस्मदभिमतस्यापि महाजनपरिग्रहस्य सर्गादावसम्भवादसिद्धिमाह **एवमिति**। किञ्च महाजनपरिग्रहः प्रामाण्यज्ञापको, न तूत्पादकः, यस्तूत्पादको गुणस्तदभावे ग्राह्यस्य प्रामाण्यस्याभावात् किन्तेन ग्राह्यमित्याह **ज्ञापकश्चेति**। **अयमर्थो** = महाजनपरिग्रहरूपः।

प्रामाण्यं स्यात्? ज्ञापकश्चायमर्थो, न कारकः। ततः कारकाभावान्निवर्तमानं कार्यं ज्ञापकाभिमतः कथङ्कारमास्थापयेत्।

स्यादेतत्। सन्तु *कपिलादय* एव साक्षात्कृतधर्माणः कर्मयोगसिद्धास्त एव संसाराङ्गारेषु पच्यमानान् प्राणिनः पश्यन्तः परमकारुणिकाः प्रियहितोपदेशेनानुग्रहीष्यन्ति, कृतं परमेश्वरेणानपेक्षितकीटादि संख्यापरिज्ञानवतेति चेन्न, 'तदन्यास्मिन्ननाश्वासात्'। तथा ह्यातीन्द्रियार्थदर्शनोपायो भावनेत्यभ्युपगमेऽपि नासौ सत्यमेव साक्षात्कारमुत्पादयति, यतः समाश्वसिमः। प्रमाणान्तरसंवादादिति चेन्न। अहिंसादिहितसाधनमित्यत्र तदभावात्। आगमोऽस्तीति चेन्न। भावनामात्रमूलत्वेन तस्याप्यनाश्वासविषयत्वात्। एकदेशसंवादेनापि प्रवृत्तिरिति चेन्न। स्वप्नाख्यानवदन्यथापि सम्भवात्। न चानुपलब्धे

भावनापि। चौरसर्पादयो ह्युपलब्धा एव भीरुभिर्भाव्यन्ते। न च कर्मयोगयोर्हितसाधनत्वं कुतश्चिदुपलब्धम्। न चैतयोः स्वरूपेणोपलम्भः क्वचिदुपयुज्यते, भावनासाध्यो वा। न चास्मिन्नन्वयव्यतिरेकौ सम्भवतः। देहान्तरभोग्यत्वात्, फलस्याप्रतीततया तदनुष्ठाने तदभावाच्च। न च कर्त्तृभोक्तृरूपोभय देहप्रतिसन्धानादेव तदुपपद्यते, तदभावात्। न ह्येतस्य पूर्वकर्मणः फलमिदमनुभवामीति कश्चित् प्रतिसन्धत्ते। *केचित्तथा* **भविष्यन्तीति सम्भावनामात्रेऽप्यनाश्वासात्, विनिगमनायां प्रमाणाभावात्। प्रतिपन्निशीथनिद्राणः प्रातः प्रतिबुद्धसमस्तोपाध्यायवदन्योन्यसंवादात्** *कपिलादिषु* **समाश्वास इति चेन्न। एकजन्मप्रतिसन्धानवत् जन्मान्तरप्रतिसन्धाने प्रमाणाभावात्। तथापि च अधिकारिविशेषेण ब्राह्मणत्वाद्यप्रतिसन्धानेऽनुष्ठानरूपस्याश्वासस्याभावात्। न हि पूर्वजन्मनि मातापित्रोर्ब्राह्मण्यात्तदुत्तरत्र ब्राह्मण्यमिति नियमो, येन सर्गादौ**

आमोदः– वक्तृवाक्यार्थयथार्थज्ञानं विना वैदिकी प्रमा न स्यादितीश्वरसिद्धिः। सिद्धं प्रामाण्यं महाजनपरिग्रहेण ज्ञाप्यते इति **ज्ञापकश्चायमिति**। **अयं** महाजनपरिग्रहः।

तदन्यस्मिन्ननाश्वासादिति व्याख्यातुमुपक्रमते **सन्त्विति**। **धर्मः** कार्यत्वमिष्टसाधनत्वं वा अदृष्टमेव वा निरिन्द्रियप्रदेशे मनसोऽवस्थानं वा, **योग** आत्मचिन्तनाभ्यासजनितः संस्कारः। तेन **सिद्धा** परमवशीकारमापन्नाः। **प्रियमापातरमणीयं**, **हितमायति** शुद्धम्। *कपिलादी*नामतीन्द्रियार्थदर्शने प्रमाणाभावादित्युपपादयति **तथा हीति**। **स्वप्नेति**। स्वप्नकथनेऽप्येकदेश-संवादोऽस्त्येवेत्यर्थः। ननु हितसाधनत्वं यागादीनामुपलब्धमेव, तैः संस्कारश्च स्यादित्यत आह **न चेति**। **कर्म** यागादि, **योग**श्चापवर्गसाधनत्वम्। ननु यागादि उपलभ्यत एव *परेण* क्रियमाण इति कथमनुपलम्भ इत्यत आह **न चैतयोरिति**। **स्वरूपेण** हितसाधनत्वप्रकाराभावेन। ननु यागादीनामन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव हितसाधनत्वं ग्रहीष्यते दण्डादीनामिव इत्यत आह **न चास्मिन्निति**। हितसाधनत्वग्रहमन्तरेण यागादावप्रवृत्तेः कस्यान्वयव्यतिरेकौ ग्राह्यावित्याह **अप्रतीतेति**। चैत्रकृतो यागश्चैत्र एव स्वर्गिशरीरेण तत्फलं भुङ्क्ते इति प्रतिसन्धाय हितसाधनत्वग्रहादुपदेशः स्यादित्यत आह **न चेति**। एतादृशं प्रतिसन्धानमेव नास्तीत्यर्थः। **केचिदिति**। *कपिलादीना*मेव प्रतिसन्धानं सम्भवत्येवातस्तदुपदेशा-दस्मदादीनां प्रवृत्तिस्तदा स्याद् यद्ययमर्थः प्रमितः स्यात्। न चैवमित्यर्थः। **विनिगमनायामिति**। *कपिलादी*नामिवास्मदादीनामपि तादृशप्रतिसन्धान-प्रसङ्गादित्यर्थः। *कपिलादयो* बहवः सम्भूय संवादेन यागादीनां हितसाधनत्वं

प्रकाशः– द्वितीयामन्यथासिद्धिं दूषयितुमुपन्यस्यति – **स्यादेतदिति**। भावनायाः संस्काररूपाया, विषयविशेषे मनोधारणाहेतुप्रयत्नरूपाया वाऽऽत्म-साक्षात्कारजनकत्वेऽपि तृणादौ कामिन्यादिसाक्षात्कारभ्रमजनकत्वान्न समाश्वासकत्वमित्याह **तथाहीति**। दृष्टे संवादेऽप्यतीन्द्रियार्थे तदभावादित्याह **अहिंसादीति**। यद्यपि 'न हिंस्यात् सर्वा भूतानी' त्यनेन हिंसाया अनिष्टसाधनत्वं बोध्यते, न तु तदभावस्य हितसाधनत्वम्, तथाप्यतद्गुणसंविज्ञानबहुब्रीहिणा यागाद्येवोक्तमित्याहुः। **भावनामात्रेति**। ईश्वरमूलकत्वे त्वविवाद इति भाव;। *आगमै*कदेशे संवादेन प्रामाण्यं निश्चित्यान्यत्रापि वेदत्वेन तदनुमेयमित्याह **एकदेशेति**। एकदेशसंवादोऽप्रमाणसाधारण इति न तद्गमक इत्याह **स्वप्नेति**। ननु महाजनपरिग्रहाद् भावनामूलके*ऽप्यागमे* समाश्वासः स्यादित्यत आह **न चेति**। सर्वत्र भावना साक्षात्कारजनिकाऽपि न सम्भवति। अनुभूयमानमात्रविषयत्वात् तस्या इत्यर्थः। **कर्म** यागादि। **योगः** चित्तवृत्तिनिरोधः। **न चेति**। हितसाधनज्ञानमुपयोगि न वस्तुत्वेन ज्ञानमतिप्रसङ्गादित्यर्थः। **भावनासाध्यो** वेत्यत्रोपलम्भ इत्यनुषञ्जनीयम्। न चान्यत्रेवात्र साधनत्वनिश्चयः सम्भवतीत्याह **न चास्मिन्निति**। **अस्मिन्** कर्मयोगसाधनत्वे। ननु प्रवृत्तौ सत्यां कर्मयोगान्वये फलस्यान्वयज्ञानात् साधनत्वनिश्चयः स्यादित्यत आह **अप्रतीततयेति**। हितसाधनत्वेनेति शेषः। हितसाधनत्वनिश्चयात् प्रवृत्तिस्तस्यां च तन्निश्चय इत्यन्योन्याश्रय इत्यर्थः। ननु योऽहं विहितनिषिद्धकर्म कृतवान् सोऽहं तत्फलमनुभवामीति प्रत्यभिज्ञानात्तद्ग्रहः स्यादित्यत आह **न चेति**। **एकेति**। यथैकत्र जन्मनि कार्यभेदे प्रत्यभिज्ञानं प्रत्यक्षसिद्धं, न तथा जन्मभेदे इत्यर्थः। अस्तु वा संवादात् समाश्वासः, तथाप्यधिकारिविशेषेण स्वीयब्राह्मणत्वाद्य प्रतिसन्धानेऽधिकृतवेदाध्ययनाद्यनुष्ठानं तेषां न स्यादित्याह **तथापि चेति**। न चेदानीमिव तदापि तन्निश्चयः प्रत्यक्षादित्याह **न हीति**। ननु यथेश्वरेणादृष्टविशेष जन्यतया शरीरे ब्राह्मण्यादि साक्षात्कृत्य सर्गादौ कपिलादयो वेदमध्याप्यन्ते, तथा कपिलादिभिरप्यध्येष्यत इत्यत आह **ईश्वरवदिति**।

अणिमादिसम्पत्ताव*प्यागम* एव मानम्। तत्प्रामाण्यग्रह एव चानाश्वास इत्याह **अत्रापीति**। हेतुदर्शनशून्यैर्ग्रहणधारणादिरूपमहाजनपरिग्रहानुपपत्ति रेवाणिमादिसम्पत्तौ मानमित्याह **आद्येति**। तथाविधाः किं बहवः कल्पनीयाः, एक एव वा? नाद्य इत्याह **एवमिति**। कल्पनायां लाघवसाचिव्यादेक एव विषय

वर्णादिधर्मव्यवस्था स्यात्। ईश्वरवददृष्टविशेषोपनिबद्धभूत विशेषानुपलम्भात्। अतीन्द्रियार्थदर्शित्वे चानाश्वासस्योक्तत्वात्।

एतेन ब्रह्माण्डान्तरसञ्चारिवर्णव्यवस्था सम्प्रदायप्रवर्तनमपास्तम्। सञ्चारशक्तेरभावात्। वर्णान्तरसञ्चरणमेव हि दुष्करं, कुतो लोकान्तरसञ्चारः, कुतस्तराञ्च ब्रह्माण्डान्तरगमनम्? अणिमादि-सम्पत्तेरेवमपि स्यादिति चेन्न। तत्रापि प्रमाणाभावात्। सम्भावनामात्रेण समाश्वासानुपपत्तेः। आद्यमहाजनपरिग्रहान्यथानुपपत्तिरेवात्र प्रमाणमिति चेत्, एवम्भूतैककल्पनयैवोपपत्तौ भूयःकल्पनायां गौरवप्रसङ्गात्। विदेहनिर्माणशक्तेरणिमादिविभूतेश्चावश्याभ्युपगन्तव्यत्वात्। अस्त्वेक एवेति चेत्, न तर्हीश्वरमन्तरेणान्यत्र समाश्वास इति।

आमोदः- ग्रहिष्यन्तीति तेषु समाश्वासः स्यादित्याशङ्कते **प्रतिपदिति**। ननु जन्मान्तर-प्रतिसन्धानमपि स्तनपानादौ क्लिप्तमेवास्ति इत्यनुशयेनाह **तथा हीति। अनुष्ठानानुरूपस्येति**। अनुष्ठानप्रयोजकस्येत्यर्थः। ननु ब्राह्मणत्वादिनिश्चयो हि पूर्वजन्मतद्ब्राह्मणत्वप्रतिसन्धानादेव स्यादित्यत आह **न हीति**। यः पूर्वसर्गे ब्राह्मणशरीरावच्छिन्नः, स एवाग्रिमसर्गेऽपि इति यदि नियमो भवेत् तदेदं प्रतिसन्धानं घटेत, न त्वेवमित्यर्थः। नन्वदृष्टविशेषोपगृहीतभूतभेदारभ्यत्वज्ञानादेव ब्राह्मणत्वादिनिश्चयः स्यादित्यत आह **ईश्वरवदिति**।

न विधान्तरसम्भव इत्युक्तं, तत्र विधान्तराशङ्कां निरस्यति **एतेनेति**। वर्णान्तरमिलावृत्तभारतादि **लोकान्तरम्** भुवनान्तरम्। **तत्रापीति**। ईश्वरादन्यत्रेत्यर्थः। **आद्येति**। यद्यणिमादिसम्पन्नस्यायमुपदेश इति न निश्चयस्तदाद्यमहाजनपरिग्रह एव न स्यादित्यनुपपत्तिरेव। तन्न प्रमाणमिति शङ्कते **आद्येति। एवमिति**। तर्हि एक एव लाघवात् कल्पनीयः, स चेश्वर एवेत्यर्थः। **विदेहेति**। देहविनाकृतस्यैव निर्माणशक्तिरणिमादिशक्तिश्च एकस्यैवाभ्युप-गम्यतामित्यर्थः। अणिमादावपि करणाद्युपग्रहो नास्तीति भावः। **न तर्हीति**। तादृशश्चेश्वर एवेति।३।

कारं कारमलौकिकादद्भुतमयं मायावशात् संहरन्
हारं हारमपीन्द्रजालमिव यः कुर्वन् जगत् क्रीडति।
तं देवं निरवग्रहस्फुरदभिध्यानानुभावं भवं
विश्वासैकभुवं शिवं प्रति नमन् भूयासमन्तेष्वपि।।४।।

आमोदः- अन्तेष्वपि तमेव देवं प्रति **नमन् भूयासम्** भविष्यामीति योजना। **यो जगत्** कार्यजातं **कारं कारं** कृत्वा कृत्वा **संहरन्, हारं हारं** हत्वा हत्वा सृजन्, **क्रीड़तीव देवं** स्तुत्यं, **निरवग्रहो** अप्रतिबद्धः, **स्फुरन्नाविर्भवन्, अभिध्यानस्य** इच्छाया **अनुभावो** यस्येत्यर्थः।

प्रकाशः- इति तन्नानात्वे मानाभाव इत्यर्थः। कल्पनागौरवमाह **विदेहेति**। विविधो देहो विदेहः। अन्त्यमाशङ्क्य ईश्वरादन्यत्रानाश्वासेन तत्रैव पर्यवसानमिति परिहरति **अस्त्वित्यादि** ।३।

परिच्छेदार्थमुपसंहरन् ईश्वरस्य नतिमाह **कारमिति**। **जगत्**=कार्यद्रव्यजातं, कृत्वा कृत्वा **संहरन्**, हत्वा हत्वा सृजन्, **मायावशात्** सृष्टिसंहारसहकारिसम्पत्तेर्यः क्रीडतीव, **तं**, **देवं**=स्तुत्यं, सत्यविश्वासैककारणं, **भवं**=जगन्मूलकारणम्, निष्प्रातिबन्धस्पुरदिच्छाप्रभावं शिवं प्रत्युद्दिश्य नमन्नन्तकालेष्वपि भूयासमित्याशंसा।।४।।

मकरन्दः- अस्मदभिमतस्यापीति। प्रामाण्यग्राहकत्वेनास्मदभिमतस्यापि सर्गादिकालेऽसम्भवादसिद्धिरित्यर्थः। **यथैकत्रेति**। प्रतिसर्गं तेषामन्यान्यत्वमन्योन्य-संवादग्रहस्तदा स्याद्यदि जन्मभेदप्रतिसन्धानं न स्यात् न त्वेवमित्यर्थः। मूलयुक्तिमाह **कल्पनायामिति**।३।

नित्यस्य संहरणादिकमसम्भवीति व्याचष्टे-**कार्यद्रव्येति**। कार्यमात्रसंहरणं महाप्रलय एवेति तत्राभीक्ष्णत्वमनुपपन्नं तस्याप्रकृतत्वं चेति द्रव्यपदमुपात्तम् । ईश्वरस्य मायावित्वे संसारित्वापत्तिरिति व्याचष्टे - **सृष्टीति**। वास्तवक्रीडनमपि तस्य नास्तीत्यत आह **इवेति**।४।

❑❑

वरदराजाचार्य प्रणीता न्यायकुसुमाञ्जलिव्याख्या

बोधनी

प्रथम स्तबकः

सत्पक्षप्रसरः .... न्यायप्रसूनाञ्जलिः। १ पृ०।

विशदयितुमर्थतत्त्वं विनिहन्तुं चान्तरीयसन्तमसम्।
मम मनसि सन्निधत्तां नरहरिशबलाकृति ज्योतिः।।१।।

विश्वं यो विदधात्यदृष्टसचिवः सत्सम्प्रदायो यतः
प्रामाण्यं लभते श्रुतिर्गुणवतो वक्तुर्यतो नान्यतः।
यस्मिन् बाधकशङ्कयापि विगतं माता च मानं च यः
सिद्धो यः श्रुतिनीतिसम्प्लवशतैस्तं मन्महे मानतः।।२।।

औदयने पथि गहने विदेशिकः प्रतिपदं स्खलति लोकः।
तस्य कृते कृतिरेषा कुसुमाञ्जलिबोधनी जयति।।३।।

प्रारिप्सितप्रकरणव्युत्पाद्यस्य परमात्मविषयन्यायस्य प्रसिद्धसमाराधन-साधनप्रसूनाञ्जलिसाधर्म्यप्रदर्शनेन पञ्चरूपोपपत्तिसम्पत्तिलक्षणां विशुद्धिं निःश्रेयसात्मकं फलं च प्रतिपाद्य तथाविधन्यायव्युत्पादनेन परमात्मसमाराधनतया परिकल्पितेन परमात्मनिरूपणेन स्वारसिकश्रद्धायुक्तस्य स्वान्तःकरणस्याविहत-श्रद्धावत्त्वमारिप्सितग्रन्थाविघ्नञ्च परिसमाप्तिफलमाशास्ते **सत्पक्षप्रसर इति। सति** प्रमाणसिद्धे प्रमाणाबाधिते च **पक्षे** सन्दिग्धसाध्यधर्मवति धर्मिणि प्रसरतीति सत्पक्षप्रसरः। तेनाश्रयासिद्धिकालात्ययापदेशसिद्धसाधनानां मूले निहितः कुठारः। **सत्पक्षे प्रसरः** प्रकर्षेण सरणं व्याप्त्या वृत्तिर्यस्येति भागतोऽपि स्वरूपासिद्धेरुद्धारः। *कुसुमाञ्जलिस्तु* **सन्** शोभनः **पक्षप्रसरः** पत्रविकासो यस्येति स तथोक्तः। **सतामन्वयव्यतिरेकविदामागमावगततत्त्वानां वा परिमलः**। परिशीलनं भूयोदर्शनमिति यावत्, तज्जनितः **प्रोद्बोधः** भूयोदर्शने साहायकमाचरतानुकूलतर्केण निरस्तनिखिलोपाधिशङ्कं व्याप्तिज्ञानं, तत्र **बद्ध उत्सवो**ऽपेक्षा येन स तथोक्तः गृहीतव्याप्तिक इति यावत्। यद्वा तेन **प्रोद्बोधेन** स्वस्मिन् **बद्धोत्सवः** बद्धापेक्षः अनुमित्सतां गृहीतव्याप्तिकत्वादपेक्षणीय इत्यर्थः। अथवा सामान्यव्याप्तिमत्तया

परिशीलनस्य प्रोद्बोधो विशेषे पर्यवसानं, तेन **बद्धः** स्थिरीकृतः **उत्सवः** परमात्मोपासनेच्छा **येनेति**। एतदुक्तं भवति आगमावगते परमात्मनि व्याप्तिवशेन भूयस्तत्संवादिप्रमित्युत्पादनेन तदुपासने श्रद्धां निश्चलामाबद्धवानिति। अनेन स्वरूपतो ज्ञानतश्च व्याप्यत्वासिद्धेः कण्ठतः कुण्ठनम्। अनध्यवसितसव्यभिचारयोर्विरुद्धस्य चार्थतो निरासः। अन्यत्र, **सतां** श्लेष्माद्यनुपहतघ्राणानां सौरभोद्गारेण विहितप्रीतिः स्वस्मिन् बद्धेच्छो वा। प्रतिप्रमाणैः प्रतितर्कैश्च **विमर्दने** पीडने सति न म्लायति न दूष्यते, तेषां हीनाङ्गत्वेन दुर्बलत्वादिति भावः। अनेन प्रकरणसमः प्रतितर्कप्रतीघातश्च घातितः। अन्यत्र करतलादिमर्दने न म्लानः तदभावादेव न प्रत्यग्रापचित इत्यर्थः। यद्वा पुष्पाञ्जलिसाधर्म्यप्रसक्तविमर्दनासहत्वनिवारणेन न्यायस्य तद्वैधर्म्यमनेन प्रदर्श्यते, यथा विमर्दने सति पुष्पाञ्जलिर्म्लायति नायं तथेति। **अमृतं** ब्रह्म, रसयतीति रसस्तद्विषया बुद्धिः, तस्य **प्रस्यन्दः** = प्रवाहः ध्यानमिति यावत्। तेन यत् तस्य साक्षात्कारि ज्ञानं तद्द्वारं निर्वाणं वा, तदेव **माध्वीक**मिवाव्यवहितपुरुषार्थतया माध्वीकमिति गौणो वादः, तस्य **भूर्हेतुः**। श्रवणानन्तरं न्यायावधृतपरमात्मतत्त्वानां तत्त्वानुचिन्तनेन साक्षात्कार उत्पद्यते ततोऽपवर्ग इति स्थितिः। अथवा **अमृतं**=मोक्षः, तत्र **रसः**=तद्गोचरेच्छा, तस्य **प्रस्यन्दो**ऽविच्छेदेन प्रवाहः, स एव **माध्वीकं**, तस्य **भूः**भूमिरिति। श्रवणसञ्जातां मुमुक्षां नास्तिककुतर्कापादितशैथिल्यापनयेन वर्द्धयतीत्यर्थः। अनेन न्यायस्य फलवत्ताप्रदर्शनेन तद्व्युत्पादकस्य प्रकरणस्यापि प्रेक्षावदुपादित्साप्रयोजिकामभिमतफलसाधनतां सूचितवानिति। अन्यत्र अमृतसमरसस्य प्रस्यन्दमानस्य मकरन्दस्य भूमिरिति। **एवमनघः**=विशुद्धः, न्यायो नीयते ज्ञाप्यते विवक्षितार्थोऽनेनेति **न्यायः** परार्थानुमानं, स एव **प्रसूनाञ्जलिः**। यद्वा न्यायाः प्रसूनानीव तेषामञ्जलिः, विधेयनिषेध्यविषय-लिङ्गात्मककरतलद्व्यगोचरत्वेन न्यायानामञ्जलित्वमिति। **ईशस्य** = परमात्मनः परापररूपात्मनि **पदयुगे** निवेशितः। यद्वा, पद्यते गम्यतेऽनेनेति पदं, तद्द्व्यमागमप्रामाण्यलिङ्गं कार्यलिङ्गं च तद्विषय इति। अन्यत्र सुगमम्। यथा *कुसुमाञ्जलौ* भ्रमति भृङ्ग तथा स्वस्मिन् मदीयं साभिलाषमन्तः करणमविघ्नं रमयतु। यद्वा **भृङ्गायमाणं** यथा मधुमत्यमधुमति च कुसुमे विवेकानवधारणेन चञ्चलश्चञ्चरीकः, तथा तत्त्वेऽतत्त्वे च वर्त्तमानं सन्दिहानमित्यर्थः। **भ्रमच्च** क्वचिदतत्त्वमेव तत्त्वतयाध्यवस्यन् मदीयं **चेतो** रमयतु संशयविपर्ययनिरासेन तत्त्वास्पदं करोत्विति। **अनघमिति** व्यस्तपाठे चेतोविशेषणं, स्वारसिकश्रद्धावत्त्वेन

निष्पापं चेत इति। क्रियाविशेषणं वा, **अघं** क्लेशः, यथा तत्र स्याद् यथा च विघ्नं न स्यात् तथा रमयतु। अक्लिष्टमविहतश्रद्धायुक्तं यथा स्यात्तथा करोत्वित्यर्थः।

केचित्तु न केवलं *कुसुमाञ्जलिना* न्यायो निरूप्यते मननात्मकेन ज्ञानयोगेनैव कुसुमाञ्जलिप्रदानात्मकेन कर्मयोगेनापि परमात्मसमाराधनतया परिकल्पितेनाविघ्नं परिसमाप्तिराशास्यत इति व्याचक्षते। तत्र न्यायेनोपार्जितः प्रसूनाञ्जलि-र्न्यायप्रसूनाञ्जलिरिति।।१।।

स्वर्गापवर्गयोः .... परमात्मा निरूप्यते। पृ०७।

ननु देहादिव्यतिरिक्तस्य नित्यस्यापरस्यात्मनस्तत्त्वज्ञानं संसारनिदानतद्विषयमिथ्याज्ञानादिनिवृत्तिद्वारेण निर्वाणकारणं वर्णयन्ति। यथाहुः – "दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापायात्तदनन्तराभावादपवर्गः" (न्या.सू. १.१.२) इति। विवेचितश्चाय*मात्मतत्त्वविवेक* इति किमनेन परमात्मनिरूपणेनेत्यत्राह – **स्वर्गापवर्गयोः इति**। साक्षात्कृतपरमेश्वर-प्रसादसहकृतमेव हि जीवात्मज्ञानमपवर्गमातनोति। **तथाचामनन्ति** – **'द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये परं चापरं च' 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया'** इत्यादि। गुडजिह्विकया रागिजनमावर्जयितुमत्र स्वर्गोपादानं, तेऽपि दुःखसन्तमससन्ततासु सुखखद्योतिकासु निर्विद्य मुमुक्षवो भविष्यन्तीति भावः। न चैकस्या एवोपास्तेः कथं परस्परविरोधिस्वर्गापवर्गहेतुत्वमिति वाच्यम्। उपासकसङ्कल्पादिसहकारिविशेषेण सामग्रीभेदादुपपत्तेः। यद्वा, अत्र पूर्वत्र सूचितयोर्विषयप्रयोजनयोः स्पष्टीकरणेनेश्वरो-पास्तेरपवर्गहेतुत्वे श्रुतीः प्रमाणयतीति।।२।।

इह हि यद्यपि यं कमपि .... सन्देह एव कुतः। किं निरूपणीयम् । पृ० ९

प्रकरणारम्भमाक्षिपति **इहे**त्यादिना **किं निरूपणीय**मित्यन्तेन। सन्दिग्धे न्यायः प्रवर्त्तते न हि सिद्धे। सिद्धश्चायमात्मा सर्ववादिनाम्। तस्मादस्य न्यायविषयत्वासम्भवात् तद्विषयकन्यायव्युत्पादकं प्रकरणं नारम्भणीयमिति तात्पर्यम्। **इह**=परमात्मनि प्रकरणे वा, **किं निरूपणीय**मिति सम्बन्धः, **अर्थयमाना** इत्यस्य **चोपासते** इत्यनेन। सर्ववादिसम्प्रतिपत्तिदर्शनं **शुद्धेत्यादि**। **शुद्धः**=केवलः, अद्वितीय इति यावत्। अत एव **बुद्धः**=स्वप्रकाशः। द्वितीयाभावे परप्रकाश्यत्वासम्भवात्। **आदिविद्वान्**=स्वारसिकचैतन्यः, न तु बुद्धिवदिति;

छायापत्त्या तथात्वे सत्यादिविद्वत्ताविरोधात्। **सिद्धः**=कूटस्थनित्यः, न तु प्रकृत्यादिवत् केनचिदपि रूपेण साध्य इति। अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः (पात० सू० २।३।) तत्र विपरीतख्यातिर**विद्या**। अहमस्मीत्यभिमानोऽ**स्मिता**। **रागद्वेषौ** सुखदुःख तत्साधनविषयौ प्रसिद्धौ। प्राप्तैश्वर्यभङ्गभीतिर**भिनिवेशः**। धर्माधर्मसाधनमश्वमेधादिब्रह्महत्यादि **कर्म**। जात्यायुर्भोगा **विपाकाः**। तत्र **जाति**र्देवत्वमनुष्यत्वादिः। प्राणाख्यस्य वायोः कायावच्छिन्नः सम्बन्ध **आयुः**। स्वसमवेतसुखदुःखान्यतरसाक्षात्कारो **भोगः**। आफलनिष्पत्तेरात्मनि शेत **इत्याशयो** धर्माधर्मरूपमपूर्वम्। एतैर**परामृष्टः** सर्वदा सर्वथाऽसंसृष्टः। कथं तर्हि कर्माद्यभावे शरीरसम्बन्धः, कथं वा तदभावे सम्प्रदायप्रवर्त्तकत्वं, कथं वानुग्राहकत्वमित्यत उक्तं – **निर्माण इति**। जगन्निर्माणार्थं स्वेच्छामात्रनिर्मितानि संसारिचेतनवर्गनिर्मितानि वा शरीराणि व्युत्पाद्यव्युत्पादकभावेनाधितिष्ठति। सम्प्रदीयते गुरुणा शिष्यायेति **सम्प्रदायो**=वेदो धटपटव्यवहारश्च, **तत्प्रवर्त्तको** वक्ता प्रवक्ता च वेदे कर्त्ता ग्राहयिता चान्यत्र, **अनुग्राहकः**=स्वर्गापवर्गादिफलप्रदानादिनेति। **लोकवेदविरुद्धैः** = चिताभस्मोद्धूलन देवदारुवनद्विजवधूविप्लवादिभिरनुष्ठितैर**लेपः** लोकगर्हयाऽधर्मेण रहितः। क्लेशसलिलावसिक्तायामात्मभूमौ उप्तं कर्मबीजमधर्माङ्कुरमारभते, न च नित्यसर्वज्ञस्य क्लेशसम्भवः। **स्वतन्त्रः**–कर्त्ता। **महापाशुपताः**=महाव्रतचारिणः पाशुपताः। **शिवः**=निस्त्रैगुण्यः। **पुरुषोत्तमः**=पुरुषेभ्य उत्तमः। उत्तमत्वं च सर्वज्ञत्वमसंसारित्वं चेति स्वयमेव व्याख्यास्यति। **पितामहः**=जगतामुत्पादकः **यज्ञपुरुषः**=यज्ञाधिष्ठातृदेवता। **सर्वज्ञः**=क्षणिकसर्वज्ञः। **निरावरणः**= सर्वविषयकचैतन्याच्छादकत्वेन स्वकर्मार्जितं शरीरमावरणम्; यद्वा वस्त्रादिभिरिव शरीरं धर्माधर्माभ्यामाव्रियते पुरुष इति तावेवावरणं, तद्रहितः। **उपास्यत्वेन चोदितः** चोदनासिद्धमुपास्यत्वं हविःप्रतियोगित्वं स्तुतिप्रतियोगित्वं चैव तस्य रूपं, न तु सर्ववित्सर्वकर्तृकत्वादिकमिति। **लोकव्यवहारसिद्धः**=राजादिर्दृश्यमानः, चतुर्भुजादिरूपा प्रतिमा वा। **यावदुक्तोपपन्नः**=मया यानि विशेषणान्युक्तानि तेषु यावदुपपन्नः, यद्वा यावदुक्तेन यथाश्रुतेन न तु व्याख्यातेनोपपन्नः, यथा **शुद्धः** = देहादिरहितः, **शुद्धः**=बोधे कर्त्ता कर्म वा, **आदिविद्वान्** = नित्यज्ञातलोकव्यवहारः। **सिद्धः**=सर्वजनप्रसिद्धिगम्यः, सुगममन्यत्। **जाति**र्ब्राह्मणत्वादिः। **गोत्रं**=कूटस्थऋषिनाम्ना सङ्कीर्त्तनम्। **प्रवरः**=वंश्यऋषिगणानुकीर्त्तनम्। **चरणः**=बह्वृचत्वाद्यवान्तरजातिः।

कुलधर्मः=प्रतिकुलं व्यवच्छिन्नः शिखासन्निवेशादिः। यथा जात्यादयः संसारमभिव्याप्य प्रमाणसिद्धाः, एवमीश्वरोऽपि। किं निरूपणीयम्? न किञ्चिदित्यर्थः।

तथापि न्यायचर्चेयमीशस्य .... श्रवणानन्तरागता। पृ० १३।

समाधत्ते-**तथापि न्यायेति**। तत्रैव हि सन्दिग्धविषयत्वनियमो न्यायस्य यत्र दृष्टमेव संशयनिरासः प्रयोजनम्। अयं तु विहितोपासनात्मकत्वाद् अदृष्टरूपस्वर्गापवर्गादिफल इति सिद्धेऽपि विषये प्रवर्त्तत इति भावः। विहितत्वप्रदर्शनार्थं – **मननेति**। "मन्तव्य" इति मननं विहितम्, मननाख्या चेयं न्यायचिन्तेति। यद्वा, **यद्युपासनेयं** न्यायचर्चा, न तु संशयनिरासफला, तर्हि श्रवणादिचतुर्विधायां कतमेयमित्यत उक्तं- **मननेति**। **श्रवणानन्तरोद्गता** मननस्यावसरप्राप्तिर्दर्शितेति।

श्रुतो हि भगवान् .... इति स्मृतेश्च। पृ० १३।

तद् व्याचष्टे – **श्रुतो हीति**। **प्रज्ञा**=साक्षात्कारः, **योगं**=योगफलं निःश्रेयसमिति।।३।।

तदिह संक्षेपतः .... तत्साधक प्रमाणाभावाच्च। पृ० १४।

ननु प्रमाणायत्तं मननं, प्रमाणं त्वीश्वरविषयं तत्तदादिविप्रतिपत्तिदूषितं कथं मननसाधनमित्याशङ्कां निरसितुं परिच्छेदपञ्चकनिराकरणीया विप्रतिपत्तीस्तावद्दर्शयति-**तदिहेति**। **तदिति** वाक्योपक्रमे, प्रकरणस्यारभ्यत्वादिति हेतौ वा। **इह**-प्रकरणे, जगत्कर्त्तरि, तद्विषये प्रमाणयुगले वा। निरस्यत इति शेषः। तत्र परमनास्तिक*चार्वाक*विप्रतिपत्तिं प्रथममाह-**अलौकिकस्येति**। अयमाशयः-अलौकिकहेतुसिद्धौ तस्य साधनानुमानायत्तसिद्धित्वात्, तदनुमानस्य च ज्ञानमन्तरेणानुपपत्तेस्तस्य चास्मदादीनामसम्भवादुपदेशमूलेन भवितव्यम्। उपदेशश्च न विशिष्टमुपदेष्टारं विनेति लोकोत्तरः कल्प्येतापि न त्वेवं सम्भवति। अलौकिकस्य परलोकसाधनस्यैवाभावात् तदभावे च **तदधिष्ठातु**र्जगत्कर्त्तुरनुपपत्तेः कार्यत्वहेतुरपि शिथिलः स्यादिति। अस्त्वलौकिको हेतुस्तत्साधनोपदेशश्च, तथाप्युपदेशस्य नित्यत्वपुरुषान्तरपूर्वकत्वयोरपि सम्भवादसिद्धमाप्तोक्तत्वम्, अन्यथासिद्धं वेति न विवक्षितपुरुषसिद्धिरिति *मीमांसकादि* विप्रतिपत्तिमाह-**अन्यथेति**। कार्यत्वहेतुरपीश्वरमन्तरेणास्मदादिभिरेवादृष्टद्वारा परमाण्वादिसाधनानां

प्रेरणात्मकानुष्ठानसम्भवात् सिद्धसाधनमिति भावः। बाधितविषयं प्रमाणद्वयमित्याह– **तदभावेति**। ननु सत्यपि वेदकर्त्तरि न तत्प्रणीतत्वादागमः प्रमाणं, तत्कर्त्तुर-प्रमाणत्वात्। यद्ययं प्रमाणं स्यात् तदा प्रमाणस्य प्रमातृत्वनियमादीश्वरस्याचैतन्यं स्यादित्यनिष्टप्रसङ्गलक्षणप्रतिकूलतर्कप्रतिहतत्वान्न साधनमुपदेशः कार्यत्वं चेत्याह– **सत्त्वेऽपीति**। किञ्च प्रमासाधनस्य प्रमाणत्वान्नित्यप्रमाश्रयस्य तदसम्भवादप्रमाणत्वम्। किञ्च अनधिगन्तुः प्रमाणत्वान्नित्यसर्वज्ञस्य च तदसम्भवादप्रमाणत्वम्। किञ्च अनधिगन्तुरप्रमाणत्वान्नित्यसर्वज्ञस्य च तदसम्भवादप्रमाणत्वम्। किञ्च ईश्वरज्ञानस्यास्मदादिभ्रमानालम्बने सर्वविषयकत्वाभावः। तदालम्बने च तद्विषयालम्बनस्यापि नान्तरीयकत्वादस्मदादिविभ्रमवदेवाप्रमाणत्वापात इति तर्काः। अत्र **सत्त्वेऽपीति** सत्त्वाभ्युपगमो बाधकाभावात् सम्भावनामात्रेण, न वस्तुत इति। अस्त्वनन्यथासिद्धादुपदेशाद् विशिष्ट उपदेष्टा । तथापि कार्यत्वस्य विपक्षे बाधकाभावेन सन्दिग्धविपक्षव्यतिरेकित्वम्, उपाधिसद्भावेनाप्रयोजकत्वम्, व्याप्तिप्रमाणाभावेन व्याप्यत्वासिद्धिरिति जगत्कर्तृत्वादिविशिष्टे परमेश्वरे प्रमाणाभावादिति *बौद्धमीमांसकचार्वाकाः* प्रत्यवतिष्ठन्ते **तत्साधकेति**। *केचित्* 'पूर्वमुपदेशलिङ्गकमनुमानमेव चिन्तितं न कार्यलिङ्गस्य प्रस्तावः, सम्प्रत्युपदेष्टरि सिद्धेऽपि जगत्कर्त्तरि प्रमाणाभावमेव वदन्तः प्रत्यवतिष्ठन्त' इति व्याचक्षते। अनेन विप्रतिपत्तिप्रदर्शनेन न्यायस्य सन्दिग्धविषयत्वमपि प्रदर्शितं भवति।

सापेक्षत्वात् .... हेतुरलौकिकः। पृ० २९।

तत्र यथामतस्यालौकिकस्य हेतोः साधकानि सङ्कलय्याह – **सापेक्षत्वादिति**। अत्र तावत् सापेक्षत्वेन, सत्येव हेतौ कार्यं भवति नासतीति सर्वलोकप्रसिद्धं प्रत्यक्षं हेतुमत्त्वे प्रदर्शितम्। अनुमानं च–विवादाध्यासितं हेतुमत् सापेक्षत्वात्। सापेक्षत्वं च कादाचित्कत्वात्। अत्रोभयत्रापि व्यतिरेकेण गगनं दृष्टान्त इति। ननु सापेक्षत्वेऽपि कादाचित्कत्वानुपपत्तिः, अपेक्षणीयस्य सदातनत्वेन कार्यस्यापि सदातनत्वप्रसङ्गात्। तथा च निरपेक्षादिव सापेक्षादपि व्यावृत्तेः कादाचित्कत्वहेतुरसाधारणः स्यादित्यत्राह–**अनादित्वादिति**। न हि कारणस्य सदातनत्वं, तस्याप्यपेक्षणीयान्तरसम्भवात्। न चानवस्था, कार्यकारणप्रवाह-स्यानादित्वादिति। यद्वा, कारणान्तरानपेक्षत्वेऽपि भावस्योत्तरकोटिना प्रध्वंसमात्रेण कादाचित्कत्वोपपत्तेर्नेदं सापेक्षत्वव्याप्तमित्याशङ्क्याह–**अनादित्वादिति**।

निरपेक्षत्वे कार्यस्यानादित्वप्रसङ्गात् सापेक्षपरम्पराप्रवाहस्यानादित्वादिति।

नन्वेकमेकजातीयं वा किञ्चित् कारणमस्तु। तथा च विवक्षितकारणासिद्धेर्न तदर्थमुपदेशापेक्षेति। तत्राह-**वैचित्र्यादिति**। विचित्रकारणाभावे कार्यवैचित्र्यं न स्यात्, अस्ति च तदिति। अस्तु तर्हि स दृष्ट एव विचित्रो हेतुर्जगद्वैचित्र्यस्य। तथा च विवक्षितासिद्धिस्तदवस्थेत्यत्राह-**विश्ववृत्तित** इति। तावन्मात्रहेतुत्वे प्रेक्षावतो विश्वस्य पशुपुत्राद्यर्थं यागादौ प्रवृत्तिर्न स्याद्, दृश्यते चासौ, तस्माद् यागादिरपि कारणमिति। तर्हि यागादिस्वरूपमेव कारणमस्तु, तथापि विवक्षितासिद्धिरत्यत्राह-**प्रत्यात्मेति**। यागादिस्वरूपस्यैव हेतुत्वे तस्य क्षणिकत्वात् कालान्तरभाविनः फलस्य भुक्तिर्न स्यात्। तस्मात् तेनान्तरा किञ्चिदपूर्वमनेन जनयितव्यम्। तच्च प्रत्यात्मसमवेतं, भोगं प्रति नियमदर्शनात्। तथा च तस्यास्मदादिभिरशक्यज्ञानत्वात् तदुपदेष्टा तदधिष्ठाता जगत्कर्त्ता चेश्वरः सिध्यतीति प्रथमपरिच्छेदार्थसंग्रहश्लोकतात्पर्यार्थः।

न ह्ययम् .... न तु कदाचित् स्यात्। पृ० २९।

तत्र तावत् **सापेक्षत्वा**दित्येतदुपपादयन् विवृणोति – **न ह्ययमिति**। **संसार**ः=कार्यवर्गः। **नैकविधः** सर्वकालं नैकरूपः, कादाचित्क इति यावत्। **अनेकविध** इति पाठे वक्ष्यमाणहेतुवैचित्र्योपयुक्तया कार्यवैचित्र्यमुक्तम्। **दुःखमयत्वं** स्वतन्त्रप्रसिद्ध्या सर्वस्यापि दुःखत्वभावनार्थमुक्तं, न तु साधनोपयोगितया। यद्वा, **दुः**खमयत्वात् तवापि हेयं हानं हेतुनिवृत्त्या। तथा च हेतु-मत्त्वमवश्याश्रयणीयमिति प्रदर्शनार्थम्। अत्र कादाचित्कत्वेन सापेक्षत्वं साधितमिति। तदाह **कीर्त्तिः** –

नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा हेतोरन्यानपेक्षणात्।

अपेक्षातो हि भावानां कादाचित्कत्वसम्भवः।। इति।।४।।

अकस्मादेव .... हेतुभूति ....अवधेर्नियतत्त्वतः।३६ पृ०।

कादाचित्कत्वहेतोरन्यथासिद्धिं शङ्कते – **अकस्मादिति**।

तदेतद् यथासम्भवं विकल्प्य निराकरोति–**हेतुभूतीति**। अकस्माद् भवतीत्यत्र नामयोगिनोऽपि नञः प्रतिषेधार्थत्वमाश्रित्य यदा कस्मादिति निर्दिष्टहेतुसम्बन्धो विवक्ष्यते तदा **हेतुनिषेधः** स्यात्। यदा तु समासान्निष्कृष्य भवनसम्बन्धस्तदा **भूतिनिषेधः**। यदि पुनः स्वरसप्राप्तो हेतुसम्बन्धः पर्युदासवृत्तिश्चाश्रीयते तदा

तदितरविधिपरत्वाद्धेतुतोऽन्यस्मात् स्वस्मादनुपाख्याच्च भवतीति स्यात्। अथवा, यदा हेतुविशिष्टभवनसम्बन्धो विवक्षितो न हेतोर्भवतीति तदा विशेषनिषेधस्य शेषविधिपरत्वादहेतुतो भवतीति स्यात्। अहेतुश्च स्वयमनुपाख्यश्चेति। तयोरेव **विधिः** प्राप्नोति। यदा त्वश्वकर्णादिवद् व्युत्पत्त्यनपेक्षं, तदा स्वभावत एव भवतीति स्यात्। न चावश्यमत्र सर्वत्र ग्रन्थसंघटनायां यतितव्यं, तात्पर्यमात्रविकल्पनात्। पञ्चानामपि कल्पानां निराकरणहेतु**रवधेर्नियतत्वत** इति। **अवधेः** =कार्यपूर्वक्षणवर्तिनः कस्यचिदन्यस्य **नियतत्वात्**= किञ्चिदेकमवधीकृत्य दर्शनादित्यर्थः। यद्वा, **अवधिः** प्रागसदुत्तरकालसम्बन्धस्तस्य, **नियतत्त्वतः** = नियतकालत्वात् कादाचित्कत्वादिति यावत्। यद्वा, अनन्तरोक्तस्यावधेः सहेतुकोत्पत्तिनियतत्वादिति।

हेतु निषेधे .... सदातनत्वापत्तेः। पृ० ३६।

तदेतदनिष्टप्रसङ्गप्रदर्शनमुखेन विवृणोति – **हेतुप्रतिषेध इति। सर्वदा भवनम्**=सत्त्वम् स्यादिति शेषः। विपर्ययस्तु दृश्यत इति भावः। एतेनैतन्निरस्तं यदाहुः –

कार्यत्वं कारणत्वं च सम्बन्धः सोऽसतां कुतः।
सच्चेत् कारणवैयर्थ्यमसच्चेदनवस्थितिः।।

तथा – कुर्वत् कार्यमकुर्वद्वा कारणं कारणं भवेत्।
कुर्वच्चेदनवस्थानमकुर्वत्यनवस्थितिः।।इति।

पश्चादप्य**भवनम्**=असत्त्वम् स्यादिति शेषः। **अभवनाविशेषा**दुत्पत्त्यभावस्य पूर्वापरकालयोरविशेषादिति। एतेनैतन्निरस्तं यदाहुः –

न चेदुत्पत्तिरुत्पत्तेर्नित्यत्वमनवस्थितिः।
उत्पतावित्यतः कार्यं कारणं चानिरूपितम्।।

उत्पत्तेरिति। न ह्यसतः प्रभुत्वं, नापि स्वस्य प्रभुत्वमिति। नन्वेकस्यैव कार्यकारणभावे को दोषस्तत्राह–**पौर्वापर्य इति। चो** हेत्वर्थः। यस्मात् पौर्वापर्यनियतः कार्यकरणभावस्तस्मादिति। अथवेतश्च न स्वस्मादुत्पतिरित्याह – **पौर्वापर्य इति**। तत्त्वस्य पूर्वापरभावस्येत्यर्थः।

स्यादेतत् .... हेतुवादाभ्युपगमात्। पृ० ३६-४४।

निराकृतात् पक्षचतुष्टयाद् विविञ्चानः पञ्चमं पक्षं स्वभाववादपक्षमाशङ्कते – **स्यादेतदिति**। यथा घटादेर्देशविशेषसंसर्गासंसर्गनियमः, यथा वाकाशपरमाण्वादेरशेषदेशव्यापित्वाव्यापित्वनियमः, यथा वानेककारकसाध्यस्यापि कार्यस्य कस्मिंश्चिदेव कारके समवायो न कारकान्तरेष्विति देशनियमो हेत्वभावेऽपि सङ्गच्छते, तथा कश्चिद् घटादिर्नियतकालसंसर्गः स्वभावत एवाकाशादिवदिति कालनियमोऽप्यहेतुक एव सङ्गंस्यत इति। अत्राप्यवधेर्नियतत्वत इत्येतदेवोत्तरयति – **न निरवधित्व इति**। किञ्चिदवधिमनुपादाय कादाचित्कत्वं निरूपयितुमशक्यं, कदाचिदित्यस्यैवाभावे कादाचित्कत्वव्याघातात्। तन्नैवं कादाचित्कत्वम्। न हि कस्मिंश्चिदेव देशे सत्त्वं कारणापेक्षामनिरूप्य निरूपयितुं शक्यते। किन्तु निरूपितं सत् स्वाभाविकं सहेतुकं वेति विमृश्यते। अस्ति चात्र सर्वत्रापि नियामको हेतुः, तथाचोन्मोचिता प्रतिवन्दीति भावः। ननु कालविशेषसंसर्गमात्रं कादाचित्कत्वं तच्च गगनादिवन्निरवधित्वेऽपि भविष्यति। तस्मान्न तत्स्वरूपानु-प्रवेशित्वमवधेरित्याशङ्क्याह – **न हीति**। इतः पूर्वं नासीदिदानीमस्तीति पूर्वकालासत्त्वे सत्युत्तरकालसत्त्वं कादाचित्कत्वम्। तच्च कालानवच्छेदे न सम्भवतीति कालावच्छेदात्मकं सावधित्वं कादाचित्कत्वस्वरूपान्तर्गतमेव। तेन निरवधित्वे कादाचित्कत्वं व्याहन्यत एवेति भावः। नन्वेवमपि कादाचित्कत्वेन सावधित्वे सिद्धे हेतुमत्त्वे किमायातं न हि तयोः पर्यायात्मकत्वमित्याशङ्क्याह **सावधित्व इति**। सावधित्वाभ्युपगमे हेतुरेव स्वीकृतः स्यादिति। अन्येषां भावानामपि तत्कालनियतत्वादभावेन सह तुल्ययोगक्षेमत्वं भवेदित्यभिप्रायवानाह **नेति**। विपर्ययेऽनिष्टमाह – **अन्यथा-इति**। आश्रयनिरूपणीयत्वनियमाभावेऽप्य-दूरविप्रकर्षिणा केनचिद् भावेनैवाभावो निरूप्यत इति। अभावकारणत्ववादिना तन्निरूपणार्थो भावस्तावदवश्याभ्युपगन्तव्य इति। ततः किमित्यत आह – **तथा चेति**। प्राक्कालनियतत्वेनाविशेषादिति। ननु सन्निध्यविशेषेऽपि प्रागभाव एव हेतुर्न भावा अवर्जनीयसन्निधित्वात् तेषामित्यत्राह **इतर इति**। तदवधेः प्रागभावैकावधिकस्य कार्यस्य तस्मादवधेर्वेति शङ्कते – **सन्त्विति**। कार्यपूर्वक्षणे न केचिद् भावाः सन्तीति नायं स्वभाववादः किन्तु सत्स्वपि तेषु कार्येण ते नापेक्ष्यन्त इति। तदेतद् विकल्प्यानिष्टप्रसङ्गेनेष्टसिद्ध्या च दूषयति – **नापेक्ष्यन्त इति**। कथमनियतस्यैवावधित्वमङ्गीकुर्वतस्तदेवानिष्टत्वे नापाद्यते गर्दभमप्यवधीकुर्यादिति? उच्यते। यदि यस्य कस्यचिदानन्तर्यं धूमस्य स्वभावः, तदा नित्यं यस्य कस्यचिद् भावाद् धूमस्य सदातनत्वापत्तेरकामेनापि

नियतोऽवधिरङ्गीकार्यः। तथा च नियमो दूषणमिति। **नियामकाभावादिति**। अनियतत्वाविशेषे दहन एवावधिर्न रासभ इति नियामकाभावादित्यर्थः। **नियमस्येति**। इदमेव हि कार्यस्य कारणापेक्षित्वं नाम, यत्तस्मिन् सत्येव भवतीति। यदि नियमातिरिक्त उपकारो नाङ्गीक्रियते तर्हि स्वभाववाद एव सिद्धः स्यादित्यत्राह – **ईदृशस्येति**। **चश्चेदर्थे**। दहनादिषु सत्स्वेव धूमादयो भवन्तीतीदृशः स्वभाववादश्चेत् स तर्ह्यस्माभिरिष्यत एवेति। तदेवमन्यथासिद्धिं निराकृत्य सम्प्रति *चार्वाकाङ्गी*कृतं प्रमाणमाशङ्कते-**नित्य इति**। अस्यार्थः। यथा नित्यानामाकाशादीनामाकाशत्वादयः स्वभावविशेषा निरपेक्षा अपि तैस्तैराकाशादि-भिर्नियतास्तथानपेक्षमेव कार्यं केनचिदेव कालेन संसृज्यते नान्येनेति नियम्यत इति न सदातनत्वप्रसक्तिः। अनपेक्षत्वसम्प्रतिपत्त्यर्थं नित्यग्रहणम्। अनेन दृष्टान्तावष्टम्भेन प्रयोगं सूचयति, कादाचित्कत्वस्वभावनियमो निर्हेतुकः स्वभावनियमत्वात् नित्यस्वभावनियमवदिति। अनेन कादाचित्कत्वहेतो स्तुल्यबलत्वाभिमाने सत्प्रतिपक्षत्वमन्यथा बाधः स्वपक्षसाधनं वेति। *केचित्* पूर्वमपि नियतदेशवदिति प्रयोगः सूचितः। तस्मिन् देशनियमस्य कारणापेक्षित्वं परिहर्त्तुं दृष्टान्तान्तरेण प्रत्यवतिष्ठन्ते। नित्यस्वभावनियमस्य कारणापेक्षायाम-सम्भवादित्यपौनरुक्त्यं मन्यन्ते। तत्तु पौर्वापर्यापरामर्शविलसितमित्यनादरणीयमिति। उक्तमेवोपपादयति **नहीति**। **तत्त्व**माकाशत्वं सर्वस्य कालादेः। तदुक्तम् –

नित्यसत्त्वा भवन्त्यन्ये नित्यासत्त्वाश्च केचन।
विचित्राः केचिदित्यत्र तत्स्वभावो नियामकः।।
अग्निरुष्णो जलं शीतं समस्पर्शस्तथानिलः।
केनेदं चित्रितं तस्मात् स्वभावात् तद्व्यवस्थितिः।।

तत् परिहरति **न सर्वस्येति**। स्वस्य भावः स्वभावः। न च स्वस्मादन्यदपि स्वमेव, येन तस्यापि भवनस्य स्वभावो भवेत्। तेन सर्वस्य भवदाकाशत्वस्वभावतामेव जह्यादित्येतदेव स्पष्टयति – **न ह्येकमिति**। न ह्येकमेव धर्मि चानेकेषां स्वकीयो भावस्तद्भवितुमर्हति। **न ह्येकमनेकस्वभावो नामेति** *सम्प्रदायवतां* पाठः। तत्र न ह्येकमाकाशत्वादिकमनेकेषां कालादीनां स्वभावो भवति, स्वभावत्वव्याघातात्। स्वस्यैव भवतः स्वभावत्वादित्यर्थः। तर्ह्यत्रापि सर्वदा भवने कदाचित्भवनस्वभावत्वव्याघातः सुवच इत्याह – **नन्वेवमिति**। सिद्धान्ते पूर्वोक्तमेव परिहारं स्मारयति – **न तुल्य इति**। कादाचित्कत्वसिद्धौ हि

तद्विपरीतकल्पनायां व्याघातः। तत्सिद्धिश्च निरवधित्वे तावन्न सम्भवति, कादाचित्कत्वनिर्वचनव्याघातस्योक्तत्वात्। अत एव नानियतावधित्वेऽपि कादाचित्कत्वसिद्धिः। यस्य कस्यचित् सर्वदा सम्भवान्नियतावधित्वेन कादाचित्कत्वाभ्युपगमे तु सम्प्रतिपत्तिरुत्तरम्। एवं च नानुमानस्य बाधविरोधादयो दोषा इति। एवं तावत् सापेक्षत्वादिति हेतुर्विवृतः।।५।।

स्यादेतत् .... न स्यात्, अनादित्वात्। पृ० ४४।

अथानादित्वादिति हेतुमवतारयितुं निराकरणीयामाशङ्कामाह – **स्यादेतत्** इति। अयमत्र भावः-यथा निरपेक्षत्वे कादाचित्कत्वं न सम्भवति तथा सापेक्षत्वेऽप्यपेक्षणीयस्य सदातनत्वेन कार्यस्यापि तथात्वापत्तेः। तस्मान्निरपेक्षाद् गगनादिव सापेक्षादपि व्यावर्त्तमानं कादाचित्कत्वमसाधारणत्वान्न सापेक्षत्वसाधकमिति। अक्षरार्थस्तु –उत्तरस्यानुपलम्भमानोत्तरावधेर्भावस्य पूर्व एवावधिरस्तु। पूर्वस्यानुपलभ्यमानपूर्वावधेरुत्तर एवावधिरस्तु। मध्यमस्योपलम्भ-मानोभयावधेरुभयं पूर्व उत्तरश्चावधिरस्तु, तथा दर्शनात्। ननु सर्वस्याप्यवधिद्व्यं वक्तव्यम्। अन्यतरावधेस्तदितरावधिव्याप्तत्वादित्यत आह – **त्वयापीति**। एतदेवावधित्वं त्वयाऽप्यङ्गीकार्यं प्रागभावप्रध्वंसयोरेकावधित्वस्य सिद्धत्वात्। प्राक्प्रध्वंसाभाववदनुपलभ्यमानैककोटिकेषु भावेष्वपि पूर्वैकावधित्वमुत्तरैकावधित्वं वा स्यात्। अत्रानुपलभ्यमानप्राक्कोटेर्भावस्य पूर्वावधिविरह एव साध्यः। अवशिष्टस्य दृष्टान्ततयोपन्यासः।

अथवायमर्थः। **उत्तरस्य**=प्रध्वंसस्य पूर्व एवावधिरवच्छेदकः नोत्तरः, भावोन्मज्जनप्रसङ्गात्। पूर्वस्य प्रागभावस्योत्तर एवोवधिर्न पूर्वः, पूर्ववत्प्रसङ्गात्। **मध्यमस्य** प्राक्ध्वंसाभावयोर्मध्यमध्यासीनस्य कार्यस्योभयमवधिरस्तु दर्शनबलात्। त्वया सिद्धान्तिनाऽप्येतत् व्यवस्थितमभ्युपगन्तव्यम्। ततः किमित्यत आह– **तद्वत इति**। तथाचानुपलभ्यमानप्राक्कोटेः कारणस्यानादित्वसम्भवात् तदनपेक्षामलभमानानां कार्याणामपि सदातनत्वप्रसङ्ग इत्युभयत्रापि समानो वाक्यशेषः। यद्वा अयमत्र भावः, यस्य कार्यस्य योऽवधिर्दृश्यते पूर्व उत्तर उभयं वा तत्तदवधिकमेवास्तु, दुर्लङ्घ्यत्वाद् दर्शनस्य। न चान्यतरावधेरितरावधिव्याप्तिः, अभावेन व्यभिचारात्। तत्र विधात्रयेऽपि कार्यस्यावधिमत्त्वेनैव कादाचित्कत्वं सिध्यति, सदातनत्वप्रतिपक्षमात्ररूपत्वात् तस्य। तथा चानुपलभ्यमानपूर्वावधेः कार्यस्योत्तरावधिमात्रेणैव कादाचित्कत्वे सिद्धे न तेन कारण-

परम्परानुमानमित्यन्यथासिद्धिः। सर्वस्यापि कार्यस्य पक्षीकरणाद् भागे बाधितविषयत्वं चेति। हेतुमवतारयति – **न स्यादनादित्वादिति।**

प्रवाहोऽनादिमानेष .... अन्वयव्यतिरेकयोः। पृ० ४६।

तदेतत् प्रसङ्गमभिधाय विपर्यये पर्यवसानमिति व्याचष्टे – **प्रवाहो ऽनादिमानेष** – इति। अनुपलभ्यमानपूर्वकोटेः कारणस्य पूर्वावधिविरहे तस्यानादित्वात् कादाचित्कत्वव्याघातः स्यात्। तस्मात्तस्यापि कश्चित् पूर्वावधिरस्ति, एवं तस्यापीति कारणप्रवाहोऽयमादिमान्न भवति। पश्चिमे तु व्याख्यानेऽनुपलभ्यमानपूर्वावधेरपि कार्यस्य पूर्वावधिसापेक्षत्वम्। अन्यथा तत्कार्यस्यानादित्वप्रसङ्गादिति परिहारार्थः। नन्वस्तु कारणप्रवाहोऽनादिस्तथाप्येक-जातीयं कार्यमेकजातीयात् कारणाद् भवतीति नियमो नास्ति। विजातीयेभ्य एव तृणादिभ्य एकजातीयाग्नेरुत्पत्तिदर्शनात्। न चैवमाकस्मिकः कार्यजातिनियमः, विजातीयेष्वपि कारणेषु एकशक्त्यङ्गीकारादेव तदुपपत्तेरित्यत आह–**न विजातीति।** विविधा जातिर्यस्य तद् **विजाति।** एका शक्तिर्यस्य **तदेकशक्ति** विजाति चैकशक्ति च कारणं **विजात्येकशक्ति, तद्वान्** कारणप्रवाहो न भवति। नैकजातीयस्य विजातीयं कारणमिति *चार्वाकस्य* निरासः। न च तदेकशक्तिकमिति प्रसङ्गान् *मीमांसकस्येति।* कारणवैजात्ये कार्यसाजात्यस्याऽऽकस्मिकत्वप्रसङ्गात्। तृणादिभ्यो भवतोरवान्तरजातिभेदोऽस्तीति तत्रैव तेषामुपयोगः। स चाग्न्यवान्तरजातिभेदस्य तृणादेश्च कार्यकारणभावोऽवहितैरन्वयव्यतिरेकैर्गम्यः। तदुक्तं–**तत्त्वे इति। तत्त्वे**-कार्यकारणभाव इति। यद्वा **तत्त्व इति** साध्यानङ्गीकारप्रदर्शनम्। ततःपरमनिष्टप्रसञ्जनं विजात्येकशक्तिमत्त्वेऽङ्गीक्रियमाणेऽन्वयव्यतिरेकयो**र्यत्नवता** भवितव्यम्। तावन्वेष्टव्यौ कार्यकारणभावावधारणाय, तौ तु न लभ्येते इति भावः। सूक्ष्मजात्यभ्युपगमे सर्वत्र तदाशङ्कया दृश्यजातीययोर्व्याप्तिग्रहः स्यादिति चेत्, तत्राप्येतदेवोत्तरं-**तत्त्वे इति।** अन्वयव्यतिरेकयो**स्तत्त्वे**=याथात्म्ये यत्नवान् भव। सम्भाव्यमानेऽपि जातिभेदे दृश्यसामान्यविशेषाक्रान्तयोरन्वयव्यतिरेकाभ्यां व्याप्तिं गृह्णीष्वेत्यर्थः।।६।।

प्रागभावो हि .... स्वयमूहनीयम्। पृ० ४७-६८।

तत्र **प्रवाहोऽनादिमानित्येतद्** विवृण्वन्नस्योत्तरैकावधित्वेऽभिसंहितं प्रसङ्गमाह–**प्रागभाव** इति। एवमुत्तरैकावधिर्भावोऽनादिः स्यादिति। *चार्वाकस्तु*

नेदमनिष्टप्रसञ्जनमित्याह– **अनुपलभ्यमान इति**। सिद्धान्ती त्वनिष्टतामापादयति– **न तावन्मात्र इति**। उत्तरैकावधिस्वभावत्वे कारणस्यानादित्वेन तस्मिन्नहनि कार्योत्पत्तिवत् पूर्वेद्युरपि तमेव भावमवधिं कृत्वा तदुत्तरस्य कार्यस्य सत्त्वप्रसङ्गः। तमन्तरेणापेक्षणीयाभावात्तस्य च तदानीमपि सत्त्वात्। एवं पूर्वेद्युरपि सत्त्वप्रसङ्गात् कार्यस्य तदेव सदातनत्वमायातं यन्निरवधिपक्ष आपादितम्। प्रागभावे तु प्राक्कोटिकल्पनायां भावोन्मज्जनप्रसक्तिर्बाधिका, साधिका च न काचिद् युक्तिरिति भावः। नन्वनादित्वेऽपि कारणस्य यस्मिन्नहनि कार्यं दृश्यते तस्मिन्नेवाहनि भवनं कार्यस्य स्वभाव इत्याह– **तदहरेव इति**।

निराकरोति–**नेति**। अहर्नामावच्छेदकोपाधिभिन्नः कालः। तस्याप्युपाधेर्यदि– पूर्वन्यायेनानुपलभ्यमानप्राक्कोटिकारणत्वसम्भवेन पूर्वमपि सत्त्वादह्नोऽपि सत्त्वमेव स्यात्। ततश्च तदहर्भावस्वभाववत्त्वेऽपि सदातनत्वप्रसङ्गो दुस्तर इति भावः। उपसंहरति–**तस्मादिति**। यस्मात् कार्यस्य परिदृश्यमानकादाचित्-कत्वव्याघातप्रसङ्गस्तस्मात्। **तस्या**नुपलभ्यमानप्राक्कोटेरपि कारणरूपस्य पूर्वावध्यपेक्षित्वम्। एवं तस्य तस्यापीत्यनादित्वं कारणप्रवाहस्य युक्तम्। **न त्वपूर्वस्य** पूर्वमविद्यमानस्य कारणस्योत्पत्त्यनभ्युपगमे कादाचित्कस्य कार्यस्य सम्भव इति। पश्चिमे व्याख्याने तु – **न तावन्मात्र इति**। उत्तरैकावधिस्वभावत्वे कार्यस्य तदहर्वत् पूर्वेद्युरपि तदेकावधिस्वभावत्वाविशेषादुत्तरेद्युर्जायमानस्य कार्यस्य सत्त्वं स्यात्। तच्च नोपलभ्यत इति। तस्मात् **तस्यापि इति**। अनुपलभ्यमानपूर्वावधेरपि कार्यस्येति। सुगममन्यत्। **न विजात्येकशक्तिमा**नित्येतदवधारयितुं शङ्कते– **व्यक्त्यपेक्षया इति**। जात्यपेक्षया कारणनियमस्य भङ्गे व्यक्त्यपेक्षया नियमभङ्गः सुकर इति गूढोऽभिसन्धिः। **न–इति**। कारणस्य जातिनियमाभावे कार्यजातिनियमो हेत्वभावेन व्याहन्येतेति। विजातीयेभ्योऽपि भवतः कार्यस्य जातिनियमः स्वभावादेव भविष्यतीत्याशङ्क्य। तत्र कार्यस्यैष स्वभावो यद् भिन्नजातीयेभ्योऽपि भवतः प्रतिनियतजातीयत्वमिति। उत कारणस्य यदसत्यप्येकजातीयत्वे नियतजातीयकार्यजनकत्वमिति विकल्पं मनसि कृत्वा प्रथमे दूषणमाह– **यदि यतः कुतश्चित्–इति**। घटजातीयस्यापि पटजातीयत्वं, घटस्य पटस्य च घटाद्येकजातीयत्वं हेतोस्तत्र कार्यत्वस्याविशेषादिति। द्वितीयकल्पमाशङ्क्य दूषयति – **एवम् इति**। नियतजातीयेन कार्येण यतः कुतश्चिद् भवितव्यमित्यस्य यस्य कस्यचित् कारणस्य स्वभावस्तदापि तत्कारणस्वभावप्रयुक्तजातीयत्वं सर्वेषां

तत्कार्याणां भवेत्। तत्र यदि यस्य कस्यचित् कारणस्यानेकजातीयजनकत्वं स्वभावस्तदा सर्वस्यापि तत्कार्यस्य प्रत्येकं सर्वजातीयत्वं भवेत्। अथैकजातीयत्वं तर्हि सर्वस्याप्येकजातीयत्वं भवेदिति। यद्वा, पूर्वं यतः कुतश्चिद्भवतस्तज्जातीयत्वस्वभाव इति भवनोद्देशेन तज्जातयीस्य भावविधिमाशङ्क्य यतः कुतश्चिद् भवतोऽनेकजातीयस्वभावत्वं विधीयते, एकजातीयस्वभावत्वं वा। पूर्वत्रैकस्यैव सर्वजातीयत्वं भवेत्, यतः कुतश्चिद् भवनाविशेषात्; उत्तरत्र सर्वस्याप्येकजातीयत्वं भवेत्, तत एव हेतोरिति परिहृतम्। पश्चात्तु तज्जातीयस्य सर्वस्यापि यतः कुतश्चिद् भवनस्वभावत्वं वा स्यात्। नियतजातेः कस्यचिदेव वा, पूर्वत्र सर्वस्माद् यतः कुतश्चिद् भवदेकमेव सर्वजातीयं भवेद्, उत्तरत्र सर्वस्मादपि यतः कुतश्चिद् भवदनेकमेकजातीयं भवेदिति परिहार इति। अत्र व्याख्याद्व्ये ग्रन्थार्थयोरौचित्यविशेषोऽवहितानां सुगम इति। न च नित्यजातिनियमतद्धेत्वनपेक्षत्वं कार्यजातिनियमस्य वाच्यम्। हेत्वनपेक्षव्यक्ति-प्रयुक्तत्वात् तस्येति कारणवैजात्यवादी स्वाभिप्रायमुद्घाटयति– **कथं तर्हि – इति।** पूर्वपक्षस्यैव विजातीयेषु कारणेष्वेकशक्तित्वमाशङ्क्य कार्यानुपलब्धिलिङ्गभङ्गप्रसङ्गेन निराकरोति–**एकशक्तिमत्त्वादिति।** अनुमानद्व्यभङ्गेऽपि हेतुस्तदभावेऽपि तज्जातीयेति लिङ्गद्व्यं समाधित्सुः शङ्कते – **यावद्दर्शनमिति।** कार्यदर्शनानुसारिणी शक्तिकल्पना विजातीयेष्वपि यथाकार्यदर्शनं व्यवतिष्ठते। ततश्च कार्यात् क्लृप्तशक्तिकमेवान्यतमदनुमीयते। समस्ततद्व्यतिरेके च कार्यव्यतिरेक इति भावः। तत्र निमित्ते वा शक्तिः कल्प्यते दृष्टे वेति विकल्पं हृदि निधायाह – **निमित्तस्येति।** यस्मिन् सत्येव यद् भवति तत् तस्य निमित्तम्। इह तु न तथाविधनिमित्तं दृश्यते। ये तु दृश्यन्ते तृणादयो, न ते निमित्तम्। तद्व्यतिरेकेऽपि कार्यव्यतिरेकाभावात्। अन्वयमात्रेण शक्तिकल्पनायां रासभादिष्वपि प्रसङ्गः। तेन च ये निमित्ततया दृष्टास्तेषु शक्तिकल्पनमिति नायं समाधिरिति। नन्वस्ति तृणादिष्वपि दृश्यमानस्थूलजातिभेदेषु सूक्ष्मा काचिदेका जातिः, ततः कार्यजातिनियम इत्याशङ्क्याह–**एतेन इति** कार्यकारणनिवृत्तिभ्यां कारणकार्यनिवृत्त्यनुमानभङ्गप्रसङ्गेनेति। यद्यस्ति जातिः किमिति नोपलभ्यते इत्यत्रोक्तं–**सूक्ष्मजातीयात्–इति।** अतिदिष्टमेव हेतुं स्पष्टयति–**अवह्नेः इति।** धूमप्रयोजकसूक्ष्मजातिमतोऽप्यवह्नेरिति शङ्कते–**कार्य–इति।** निमित्तासमवायिनी भिन्नाभिन्ने इति शेषः। तृणादीनां तु निमित्तकारणत्वात् तद्वैजात्येऽपि न कश्चिद् दोष इति भावः। **न–इति।** यदि निमित्तासमवायिभेदेऽपि तज्जातीयमेव कार्यमनुवर्त्तते

ततस्तयोरकारणत्वमेव स्यादिति। **नन्वस्तु** कार्यान्वयादेव तयोः कारणत्वमिति तत्राह– **न हि-इति।** तत्कारणत्वं नान्वयमात्रं किन्तु सत्येव कारणे कार्यभावः, व्यतिरेकोऽप्यङ्गमित्यर्थः। किञ्च, समवाय्यभेदेऽपि अतज्जातीयकार्यदर्शनान्न तद्भेदाभेदौ कार्यभेदाभेदयोर्निदानमित्याहं-**न च-इति।** ननु मा भूत् कार्यमात्रभेदस्य समवायिभेदो निबन्धनं, किन्तु द्रव्यस्य सतः कार्यस्य प्रकारोऽयं यत् समवायिमात्रभेदेन भेद इति। अतो न गुणादिभिर्व्यभिचार इत्यत्राह – **न च कार्यद्रव्यस्य-इति।** न च दुग्धमेव दध्यारभते न तदवयवा इति वाच्यम्। कार्यद्रव्यस्यानेकद्रव्यारभ्यत्वनियमाद् दधिकाले दुग्धानुवृत्त्यभावाच्च। न च दुग्धाम्लद्रव्याभ्यामेवारम्भः, विजातीयानां सहारम्भानुपपत्तेः। तेन दुग्धावयवा अम्लसंयोगाद् विनष्टदुग्धकार्या दध्यारभन्त इति न समवायिभेदनिबन्धनः कार्यद्रव्यभेदोऽपीति।

एतेन-इति। तृणाद्यन्यापोहात्मनैकजातीयानामेव तृणादीनाम् अग्न्यन्यापोहात्मना एकजातीयं कार्यं प्रति कारणत्वमिति जात्यपेक्षयैव नियम इति *बौद्धादयः*। तान् प्रत्याह-**एतेन-इति।** कार्यादिना कारणादीनामननुमानप्रसङ्गेनापोहजात्यपेक्षयापि कार्यकारणभावो निरस्त इति। तमेव प्रसङ्गं स्मारयति– **कार्य-इति।** तृणादित्रयमात्रानुगतान्यनिवृत्तेरभावात् प्रत्येकमन्यनिवृत्तेर्व्यभिचारादन्यमात्रनिवृत्तेश्च तृणादिष्वप्यभावात् कार्यकारणयोरविनाभावो न सिध्येत्। तदसिद्धौ च स्वभावनियमोऽपि न सिध्यतीति। यद्वा, **एतेन**–विजातीयेभ्योऽप्येकजातीयकार्यदर्शनेन। अपोहवादेऽपि कार्य-कारणभावनियमो निरस्तः। तृणाद्यनुगतायास्तदितरनिवृत्तेरनुपलम्भात्। तस्याः सूक्ष्मायाः शक्तेर्वाभ्युपगमेन नियमाङ्गीकारे–कार्यकारणयोः स्वभावतद्वतोश्चा-विनाभावस्य दुर्ग्रहत्वेनासिद्धेरिति। **तस्मान्नि**यतजातिशक्तिव्यावृत्तीनामभावात् कार्यजातिनियतिं प्रति नियतजातीयस्वभावेन कारणेन भवितव्यमिति नियमस्य भङ्गात् कार्यस्य यया कयाचिद् व्यक्त्या भवितव्यमित्येव नियमः स्यादित्युपसंहरति– **तस्मादिति।** सिद्धान्त्याह-**नेति। एव**शब्दो भिन्नक्रमः। तृणादेः फूत्कारेणैवेत्यादि योजनीयः। **प्रकारनियमः**–सहकारिनियमः। फूत्कारादिस्तृणादीनां नियमान्नियतसामग्रीव्यङ्ग्याया जातेर्भेदोऽस्ति। नहि सामग्री भिद्यते, न भिद्यते च कार्यमिति सम्भवति। तथा च प्रयोगः–तार्णाद्यग्नयोऽग्नित्वावान्तरजातिभेदवन्तः विलक्षणसामग्रीजन्यत्वात्। तैलवर्त्त्या विलक्षणसामग्रीकप्रदीपादिवदिति। न च साध्यविकलो दृष्टान्त इत्याह-**दृश्यते च इति।** प्रदीपादौ कार्यभेददर्शनादवान्तर-

जातिभेदोऽवश्याभ्युपगन्तव्य इति।

ननु कार्य्यावान्तरजातिभेदस्य दुरूहत्वात् कथं ततस्तृणादिविशेषानुमानमित्यत्राह-**यस्त्विति**। तमवान्तरजातिभेदं तृणादिजन्यमन्वयव्यतिरेकयोर्यत्नवानेवाकलय्य तृणादिकारणविशेषमनुमिनोति। यस्त्वलसो दुरूहमवान्तरजातिभेदं नावगच्छति, स सामान्यमात्रात्सामान्यमात्रं तन्निवृत्तेश्च तन्निवृत्तिमनुमिनुयात् का नो हानिरिति। ननु यदि तृणादीनामनुपलभ्यमानमग्न्यवान्तरजातिभेदं प्रत्युपयोगान्नाग्निमात्रदर्शिनस्तृणाद्यनुमानसिद्धिः, एवं तर्ह्यनुपलक्ष्यमाणधूमाद्यवान्तरजातिभेदं प्रत्येव दहनादीनामुपयोग इत्यपि सम्भवान्न धूमादिमात्राद्दहनाद्यनुमानसिद्धिरित्याह–**एवं तर्हि इति। एतेन** धूमादिविशेषस्य दहनाद्यपेक्षत्वसम्भावनाप्रतिपादनेन दहनादिव्यतिरेकान्न धूमादिमात्रव्यतिरेकोऽपि सिद्ध्यतीत्याह–**एतेन इति**। एवं चानुमानमात्रोच्छेद एव स्यादित्याह–**तथा च** इति। शिंशपाया वृक्षत्वस्वभाव इत्येतद् वृक्षे शिंशपात्वानुपलब्ध्या लिङ्गेन शिंशपात्वव्यतिरेकोऽनुमानात् सिद्ध्यति। तेन व्यतिरेकासिद्धौ स्वभावस्यासिद्धेरनुमानमात्रोच्छेद एव इति। परिहरति-**न इति**। प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां गृहीतान्वयव्यतिरेकं बीजत्वादिजातीयमङ्कुरादिकार्ये न प्रयोजकं कारणं किन्तु तद्विशेषः कुर्वज्जातीयत्वमिति वदतो *बौद्धस्यैष* प्रसङ्गो बाधक इति तस्याप्रामाणिकं कारणगतं विशेषमिच्छतोऽप्रामाणिकस्यैव कार्यगतस्यापि विशेषस्य सम्भावनया तस्यैव तत्कारणप्रयोज्यत्वं, न तु तद्विजातीयस्येति शङ्कावशादनुमानोच्छेदप्रसङ्गात्। एतच्च क्षणभङ्गे स्फुटीभविष्यति। अस्माकं पुनः परिदृश्यमानजातीययोरेव कार्यकारणभावं नियच्छतां कार्यगतविशेषसम्भावनायामपि तज्जातीय मात्रात्तज्जातीयानुमाने न कश्चिद्विरोधः। न च तृणादिजन्योऽग्न्यवान्तरजातिभेदोऽप्रामाणिको येन तदङ्गीकारे सर्वत्रानाश्वासः स्यादिति। किं **पुनरिति**। किमाक्षेपे। **विशेषे** स्वे स्वे कार्यविशेषे नियतत्वेनाभ्युपगमादिति। अनुवृत्तं तु न किञ्चित् दृश्यते इति भावः। **न-इति**। समवाय्यसमवायिनिमित्तानामनुवृत्तिरस्ति तावत् सामान्यप्रयोजकम्। अनुवृत्तैव च सामग्री तत्तत्सहकारिभेदवशात्पिण्डितादिविशेषोत्पत्तौ निबन्धनमुद्भूतस्पर्शतेजोऽवयवतत्संयोगपवनास्तार्णातार्णसामान्यसामग्रीति न कुत्र चिद्विरोध इति।।६।।

तथापि .... वैचित्र्यात् कार्यस्य। पृ० ६८।

अथ **वैचित्र्यादिति** हेतुमवतारयितुं शङ्कते – **तथापीति**। यद्यपि कार्यस्य

नियतजातीयकारणनियम**स्तथापीति**। कथं तर्हि कार्यवैचित्र्यमित्यत आह– **दृश्यते हीति**। न चात्र दृश्यते स्वरूपसहकारिवैलक्षण्यमिति भावः। अत्र हेतुमवतारयति– **वैचित्र्यादिति**। कथं साध्यमेव कारणवैचित्र्यं हेतुरित्यत्राह–**कार्यस्य इति**।

एकस्य न क्रमः .... दुरतिक्रमः। पृ० ६९।

व्याचष्टे–**एकस्य**–**इति**। न तावदेकमेव कारणम्, एकस्याक्रमत्वेन कार्यक्रमानुपपत्तेः। अनेन कालकृतवैचित्र्यं कारणवैजात्ये हेतुर्दर्शितः। यद्वा, प्रथमसंग्रहश्लोकानुपन्यस्तमेव कार्यक्रममत्रैवाशङ्कितस्य कारणैकत्वस्य निराकरणायोक्तासंग्रहोक्तं वैचित्र्यमवतारितमिति। समस्यापि शक्तिभेदात्कार्य वैचित्र्योत्पत्तिमाशङ्क्याह–**शक्तिभेदो न च इति**। धर्मिव्यतिरेकाव्यतिरेक-विकल्पदुःस्थत्वात्तस्येति भावः। यद्वा, भावादभिन्नः शक्तिभेदो न कारणं भावमात्रकारणत्वेन समानयोगक्षेमत्वादिति। एकप्रसरेण योजनाभेदे तु कारणवैचित्र्यस्वीकार इति भावः। ननु स्वभाव एवायं भावस्य यत्समं च विषयं कार्यं करोतीति तत्राह–**अभिन्नस्वभाव इति**। य एवास्यैकस्मिन् जनयितव्ये स्वभावः स एवान्यस्मिन् जनयितव्येऽपि, स्वभावस्य दुर्लङ्घ्यत्वात्। ततश्चाभिन्नस्वभावस्य कथं विलक्षणकार्यनिर्माणमिति भावः। अभिन्न इत्यस्य पूर्वशेषत्वे त्वयमर्थः स्वभावः कार्यान्तरे जनयितव्येऽपि नापैति यावद्भावभावित्वात् स्वभावस्येति।

न तावदेकस्मादिति .... त्वनपेक्षानुपपत्तेः। पृ० ६९।

आद्यं पादं विवृणोति–**न तावदिति**। नैकस्मात् क्रमवत्सहकारिविधुरादनेकं क्रमवत् कार्यं भवतीति शेषः। **अक्रमादिति**। क्रमवत्सहकारिवैधुर्येणा-सम्भ**वायित**क्रमादिति। यद्वा, कार्यस्य भेदस्तावत् कारणभेदात् स्यात्। यथा घटपटयोः, तदभावेऽपि कालभेदाद्वा यथा दुग्धदध्नोः। अत्र तु पूर्वः कल्पो न भवति, कारणस्यैकत्वाभ्युपगमादित्यभिप्रेत्योत्तर आह–**न ताव**दिति। सहकार्यभावेन कालक्रमायोगादिति। अत्र तु नानेककार्यं भवतीति यथास्थित एव ग्रन्थः संगच्छत इति। शङ्कते–**क्रमवदिति। तस्य** कारणस्य। **तत्** कार्यं। तथा क्रमवद्। यथा ह्येकस्य यौगपद्यम्। अनेकेषामेककालता हि यौगपद्यं, तत् कथमेकस्य भवेत् तत्रापि स्वभावत एव युगपत् कार्याणि कुर्वन् दृष्टान्त इत्यर्थः। एवं वदता *चार्वाक*वराकेण सहकारिवाद एवाभ्युपगतः स्यादिति प्रतिपादयन्नाह–**अयमपि**

इति। यावत्कार्यकरणसमर्थस्वभावो भावो जातः स तावन्त्यपि कार्याणि तदैव कुर्यात् समर्थस्य क्षेपायोगात्। ततः स क्षणान्तरे अर्थक्रियाभावादसत्त्वमेवेति यदा *बौद्धः* क्षणभङ्गं ब्रूयात् तत्रैष परिहारः सङ्गच्छते। एकस्यैव स्वभावतः क्रमेणानेककार्यकरणमुपपद्यत इति। अपि चेति समुच्चयो *बौद्धस्यैष* शिरसि सम्प्रहार इत्येतदपेक्ष्येति। सहकारिसन्निधिक्रमेणैकमेव तत्तत्कार्यं करोतीति सहकारिवादः, न तस्यायं बाध इति। कथमबाधकं यावता स्वेतरनिरपेक्षमेकमेव क्रमेण कार्याणि करोतीत्युक्तिः सहकारिवादं बाधतैवात आह-**पूर्व इति**। पूर्वपूर्वमुत्पाद्योत्तरोत्पादनं हि क्रमः, अन्यथा यौगपद्यप्रसङ्गात्। तत्र स्वेतरनिरपेक्षस्य कार्योत्पादने पूर्वोत्पादनमपेक्ष्योत्तरोत्पादनमित्येवमात्मकः क्रमो बाध्येत। क्रमाङ्गीकारे च पूर्वपूर्वमुत्पादनमुत्पाद्यमानं वापेक्षमाणस्य कार्यकरत्वमिति स्यात्। तत्र स्वेतरापेक्षालक्षणसहकारिवादः सिद्धः स्यादिति।

नाप्यनेकमविचित्रम् .... भवितुमर्हतीति। पृ० ७१।

द्वितीयपादं व्याचष्टे-**नाप्यनेकमिति**। नानेकमप्यविचित्रमेकजातीयं कारणं विचित्रस्य कार्यस्येति। कुतो नैवमित्याशङ्क्य किं तत् कारणं दहनैकजननस्वभावम्, अदहनैकजननस्वभावम् उभयजननस्वभावं वेति विकल्पं हृदि निधाय प्रथमे दोषमाह-**यदि हि इति**। असावदहनाभिमतो नादहनः स्यात्। किन्तु दहनसामग्रीजन्यत्वेन दहन एव स्यादिति भावः। द्वितीयेऽप्याह-**दहनो वा इति**। अदहनसामग्रीजन्यत्वादिति। तृतीयेऽप्याह-**उभयात्मक इति**। उभयमप्युभयात्मकं भवेदिति। विपर्ययस्तु दृश्यत इति। **शक्तिभेदो नचे**त्येतदवतारयितुं शङ्कामाह-**शक्तिभेदादिति**। नानात्वादेकस्यैव कार्यवैचित्र्योपपत्तेर्न पूर्वोक्तदोष इति। **न-इति**। सा हि शक्तिधर्मिणो स्याद् भिन्ना वाऽभिन्ना वा भिन्नाभिन्ना वा। प्रथमे शक्तिरेव कारणं स्यात्, तदन्वयव्यतिरेकानुविधानात् कार्यस्य। न द्वितीयः, शक्तेरेवापलापात्। न तृतीयः, प्रमाणाभावात् तद्व्याघाताच्च। तेन भेदाभेदाभ्यामिति ग्रन्थश्च प्रत्येकसमुदायपरो योजनीयः। यद्वा, दहनादहनजननशक्तिमतः कारणाज्जातस्य कार्यस्य दहनादहनात्मकत्वप्रसङ्गेन विरुद्धधर्मसंसर्गाद् भेदः स्यात्। एकसामग्रीजन्यत्वेनाभेदश्च स्यादिति शक्तिभेदानुपपत्तिरिति। श्लोकशेषं विवरीतुं शङ्कते-**असङ्कीर्ण इति**। नायं दहनादहनाद्यात्मकत्वप्रसङ्गदोषोऽस्तीत्यर्थः। **न-इति**। यदि हि स्वाधीनमस्यादहनस्यादहनत्वं तदा दहनस्यादहनप्रसङ्गो वक्तुं न शक्येतापि, न चैवं, किन्तु कारणगतादहनजननस्वभावायत्तम्। तथा च दहनस्यापि

तदेकसामग्रीकस्य तत्त्वमदहनत्वं दुर्वारमिति। एतदेव श्लोकशेषेणोपपादयति **नहि-इति**। तस्मिन् दहने जनयितव्ये नासौ भावो दहनजननस्वभावो न भवति, स्वभावभेदाभ्युपगमे तु कारणवैजात्यं स्यादिति भावः। उपसंहरति-**तस्मात्-इति**। यस्तु कार्यवैचित्र्यात् कारणवैचित्र्यमभ्युपगम्यैव क्षणभङ्गित्वाद् भावानां स्वरूपत एव वैचित्र्यं न त्वेकस्यैवानुयायिनः सहकारिनिबन्धनं वैचित्र्यमिति **बौद्धो** मन्यते तं प्रत्याह-**न च इति**। न च **तत्**=कारणम्। **स्वभावतः**=स्वरूपतः। **तथा**=विचित्रं, तत्त्वेन प्रत्यभिज्ञायमानत्वादिति। यद्वा, प्रदीपवत् स्वभावत एव विचित्रमस्तु कारणं किं सहकारिवैचित्र्येणेत्युक्तमिति चेत् तत्राह-**न चइति**। प्रदीपे तिमिरापहारादिकार्यभेदस्य तैलवर्त्यादिसहकारिभेदनिबन्धनत्वादित्यर्थः। क्षणभङ्गवादेऽपि सहकारिवैचित्र्यमादरणीयमित्याह- **न च क्षणोऽपीति**। न चान्त्यक्षणोऽपि सहकार्यनपेक्षस्तथा विचित्रकार्यसन्ततिहेतुर्भवति। सोऽपि हि यदृच्छया सिद्धसहकारिमध्यमध्यासीन एव विचित्रकार्ये हेतुः, अन्यथा कुसूलनिहितबीजः कृषीबलः कृतार्थः स्यादिति।।७।।

विफला विश्ववृत्तिर्नो .... ने दृशः। पृ० ७२।

अथ **विश्ववृत्तित** इत्येतदवतारयितुं शङ्कते- **अस्तु इति**। ततो वेश्वरसिद्धिरिति अवतारयति-**न, विश्ववृत्तित इति**। अस्यानन्यथासिद्धिं दर्शयन् विवक्षितसाध्यकत्वमुपपादयति- **विफला इति**। यागादौ तावद्विश्वस्य जगतः प्रवृत्तिर्दृश्यते, नेयं विफला, नापि दुःखैकफला, विश्ववृत्तित्वादेव। नापि दृष्टपूजादिफला स्वरूपतो हेतुत्वात्। परैर्विप्रलब्धत्वात् परविप्रलिप्सया वा प्रवृत्तिरित्यपि न युक्तम्। ईदृशविप्रलम्भासम्भवात्। तस्मात् यागादौ विश्ववृत्तिरनन्यथासिद्धा तस्यापि तावत् कारणत्वं कल्पयति। न तु दृष्टमेव सहकारिचक्रं कारणमित्यर्थः।

यदि हि पूर्व पूर्व भूत .... प्रसिद्धिरपि न स्यात्। पृ० ७३-७६

तदेतद् व्याख्यानस्यानन्यथासिद्धिं तावत् प्रतिजानाति-**यदि हीति**। भूतानां परिणतिः कार्यं, तत्परम्परा, उप्तं बीजमङ्कुरं जनयति, तत् सस्यं, तद्ब्रीह्यादिकमिति पूर्वं पूर्वं दृष्टमेवोत्तरोत्तरं प्रति कारणमिति **यद्युच्येतेति**। यद्वा भूतानां सहकारिणां परिणतिः साकल्यम्। **इष्टं**=यागादि श्रौतं कर्म। **पूर्त्तं**=खातादि स्मार्त्तमिति। अत्र हेतुत्वेन संग्रहं व्याचष्टे-**न हीति**। शङ्कते-**लाभ इति**।

दुःखात्मकयोरपि श्रौतस्मार्त्तयोर्लाभादिदृष्टसिद्ध्यर्थमयं प्रवर्तत इति दूषयति-**लाभादय इति**। तेऽप्यदृष्टनिबन्धना इत्यर्थः। कुत इत्यत् **आह-न हीति**। न हीयं यागादौ प्रवृत्तिः स्वरूपेणैव लाभादिहेतुः, तेषां प्रवृत्त्यानन्तर्यनियमाभावात्। तेनादृष्टद्वारेणैव हेतुत्वमिति भावः। **यतो वा इति**। स किमर्थं लम्भयति पूजयति वेति शेषः। तत्र प्रवृत्तिरपि नादृष्टमन्तरेणोपपद्यत इति भावः। शङ्कते-**ख्यात्यर्थम्** इति। न तु पारलौकिकं किञ्चिल्लिप्समानः पूजयति ददाति वेति। अनुरागो वा किमर्थ इत्यत्रोक्तं-**जनानुराग इति**। परिहरति-**नेति**। ख्यात्यनुरागार्थयोर्दान-पूजयोर्यथाक्रमं नर्मनीतिसचिवयोर्व्यवस्थितत्वादत्र च तदभिसन्धिविरहान्न तादर्थ्यमिति। पुनः शङ्कते-**त्रैविद्य इति**। वैदिका यागादिकर्त्तारो विप्रलम्भका दृष्टार्थमेव भावयन्तोऽदृष्टार्थमिवाचरन्ति, तेऽपि तेन नर्मसचिवप्राया इत्यर्थः। परिहरति **न-इति**। नीतिनर्मसचिवा हि दृष्टोपयोगिनः, नैवं त्रैविद्याः, अतस्तेषु पूजादि न दृष्टार्थमिति। ननु तेषां पूजादिकमनुतिष्ठतः किञ्चिद् दृष्टमेव सुखं जायते, ततस्तदर्थमेव पूजानुष्ठानमित्याह **सुखार्थम्-इति**। **न-इति**। न हि तात्त्विकं किञ्चिद् दानादिजन्यं सुखमस्ति, पारलौकिकसुखाध्यवसायादेव हि तदनुष्ठायिनस्तदा प्रीतिरिति भावः। शङ्कते-**लोक इति**। अनादिना लौकिकाचारेण कर्तव्यतया सिद्धत्वादफलमपि दानादि क्रियते, वैदिकविधानेन सिद्धसन्ध्योपासनवत्। तद्विधायकवाक्येषु फलाश्रवणाज् जीवनादिकर्माधिकारलाभाच्च विधित एव अनुष्ठानसिद्धौ फलकल्पनायां प्रमाणभावादफलमेव सन्ध्योपासनादिकमिति भावः। **गुरुमतमेतत्-इति**। निष्फलं कर्मेति **प्राभाकरगुरो**रयं राद्धान्तः, नास्मद्गुरोः, तस्य निष्फलोपदेशासंभवात्। तत्राप्युपात्तदुरितक्षयादिफलमस्तीति राद्धान्तः। यद्वा, **गुरु** श्लाघ्यं **तन्मत**मित्युपालम्भगर्भः, न तु **गुरोर्हि**तोपदेशिनः कस्यचिन्**मतं**-तस्मादप्रस्तुतिमिदानीं न वक्तव्यमिति। तस्माद् यागादिकर्तृपूजादेर्दृष्टहेत्वभावादवश्यं धार्मिक इति बुद्ध्या तदाचार इत्यभ्युपगन्तव्यम्। तेन यागादेस्तदनुष्ठातृ-पूजादेश्चामुष्मिकं फलं सिद्धमिति रहस्यम्। तुरीयपादमवतारयितुं शङ्कामाह-**वृद्धैरिति**। बालानां प्रवृत्तिरिति शेषः। **न इति**। विप्रलम्भका यत्र परं प्रवर्त्तयन्ति न तत्र स्वयमपि प्रवर्त्तन्त इति। स्वैरेव विप्रलब्धाः प्रवर्तन्त इति मन्दाशङ्कां निराकरोति-**न च इति**। आत्मवञ्चनमशक्यमप्रयोजनं चेति भावः। तर्हि सर्वेऽपि पूर्वैर्विप्रलब्धाः प्रवर्त्तन्त इत्याह-**तेऽपि-इति**। सर्वेषामेव भावाभ्युपगमेनेयं विप्रलम्भकमूला प्रवृत्तिः। अन्यथा संविदानोऽन्यथोपदिश्य प्रवर्त्तको विप्रलम्भकः। न चात्र तादृशः कश्चित्, अतः प्रमाणमूलत्वमेवोपपन्नमिति भावः। पुनः शङ्कते-

इदं प्रथम इति। विप्रलिप्सातिशयेन हि स्वयमप्यनुष्ठानोपपत्तिरिति भावः। तदतिशयप्रदर्शनार्थमुक्तं-**धूर्त्त इति। किमसाविति** धूर्त्तविप्रलम्भकास्तावदुपदेशमात्रेण विप्रलभन्ते। क्वचित्तु केचिदल्पायाससाध्येषु कर्मसु स्वयमनुष्ठायापीति संभाव्येत। न तु सर्वस्वदक्षिणादिसाध्ये वैदिककर्मकलापानुष्ठाने कश्चिद् विप्रलम्भक इत्युत्प्रेक्षितुमपि क्षममिति। अस्तु वा तथाविधो धूर्त्तः कश्चित्, नत्वेकस्यास्य प्रेक्षावद्भिर्बहुभिरनुविधानं संभवतीत्याह-**कथं च इति**। यदि वा सर्वप्रेक्षावदनुविहिताचारस्तथाविधः पुरुषः, किमस्य विप्रलिप्सायां भवतः प्रमाणमित्याह-**केन वा-इति**। न केवलं प्रमाणाभावः प्रमाणबाधितैव तस्य विप्रलिप्सेत्याह-**न हि इति**। तस्माद् वैदिकेषु कर्मसूपदेशानुष्ठानाभ्यां परान् प्रवर्त्तयन् सकलप्रेक्षावदनुविहिताचारो लोकोत्तरः कश्चिदिति निश्चेतव्यम्। न च तस्मिन्ननाश्वासो युक्त इति भावः। विश्ववृत्तेभ्रममूलत्वमप्यत एव निरस्तं वेदितव्यम्। **चोदयति-अथ-इति।** बाह्यामिमतेषु चैत्यवन्दनादिषु विश्वप्रवृत्तिर्द्वीपान्तरापेक्षं दृश्यते, ततः साप्युक्तप्रकारेणान्यथासिद्धा तेषामामुष्मिकफलत्वं कल्पयेदिति भावः। **न इति**। ज्योतिष्टोमचैत्यवन्दनयोर्न तुल्यत्वं, दृष्टहेतुसंभवाच्चैत्यवन्दनादिपरिग्रहस्य तदभावाच्चेतरपरिग्रहस्य। अयं च विशेषः प्रपञ्चयिष्यते द्वितीये परिच्छेदे। हेतुर्दर्शनशून्यैर्ग्रहणधारणार्थानुमानादितरत्र विश्ववृत्तिरभिमताऽसावन्यत्र नास्तीति भावः। किञ्च, यत्र यत्र प्रतारणं तत्र सर्वत्रापि पूर्वसिद्धे कस्मिंश्चिदनुष्ठाने प्रतीयमाने ततः प्रकारान्तरमाश्रित्य प्रतारयितुमात्मनोऽर्थप्रदानादिसुकरोपायोपदेशमात्रेण प्रतारणं भवति, न तु स्वयमनुष्ठानेन। यथा रोगापगमहेतौ भेषजभेदानुष्ठाने पूर्वसिद्धे प्रतारणं 'मम हस्ते किञ्चित् प्रदीयतामिदानीमेव सर्व शमयिष्यामि' इति। इह दुःखात्मके कर्मणि स्वयमनुष्ठायैव परमनुष्ठापयति। तस्मान्न प्रतारणेयमित्याह-**अनादौ-इति**। एवं सत्याप्तप्रणीतत्वेन वेदानामेव प्रामाण्यात् तद्विरोधिनां *बौद्धाद्यागमानां* प्रमाणविरोधनिबन्धना पाषण्डत्वप्रसिद्धिः सिध्येत्, नत्वन्यथेत्याह **अन्यथा इति। अन्यथा-**यदि वैदिकमनुष्ठानं प्रतारणायत्तं भवेदित्यर्थः। यद्वा, यदि वञ्चकः स्वयमप्यनुतिष्ठेत् ततो *बौद्धागमानां* प्रतारणपरत्वे प्रमाणाभावादाप्तोक्तत्वसिद्धौ प्रमाणं विरोधासंभवात् तन्निबन्धना पाषण्डत्वप्रसिद्धिर्न स्यादिति।

अनादावित्यादेरपरा व्याख्या-कस्यचिदनुष्ठाने प्रागसिद्धे ह्यनुष्ठानमात्रस्यैवाज्ञानाद्विप्रलिप्सोपदेशमात्रेण प्रतारणानुपपत्तेरवश्यमनुष्ठानायैव प्रतारणं

स्यात्। प्रागेव तु ज्योतिष्टोमानुष्ठानसिद्धौ प्रकारान्तरोपदेशमात्रेण स्वयमनुष्ठायैव प्रतारणं संभवति। नन्वनुष्ठानायैवेति विपरीतं किमिति न स्यादित्यत आह– **अन्यथा इति।** चैत्यवन्दनादीनां प्रमाणमूलत्वे प्रमाणविरोधासंभवात् तदागमानां पाषण्डत्वप्रसिद्धिर्न स्यादित्यनुष्ठानागोचरेण कर्मणेति **केचित्** पठन्ति। तत्रायमर्थः – यदि वैदिकानुष्ठानात् पूर्वसिद्धं किञ्चिदनुष्ठानं स्यात् ततः पश्चात्तनं वैदिकमनुष्ठानं तत्र प्रतारणपरं स्यात्। न तु पूर्वसिद्धानुष्ठानागोचरेण कर्मणां प्रतारणं संभवति। सर्वत्र पूर्वसिद्धानुष्ठानविषयत्वात् प्रतारणस्येति। अयं च प्रथमव्याख्यायां संगच्छेत्।

अस्तु दानाध्ययनादिरेव ...... कालान्तरभावित्वात्। पृ० ७७।

प्रत्यात्मनियमाद् भुक्तेरित्यत्रापूर्वसद्भावहेतुः कालान्तरे फलोपभुक्तिरपूर्वस्यात्मसमवाये हेतुश्च भुक्तेः प्रत्यात्मनियमः संगृहीतः। तत्रापूर्वसिद्धौ तस्यात्मसमवायः शक्यसाधन इति। तत्-सिद्धिहेतुं तावद् भुक्तिमवतारयितुमाशङ्कते–**अस्तु इति।** अत्रैवकारोऽपूर्वव्यवच्छेदार्थः, जगद्वैचित्र्यस्यामुष्मिकफलस्येत्यर्थः। परिहरति–**न-इति।**८।

चिरध्वस्तं फलायालं .... भूतैः संस्कृतैरपि। पृ० ७७।

एतदेव विभजते–**चिरध्वस्तम् इति। फलाय** कालान्तरभाविन इति शेषः। अपूर्वसिद्धावपि तस्य प्रत्यात्मसमवायः न तु प्रतिभूतमिति कथं सिद्ध्येदित्यत्र **प्रत्यात्मनियमाद् भुक्तेरि**ति हेतुं व्याचष्टे–**सम्भोग-इति।** अपूर्वसंस्कृतेष्वपि शरीरेन्द्रियादिभूतेषु नित्यत्वविभुत्वाभ्यां सकलशरीरप्राप्तानामात्मनामपूर्वेणा-विशेषितत्वे संविभज्य भोगः प्रतिनियतभोगो न सिध्येद्, दृश्यते चासौ,

तस्मादस्त्यतिशयः .... निरस्यत इति। पृ० ७७-७९।

तस्मादात्मसंमवाय्यपूर्वमिति निगदव्याख्याततत्वेन पूर्वार्धार्थं निगमयति–**तस्मात्-इति।** तत्र शङ्कते – **ईदृशानि-इति।** क्षणभङ्गुराण्यपि कर्माणि स्वकारणवशादीदृशान्येव सिद्धानि येनापूर्वजननमन्तरेण कालान्तरभावित्वेन नियतानामेव फलानां साधनानि स्युः। तेषां कालान्तरफलानुगुणं किञ्चिद् रूपमस्तीत्यर्थः। ईदृशशब्दविवक्षितं रूपं तद्विकल्पयति–**तदिदम्-इति।** न तावद् दृश्यमानं रूपं फलानुगुणं क्षणित्वात्; अतस्तदतीन्द्रियमभ्युपगन्तव्यम्। तच्चातीन्द्रियममीषां कर्मणां स्वरूपं वा सहकारिभेदो वेति। न तावत् पूर्वः

कल्पः, ऐन्द्रियकत्वादतीन्द्रियत्वलक्षणविरुद्धधर्मसंसर्गाद् भेदप्रसङ्गेनैकत्व-व्याघातादित्यत आह-**न तावत्-इति**। द्वितीयस्तु सिद्धसाधनमित्याह **द्वितीये तु-इति**। कर्मणांफलोत्पत्त्यनुगुणोऽतीन्द्रियः सहकारिभेदेवापूर्वम्। तु शब्दोऽभ्युपगमसूचनार्थः। अत्र कश्चिद् विपश्चिदन्यो व्याचष्टे-समस्तस्यैव श्लोकस्यार्थं निगमयति-**तस्मादस्त्यतिशयः कश्चिदिति**। आत्मसमवेत इति शेषः। **ईदृशानीति**। भूतानि=ईदृशान्येवात्मसमवेतमपूर्वमन्तरेणास्म-दाद्यनुपलक्षणीयरूपविशेषविशिष्टानि जायन्ते। येन भूतानि नियतोपभोगसाधनानीति। सुगममन्यत्।

सम्भोगो निर्विशेषाणामिति विवरीष्यन् तद्विपरीतं चोदयति-**सिध्यतु-इति**। सत्यं, यागादिजन्यमपूर्वमस्ति, तच्च भूतधर्म एवास्तु न त्वात्मधर्मः, गुरुत्ववेगादिवदिति। ननु रूपादय एव भूतधर्मा दृश्यन्त कथं तदतिरेकिणोऽपूर्वस्य भूतधर्मत्वमित्यत् आह-**अवश्यम्-इति**। त्वया नैयायिकमानिनापि कश्चिदतीन्द्रियः कार्योदयानुकूलो भूतधर्मः शक्त्यादिपदवेदनीयोऽङ्गीकरणीयः, तथाऽपूर्वमपि भूतधर्मो भविष्यतीति भावः। शक्तेर्वा कथमङ्गीकरणीयतेत्यत आह- **कथमन्यथा-इति**। मन्त्रादिभिर्दाहादिकार्यप्रतिबन्धस्तावद् दृश्यते। स चान्यथानुपपद्यमानः शक्तिं कल्पयतीति। तदेव विभजते-**तथा हीति**। यादृशादग्नेः पूर्व दाहोजातः तादृशादेव दृष्टवैकल्यरहितादेव न जायते दाहः। तव दृष्टस्य व्यभिचाराददृष्टं किमपि कार्यान्यथानुपपत्त्या कल्पनीयमिति भाव। तत्र दृष्टादृष्टयोरन्यतर वैगुण्येनान्यथोपपत्तिमाशङ्क्याह-**तत्र-इति**। **एतावन्मात्रार्थत्वादिति**। दृष्टकारणसमवधानमात्राद्यर्थत्वाददृष्टस्येति। एतदेव कुत इत्यत आह-**अन्यथा-इति**। यदि दृष्टकारणसादगुण्यातिरेकेणादृष्टस्य कार्यं प्रति व्यापारोऽङ्गीक्रियते तर्हि कर्मणि सत्यपि कार्यविभागः कदाचिन्न जायेत अदृष्टवैगुण्यसंभवादिति। उभयवादिसिद्धप्रतिबन्धकाभावेनान्यथोपपत्तिमाशङ्क्याह – **न च-इति**। किमिति कारणं न भवतीत्यत आह-**तुच्छ-इति**। विधिरूपविरहस्तुच्छत्वमिति। ननु विधिरूपेण तुच्छत्वेऽपि स्वरूपेण सतः कथं कारणत्वानुपपत्तिरित्यत आह-**प्रतिबन्धक इति**। उतम्भकप्रयोगकाले प्रतिबन्धकस्य सत्त्वात्। तेन प्रतिबन्धकाभावेन विनापि कार्योत्पत्तेर्व्यभिचारादकारणमभाव इति। इतश्चाकारणमभाव इत्याह-**प्राक्-इति**। न तावत् प्रागभावः कारणं, प्रध्वंसे व्यभिचारात्। न च प्रध्वंसः, प्रागभावे व्यभिचारात्। नात्यन्ताभावः, इतरत्र व्यभिचारात्। न च

समुच्चयेन, प्रत्येकं व्यभिचारात् असम्भवाच्च। नापि विकल्पेन, अनियतहेतुकत्वप्रसङ्गादिति। तथा चान्वयव्यतिरेकयोर्व्यभिचारादिति। एवं कार्यान्यथानुपपत्तिं शक्तिसद्भावे प्रमाणयित्वा प्रतिबन्धकत्वान्यथानुपपत्तिमपि प्रमाणयति-**अकिञ्चित्करस्य-इति**। दृष्टेऽग्न्यादिस्वरूपे प्रतिबन्धादर्शनाद-दृष्टमनभ्युपगच्छतो मण्यादीनां प्रतिबन्धकत्वं न संभवतीति। अस्तु किञ्चित्करस्ततः किमित्यत आह – **किञ्चित्करत्वेऽपि इति**। यत् किञ्चित्-करोति सैवास्माकं शक्तिरिति। सिंहावलोकितन्यायेन कार्यार्थापत्तिमेवोपसंक्रम्याह-**मन्त्रादि इति**। प्रयुज्यमाने मन्त्रादौ प्रतिबन्धके तदितराभावोऽस्त्येव तथापि कार्यं न जायत एवेति। अथवा मन्त्रप्रयोगे मण्यादिप्रतिबन्धकाभावे सत्यपि कार्यस्यानुदयः। एवं मणिप्रयोगे मन्त्राभावेऽपि। एवमेकतरमण्यादिप्रतिबन्धकप्रयोगे तादितरमण्यादिप्रतिबन्धकाभावस्य सत्त्वेऽपि कार्यानुदय इति। तदुभयथाप्यन्वयव्यभिचारान्नाभावः करणमिति। अर्थापत्तिभ्यां साध्यसिद्धिं निगमयति-**अतोऽतीन्द्रियम् इति**। तत्र **यस्यापकुर्वतामिति** प्रतिबन्ध-कार्थापत्तेरुपसंहारः। यस्मिन्नित्यादिना त्वितरस्य इति। तथा च सति शक्तिवादिनो न कश्चित् पूर्वोक्तदोष इति भावः।

अत्रोच्यते। भावो यथा .... तद्धेतुः प्रतिबन्धकः। पृ० ८३

सिद्धान्तमाह-**अत्रोच्यते। भाव इति**। अत्र पूर्वार्धेन कार्यार्थापत्तेरन्यथोपपत्तिरुपपाद्यते, उत्तरेणोत्तरस्याः। अयमर्थः – येन हेतुना भावः कारणं भवति तेनैवाभावोऽपि। न भावो भाव इत्येव कारणं किन्तु कार्येणानु-विहितान्वयव्यतिरेक इति। तच्चाविशिष्टमभावस्यापीति सोऽपि कारणम्। तुच्छत्वादकारणत्वे तत एव कार्यत्वमपि न स्यात्, क्रियते च प्रध्वंस इत्याह-**कार्यवत् इति**। यथा नियतोत्तरभावित्वेनाभावः कार्यं, तथा नियतपूर्वकालवर्त्तित्वेनाभावः कारणमपीति भावः।

विसामग्री=सामग्र्यन्तर्गतकारणविगमः, सामग्रीवैकल्यमिति यावत्। मन्त्रादिश्च तथा, तदभावस्य सामग्र्यनुप्रवेशात्। तेन मन्त्रादेः प्रतिबन्धकत्वाभावादकिञ्चित्करत्वं न दोषाय। कस्तर्हि प्रतिबन्धक इत्यत्रोक्त-**तद्धेतुः इति**। मन्त्रादिप्रयोक्तारः प्रतिबन्धकाः ते तु किञ्चित्करा एवेति भावः।।१०।।

नह्यभावस्याकारणत्वे .... केवलस्येति युक्तम्। ८३-८६।

कारिकां व्याचष्टे – **न हि इति**। तुच्छत्वमत्र प्रमाणमुक्तमित्यत्राह– **न हि विधीति**। किमत्र तुच्छत्वं? – यद्यलीकत्वं तदसिद्धं, यद्यन्यरूपेणासत्त्वं तत्तर्हि भावस्याप्यविशिष्टं भावाभावयोरितरेतरानात्मकत्वात्। अत ईदृशं तुच्छत्वमनैकान्तिकमिति। शङ्कते–**कारणत्वस्य इति**। स्पष्टम्। **न इति**। कारणत्वस्याभावत्वेन व्याप्तत्वादभावत्वनिवृत्तौ कारणत्वमपि निवर्त्तत इति वक्तुं शक्यत इति। ननु न वयं तावत्त्वमात्रेण कारणत्वं ब्रूमः यैनैवमुपालभ्येमहि, किन्तु कारणत्वनिदानमन्वयव्यतिरेकौ, तौ चाभावत्येति तत्राह–**अन्वय इति**। नन्वाकाशादिवदवर्जनीयसन्निधितया नाभावः कारणमित्याह–**अभावस्य इति**। न तावदाकाशादिवन्नित्यत्वविभुत्वाभावादवर्जनीयसन्निधिरभावस्तथाप्यवर्जनीयत्वे भावस्यापि तत्तुल्यत्वामित्याशयवानाह– **तुल्यम् इति**। ननु अनन्यथासिद्धान्वयव्यतिरेकवतः कारणत्वम्। अभावस्तु कार्यविरोधिनं स्वप्रतियोगिनं प्रतिबन्धकमुत्सारयन् सन्निधते न तु कार्यार्थमित्याह– **प्रतियोगिनम् इति**। तर्हि भावोऽपि कार्यविरोधिनं स्वाभावमुत्सारयन् सन्निधत्त इति शक्यते वक्तुमित्याह– **तुल्यम् इति**। अथ भावस्याभावाभावात्मकत्वेन न स्वरूपव्यतिरिक्तमभावोत्सारणं नाम किञ्चिदस्ति कार्यं, तेन कार्यप्रयुक्त एव भावसन्निधिरिति चेत्तर्हि अभावस्यापि भावाभावात्मकत्वान्न स्वव्यतिरेकेण भावोत्सारणं नाम कार्यमस्तीति शङ्कोत्तराभ्यामाह– **भावस्य इति**। उपसंहारव्याजेन **कार्यवन्मत** इत्येतद् विवृणोति – **तस्मात् इति**। यथा प्रमाणबाधितत्वादेको नियमोऽनुपपन्नस्तथाऽपरोऽपि, द्वयोर्नियमयोर्बाधितत्वाविशेषात्। यद्वा, कार्यत्वकारणत्वयोः प्रमाणसिद्धत्वाविशेषादिति। यत्तूक्तम् उत्तम्भकप्रयोगे सत्येव कार्योत्पत्तेर्व्यतिरेकव्यभिचारः प्रतिबन्धकाभावस्येति। तत्राह – **प्रतिबन्धक इति। यादृश इति**। उत्तम्भकरहिते प्रतिबन्धे सतीति प्रतिबन्धोत्तम्भकप्रयोगकालेऽपि कार्यप्रतिपक्षः प्रतिबन्धको ह्यस्तीत्यर्थः। कीदृशस्तीर्हि प्रतिबन्धकः यदभावात्तदा कार्यमुत्पद्यत इति। अत उक्तम् – **असत्प्रातिपक्षो हि इति**। उतम्भकापरपर्यायस्वप्रतिपक्षाभावविशिष्टो हि मन्त्रादिः प्रतिबन्धकः, तदभावश्च कारणमित्युक्तेऽपि तत्रोत्तम्भकाभावविशेष्यस्य मन्त्रादेः सत्त्वेऽपि विशेषणमात्रस्योत्तम्भकाभावस्याभावः, नतु विशिष्टस्य। च चोत्तम्भकाभावाभाव उत्तम्मकमन्त्र एव। तस्मादुत्तम्भकाभावविशिष्टप्रतिबन्धकाभावस्याभावादन्यैव सामग्री। न हि प्रतिबन्धकोत्तम्भकाभावविशिष्टा तत्सदृभावविशिष्टा च सामग्री न भिद्यत इति च सम्भवति। अत्र स चोत्तम्भकमन्त्र एवेति सामग्रीभेददर्शनायोक्तम्।

यद्वा, सत्त्वकार्यस्योत्तम्भक एव मन्त्रो न तु प्रातिबन्धकस्य प्रतिबन्धकत्वविघातमात्रहेतुरिति दर्शयति। यद्वा, न परं सामग्रीभेद एव किन्तु भाव एव, सामग्री स्यादिति दर्शयितुमिति। **न इति।** न केवलं विशेषणमात्रस्येति शेषः। न चोभयोः सत्त्वमसत्त्वं वा कारणं, किन्त्वसत्प्रतिपक्षप्रतिबन्धकाभावः स चाविशिष्टः सर्वत्रेति न सामग्रीभेद इति भावः। विशेष्ये विशेषणाभावेन न केवलं विशेषणमात्रस्यैवाभावः किन्तु विशिष्टस्यापीत्येतद् दृष्टान्तेनोपपादयति-**न हीति।** दण्डिनि सत्यदण्डत्वं विशेषणमेव नास्ति। तद्विशिष्टस्त्वदण्डः पुरुषोऽस्तीति। न हि वक्तुं युक्तमित्युपपादितं दृष्टान्तीकरोति **यथा हि इति।** केवलदण्डसद्भावे विशेषणमदण्डत्वं विशेष्यः पुरुषश्चोभयं नास्ति। सदण्डपुरुषसद्भावे तु विशेषणमदण्डत्वं नास्ति विशेष्यस्त्वस्ति पुरुषः। द्व्याभावे तु विशेषणमस्ति, नास्ति विशेष्यम्। अत्र सर्वत्र केवलस्य कैवल्यविशिष्टस्य पुरुषस्याभावः समान इति पक्षं निगमयति-**तथा-इति।** कार्योत्पत्तिसमयेषु सर्वेषु केवलोतम्भकसद्भावप्रतिबन्धोत्तम्भकसद्भावद्वयाभावेषु प्रत्येकं समुच्चितयोश्च विशेषणविशेष्ययोरभावात् केवलस्योत्तम्भकाभावविशिष्टस्य प्रतिबन्धकस्याभावोऽनुवृत्तः। अत्र च प्रतिबन्धकोत्तम्भकसद्भावे विशिष्टाभावः प्रतिपाद्यः निदर्शनत्वेनेतरयोरुपादानमिति। प्रकृतं विधात्रयमवलम्ब्य चोदयति-**अथ-इति।** केवलोत्तम्भकवती काचित् सामग्री, अन्या तु प्रतिबन्धकोत्तम्भकवती, द्व्याभाववती चान्येति सामग्रीत्रयं कार्यस्यास्तु किमिति सर्वत्रैकरूप्यं प्रयासेन साध्यत इति। परिहरति-**कार्यस्य-इति।** एवैकव्यतिरेकेऽपि कार्योत्पत्तेस्त्रयाणामप्यकारणत्वप्रसङ्गादिति। तृणारणिमणिन्यायमाशङ्क्याह-**जाति-इति।** ननु सामग्रीभेद एव तत्र प्रमाणमस्तीत्यत आह-**भाव-इति।** एवं सामान्यव्यभिचारं परिहृत्य प्राक्प्रध्वंसादिविशेषव्यभिचारं परिहरति-**प्राक्-इति।** कुत इत्यत आह-**यस्मिन्-इति।** यस्मिन् केवलप्रतिबन्धके सति संसर्गिणि कार्यं न जायते तस्मिन्नसत्यसंसर्गिणि जायत इत्यभ्युगमे संसर्गाभाव एक एव कारणम्। प्रागभावादयस्तु तद्विशेषा इति, नानियतहेतुकत्वमिति। ननु संसर्गाभावः कारणमित्युक्तेऽपि संसर्गप्राक्प्रध्वंसादिविकल्पेनानियतहेतुकत्वं, तत्रापि संसर्गाभावस्वीकारेऽनवस्थेति चेत्, न। न ह्यत्र संसर्गस्याभावः कारणं यतो विकल्प्येत, किन्तु संसृज्यमानस्य मन्त्रादेः। न हि संसर्गः प्रतिबन्धकः संसृज्यमानस्यैव मन्त्रादेस्तथात्वादिति।

यस्तु संसर्गाभाव .... अस्तीति निरस्तम्। पृ० ९१।

यत्तूक्तमितरेतराभावस्य सत्त्वेऽपि कार्यानुदयादिति तत्र प्रथमव्याख्यानेन यानुपपत्तिरुक्ता तां निराचष्टे-**यस्तु-इति**। **प्रतिबोधनीयः**=, तादात्म्याभावविलक्षणं संसर्गाभावम्। तद्द्विविधो ह्यभावः=इदमिह इदानीं वा नास्तीति संसर्गतया यत्र प्रतियोगी निषिध्यते स संसर्गाभावः। तत्र संसर्गाभावभेदाः प्रागभाव प्रध्वंसात्यन्ताभावाः। तेषामेव संसर्गितामापन्नप्रतियोगिनिरूप्यत्वात् ततश्चेतरेतराभावस्याप्रसक्तिरिति। नन्वस्तु तादात्म्याभावसंसर्गाभावयोर्विशेषः, तथापि प्रागभावादित्रयानुगतायास्तादात्म्याभावव्यावृत्ताया जातेरभावात् कथं त्रयाणामुपसंग्रहः। कथं वा तदनुपसंग्रहे व्यभिचाराच्छक्यावधारणं कारणत्वमित्याह- **तथापि-इति**। विनापि जातिमेकोपाध्युपगृहीतानां त्रयाणां कारणत्वमवधारयामः, उपाधिश्चात्र संसर्गितापन्नप्रतियोगिनिरूप्यत्वमित्याशयवानाह-**मा भूत्-इति**। तथापि न तावन्मात्रेण कारणत्वं शक्यावधारणमिति चेत्। न, भवतोऽपि बीजे सत्यङ्कुरो जायते तदभावे तु न जायते इत्यत्र व्यतिरेकादौ यदि बीजप्रागभावो विवक्षितः प्रध्वंसे जायेत, अथ प्रध्वंस इतरत्र जायेतेत्यादिप्रसङ्गः, बीजाभावमात्रविवक्षायां तादात्म्याभावेऽप्यङ्कुरानुदयप्रसङ्ग इत्यभिहिते च तादात्म्याभावव्यावृत्तस्य प्रागभावादित्रयानुगतस्य च संसर्गाभावत्वस्याङ्गीकार एव परिहार इति इतरेतराभावस्य सत्त्वेऽपीत्यत्र द्वितीयव्याख्यानोक्तामनुपपत्तिमनुभाष्य दूषयति **एतेन-इति**।

यथा हि तज्जातीये .... किमसमञ्जसम्। पृ० ९३

प्रतिबन्धके सति कार्यं न जायते तस्मिन्नसति जायत इति प्रतिपादिते कथमनेनैतन्निरस्तमित्यत्रातिदेशमेव भावकारणवादसाम्येन विशदयति-**यथा हि-इति**। बीजजातीये सत्यङ्कुरोत्पत्तिरित्युक्तेऽर्थात्तदभावे तदनुत्पत्तिरिति सिद्धे एकस्मिन् बीजे सति बीजजातीयान्तराणामभावादङ्कुराख्येन कार्येण न भवितव्यमिति न प्राप्नोति **तथैतदपि**। प्रतिबन्धके सति कार्यानुदयस्तदभावे सति कार्योदय इत्यत्रापि एकस्मिन् प्रतिबन्धके सति सजातीयान्तराणामभावाद् भवितव्यं कार्येणेत्येतदपि न प्राप्नोतीति। कुत इत्यत आह- **अनुकूलवत्-इति**। कार्यानुकूले कारणे सति यथा तज्जातीयान्तराणामभावो न तस्य कार्यं निषेधति तथा प्रतिकूलेऽपि कस्मिंश्चित् प्रतिबन्धके सति प्रतिबन्धकान्तराभावेऽपि न कार्यं विधत्ते अकिञ्चित्करत्वं निषेधे विधौ चेति द्रष्टव्यम्। अथ प्रतिबन्धकत्वान्यथानुपपत्तिं दूषयितुं

प्रतीकेनानुभाषते-**यत्तु इति**। सङ्ग्रहं व्याचक्षणो दूषयति-**तदपीति**। पूर्वार्थापत्तिसमुच्चयेऽपि सामग्रीवैकल्यं सामग्र्यन्तर्भूतानामन्यतमस्य विगमः प्रतिबन्धकः। उभयवादिसिद्धिप्रदर्शनार्थो मुख्यशब्दः। स च प्रतिबन्धोऽत्राभाव-कारणत्वस्थितौ मन्त्रादिरेव स्यात्, अभावाभावस्य भावात्मकत्वात्। न त्वसौ मन्त्रादिः प्रतिबन्धकः। अतो मन्त्रादेरकिञ्चित्करत्वेऽपि न प्रतिबन्ध-कस्याकिञ्चित्करत्वं भवति। प्रतिबन्धकस्य किञ्चित्करापेक्षायामनवस्थाप्रसङ्गात् प्रतिबन्धकत्व-प्रसङ्गाच्चेति। के तर्हि प्रतिबन्धका इत्यत्राह-**तत्प्रयोक्तार इति**। मन्त्रादिप्रयोक्तारः पुरुषाः प्रतिबन्धकाः, ते च मन्त्रादीन् प्रयुञ्जानाः किञ्चित्करा एवेति नानुपपद्यमानं किञ्चिदस्तीति।

येतु व्युत्पाद यन्ति .... हेतुकत्वम्। पृ० ९३-९४।

कार्यानुत्पादः प्रतिबन्धः, तं च कुर्वन्तो मन्त्रादयः प्रतिबन्धका इत्येकदेशिनां मतमुपन्यस्य निरस्यति-**ये तु-इति**। तस्य कालान्तरप्राप्तिरिति सामग्रीसमवधाने हि कार्यस्य प्रागभावो विनश्यति। सति तु प्रतिबन्धके पश्चात्तनमपि कालं व्याप्नोति। तेन प्रागभावस्य पाश्चात्यकालप्राप्तिः प्रतिबन्धकाधीनेति। **तस्यानुत्पाद्यत्वात् इति**। प्रागभावस्यानादित्वेनानुत्पाद्यत्वादिति। **कालस्य स्वरूपत-इति**। मुख्यतस्तावत् कालस्यैकत्वात् कालान्तरमिति न संभवति यत्प्राप्तिर्मन्त्राद्यधीना भवेदिति। नन्वौपाधिककालभेदप्राप्तिर्मन्त्राद्यधीना स्यादित्याशङ्क्याह **तदुपाधेरिति**। अत्र हि पक्षे कालान्तरप्राप्तिर्नामावच्छेदकोपाध्यन्तरप्राप्तिरित्यवशिष्यते। तत्र कालोपाधिः सूर्यगत्यादिर्मन्त्रमन्तरेणापि स्वकारणाधीनः, तत्प्राप्तिश्च प्रागभावस्यानुत्पाद्यत्वेन स्वयमेव सिद्धेति किमत्र मन्त्रादिना क्रियत इति। ननु कालमात्रभेदोपाधेर्मन्त्राद्यनपेक्षत्वेऽपि प्रागभावव्यवच्छेदककालान्तरो-पाधिर्मन्त्रादिकमपेक्षते। न हि सूर्यगत्यादिमात्रभेदितः कालः प्रागभावं व्यवच्छिनत्ति कार्योत्पत्त्युत्तरकालमपि तस्य भावादित्याह-**प्रागभाव-इति**। अस्ति हि मन्त्रादेः पूर्वमपि प्रागभावावच्छेदककालोपाधिः, यदि पूर्वमपि प्रागभावस्तदवच्छेदकश्च कालस्तदुपाधिश्च कश्चिन्न स्यात्, तर्हि तदानीं प्रागभावव्यवहारो न स्यादिति। यद्यनादित्वात् कार्यप्रागभावो नोत्पाद्यः कथं तर्हि कारणाभावात् कार्याभाव इति कार्यकारणभावयोः कार्यकारणभावव्यवहारः।

कालभेदे व्यपदेशश्च लौकिकानामिति शङ्कामुपपादयन्नाह-**तस्मात्-इति**। प्रागभावस्यानुत्पाद्यत्वादौपचारिकः प्रयोग इत्यर्थः। अथोपपादितं

कार्यानुत्पादस्याप्रतिबन्धकत्वमुपसंहरति-**इतीति**। कार्यानुत्पादविपरीतः प्रतिबन्ध इत्ययं न प्रतिबन्धत्वोपपादनमार्गः किन्तु पूर्वोपदर्शित एवेति। एवमेकदेशिनं निराकृत्य शक्तिवादिनमेव प्रत्याह-**न चेदेवम्-इति**। मन्त्रादेः प्रतिबन्धत्वं तत्प्रयोक्तृणां प्रतिबन्धकत्वमित्यनभ्युपगमे शक्तिस्वीकारेऽपि त्वदुक्तसकलदूषणानां न निस्तार इति प्रतीकाराभावमेव दर्शयितुं यथासम्भवं विकल्पयति-**तथा हि-इति**। शक्तिविनाशः प्रतिबन्ध इति प्रथमः कल्पः, यावद्भावभावित्वाच्छक्तेर्विनाशः तस्यास्तु कार्योदयानुकूल इति द्वितीयः, कार्यप्रतिकूलधर्मान्तरजननमिति तृतीयः, अकिञ्चित्करस्यैव प्रतिबन्धकत्वमिति चतुर्थः। अत्राऽऽनन्तर्यादन्तिमं पक्षं दूषयति-**तत्र-इति**। अतिप्रसङ्गान्निर्वचनानुपपत्तेश्चेति भावः। तदनन्तरं कल्पं दूषयति-**विपरीत इति**। विपरीतधर्माभावस्य कारणत्वं तावत् प्रसज्येत, तत्र च प्रागभावादिविकल्पावकाशः पूर्ववदेव स्यादिति। प्रथमद्वितीयकल्पावेकप्रसरेण दूषयति **तद्विनाश-इति**। शक्तितद्धर्मयोर्विनाशे सति पुनरुत्तम्भके सति कार्यदर्शनात्। तेन तयोरुत्पत्तिरङ्गीकार्या। तथा चानियतहेतुकत्वं, पूर्व शक्तिमदुत्पाद-केनेदानीमुत्तम्भकेन तयोरुत्पत्तेरिति। ननु स्वरूपोत्पादकोत्तम्भकयोर्विजातीय-त्वेऽप्येकशक्तित्वेन तुल्यत्वे संभवति नानियतहेतुकत्वप्रसक्तिरित्याशङ्क्याह-**न च-इति**। कारणमाह-**विजातीयेषु इति**। **प्रवाहोऽनादिमानेष न विजात्येक-शक्तिमानित्यत्र**। ननु नोत्पादकः कारणशक्तिं तद्धर्मं वा जनयति, केवलं स्तम्भकस्य स्तम्भनशक्तिं निरुणद्धि। तेन नानियतहेतुकत्वप्रसङ्ग इत्यत्राह-**न च-इति। तदनुत्पादेति**। पूर्वप्रतिबन्धकविनष्टयोः शक्तिधर्मयोः पुनरुत्तम्भकेनाजनने तयोरनुत्पाद एव स्यात्। ततश्च कार्यस्याप्यनुत्पादप्रसङ्ग इति भावः। उत्तम्भकेनानुत्पादेऽपि नानुत्पादप्रसङ्ग इत्याशङ्क्याह-**कालविशेषात्-**इति। यदुत्तम्भकेन तदुत्पादे वर्णितं **तदेवेति**।।१०।।

स्यादेतत् .... विनश्यतीति विशेषः। पृ० ९८-१००।

अपूर्वस्य भूतधर्मत्वे सहजा शक्तिर्मा भूद् दृष्टान्तः, आधेयशक्तिस्तु दृष्टान्तः स्यात्। दुरपह्नवत्वात् तस्या इति पूर्वपक्षयति – **स्यादेतत्-इति**। अत्र च भूतानामेव स्वहेतुवशेनातीन्द्रियातिशयशालित्वेनोत्पन्नानां भोगनियामकानुपपत्तावपि यागादिजन्यातिशयभाजां शरीरादिभूतानां तदुपपत्तेस्तेष्वाधीयतामपूर्वं प्रोक्षणादिवन्न त्वात्मनीति भावः। आधेयशक्तिसद्भावे प्रमाणमाह। **दृश्यते हि-इति**। ब्रीहीन् प्रोक्षतीति द्वितीयाश्रुत्या प्रोक्षणस्य व्रीहयः कर्मत्वेनावगम्यन्ते। क्रियाजन्यफलभागित्वं

च कर्मत्वम्। अतः प्रोक्षणादिना व्रीह्यादिषु संस्कारापरनामा शक्तिराधीयत इत्यत्र श्रुतिरेव प्रमाणमिति। तदनुग्राहकं तर्कमाह-**कथमिति।** यदि तद्गतः कश्चिदतिशयो नाधीयेत प्रोक्षितानामेव पुरोडाशादिकार्योपयोगो नान्येषामिति, न स्यादप्रोक्षितेभ्यः तेषामविशेषादिति। प्रोक्षणादिस्वरूपसहकृतानामेव कार्योपयोगोऽस्तु, अन्यथादृष्टकल्पनानुपपत्तेरित्याशङ्क्याह **न च-इति।** सन्तु तर्हि प्रोक्षणादि प्रध्वंसादयः कालान्तरेऽप्यनुवर्त्तमानाः सहकारिण इत्याशङ्क्याह-**नापि-इति।** तथाकालान्तरकार्यकारिण इत्यर्थः। अतिप्रसङ्गपरिहारमाशङ्कते – तेषाम्-इति। यागादिप्रध्वंसानामेव फलसाधनत्वे तेषामनन्तत्वेन फलविनाश्यत्वा-भावादुत्पन्नेऽपि पुनरपि तत एव फलोत्पादप्रसङ्गेन फलप्रवाहोऽनन्तः स्यात्। तत्र च कर्मान्तरफलोपभोगोऽपवर्गश्च न स्याताम्। अतो यागादिजन्यम-पूर्वमवश्यमभ्युपगन्तव्यमिति। तर्हि कल्पितमप्यपूर्वं किञ्चित् स्वर्गादिसुखमुत्पाद्य नानन्तरमेव नश्यति सहस्रसंवत्सरादिभोगश्रुतेः। तेन परिमितफलप्रवाहस्तदापि न स्यादित्याह-**अपूर्व-इति।** यदि तु परिमितफलप्रवाहजनकत्वमपूर्वस्य स्वभावः। स तर्हि प्रध्वंसस्यापि भविष्यतीति शङ्कोत्तराभ्यामाह-**अपूर्व-इति। तावता-इति।** परिमितफलोत्पादकत्वाभ्युपगमे नामान्तरेणापूर्वमेवाङ्गीकृतं स्यादित्याशङ्क्य फलविनाश्यत्वाविनाश्यत्वाभ्यां विशेषोऽस्तीत्याह **तावता-इति।**

स्यादेतत् .... किं नश्छिन्नम् । पृ० १००।

स्यादेतत्-इति। यदि प्रोक्षणादयो विशेषणं भवेयुस्तदा कार्यान्वयिन एव विशेषणत्वात् कार्यकाले तेषामसत्त्वेन विशेषणत्वायोगाद् विशिष्टस्य कारणत्वं न सिध्येत्। तेषां तूपक्षणत्वे बुद्धिसन्निहितामेवेतरव्यवच्छेदेन विशेष्यविषयबुद्धिजननद्वारेण कार्योपयोग इत्यविद्यमानत्वेऽपि न कश्चिद् दोषः। अविद्यमानस्यैवोपलक्षणत्वे तदुपलक्षितस्य कार्यविशेषोपयोगे च दृष्टान्तः-**यथा-इति।** अविद्यमानेनैव हि गुरुणा कुरुणा च प्राभाकरकुरुक्षेत्रत्वोपलक्षिते टीकाक्षेत्रे तेषु कार्यविशेषेषूपयुज्येते-**यथा-इति। तदसदिति।** उपलक्षणत्वे प्रोक्षणादीनां कार्यान्तरोपयोगिब्रीह्युद्देशेन विधानेन तत्कार्येऽपि साधनत्वावगमात् कार्योत्पत्तिं यावत् स्वरूपेण वा स्वोत्पादितातिशयद्वारेण वा तेषां सत्त्वमङ्गीकार्यम्। अन्यथातिप्रसङ्गादिति। कथं तर्ह्यसत एव गुर्वादेरुपलक्षणत्वेन कारणत्वमित्यत्राह-**व्यवहार-इति।** न तावद् गुर्वादिना टीकादौ किञ्चित्कार्यं क्रियते किन्तु तदीयत्वेन व्यवहारमात्रमेव तत्रास्ति। तदपि तेन न क्रियते किन्तु गुर्वादिज्ञानेन।

तज्ज्ञानमप्याप्तवादिकारणाधीनं न त्वनुत्पादितव्यापारध्वस्तेन गुर्वादिना जन्यते; प्रत्यक्षज्ञान एव ह्यर्थः कारणं नान्यत्रेति भावः। अथ गुर्वादिनापि टीकादौ तत्तत्कार्यानुगुणः कश्चिदाधीयतामतिशयः, न तेन संस्कारवादिनामस्माकं काचित् क्षतिः। भवतस्तु साध्यविकलो दृष्टान्तः स्यादित्यभिप्रायेणाह-अस्तु वा-इति।

यद्वा यागादेः .... आपरमाण्वन्तभङ्गात्। पृ० १०२

यदि वा प्रोक्षणादीनामतिशयमन्तरेणोपलक्षणत्वेन कारणत्वं स्यात् चेत् तदा यागादीनामपि तथात्वप्रसङ्गादपूर्वं दत्तजलाञ्जलिः स्यादित्याह-**यद्वा-इति**। ननूपलक्षणत्वेन यागादीनां फलसाधनत्वोपपत्तावपि प्रमाणबलादेव तत्रापूर्वसिद्धिरित्यत्राह-**न च इति**। स्रगादयो हि स्वगुणेन प्रयत्नादिना सन्निधापिता भोगाय भवन्ति, तथा पश्वादयोऽप्यपूर्वाख्येन गुणविशेषेण सन्निधापिता इत्यपूर्वसिद्धेः प्रोक्षणादिभ्यो यागादीनां नाविशेषः। **इच्छा-इति**। क्वचिद् ज्ञानेच्छाप्रयत्नैः समुदितैरुपगृहीताः पश्वादयो भोगाय भवन्ति। क्वचित् त्वन्यतमेन यथा निदाघतप्तस्य मेघच्छायादयः। न तेन तदतिरिक्तापूर्वसिद्धिरिति। यदीच्छादे-र्व्यतिरेकेऽपि भोगः स्यात्, ततस्तदतिरिक्तं सिध्येत्। न त्वेवमस्तीत्याह-**न च-इति**। इच्छाभावे भोगत्वमेव न स्यात्, इष्टत्वलक्षणात् सुखस्येति। स्वगुणाकृष्टत्वं नाम स्वगुणोत्पादितत्वं विवक्षितं तथा न सिद्धसाधनं पश्वादीना-मिच्छाद्यनुत्पाद्यत्वादि-त्याशङ्क्याह-**नापि-इति**। मनो हि नित्यत्वान्न केन चिदुत्पाद्यतेऽथ च भोगसाधनमिति तेनानैकान्तिकमिति। तर्हि कार्यत्वे सति भोगसाधनत्वादिति हेतुं विशेषयिष्याम इत्यत्राह-**नापि-इति**। अस्माभिरुपलक्षणत्वेनापादिता यागादयो ह्यात्मगुणास्तत्तत्संकल्पप्रयत्नाद्यात्म कत्वात् तेषाम्। अतस्तैरेव जन्मान्तरीयैरैहिकैर्वा पश्वाद्युत्पत्तिसिद्धेर्न तदतिरिक्ततज्जन्यापूर्वसिद्धिरिति। ननु चिरविनष्टा यागादयः कथं कालान्तरभाविनः पश्वादेः साधनं यतस्तैः सिद्धसाधनं स्यादित्याह-**असताम्-इति**। तर्हि अभिमन्त्रणादिष्वपि कालान्तरभाविने फलाय संस्कारमभ्युपगच्छेदित्याह-**तदिति**। उक्तमर्थमुपसंहरन् प्रमाणयति-**तस्मात्-इति**। प्रध्वंसेन सिद्धसाधनं मा भूदित्युक्तं-**भाव इति**। भ्रमादिकृतेनोपादानेनानैकान्तिकं मा भूदित्याह-**प्रमाणत इति**। श्रुतिप्रमाणादित्यर्थः। न च कृष्यादौ साध्यवैकल्यमित्याह-**अन्यथा-इति**। कथमित्याह-**बीजादीनाम्-इति**। परिकर्षितायामुर्व्यामुप्तं बीजावयवि पाथःपवनसंयोगात् क्रियोत्पत्ताववयवानां विभागेनामसमवायि-

कारणतत्संयोगविनाशाद् विनश्यति। एवमापरमाण्वन्तं विभागात्, तेषु च यवकलमादिविजातीयाङ्कुरारम्भकनियामिकाया जातेरभावात्, कलमबीजावापे कलमाङ्कुर एव यवबीजावापे यवाङ्कुर एवेत्येवं कार्यजातिनियमानुपपत्तिः। अतिशयाङ्गीकारे कृष्याद्याहितातिशयास्ते ते परमाणवस्तं तं कार्यविशेषमारभन्त इति नियमोपपत्तिरिति भावः।

अत्रोच्यते। संस्कारः ...... उभयत्रापि तुल्यत्वात्। पृ० १०२-१०६।

तदेवं प्रोक्षणादिजन्यातिशयवद् यागादिजन्यमपूर्वं भूतधर्मोऽस्त्विति पूर्वपक्षिते सिद्धान्तमारभते-**अत्र-इति**। यदि तावत् प्रोक्षणादयः किञ्चिदतिशयमादधतीति साध्येत ततः सिद्धसाधनम्। अथोद्देश्यगतमादधतीति, ततोऽनैकान्तिकता। ततः पुंस एव संस्कार इष्यताम्, कृष्यादावपि क्लृप्तैरेव पाकजादिगुणविशेषैः कार्यनियमोपपत्तौ नाप्रसिद्धातिशयकल्पनेति साध्यवैकल्यमिति भावः।

कथं व्रीह्याद्युद्देशेन तत्र प्रयुज्यमानः प्रोक्षणादिः पुरुषं संस्कुर्वीतेत्याशङ्कां निराकुर्वन्ननैकान्तिकतामेव स्फोरयति-**यथा हि**-इति। व्रीह्याद्युद्देशेन तत्रैव प्रयुज्यमान इत्युपस्कारः कथं पुरुषसंस्काराणां व्रीह्याद्यसम्बन्धानामेव तत्सहकारित्वमित्यत आह-**यथा च-इति**। यथा हि कारीरीजनितसंस्कारानाधारा एव जलधरास्तदाधारयजमानात्मसंयोगादेव गगनं संचरन्ति वर्षन्ति च। तथा व्रीह्यादयोऽपि संस्कृतात्मसम्बद्धाः कार्योपयोगिन इति। ननु पुरुषसंस्कारपक्षे यदा तस्य पातकादिदोषस्तदा तस्मिन् संस्काराधानायोगाद् वैफल्यमेव प्रोक्षणादेः स्यात्। व्रीहिसंस्कारत्वे तेषामदुष्टत्वान्नायं दोष इत्यत्राह- **यथा चेति**। कर्तृदोषे यथैकत्र कर्त्तरि फलस्य संस्कारस्याभावः, तथापरत्र व्रीह्यादिष्वपि कर्तृत्ववैगुण्ये क्वचिदपि न संस्कार उत्पद्यत इत्यर्थः। यद्वा, एकत्र कारीर्यामपरत्र प्रोक्षणादावपि उभयत्र पक्षद्वये कर्मद्वये वाप्यागमिकत्वस्य तुल्यत्वाददुष्टानामेवाधिकारः। अत्र कर्मसाधनयोरुपादानं दृष्टान्तार्थम्। यद्वा, कृमिकीटकाद्युपहतेष्वपि व्रीहिषु व्रीह्यन्तरोपादानं न स्यादसंस्कृतत्वाविशेषादित्यत आह-**यथा-इति**। कर्मादिवैगुण्य इव व्रीह्यादिदोषेऽपि फलाभावश्रुतेस्तुल्यत्वेन व्रीह्यन्तरोपादानमुपपद्यत इत्यन्या व्याख्या। ननु पुरुषसंस्कारपक्षे प्रोक्षणादीनां कारीर्यादिवदनियतफलत्वं प्राप्नोतीत्यत्राह-**यथा च-इति**। कर्मादिवैगुण्यनिमित्तं हि कारीर्यामनियतफलत्वं, तच्चाविशिष्टं प्रोक्षणादिष्वपि। उभयं ह्यागमेन फलाय विधीयत इति। अतः प्रेक्षणादिष्वपि वैगुण्यनिबन्धनः फलाभावोऽविशिष्ट इति।

न तर्हि बर्हिष इव .... प्रोक्षणादिफलसंबन्धादेव! पृ० १०६-१०८।

ननु यदि भाविप्रयोजनार्थं व्रीहयः संस्क्रियन्ते तदा तेषां स्वकार्यान्तरोपयोगो युज्यते। यदि तु पुरुषः संस्क्रियेत, तदा न यदैकस्मादपूर्वं तदेतरत्तदर्थमिति न्यायात् सक्तुवद् विनियोगभङ्गेन ब्रीह्यादेः प्रोक्षणादिशेषतैव स्यात्। तत्र च प्रोक्षणादिनिर्वृत्त्यैव कृतार्थानां ब्रीह्यादीनां कार्यान्तरोपयोगो न स्यात्। "बर्हिषि हर्वींष्यासादयती"ति हविरासादने विनियुक्तस्य वर्हिष इवेत्याह-**न तर्हि-इति**। अथ व्रीहिभिर्यजेतेति व्रीहीणां यागसाधनत्वेन विधानात् कृतकार्याणामपि यागार्थमुपादानमिति चेत् तत्राह-**उपयोगे वा-इति**। तदा हि प्रोक्षितैर्यष्टव्यमिति नियमाभावाद् ब्रीहिजातीयं व्यक्त्यन्तरमुपादीयते प्रोक्षिताप्रोक्षितयोर्ब्रीहिवर्हिषोर्वा विशेषाभावादिति। सिद्धान्त्याह-**न-इति**। वैचित्र्यमेवाह-**केचित्-इति**। कस्मैचित् कार्याय यल्लक्ष्यीकृत्य या क्रिया प्रयुक्ता तज्जनितः संस्कारः कश्चित्पुरुषाधारोऽपि तदुद्देश्यव्यापारसहकार्येव कार्यं करोति, कश्चित्तु तन्निरपेक्षः। तत्र च विधिरेव प्रमाणमिति। अत्रोभयसिद्धं निरूपयति-**यथा हि इति**। श्येनेष्वेकद्वित्रिकाद्यभिचार-कर्मजनितसंस्कारो हि कर्त्रात्मसमवेतत्वेन भ्रातृव्यदेहानाधारोऽपि उद्देश्यदेहापेक्षस्तत्सम्बद्धस्य तस्यैवात्मनो मरणादिदुःखं जनयति नान्यस्य। नापि तस्यैव भवान्तरीयसम्बद्धस्येति। दार्ष्टान्तिकेऽतिदिशति-**एवम्-इति**। **एवं भवन्तः**=उद्देश्यसहकारिणो भवन्त इत्यर्थः। **कथं तर्हि-इति**। ब्रीहीनिति द्वितीयया तावत् कर्मत्वमवगम्यते, तच्च प्रोक्षणादिक्रियाजन्यफलभागित्वमन्तरेण नोपपद्यत इति। **प्रोक्षणादि-इति**। प्रोक्षणक्रियायास्तावज्जलसंयोगः फलं, तत्फलं च संस्कारः। तेन संस्कारानाधारत्वेऽपि क्रियाफलजलसंयोगभाजां ब्रीहीणां कर्मत्वोपपत्तिः, नाप्यनीप्सितकर्मत्वम्, आग्नेयाद्यपूर्वेषु उपयोक्ष्यमाणत्वादित्यर्थः।

ननु यदुद्देशेन .... न किञ्चिदनुपपन्नमिति। पृ० १०८-१११।

पूर्वपक्षी स्वाभिप्रायमुद्घाटयति - **ननु-इति**। तत्र किञ्चित्करमित्यत्र संयोगादिकरत्वात् सिद्धसाधनतां निराकर्तुं कालान्तरभाविफलानुकूलं किञ्चिदित्युपस्कर्तव्यम्। अत एवानैकान्तिकं प्रदर्शयन् वक्ष्यति "न हि ते कालान्तरभाविफलानुगुणम्" इति। वैश्वानरेष्टिर्हि पुत्रे तेजस्वितां करोति, पितृयज्ञश्च पितरि तृप्तिमिति। **न-इति**। अनैकान्तिकतामेव लौकिकोदाहरणेन विशदयति **किञ्चित्-इति**। प्रमेयगतं तु प्राकट्यं निराकरिष्यत इति भावः। **कृषिरिति**। ते

अपि हि प्रोक्षणादिवदृष्टरूपसंस्काराधानद्वारेण कार्यकरे स्यातामिति। **न इति।** **परिणतिर्निष्पत्तिः** सहकारीति वा। इममेव प्रकारमुदाहरणान्तरेष्वप्यतिदिशति- **तथा च-इति।** लाक्षारसावसिक्तबीजपूरादिबीजजनिततत्कुसुमारुणिमापि न संस्काराधानतद्द्वारा लाक्षारसावसेकेन जायते। किन्तु दृष्टेनैव रूपविशेषजननद्वारेणेति व्याख्यातमिति। तेनैतन्निरस्तं यदाह *महाव्रतः* –

कुसुमे बीजपूरादेर्यल्लाक्षाद्यवसिच्यते।
शक्तिराधीयते तेन काचित्तां किं न पश्यसि।।

यदुक्तमन्यथा कृष्यादयो दुर्घटाः प्रसज्येरन्निति तदुत्तरमुत्तरमर्धं संग्रहस्य व्याचष्टे-**अत एव इति।** यत एव दृष्टे सत्यदृष्टकल्पना न न्याय्या अत एव यवबीजारम्भकाः परमाणवः पूर्वं कलमबीजारम्भकपरमाणुव्यावृत्तैर्यैः पाकजविशेषैः कलमबीजविलक्षणं यबीजमारब्धवन्तः प्राचीनैस्तैरेव तज्जातीयैरेव वा विशिष्टाः परमाणवो यवाङ्कुरमेवारभन्ते नान्यमिति। ननु व्यावर्त्तकगुणविशेषसिद्धौ हि त एव विशेषका भवेयुः। तत्सिद्धिरेव कुतस्त्येत्यत आह-**यथा हि-इति।** यथा हि तदवयविनां जात्या व्यावृत्तिस्तथा तदारम्भकपरमाणूनां गुणविशेषैर्व्यावृत्तिरिति। दृष्टान्तमात्रेणापरितुष्यन् प्रमाणमाह-**न हि-इति।** तत्तदवयविषु दृश्यमानविलक्षणगुणा एव तत्तदारम्भकपरमाणुषु गुणविशेषमावेदयन्ति। अन्यथा कार्येऽपि न स्युः, कारणविशेषगुणपूर्वकत्वात् कार्यविशेषगुणानामिति। उपसंहरति- **तस्मात्-इति।** भूमावुप्तबीजस्याङ्कुरजननानुगुणमवान्तरकार्यमतिशयः, तत्रोच्छूनत्वमाद्यातिशयः, उच्छूनतमत्वमन्त्यः, यतोऽङ्कुरो जातः। उच्छूनतरत्वलक्षणस्तु मध्यमः सम्वादगृहीत इति। ननु महाप्रलये सकल कार्यविनाशाभ्युपगमात् पाकजविशेषा अपि विनश्येयुः, कथं तदानीं परमाणवो नियतजातीयकार्यमारभेरन्नित्यत्राह-**कल्पादौ-इति।** कार्यदर्शनीयस्य पाकजविशेषस्यादृष्टसंस्कारवत् प्रलयेऽप्यविनाशः। यद्वा, तदानीमप्याग्नेयादि- परमाणुसंयोगात् पाकजविशेषोत्पत्तिरिति भावः। यद्युभयत्राविशेषः, तर्हीदानीमपि कृषीवलापेक्षा न स्यादित्यत्राह-**इदानीम्-इति।** बीजादिरूपेण सन्निविष्टानामारब्ध- बीजमृत्सलिलाद्यवयविनां परमाणूनां यथाङ्कुराद्यारम्भकभावस्तथोप- सर्पणमस्मदादिभिरिदानीमिति। कथं तर्हि कल्पादौ कृषीबलाद्यभावे बीजादिसमवधानमित्यत्राह-**तदानीम्-इति।** यथोक्तम् "**अणुमनसोश्चाद्यं कर्मादृष्टकारितम्**" इति (वै.सू.)। इदानीमप्यदृष्टादेवोपपत्तेः किं कृषीबलेने

त्यत्राह–**न च-इति**। हेतुमाह-**कृष्यादि-इति**। तत्र कृषीबलस्य कायसंक्षोभ साध्यानां दुःखात्मकानां भोगानां कृष्यादिकर्मलभ्यभृत्यादिभोगानां चोच्छेदः स्यात्। अव्यवस्थानामप्रसङ्गातिप्रसङ्गौ, सा च स्यात्। कृतकृषेरपि सस्याधिगमो न स्यात्, स्याच्चेतरस्येत्यर्थः। यद्वा, अदृष्टस्यैव हेतुत्वे केवलं कृषीबलभोग एव न स्याद् यस्य व्रीहितण्डुलादयोऽपि दृष्टहेतवो न स्युरिति। अयमत्र भावः, यत्र दृष्टकारणानि सन्ति तत्र तदुपहारेणैवादृष्टस्योपयोगः न स्वतन्त्रस्य, तेन हेतुत्वमवश्यमास्थेयमिति। दृष्टकर्मव्यवस्थयैवादृष्टानि भोगसाधनानीत्युपसंहरति–**तस्मात्-इति**। पाकजादय इत्यादिशब्दव्याख्यानं संस्थानविशेषैरिति। अत्र पाकजविशेषः पूर्वबीजादिसजातीयाङ्कुरारम्भे हेतुः। संस्थानविशेषः कार्यसन्निवेशविशेषहेतुरिति। तेषु पाकजविशेषेषु तत्कारणपरम्परायां च न क्वचिद् दृष्टकारणव्यतिरेकेण शक्तिरङ्गीकार्येत्याह–**ते च-इति**। नोदनादीनां परस्परनिरपेक्षाणमेव क्रियाहेतुत्वमिति दर्शितम्। **यथायथम्-इति**। क्वचित्तु पाकजविशेषस्याविशेषेऽपि मरणादिरूपकार्यविशेषदर्शनात्।

निमित्तभेदाश्च .... असाधारण्यप्रसंगात्। पृ० ११२।

तदतिरिक्तशक्तिभेदोऽङ्गीकार्य इत्यत्राह–**निमित्तभेदाश्च-इति**। पाकजानां निमित्तकारणानि भिन्नानि दृश्यन्ते, तेन निमित्तभेहहेतुकः पाकजेष्वपि विशेषोऽस्ति यतः कार्यविशेष इति भावः। निमित्तभेदं कार्यविशेषं च निदर्शयति। **तद्यथा-इति**। यदाह बाग्भटः –

हारीतमांसं हारिद्रशूलकप्रोतपाचितम्।

हरिद्रावह्निना सद्यो व्यापादयति चर्वितम्।। इति।

सर्पिःक्षीरयोश्च पार्थिवत्वात् पाकजोत्पत्तिः सम्भवतीति।।११।।

अस्तु पार्थिवेषु पाकजविशेषादेव कार्यविशेषः, अबादिषु तदभावाच्छक्तिरङ्गीकार्येत्याह **यत्र तर्हि-इति**। केचिदाप्याः परमाणव उद्भूतद्रवत्वं कार्यमारभन्ते, केचित्त्वनुद्भूतद्रवत्वं करकादिकम्। तैजसाश्चोद्भूतस्पर्शमुद्भूत रूपमनुद्भूतस्पर्शानुद्भूतरूपं च प्रदीपं चक्षुर्दर्शनं चारभन्ते। वायवीयाश्च स्तिमितादीति। किञ्च, पार्थिवेष्वपि केषुचित् पाकजाभावेऽपि कार्यविशेषः प्रतिमादिषु इत्याह – **कथं वा इति। विशेषाभावात्**=पाकजदृष्टरूपादिविशेषाभावादित्यर्थः। ननु प्रतिष्ठादिजनितेन प्रतिष्ठापकात्मसमवेतेनैव धर्मेण सहकृतः पूजादिर्धर्मं

तद्व्यतिरेकश्चाधर्मं प्रसूते। ततश्च न प्रतिमादावतिशयोऽङ्गीकार्य इत्याशङ्क्याह- **न चेति। साहायकं**=सहायकारित्वं **यजमानः**=प्रतिष्ठापकः, **अन्यः**=पूजकादिः। **उपयोगे वा**-इति। क्वचिदन्यधर्मस्यान्यधर्मं प्रत्युपयोगाङ्गीकारे नियामकाभावात् सर्वस्य धर्माधर्मजातस्य सर्वपुरुषसाधारण्यप्रसङ्ग इति।

निमित्तभेदसंसर्गाद् .... प्रत्यभिज्ञानतोऽपि वा। पृ० ११३।

अर्द्धद्वयेन शङ्काद्वयं परिहरति - **निमित्तभेद-इति। निमित्तभेदः** = सहकारिभेदः। तस्मादेवोद्भवादिविशेषोपपत्तिः प्रतिष्ठादिजनितापूर्ववदात्मसंयोगादेव देवतानां सन्निधानादाराधनीयाः प्रतिमादय इति स्वमतेन परिहारः। परमतेन तु तत्र देवतासदृशप्रतिमादर्शनजनितेन प्रत्यभिज्ञानेन, पूर्वैः प्रतिष्ठापिता सेयं प्रतिमेति वा प्रत्यभिज्ञानेन सहकारिभेदेनार्थक्रियाविशेषः संभवतीति।

उपनायकादृष्ट .... व्याख्याताः। पृ० ११३।

पूर्वार्द्धं तावद् विवृणोति-**उपनायक-इति।** दृष्टकारणसंयोजन-द्वारेणादृष्टस्योपकारकत्वात् परमाणूनां परस्परसंयोजकक्रियाहेतुर-दृष्टमुपनायकादृष्टमुच्यत इति। ततः किमित्यत आह-**तेषाम् इति।** पाकजविशेषाभावेऽप तत्तद्विशेषसहकृतानां परमाणूनां विशेषादेव कार्यविशेषप्रादुर्भाव इति अतिशयान्तरकल्पनातः क्लृप्तादेवादृष्टविशेषात् कार्यविशेषकल्पना साधीयसी, दृष्टं च केवलादृष्टस्यैव सामर्थ्यमग्न्यूर्द्ध्वज्वलनादिष्विति भावः। तथापि चेदपरितोषस्तत्राह-**यथा इति।** दृष्ट एव वैद्युताग्निसंयोगादिनिमित्तभेदस्तत्र तत्रानेक इति। उत्तरमर्द्धं व्याचष्टे-**प्रतिमादयस्तु-इति। तेन तेनेति** तत्तच्छास्त्रोक्तेनेत्यर्थः। पूर्वमनाराधनीयस्यैव पश्चादाराधनीयत्वे दृष्टान्तः-विषदष्टेति। मूर्च्छामूषितचैतन्ये हि वपुषि व्युत्क्रमेण प्रत्यवायाभावेऽपि पश्चादाराधनीयो राजेति। ननु सर्वगतत्वाद् देवतानां नित्यमेव सन्निधानं किं प्रतिष्ठाविधिना तत्राह-**सन्निधानं च-इति। नो दर्शनं** देवतावादिनामास्तिकानामित्यर्थः। कथमिदं नास्तिकस्य मीमांसकस्योत्तरं स्यादित्याशङ्क्य **प्रत्यभिज्ञानतोऽपि** वेत्येतदुत्तरतया व्याचष्टे-**अन्येषाम्-इति।** यो नामुनेयं प्रतिष्ठापितेति प्रतिष्ठायामनुसन्धातुमीष्टे तस्य प्रतिष्ठा प्रत्यभिज्ञासहकारिणी, इतरस्य तु पूर्वपूर्वपूजतप्रत्यभिज्ञा। **तथात्वम्**=पूजातिक्रमाभ्यां धर्माधर्मजनकत्वमिति। अभिमन्त्रितस्य पयःपल्लवादेर्विषरोगादिप्रतीकारान्यथानुपपत्त्या

शक्तिकल्पनमाशङ्क्य तत्राप्युक्तमेव प्रकारमतिदिशति-एतेन इति।।१२।।

धटादिषु का वार्ता .... भंगप्रसंगात्। पृ० ११५।

तत्रापि हि तत्तन्मन्त्रप्रतिपाद्यगरुडादिदेवतापरिग्रहादभिमन्त्रितत्वप्रत्यभिज्ञानाद्वा प्रोक्षणादिवदभिमन्त्रणासहकाराद्वोपपत्तिरिति गूढाभिसन्धिः पृच्छति- **धटादिषु-इति**। तुलातप्तमाषादिष्वित्यर्थः। गूढाभिसन्धिरेबोत्तरमाह-**कुशला-इति**। इतरः स्वाभिप्रायमुद्घाटयति-**न हि सामग्री इति**। तुलारोहणाङ्गत्वेन विहिताभिमन्त्रणादिसामग्री न तावदभिशस्तसमवेतं जयस्य पराजयस्य वा निमित्तं किञ्चिद् दृष्टं लघुत्वं गुरुत्वं वा विघटयति ज्ञापकत्वेनाकारकत्वात् तत्यादर्शनाच्चेति भावः। **नाप्यदृष्टम्-इति**। विघटयतीत्यनुषङ्गो ज्ञापकत्वादेव। किञ्च, धर्मविघटने सदा भङ्गप्रसङ्गः, अधर्मविघटने सदा विजयप्रसङ्गः, उभयविघटनं त्वेकस्याः सामग्र्या न सम्भवतीति वक्ष्यमाणन्यायोऽत्राप्यनुसन्धेय इति। नन्वभिशस्त-समवेतमर्थतथात्वज्ञापकं किञ्चिददृष्टमुत्पादयति। तेन तद्द्वारा ज्ञापकोऽयं विधिर्भविष्यतीत्याशङ्क्याह-**नाप्यदृष्टमुत्पादयतीति-इति**। न चैकस्मिन् धर्ममितरस्मिन्नधर्ममिति सम्भवति, सामग्र्यभेदे कार्यभेदानुपपत्तेरिति भावः। प्रतिमादौ तत्तद्देवतासन्निधानादिसम्भवात् पूजातिक्रमलक्षणसामग्रीभेदेन धर्माधर्मजनन सम्भवाच्च सम्भवेदपि परिहारस्तुलाद्याभिमानिकदेवताभावात् सामग्र्याश्चैकरूपत्वेन धर्माधर्महेतुत्वायोगात् संस्काराधानमेवाङ्गीकार्यमिति पुनः प्रत्यवस्थानमिति।

जयेतरनिमित्तस्य .... फलतो निषेधात्। पृ० ११५-११६।

सिद्धान्ती स्वाभिप्रायमुद्घाटयति –**जयेतर इति। वृत्तिः**=अभिव्यक्तिः, सा च सहकारि लाभ इति स्वयमेव व्याख्यास्यति। अभिशस्तसमवेत-योर्जयेतरनिमित्तधर्माधर्मयोरभिव्यक्तिद्वारेणार्थतथात्वं ज्ञापयति परीक्षाविधिः। अतोऽत्रापि न संस्कारकल्पनेत्यत्रापि पूर्वोक्तमेव परिहारं स्मारयति-**यद्यपि-इति**। परिक्षाविधिनापि धर्मसत्यादिषु शरीरवदभिमानिनीनां सन्निधिः क्रियते। सन्निहिताश्चाभिशसस्तस्तेयादिकर्मविभवानुरूपं तुलानमनोन्नमनादिकं लिङ्गमभिव्यञ्जन्ति। ततो जयः पराजयो वेति। यद्यप्यभ्युपगमः सिद्धस्तथाप्यत्र मीमांसकस्यासम्प्रतिपत्तेरभ्युपगम्यैवान्यथा परिहार उच्यत इति श्लोकं व्याचक्षाणस्तमेव परिहारमाह-**तेनापीति**। तद्विधानाभिव्यक्तमभिशस्तकृतस्तेयाद्यनुमापकं कार्यं नमनोन्नमनादि जनयति। कथमनेन धर्माधर्माभिव्यक्तिरित्यत्राह- **कर्मणश्च-इति**। सहकारिलाभे फलोत्पत्त्या

कर्माभिव्यज्यते, तेनाभिव्यक्तिहेतुत्वात् सहकारिलाभोऽभिव्यक्तिरुपचर्यत इति। कथं लोकपालार्च्चनादिकर्मणां क्षणिकत्वेन साहित्यानुपपत्तेः सहकारितेत्यत्राह- **तच्च-इति**। क्रमक्षणानां स्वरूपतः साहित्याभावेऽपि तद्विषयज्ञानद्वारा तत्साहित्यात् सहकारित्वोपपत्तिः। तत्र निष्पापत्वेन प्रत्यभिज्ञानं जयनिमित्तं कर्माभिव्यनक्तीतरदितरदिति विवेकः। सुगूढ़मपि पापं चरद्भिरात्मनः पापकारित्वं ज्ञायत एवेत्यत्र स्मार्त्तवचनमुदाहरति-**यदाहुरिति**। एवं तावत् संग्रहो व्याख्यातः। इदानीं तु न तावज्जयपराजयमात्रफलमनेनानुष्ठितं कर्मास्ति यदनेनाभिव्यज्येत, तादृशकर्मणामश्रुतत्वात्। न चानुष्ठितं स्तेयादि पराजयहेतुस्तस्य नरकादिफलत्वात्, न च विजयमानेन विजयहेतुः कश्चित् धर्मोऽनुष्ठितः किन्तु स्तेयादिरनुष्ठितः, न चाननुष्ठानस्य किञ्चित्फलमस्तीति तत्रापरितुष्यन् परिहारान्तरमाह **अथवा इति**। मिथ्याभिशस्ततां निमित्तीकृत्य विधिरस्ति। न चाविहितस्य फलश्रुतिः सम्भवतीति निषेधलक्षणमधर्महेतुत्वम्। न चात्राविशुद्धो नारोहेदिति निषेधः श्रूयते इत्यत्राह- **पराजय इति**। अप्रस्तुतोऽपि निषेधः कल्प्यते, अविशुद्धं प्रत्यारोहणस्यानिष्ट-हेतुत्वान्निषिद्धस्यैव च तथात्वादिति।

अथ शक्तिनिषेधे .... अलमतिविस्तरेण। पृ० ११७-१२४।

तदेवम्भूतसमवायिनी शक्तिः सहजा आधेया वास्तीति न किञ्चित्प्रमाणस्तीत्युक्तम्। इतरस्तु वादजल्पयोरन्यतरेण कथाप्रवृत्तिं कृत्वा तयोर्न स्वपक्षसाधनमन्तरेण परसाधनस्य दूषणमात्रेण पर्यवसानमिति मन्वानः पृच्छति- **अथ इति**। गूढाभिसन्धिः प्रतिब्रूते-**न किञ्चित् इति**। अज्ञातपराभिसन्धिः पुनः पृच्छति – **तत् किमस्त्येव-इति**। निषेधकाभावे त्वस्तित्वमेवावशिष्यत इति। गूढाभिसन्धिरेव सम्प्रतिपत्तिमुत्तरमाह-**बाढम्-इति**। यद्येवमपसिद्धान्तप्रसङ्ग इत्यत्र स्वाभिसन्धिमुद्घाटयितुमाह-**न हि-इति**। अस्मत्सिद्धान्तानभिज्ञो भवानिति भावः। पुनरप्यनभिज्ञः पृच्छति-**कोऽसाविति**। आशयमाविष्करोति-**कारणत्वम्-इति**। शक्तिमत्तैव कारणत्वमिति मन्वानः पृच्छति-**किं तत्-इति**। ज्ञातपराभिसन्धिराह- **पूर्वकाल-इति**। पूर्वकालनियतत्वमित्येव वक्तव्ये नियतजातीयत्वाभिधानं जात्यपेक्षयैव नियम इति स्मारयितुमिति। अन्यथा कारणत्वं निरूपयति-**सहकारि-** इति। यस्य सहकारिवैकल्यप्रयुक्तः कार्यप्रागभावो न तु स्वरूपप्रयुक्तः, यः सहकारिषु सत्सु करोत्येवेत्यर्थः। न त्वभावादकारणत्वमिति। तर्हि कारणत्वातिरिक्तमदभिमतातीन्द्रियशक्तिनिषेधः किंप्रमाण इत्याह-**तत इति**। एकत्र

हि सिद्धस्यान्यत्र निषेधः न त्वत्यन्तानुपलब्धस्येत्याशयवानाह-**न काचित्-इति**। अविदितपराशयः पृच्छति-**तत् किम्-इति**। **विधिः**=अस्तित्वम्। यदि निषेधो नास्ति तर्हि विधिरेव स्यात्, भावाभावयोरितरेतराभावात्मकत्वादिति। न हि निषेधवद् विधिरपि निष्प्रमाणः सिध्यतीत्युत्तरमाह-**सोऽपि-इति**। निषेधे प्रमाणं नास्तीत्युक्तं न तु निषेधो नास्तीति भावः। तर्हि साधकबाधकयोरभावाच्छक्तेरस्तित्वनास्तित्वयोः सन्देह एव स्यात्। एवमपि भवदभिमतं न सिद्ध्येदित्यभिप्रायवानाह-**तर्हि-इति**। उत्तरं **कथमेवम्-इति**। न तावानेव सन्देहहेतुरपि तर्हि धर्म्युपलब्धिरपि, ततश्चानुपलब्धे शक्तिरूपे धर्मिणि कथं सन्देह इति। यदि शक्तेर्बुद्धावनारोह एव तर्हि तत्सत्त्वासत्त्वविषयो विवादः कथमावयोर्भवेत्। तस्यापि सामान्यतो ज्ञाते धर्मिणि विशेषविषयत्वादित्याह- **विवाद इति**। सुहृद्भावेनोत्तरमाह-**अनुग्राहकत्व इति**। अत्रोभयसिद्धसहकारिपदार्थमधिकृत्य तद्विशेषविषयो विवादः कथं तर्हि शक्तिविषय इत्यत्रोक्तं-**अनुग्रहाकत्वेन-इति**। सहकारिविशेषो भवदभिमतया शक्त्या सहानुग्राहकत्वेन साम्यात् शक्तिपदास्पदं भवति। ततश्च सहकारिविशेषविषय एव विवादः शक्तिविषय इत्युच्यते। नन्वसावपि सहकारिभेदः सम्प्रतिपन्नश्चेत् न विवादगोचरः, असम्प्रतिपत्तौ सुतरां शक्तिवद् बुद्धावनारोहादतः पुनरपि विवादविषयाभाव इत्यत्राह- **तत्रापि-इति**। दहनादेरधिकः प्रतिबन्धकापाकरणीयः कश्चिदनुग्राहकः सम्प्रतिपन्न इति न तस्य बुद्धावनारोहदोष इति। तर्हि सम्प्रतिपत्तौ न विवाद इत्येतत् तदवस्थमित्यत आह–**यदि-इति**। प्रतिबन्धकापाकरणीयः कश्चिदधिको मीमांसकस्यापि सम्प्रतिपन्न इति कृत्वा यदि वयं न विवदामहे ततः सोऽधिकः प्रमाणसिद्धः प्रतिबन्धकाभाव एव भविष्यतीति। अस्मदभिप्रेतस्यैवानुग्राहकत्वमङ्गीकृत्य ततोऽधिकभावे निःसाधनको *मीमांसको*ऽपि न विप्रतिपत्तुमर्हतीति। एके व्याचक्षते सम्प्रतिपन्नाग्न्याद्यतिरिक्तसहाकार्यपेक्षं कार्यमिति *मीमांसको* यदि ब्रूयात् नास्माकमत्र विवाद इत्याह-**तत्रापि-इति**। यदि च *नैयायिको*क्तं प्रतिबन्धकाभावादेः सहकारित्वं *मीमांसको*ऽङ्गीकुर्यात् तदा प्रतिबन्धकाभावसहितायाः सामग्र्याः कार्यव्यभिचाराभावात् तदतिरिक्तकल्पनं निष्प्रमाणकमिति निःसाधनो *मीमांसको* न विप्रतिपत्तुमर्हतीत्याह-**अस्मदभिप्रेतस्य च-इति**। ततश्चायं विवादविषयोऽवशिष्यत इत्याह-**तत इति**। तस्याभावादेरनुग्राहकत्वमनन्यथासिद्धान्वयव्यतिरेकित्वे व्युत्पादितम्। अतः शक्तिनिषेधो नाम न कश्चिदन्योऽर्थः प्रमाणसाध्योऽस्तीति शक्तिविषयेयं कथोपरम्यत इति।

तथापि चेतन एव .... उपपद्यते। पृ० १२८।

नन्वेवमपि भूतधर्मत्वमपूर्वस्य न सिध्यतु, चेतनधर्मत्वेऽपि विनिगमना कुतस्त्येत्याह– **तथापि इति।** अत्र **संभोगो निर्विशेषाणा**मित्येतदुत्तरयति – **उच्यत-इति।** अदृष्टविशेषविशिष्टेष्वपि शरीरादिभूतेषु सर्वात्मनां सर्वत्र सर्वदा सन्निधानाविशेषादिदमस्यैव शरीरं नान्यस्येति नियामकाभावेन प्रतिनियतभोगासिद्धेः चेतन एव संस्क्रियत इति निर्णेष्यत इति। तदेवोपपादयति–**न हि-इति।** तच्छरीरं यस्यैवेति दृश्यते तदपूर्वविशिष्टमपि तस्यैवेति नियमो न स्यादिति। तदनियमे दोषमाह– **तथा च-इति।** ननु भूतधर्मत्वेऽप्यपूर्वस्य कच्चिच्चेतनं प्रत्यसाधारण्यं भविष्यति। ततस्तद्विशिष्टं शरीरादि तस्यैवेति नियमः स्यादित्यत्राह **न च इति।** भूतधर्मा हि रूपादयः सर्वान् रति ज्ञानजनकत्वेन साधारणा दृश्यन्त इति। शङ्कते– **द्वित्वादिवत्-इति।** द्वित्वादयो हि भूतधर्माः केनचिदेव ज्ञायन्ते नान्येनेत्यसाधारण्येन दृष्टान्ता इति। **न-इति।** द्वित्वादेरपि शरीरादिना तुल्ययोगक्षेमत्वात् भूतधर्मत्वेनासाधारणत्वस्यासिद्धत्वादिति। तुल्यतामेवाह-**नियत-इति।** यस्यापेक्षाबुद्धिजन्या द्वित्वादयस्तस्यैव ते स्वविषयां बुद्धिं जनयन्ति नान्यस्येति नियतचेतनगुणोपगृहीतत्वेनैव तेषामसाधारण्यं, न तु भूतधर्मत्वमात्रेण, स्वयमविशेषादिति। रूपादिभ्यो द्वित्वादिनां स्वगतविशेषाभावादिति। यद्वा, स्वरूपेणासाधारण्यादित्यर्थः।

यद्यपि द्वित्वादीनां स्वयमविशेषः, तथापि नियतचेतनगुणोपग्रहाभावे किं बाधकं येन नियमस्य नियतगुणोपगृहीतत्वेन व्याप्तिः सिध्येदित्याशयेन पृच्छति- **तथापि-इति।** यदि द्वित्वादयो नियतचेतनगुणानुगृहीता भवेयुस्तर्हि तेषां चेतनधर्मेण स्वविषयज्ञानेन सह यः कार्यकारणभावः स भज्येतेत्याह-**कार्यकारण-इति।** स्वविषयज्ञानजनकत्वानुपपत्तिर्बाधकमित्यर्थः। कुत इत्यत आह–**शरीरादीनाम्-इति।** चेतनधर्मजनकत्वस्य तद्धर्मोपगृहीतत्वेन व्याप्तिप्रदर्शनादित्यर्थः। व्याप्तिमेवोदाहरणे दर्शयति-**तद् यथा इति।** न ह्यनिष्टे प्रवृत्तिप्रयत्नः, न चाज्ञातविषयेच्छा, नापि तदविषयस्य सुखहेतुत्वमित्यादि। ततश्च द्वित्वशरीरादीनां नियतत्वं चेतनगुणोपग्रहणेन व्याप्यत इति ततस्तत्सिद्धिरिति। सन्तु तर्हि प्रकृते शरीरेन्द्रियाणां प्रतिनियतभोगसाधनत्वेऽपि नियतचेतनगताः सम्प्रतिपन्ना एव नियामका इत्याह–**प्रकृत-इति।** शरीरादेः पूर्वं बुद्ध्याद्यभावेन बुद्ध्यादिभिः शरीरनियमः। तेन नियतेषु शरीरादिषु बुद्ध्यादयोऽस्य भवन्ति, तैश्च तन्नियम इति

इतरेतराश्रयप्रसङ्गादात्मसमवेतमपूर्वमेव नियामकमङ्गीकर्त्तव्यं, तदनङ्गीकारे नियमानुपपत्तिमुपसंहरति-**तथा च इति**। चेतनानामतिशयो नाङ्गीकृतः सातिशयान्यपि भूतानि साधारणानि न शरीरादेः पूर्वं बुद्ध्यादयः सन्ति। तस्मान्न शक्तिनियम उपपद्यते। अत्र प्रयोगः भोक्तुः स्वगुणोत्पादिताः शरीरादयः, कार्यत्वे सति तद्भोगसाधनत्वात्, स्रगादिवत्। न च बुद्ध्यादिभिः सिद्धसाध्यता शरीराद्युत्पत्तेः प्राक् तदभावादिति।।१३।।

एतेन .... प्रागेव निरस्तम्। पृ० १३०-१३४।

एतेन-इति। भोक्तृसमवेतमेवापूर्वं भोगान्नियच्छति नान्यसमवेतमिति प्रतिपादनेनेत्यर्थः।

कथं निरस्तमिति दर्शयितुं तन्मतमेव तावदुपन्यस्यति-**एवं हि तत्-इति**। तन्मते हि पुरुषो न किञ्चित् करोति न केनचित् क्रियते। यथाहुः –

'न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः' (सां०का० ३) इति। **कूटस्थचैतन्यस्वरूप** इति। **कूटस्थम्**=अपरिणामि चैतन्यमेव स्वरूपं यस्य स तथोक्तः तदप्याहुः 'तद्विपरीतस्तथा च पुमान्' (सां०का० ११) इति। अत्र चकारोऽप्यर्थः। व्यक्ताव्यक्ताभ्यामनेकत्वाकार्यत्वे साधर्म्येऽपि निर्गुणत्वचैतन्यादिभिस्ताभ्यां विधर्मेत्यर्थः। अपरिणामिन्यप्रतिसङ्क्रमा चितिशक्तिरिति कथं तस्याकारणत्वे सर्ग इत्यत्र कारणं तत्स्वरूपं चाह-**आदिकारणम्-इति**। सर्वमपि तया क्रियते, न तु सा केन चित्। तदाहुः– 'मूलप्रकृतिरविकृतिः' (सां०का०३) इति। अचैतन्यादेव परिणामित्वम्। तच्चाहुः–त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि। व्यक्तं तथा प्रधानम्' (सां०का० ११) **इति**।

केन रूपेण तस्याः परिणाम इत्याह-**तत इति**। **ततः**=प्रकृतेः। महदहङ्कारेन्द्रियतन्मात्रमहाभूतात्मनां त्रयोविंशतेस्तत्त्वानां सर्गः। यद्यपि प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कार इत्यादिक्रमात् परिणामः, तथापि प्रकृतेर्मूलकारणत्वात् तत इत्युक्तम्। ननु पुरुषार्थाय हि प्रवर्तते प्रकृतिः, पुरुषार्थश्च भोगेऽपवर्गश्च, भोगो विषयानुषङ्गस्तद्वियोगश्च यैः पुरुष उपयुज्यते विभज्यते च त एव शब्दादयः परिणामभेदाः सन्तु, कृतमितरेण महदादिपरिणामेन। न च विषयसम्बन्धार्थः तत्संसर्गः। नित्यचैतन्यरूपस्य पुरुषस्य स्वभावतः तत्सम्बन्धोपपत्तेरित्याशङ्क्याह– **न हीति**। चितिश्चैतन्यमात्ररूपः पुरुषः, यदि पुरुषस्वभावानुबन्धौ विषयानुषङ्गो भवेत् ततः स्वभावस्यानुच्छेद्यत्वेनानिर्मोक्षः स्यादिति। तर्हि प्रकृतेरेवैष स्वभावोऽस्तु

यद्विषयपाशैः पुरुषं बध्नाति तत्राह-**नापि-इति**। तदीयत्वं तादर्थ्यं, तदीयभोगोपकरणसम्पादकत्वमिति यावत्। तत्स्वभावत्वे प्रकृतेर्नित्यत्वेन कदाचिदपि निरुपाधित्वानुपपत्तेरनिर्मोक्ष एव पुंस इति। तर्ह्यनित्यस्य घटादेर्विषयस्यैव चैतन्यसम्बन्धित्वस्वभावोऽस्त्वित्यत्राह-**नापि इति**। विषयस्यैवाव्यवधानेन तदीयत्वं चेतनीयत्वं चैतन्यसम्बन्धित्वं स्वभाव इत्यभ्युपगमे यावत्सत्वं सर्वस्याप्यवभासप्रसङ्गात् कस्यचिद् दृष्टत्वं कस्यचिददृष्टत्वं कस्यचिन्नोपपद्येतेति। अस्तु तर्हि बाह्येन्द्रियपरिणामः, ततो दृष्टादृष्टत्वव्यवस्थासिद्धेः कृतमन्तःकरणैरित्यत्राह-**नापीन्द्रिय-इति**। बाह्येन्द्रियमात्रद्वारा घटादेश्चैतन्यसम्बन्धाभ्युपगमे त्विन्द्रिसम्बद्धेऽपि क्वचिद् विषये कदाचिज् ज्ञानोत्पत्तेर्व्यासङ्गो विलम्बो दृश्यते, स न घटत इति। तर्हि तदर्थं मनोऽप्यङ्गीक्रियतां किमहङ्कारकल्पनयेत्यत्राह-**नापीन्द्रियमनोद्वारा-इति**। पूर्ववदत्रापि घटादिस्तदीय इत्यनुषञ्जनीयम्। कश्चिद्धि नरः स्वप्ने वराहोऽहं व्याघ्रोऽहमिति चात्मानं मनुते। तस्य नरस्यापि सतः, नरत्वे विद्यमानेऽपीति यावत्। **नरत्वेनात्मोपधानं** = नरोऽहमित्यभिमानो न दृश्यते। न तावदत्र बाह्येन्द्रियवृत्त्यभावान्नरत्वाभिमानानुदयः, जाग्रदवस्थायामपि तस्य तन्निरपेक्षत्वदर्शनात्। न च स्वप्नदशायां मनो न व्याप्रियते। तस्माद् विद्यमानेऽपि नरत्वे तदभिमाने च बाह्येन्द्रियनिरपेक्षे मनसि व्याप्रियमाणे च तस्मिन् यद्व्यापारविरही नरत्वाभिमानानुदयो भवति सोऽपीन्द्रियमनोऽतिरिक्तो नरत्वाभिमानहेतुरङ्गीकार्यः। स एवास्माकमहङ्कारपदाभिधेय इति। यद्वा स्वप्नदशायां वराहाद्यभिमानविषयः कश्चिदभ्युपगन्तव्य इत्यर्थः। अन्येषां व्याख्या-यदीन्द्रियं मनश्चोभयं द्वारं तर्हि यदा स्वप्ने मनोद्वारा विषयसम्बन्धः तदैवेन्द्रियद्वारेणापि स्यात्, ततश्च यथा तत्र वराहोऽहमिति मनसाभिमानः तथेन्द्रियेण नरोऽहमित्यभिमानोऽपि भवेत्। न चासावस्ति, तस्मान्नोभयं द्वारमिति। सेयमसङ्गतत्वादनादर्त्तव्येति। नरत्वेनार्थोपधानाभावादिति *केचित्* पठन्ति। तत्र यथा वराहोऽहमिममर्थं जानामीत्यभिमन्यते तथा नरोऽहमिममर्थं जानामीत्यर्थोपधानं नास्ति। तस्मान्नियतविषयाभिमानव्यापारवानन्यः स्वीकर्त्तव्य इत्यर्थः। तर्ह्यहङ्कारोऽप्यस्तु कृतं महतेत्यत्राह- **नापि-इति**। पूर्ववदनुषङ्गः सुषुप्त्यवस्थायामहङ्कारपर्यन्तेन्द्रियव्यापारविरामेऽपि शरीरधारणनिमित्त-श्वासप्रश्वासहेतोः प्रयत्नसन्तानस्यानुवृत्तेस्तदितिरिक्तं किञ्चिदस्ति यत् प्रयतमानं शरीरं बिभर्ति, स महानिति। तस्य महतः स्वरूपमुपसंहारव्याजेन दर्शयति-**तद् यदेतासु-इति**। तत्=तस्मान्न केवलं सुषुप्तौ किन्तु जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यवस्थासु

सप्रयत्नं यदनुवर्त्तते यदाश्रयश्च स्मृतिहेतुः संस्कारस्तदन्तःकरणमुपारूढ इन्द्रियमनोऽहङ्कारव्यापारपरम्परया तत्र प्रतिफलित इति यावत्। तदाहुः –

एते प्रदीपकल्पाः परस्परविलक्षणा गुणविशेषाः।

कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति।। (सां०का०३६) इति।

गुणविशेषा=इन्द्रियाणि। गुणविकारत्वात् पुरुषस्य कृते विषयं परम्परया बुद्धौ प्रयच्छन्तीत्यर्थः। सोऽर्थः स्वच्छस्येव स्फटिकस्य लाक्षादिश्चैतन्यमात्रस्यात्मन उपरञ्जको भवति। अन्तःकरणसन्निधानात् तदारूढैः स भिन्न इव भातीति यावदिति यदि बुद्धेरेव व्यापारो न चात्मनश्चेत् तस्य कथं तर्हि चेतने कर्तृत्वाभिमानः योऽहं जानामि स एव करोमीति, कथं वा कर्तरि चैतन्याभिमानः योऽहं करोमि स एव जानामीति, तत्राह-**भेदाग्रहात्-इति**। कर्तृचेतनयोर्भेदाग्रहादन्यतरस्मिन्नन्याभिमानः। यथा **नैयायिकानां** शरीरात्मनोरिति। तच्चोक्तम् –

तस्मात् तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्।

गुणकर्तृत्वे च तथा कर्तेव भवत्युदासीनः (सां०का० २०) इति।

लिङ्गं=बुद्धिः। प्रकृत्यनुमापकत्वात्, धर्माधर्मयोरप्यन्तःकरणमेवाश्रय इत्याह-**तत्रैव** इति। यदि धर्मादयो बुद्धेर्गुणाः कीदृशस्तर्ह्यात्मेत्याह-**पुरुषस्तु-इति। सर्वथा-इति**। अनुभवतद्वासनातत्फलैः कर्मतद्वासनातत्फलैश्चेत्यर्थः। बुद्धितत्त्वस्यासाधारणं व्यापारं दर्शयिष्यन् सर्वेषां तावत् कारणानां यथास्वमसाधारणान् व्यापारानाह-**आलोचनम्-इति**। संमुग्धवस्तुमात्रदर्शनमालोचनं, तच्च चक्षुरादीनामिदमिति बाह्यप्रावण्यात्मकः परिणतिभेदः यत् नैयायिकैर्निर्विकल्पकमित्युच्यते। विकल्पस्तु संमुग्धदृष्टस्य विशेषणविशेष्यभावेन विवेचनं तन्मनसो व्यापारः। अभिमानः अहं जानाम्यहं करोमीत्यादिरूपः, सोऽहङ्कारस्य। कृत्यध्यवसायः स बुद्धेरिति। नन्वीदृशः कृत्यध्यवसायः कृतिसमवायं विषयसम्बन्धं चैतन्यं वापेक्षते, स कथमनेवंविधाया बुद्धेर्धर्मो भवेदित्यत आह–**सा हि-इति**। तानेवांशान् विभजते–**पुरुषोपराग इति**। कथमेतत्त्रयं बुद्धेर्धर्म इत्याशङ्क्य संमुग्धमुदाहरणं दर्शयति-**भवति हि-इति**। भवतु, कथं तावता अंशत्रयसिद्धिरित्यत्र निष्कृष्यांशान् दर्शयति-**तत्र-इति**। दर्पणमुखयोरिव बुद्धिचेतनयोर्भेदाग्रहादेकत्वाभिमानः पुरुषोपराग इति। इदमा प्रतिनिर्दिष्टस्य विषयस्य यद्ग्राहिकेव बुद्धिराभाति स चेतनोपराग इत्यर्थः। तेन मयेत्यभिमानः कथं बुद्धिर्धर्मः

स्यादिति शङ्का निरस्ता भवति। चेतनोपरागश्चेतनसम्बन्धः, स च परिणामविशेषः, तत् कथं चेतनोऽपरिणामी बुद्ध्या सम्भन्त्स्यत इत्यत्रोक्तं-**दर्पणस्य-इति।** कथं दूरस्थेन विषयेण बुद्धिरुपरज्यत इत्यत्रोक्तम् इन्द्रियप्रणालिकया-इति। सोऽपि किं स्वभावतश्चेतन इत्यत्राह-**पुरुषस्य इति।** यद्वा, चेतनसामानाधिकरण्येनाध्यवसीयमानत्वादिच्छादयः पुरुषधर्माः सन्तु, कृतं बुद्ध्येत्याह-**पुरुषस्य-इति।** इच्छादिरूपेणात्मनः परिणामे कौटस्थ्यं हीयेत, ततश्च परिणामिनो घटादिवदचैतन्यप्रसक्तिरिति भावः। **तदेवं सांख्यमतमुपन्यस्यैतेनैतन्निरस्तमिति** पूर्वोक्तं स्मारयति-**तदेतत् इति।** भोक्तृधर्म एव भोगनियामको नान्यधर्म इति प्रागुक्तत्वान्निरस्तमिति।

तथाहि .... दुर्वारः। १३६-१३८।

यथा निरस्तं तथाह- **तथाहि-इति।** कर्त्तुर्धर्माधर्मादयो भोगस्य नियामका इति तावदविवादं, चेतनश्च कर्त्तैव नः प्रामाणिकानां कृतिचैतन्ययोः सामानाधिकरण्यात्। अन्यथाऽकर्त्तैव चेतनोऽचेतनैव बुद्धिः कर्त्री, तद्धर्मा एव भोगन्नियच्छन्तीति मते बुद्धिर्नित्याऽनित्या वा स्यात्। पूर्वत्र पुंसो नापवर्गः स्याद् बुद्धिलक्षणोपाधेरनुच्छेदात्, उत्तरत्र तु नानुत्पन्नस्यानित्यत्वमित्यनुत्पत्तिदशायां बुद्धितद्धर्माभावात्संसारप्रागभाव एव पुंसः। ततश्च कदाचिद्भोगः कदाचिन्मुक्तिरिति भोगनियमो नोपपद्येत। पूर्वं पुरुषान्तरापेक्षया भोगनियमानुपपत्तिरुक्ता, इदानीं त्वेकस्यैव कालापेक्षया, तत्रोभयोरपि भोगनियमानुपपत्तित्वाविशेषान्निरस्तमित्युक्तम्। अत्रापि नित्यविभूनामात्मनां सर्वबुद्धिप्राप्त्यविशेषेण बुद्धिनियमाभावात् तदायत्तभोगनियमानुपपत्तिरनुक्तसुलभेति भावः। **कृतिसामानाधिकरण्यव्यवस्थिता इति।** कर्त्तृधर्मा इत्यर्थः। इदं त्वस्माभिरुच्यत इत्याह-**चेतनोऽपि इति।** चैतन्यमपि कर्त्तुरिवेत्यर्थः। नन्वयमनुभवो भेदाग्रहनिमित्तो भ्रम इत्युक्तं, तत्राह-**न चायम्-इति।** नन्वस्ति बाधकं परिणामित्वं कर्त्तुः परिणामित्वादित्याह-**न-इति।** ततः किमित्यत आह-**तथाच-इति।** प्रयत्नोऽपि बुद्धेः स्वाभाविको न स्यादित्यर्थः। शङ्कते-**दृष्टत्वात्-इति।** बुद्धेः कृतिसमवायस्य मानसप्रत्यक्षसिद्धत्वात् न परिणामित्वानुमानं कर्त्तृत्वं बाधत इति। तर्हि कृतिचैतन्ययोः सामानाधिकरण्यस्यापि दृष्टत्वात्कर्त्तुरचैतन्यानुमानमपि बाधितविषयमित्याह-**तुल्यम्-इति।** बाधकान्तरमाशङ्कते – **अचेतना-इति।** अचेतनाया हि प्रकृतेः कार्या बुद्धिः, साऽचेतना स्यात्, चेतनभावे वा प्रकृतेरपि चैतन्यप्रसङ्ग इति भावः। **न-इति।**

कर्त्तुः कार्यत्वमेवास्माकमसिद्धं, दूरत एवाचेतनकार्यत्वमिति। न परं कार्यत्वे प्रमाणाभावः किं च कार्यत्व एव प्रमाणमस्तीत्याह-**प्रत्युत-इति**। जायमानाः प्राणिनः तावत्स्तन्यादिषु रागवन्तो दृश्यन्ते, रागश्चा सुखसाधनानुमानात्, तदनुमानं च तज्जातीयलिङ्गपरामर्शात्, स च जायमानस्यास्मिन् जन्मनि न सम्भवतीति तदर्थं भावान्तरमास्थेयम्। एवं पूर्वेष्वपि भावेष्वित्यनादित्वमेव कर्त्तुः सिध्यति। तदाह सूत्रकारो 'वीतरागजन्मादर्शनात्' (न्या०सू० ३.१.५) इति। अस्त्वचेतनकार्यत्वं बुद्धेः, तथापि तस्याश्चैतन्यं, तच्चैतन्ये कारणचैतन्यं च न प्रसज्यत इत्यनिष्टप्रसङ्गमुखेन दर्शयति-**यद्यत्-इति**। यदि यावद्धर्मकं कारणं तावद्धर्मकं कार्यमिति स्यात्तर्हि बुद्धेश्चैतन्यवद्रागादयोऽपि न स्युः, भावे वा प्रकृतावपि स्युः; तत्र कारणात्मकत्वमिति कारणधर्मत्वं विवक्षितमिति सन्तु रागादयः प्रकृतावित्यत आह-**तथा च-इति**। एवकारो भिन्नक्रमः। सा प्रकृतिर्बुद्धिरेव स्यात्, न तु प्रकृतिः। भावाष्टकसम्पन्नत्वं हि बुद्धिलक्षणमिति। **स्थूलरूपतामिति**। प्रतीयमानभावाष्टकसंपत्तिर्बुद्धेर्लक्षणम्। प्रकृतौ तु रागादयः सूक्ष्मरूपाः ततो नोक्तदोष इति। तर्हि रागादिवच्चैतन्यमपि प्रकृतौ सूक्ष्मरूपमभ्युपगम्यतामित्याह-**चैतन्यमपि-इति**। ततः किमित्यत आह-**तथापि-इति**। एवमप्यचेतनकार्यत्वादिति हेतुर्विशेषणासिद्धः, सूक्ष्मचैतन्ययोगिप्रकृतिकार्यत्वादिति। ननु प्रकृतेश्चैतन्याभ्युपगमे तत्कार्याणां घटादीनामपि तथात्वप्रसङ्गः कार्यकारणयोस्तादात्म्यात्। तथा चाचेतनकार्यत्वं सिद्धमित्याह- **तथा सतीति**। तर्हि प्रकृतौ रागाद्यङ्गीकारे घटादीनामपि तथात्वप्रसङ्ग इत्याह-**रागादिमत्त्व-इति**। घटादिष्वपि रागादयः

सूक्ष्मता च .... सर्वमवदातम्। १३८-१४०

सन्त्येव, सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यन्त इत्यत्राह-**सौक्ष्म्यं च-इति**। तर्हि चैतन्यमपि घटादिषु सदैव सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यत इति वक्तुं शक्यत इति। यद्वा, प्रकृतौ रागादेः सूक्ष्मत्वान्न घटादौ तत्प्रसङ्ग इत्याशङ्क्य तत्र सूक्ष्मचैतन्याभ्युपगमेऽपि न घटादौ चैतन्यप्रसङ्ग इत्याह-**सौक्ष्म्यमिति**। यत एवं प्रसङ्गः तस्मात् कार्यकारणयोरेवं व्यवस्था न त्वनेवमित्याह-**तस्मात्-इति**। व्यभिचारात् कारणेष्वसतामेव धर्माणां कार्येषु दर्शनात् सतामेव चादर्शनादिति। प्रकृतमनुसरामः, किमनेन कार्यकारणयोः साधर्म्यवैधर्म्यनिरूपणेनेत्याह-**किमनेन-इति**। तदेवं कृतिचैतन्ययोः सामानाधिकरणस्याबाधितत्वाच्चेतिता **च स एव न** इति सुस्थम्। तृतीयपादं सोपस्कारं व्याचष्टे-**यदि च-इति**। तुरीयं व्याचष्टे-**अथ इति**। को नियन्ता?

नियतशरीरादिपरिग्रहे बुद्धेर्विलीनत्वाद्विद्यमानस्य चात्मनो निरतिशयत्वादिति। तर्हि नित्या प्रकृतिरेव नियन्त्री भविष्यतीत्यत्राह–**प्रकृतेरिति**। निरतिशयत्वेन तस्याः सर्वपुरुषसाधारणत्वादिति। नियन्तुरभावे किं स्यादत आह **तथा चेति**। ननु विलीयमाना बुद्धिः स्वगतां धर्माधर्मरूपवासनां प्रकृतावाधाय विलीयते। अतो बुद्ध्याहितवासनानुवृत्तेः प्रकृतिरसाधारणी स्यादित्याह–**पूर्वबुद्धि-इति**। नायं धर्मधर्मिणोस्तादात्म्यवादिनः **सांख्यस्य** सिद्धान्त इत्याह–**बुद्धि-इति**। ननु स्थूलरूपनिवृत्तावपि सूक्ष्मरूपा बुद्धिरवतिष्ठते, ततः सर्वथा विनाशाभावादतः तदाश्रयवासनानुवृत्तेर्नापसिद्धान्तदोष इत्याह–**सौक्ष्म्यात्-इति**। यदि सूक्ष्मरूपावस्थितयैव बुद्ध्या भोगनियमो भवेत् तर्हि मुक्तावपि तथावस्थितयैव तया भोगप्रसङ्ग इत्याह –**मुक्तावपि-इति**। नन्वनुवर्त्तमानापि बुद्धिर्मुक्तौ कर्मवासनारहितत्वान्न पुनः संसारहेतुरित्याह–**निरधिकारित्वात्-इति**। यदि सत्यामपि बुद्धावधिकारायत्तः संसारः, अत एवाप्रसुप्तस्वभावात् तत्तत्कार्यपरिणामोन्मुखी बुद्धिरेव प्रकृतिरस्तु, तथाधिकारवत्या बुद्धेरेव तत्तदभिमानादिव्यापारमाश्रित्याहङ्कारादिव्यपदेशोऽस्तु, किं व्यापारवद्धर्मिभेद-कल्पनाप्रयासेनेत्याह–**तर्हि-इति**। प्रकृत्यादिशब्दानामेकार्थत्वे तद्भेदप्रतिपादक आगमो विरुध्येत **अजामेकाम्** इत्यादि। तथा –

दशमन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः।
भौतिकास्तु शतं पूर्णं सहस्रं चाभिमानिकाः।
बौद्धा दशसहस्रं हि तिष्ठन्ति विगतज्वराः।। इति।

तत्राह–**सैव हि-इति**। यथैकस्यैव शरीरान्तर्वर्त्तिनो वायोरूर्ध्वाधोगमनादि विशेषणात् प्राणापानादिव्यपदेशः, तथैकस्या एव बुद्धेस्तत्तद्व्यापारभेदात्, प्रकृत्यादिव्यपदेश इत्यागमोऽपि संगंस्यत इति। अस्तु तर्हि बुद्धेरेव प्रकृत्यादिभावस्ततः किमित्यत आह–**अतोऽपि – इति**। बुद्धेरेव प्रकृतित्वोपपादनादप्यचेतनकार्यत्वादिति हेतुरसिद्धस्तस्याः कार्यत्वाभावादिति। बुद्धेरेव संसारापवर्गादिवमेव चेत्याह–**अधिकार-इति**। कोऽयमधिकार इत्यत्रोक्तं **वासनायोग इति**। सा वासना च कर्मजन्यौ धर्माधर्माविति। यदि बुद्धेरेव संसारापवर्गौ सैव पुरुषः स्यात्, तस्य च कूटस्य नित्यस्य कथं ज्ञानादिविकारः, विकारे वा कथं कूटस्थत्वमित्याशङ्क्याह **धर्मधर्मिणोरिति**। यद्वा, कर्तैव चेतन इत्युक्तं, तत्र चेतनस्य विकारत्वेन कूटस्थनित्यताविरोध इत्याशङ्क्याह–**धर्मधर्मिणोरिति**।

न हि भिन्नस्य धर्मस्योत्पादविनाशाभ्यां धर्मिणः कूटस्थत्वं विरुध्यत इति। भेद एव कुत इत्यत आह- **भेदश्च-इति**। अहं जानामि ज्ञास्याम्यज्ञासिषमित्यतीता-नागतवर्त्तमानज्ञानानुगतः पुरुषोऽहमास्पदमनुभूयत इति प्रत्यक्षमेव भेदे प्रमाणमिति। तथापि धर्मधर्मिणोर्गौरोऽयं शुक्लोऽयमिति सामानाधिकरण्यप्रतीतिदर्शनात्तस्याश्चा-त्यन्तभिन्नयोर्घटपटयोरदर्शनादभेदोऽप्यस्त्वित्याशङ्क्य सामानाधिकरण्यं यथासंभवं विकल्प्य सर्वथैतद् भेदस्यैव साधकमित्याह- **न च-इति**। अनेकापेक्षया हि किञ्चिदेकं साधारणं भवति, न त्वेकस्यैवैकम्। सुगममन्यत्। न चातिप्रसङ्गः, कार्यकारणाभिधेयाभिधायकविषयविषयिभाववत् स्वाभावत एव सामानाधिकरण्यनियमोपपत्तेरिति भावः। तस्मादात्मनो ज्ञानाद्यनित्यधर्मकत्वे दोषकणोऽपि नास्तीत्युपसंहरति- **तस्मात्सर्वमवदातम्**-इति।।१४।।

स्यादेतत् .... विनाशात्। १४१-१४२।

एवं **सांख्यं** निरस्यापूर्वस्यात्मधर्मत्वे साधिते पुनरपि **चार्वाकः** प्रत्यवतिष्ठते – **स्यादेतत्-इति**। यदि भोक्ता नित्यो विभुश्च स्यात् ततस्तस्य सर्वदेहप्राप्त्यविशेषाद् भूतगतैरतिशयैर्न भोगनियमः स्यादित्यात्मसमवायोऽपूर्वस्य स्यात्, तादृशस्तु भोक्ता कुतः प्रमाणात् सिध्येत्। न कुतश्चिदित्यर्थः। ननु ज्ञानसमवायिकारणत्वेनानुमास्यत इत्यत्राह –**भूतानामिति**। भूतानामेव चेतनत्वे घटादेरपि तत्त्वप्रसङ्गमाशङ्क्य विशिनष्टि- **कायाकार-इति**। तानि भूतानि तथा चेतनानीत्यर्थः। भूतत्वाविशेषे कुतोऽयं विवेक इत्यत्राह- **अन्वय-इति**। यथा सुराकारपरिणतानामेव भूतानां मदशक्तिर्नान्येषां तथैतदपि। तदुक्तं सूत्रकारेण "मदशक्तिवद् विज्ञानम्" इति। यदि शरीरादिव्यतिरिक्तः चेतनो न स्यात् तर्हि किमाश्रयावदृष्टसंस्कारौ भोगं प्रतिसन्धानं च नियच्छतस्तत्राह- **कर्म-इति**। स्मृतिहेतुः संस्कारो ज्ञानवासना, सा तावदनुभवसामानाधिकरण्यात् तदाधारेषु वत्स्यर्त इति। कर्मजनितौ धर्माधर्मौ कर्मवासना, सा तावन्नास्त्येव। यद्यपि स्यात् तथापि भूतानामेव कर्तृत्वात्तेष्वेव नियता वत्स्यर्त-इत्युच्यत इति।

अन्यैरनुभूतं नान्यः स्मरतीति तावदविवादम्। अनेनात्मनः शरीरादिव्यतिरेके प्रमाणमभिसंधत्ते, स्मृतिः पूर्वापरप्रत्ययाभ्यां सहैककर्तृका, ताभ्यां सहैककर्तृत्वेन प्रतिसन्धीयमानत्वात्, न यदेवं, न तदेवं यथा देवदत्तस्य स्मृतिर्यज्ञदत्तस्य पूर्वापरप्रत्ययाभ्यां न प्रतिसन्धीयते तथा चेयं तस्मान्न तथेति। ततः किमित्यत आह- **नैकम्-इति**। न तावच्छरीरावयविसमवेतं चैतन्यं, तस्यावस्थाभेदेष्वन्यत्वात्।

तत्र पूर्वानुभूतस्योत्तरावस्थायामस्मरणप्रसङ्गः। तर्हि करचरणाद्यन्यतमावयवसमवेतं भविष्यतीति। अत्राप्येतदेवावतिष्ठते नैकमवयवभूतं चैतन्यं तस्यावयवस्य कदाचिद्विच्छेदात्। तत्र च तदनुभूतस्यावयवान्तरेणास्मरणप्रसङ्गः। यद्वा, आद्यपादेनावयविचैतन्यस्य निरासः, द्वितीयेनावयवचैतन्यस्येति। ननु पूर्वावयविगता वासनोत्तरस्मिन्नवयविनि संक्रामति विच्छिन्नावयवगता च तिष्ठत्स्ववयवेष्विति। अत्राह–**वासनासंक्रमः इति**। 'सर्गादेव वासनायाः संक्रमणे संक्रान्तमातृवासननेन गर्भस्थेन मात्रानुभूतस्य स्मरणप्रसङ्गः। ननूपादानोपादेयभावस्तु नियामिका गतिर्भविष्यति। न ह्यवयवि नाम किञ्चिदस्ति, किन्तु प्रतिक्षणभङ्गुराः परमाणव एव तत्त्वम्। तेन पूर्वैः परमाणुभिरुत्तरेषामुपादीयमानत्वमस्ति। मातृभ्रूणयोस्तु तदभावान्नातिप्रसङ्ग इत्याह–**न च–इति**। न च स्थिरपक्षे परमाणूनां नित्यत्वेनोपादेयभावोऽस्तीत्याद्यपादस्य निगदव्याख्याततत्वाद् द्वितीयं व्याचष्टे – **न हि–इति**। द्वितीयव्याख्याने त्वाद्यस्यैव विवरणं द्वितीयमेवार्थान्तरेण व्याचष्टे– **नापि इति**। द्वितीयव्याख्याने तु द्वितीयमिदानीं व्याचष्टे – **नापि–इति**। तृतीयं व्याचष्टे–**नापि मृगमद–इति**। तुरीयं व्याचष्टे–**न च–इति**। मा भूत्परमाणूनामुपादानोपादेयभावः, अवयवावयविनोस्तु भविष्यतीत्याशङ्क्याह– **खण्डावयविनम्–इति**। न ह्यनुभवितारो विच्छिन्ना अवयवाः खण्डावयविनमारभन्ते तस्य तिष्ठद्भिरेवारम्भादिति। अखण्डं तु पूर्वावयविनं प्रति विच्छिन्ना एवोपादानभूता इत्यत्राह–**पूर्वसिद्धस्य–इति**। किमनेन, स हि तदारब्धः **पूर्वावयवीति**। तद्विच्छेदे विनष्ट एव क इदानीं प्रतिसन्दध्यात्। अत्र पूर्वशरीरस्याप्युत्तरं प्रत्यनुपादानत्वादित्याद्यपि द्रष्टव्यम्।।१५।।

अस्तु तर्हि क्षणभंगः .... प्रतिषिद्धम्। १४३।

अत्र **चार्वाक** एव **बौद्धमतावलम्बनेन** प्रत्यवतिष्ठते–**अस्तु तर्हि–इति**। यदि स्थिरपक्षे गतिर्नास्ति तर्हि क्षणभङ्गमङ्गीकुर्म इति। ननु क्षणभङ्गवादे बीजादीनामङ्कुरादिकार्यानुगुणः कश्चिदतिशयः क्षितिसलिलादिभिराधीयत इति वक्तव्यम्। अन्यथा कुसूलस्थैरपि बीजैरङ्कुरारम्भप्रसङ्गात्। स चातिशयो बीजव्यतिरिक्तश्चेत् तस्यैवान्वयव्यतिरेकाभ्यां कारणत्वप्रसङ्गः, अव्यतिरेके तु बीजमात्रमेवेति कुसूलस्थानामप्यङ्कुरारम्भप्रसङ्ग इत्यत आह–**न च–इति**। सत्समस्त्यतिशयः। स च भावान्न व्यतिरिच्यते। समर्थस्वभावं भावान्तरमेव क्षित्यादिर्जायत इत्यर्थः। अथवा प्रतिक्षणभङ्गे भेद उपलभ्येत, तदनुपलम्भान्नास्ति

भङ्ग इत्यत्राह–**न च–इति**। अतिशयो वैलक्षण्यं भेद इति यावत्, व्यतिरेको नास्तित्वं, न च भेदो नास्तीत्यर्थः। यद्वा, करणाकरणविरुद्धधर्मसंसर्गाद्धि पूर्वोत्तरयोः क्षणयोर्भेदाङ्गीकारः, तस्य सहकारिलाभालाभाभ्यामेकैकस्यैवोपपत्तेर्न भेदः सिध्यतीत्यत्राह–**न च–इति**। सहकारिजन्यातिशयस्य भावाद् व्यतिरेके तस्यैव कारणत्वप्रसङ्गात् न व्यतिरिच्यत इति वक्तव्यम्। तदा च सहकारिसमवधानाद्भावान्तरमेव जायत इति स्यादित्यत्र क्षणभङ्गसिद्धिरिति। एवं तर्हि पूर्वबीजवैलक्षण्येनोत्तरं बीजमनुभूयेतेत्यत आह–**किन्तु इति**। भिन्नो भावः सादृश्यतिरस्कृतभेदत्वादापाततः। तथा न विकल्प्यते न निश्चीयते वर्तमानक्षणावगाहिना तु निर्विकल्पकेनानुभूयत एवेत्यर्थः। पश्चाद्वा निश्चयः कुतस्त्य इत्यत्राह **कार्यदर्शनात्–इति**। कुसूलस्थाद्विलक्षणभावानुत्पादे तद्वदेवानारम्भप्रसङ्गात् क्षित्यादिभिरङ्कुरसमर्थं भावान्तरं जायत इति निश्चिनुमः। **अन्त्यातिशयवत्–इति**। यथा स्थिरवादिनोऽपि जनकावस्थाया मजनकावस्थातोऽतिशयकार्यदर्शनादवसीयते। यद्वा अन्त्योऽतिशयः सामग्री, सा यथा कार्यैकसमधिगम्या तथातिशयोऽपीति। यद्वा, अन्त्यातिशयो घटादेरन्यो विजातीयः कपालादिसंतानः, स यथा प्रत्यक्षेणावसीयते तथा प्रतिक्षणभङ्गोऽपि विलक्षणकार्यदर्शनान्निश्चीयत इति। अस्तु क्षणभङ्गः, प्रकृते किमायातमित्यत्राह–**तथा च–इति**। भूतानामुपादानोपादेयभावनियमेन प्रतिसन्धानभोगनियमोपपत्तिरिति। सिद्धान्त्याह **क्षणिकत्व इति। अन्यत्र इति। अन्यत्र**=*आत्मतत्त्वविवेके।*

अपि च .... भेदानुपपत्तेः।१४५-१४७।

न तावता श्रोतृणा सन्तोष इत्यत्रापि किञ्चिदाह–**अपि चेति**। यद्यङ्कुरानारम्भकाद् बीजात्तदारम्भकस्य वैजात्यं कुर्वद्रूपं नाङ्गीक्रियेत तर्हि क्षणिकत्वं न सिध्येत्। एकजातीयत्वे हि तयोः सहकारिलाभाला–भाभ्यामेवारम्भानारम्भनियमो वक्तव्यः। तस्य चैकस्यामेव व्यक्तौ सुवचत्वान्न क्षणिकत्वसिद्धिरिति भावः। अस्तु तर्हि वैजात्यामित्यत्राह– **न तस्मिन्–इति**। तस्मिन्नप्रामाणिक एव वैजात्येऽङ्गीक्रियमाणे कारणवत् कार्येऽपि वैजात्यसंभावनया कार्यादिलिङ्गकमनुमानमेवोच्छिद्येत। नन्वनुमानोच्छेदोऽस्माकं **चार्वाकाणा**मिष्ट एवेत्यत आह–**विना तेन–इति**। न ह्यनुमानेन विना क्षणिकत्वसिद्धिः प्रमाणान्तराभावात्। नन्वस्ति प्रत्यक्षमित्यत्राह–**नाध्यक्षम्–इति**। कुत इत्यत्राह–**निश्चयं विना–इति**। निश्चयो विकल्पस्तेन विना न निर्विकल्पमात्रं क्वचिदपि

प्रमाणं, निश्चयश्चात्र नास्तीति।

व्याचष्टे-**न हीति। तन्त्रं**=प्रधानम् प्रयोजकमिति यावत्। कथं न सिद्धिर्यावता साजात्येऽपि करणाकरणलक्षणविरुद्धधर्मसंसर्गाद् व्यक्तिभेदः सिध्यतीत्यत्राह- **तथा-इति।** एकजीतायीवदेकस्यामपि व्यक्तौ सहकारिवशेन करणाकरणयोरविरोधादिति। **तद्वा इति। तत्**=पूर्वकालवर्तिबीजं, **तादृक्**= तज्जातीयव्यक्त्यन्तरम्, यथा- तज्जातीयस्यैव सतः करणाकरणे तथैकस्या एव व्यक्तेर्भविष्यत इत्यर्थः। उपसंहरति-**ततः इति। तौ**=प्रामाणिकौ सहकारिलाभालाभौ, अप्रामाणिकमिति वक्ष्यमाणोपयोगितयोक्तम्, अनभ्युपगन्तव्यं क्षणिकत्वसिद्ध्या इति शेषः। अस्तु वैजात्यमिष्टमेव हि नस्तदित्यत्र **न तस्मिन्ननुमा भवे**दित्येतदुपपादयितुमुपक्रमते-**एवम्-इति।** यदि कारणेऽनुपलभ्यमानस्यैव वैजात्यस्य कार्यप्रयोजकत्वेनाभ्युपगमः, तर्हि तद्वदेव कार्येऽप्यनुपलभ्यमान एव कश्चिज्जातिभेदः स्यात्। यस्य वह्न्यादिकारणापेक्षा, न तु दृष्टधूमादिजातीयस्य वह्न्याद्यपेक्षेति। शङ्कावकाशात् न प्रतिबन्धनिबन्धनं तदुत्पत्तिः सिध्यति। **तत्**= कार्यलिङ्गकानुमानेनेति भावः। **दृष्ट-इति।** यदि धूमाद्यवान्तरजातिभेदे वह्न्यादेरुपयोगः, तर्हि दृश्यमानं धूमादिजातीयमहेतुकं स्यात्। ततः कार्येऽवान्तरजातिशङ्कानवकाशेति। **न इति।** वह्न्यादेर्धूमावान्तरजातिभेदोपयोगेऽपि न धूमादिजातीयस्याकस्मिकत्वविरोधः, तत्रापि बह्न्यादेरन्यदेव किञ्चिदनुपलभ्यमानं प्रयोजकं भविष्यतीत्यप्रामाणिकमेवाभ्युपगच्छतः किं नाम दुर्लभमिति भावः। **न कार्यस्य विशेषः-इति।** धूमादिगतविशेषो न वह्न्यादिप्रयुक्ततयोपलभ्यते, नापि कार्यमात्रस्य धूमादिजातीयस्यान्यत् प्रयोजकं दृश्यते। तेनानुपलभ्यमानयोः प्रयोज्यप्रयोजकत्वकल्पनमेव विरोध इति। **तत्किम्-इति।** वह्न्यादिकारणगतो विशेषो धूमादिसामान्यप्रयोजको नोपलभ्यते। वह्न्यादिविशेषस्य धूमादिप्रयोजकत्वे वह्न्यादिसामान्यस्यान्यत्प्रयोजनं वक्तव्यमर्थक्रियाविरहिणः सत्त्वानुपपत्तेः। तच्च नोपलभ्यते, तेन समानस्तादृशो विरोध इत्यनुपलभ्यमानोऽपि कारणगतो विशेषः शङ्क्ष्यते निषेधकाभावादित्याशङ्क्य सा तर्हि कार्यगतविशेषे सुलभेत्याह- **शङ्का तु-इति।** यद्वा, कार्यगतविशेषे शङ्कामात्रमेव न तु निश्चयोऽनुपलम्भादित्याशङ्क्य कारणगतेऽपि शङ्कामात्रमेवेत्याह **शङ्का तु इति। कार्य-इति।** ननु मा भूत्कारणगतो विशेषः प्रत्यक्षः, तथापि न तत्र शङ्कामात्रं, किं तर्हि कुसुलस्थालवालस्थयोः कार्यारम्भानारम्भाभ्यामनुमीयतेऽस्ति वैजात्यमिति। **न-इति।** कार्यजन्मा-

जन्मनोरन्यथासिद्धत्वान्न ताभ्यां वैजात्यं सिद्ध्यतीत्यभ्युपेत्याह-**उन्नीयताम्-इति**। निश्चीयतां कारणगतो विशेषः, कार्यगतविशेषस्य निश्चयाभावेऽपि शङ्कोत्पद्यते, साधकवत् बाधकस्याप्यभावाद्। अनुपलब्धस्यैव कारणगतस्य कल्पनादर्शनाच्च शङ्कोपपत्तेः। शङ्कामात्रेणापि प्रतिबन्धमूलं तदुत्पत्तिर्न सिध्यतीति भावः। कार्यगतविशेषं स्वरूपानुपलब्धिरेव निषेत्स्यतीत्य आह-**न हि इति**। किमिति न प्रभवति तत्राह-**कार्य-इति**। शङ्क्यमानस्य कार्यगतविशेषस्यातीन्द्रियत्वेन कार्यलिङ्गेन निश्चेतव्यत्वात् कार्यानुपलब्ध्यैवानिश्चयोपपत्तेरिति। अस्तु तर्हि कार्यानुपलब्ध्या तत्प्रतिषेधोऽत आह-**कार्यस्य इति**। कार्यगतविशेषवत्तत्कार्यमपि किञ्चिदतीन्द्रियमस्तीति संभावनायां कार्यानुपलब्धिः। तं प्रतिषेधति-**अत इति**। **अतएव**, यत एव स्वभावानुपलब्धिर्न प्रभवति अतएवेत्यर्थः। सन्ति हि षोडशानुपलब्धयः- स्वभावानुपलब्धिः स्वभावविरुद्धकार्यानुपलब्धिः स्वभावविरुद्धव्याप्तोपलब्धिरिति चतस्रः, कार्यानुपलब्धितद्विरुद्धकार्यविरुद्ध व्याप्तोपलब्धयश्चेति चतस्रः, तथा व्यापकानुपलब्धिस्तद्विरुद्धविरुद्ध-कार्यविरुद्धव्याप्तोपलब्धयश्चेति चतस्रः। तत्र चानुपलब्धिकार्य प्रतिषेधसामर्थ्यादुपलब्धीनामप्यनुपलब्धिव्यवहारः। सर्वासामासां न कार्यगतातीन्द्रियविशेषनिषेधे सामर्थ्यम्। अतीन्द्रियेण सहविरोधित्व कार्यकारणत्वव्याप्यव्यापकत्वानामशक्यनिश्चेयत्वादित्यर्थः। एवं वैजात्याङ्गीकारे कार्यलिङ्गकमनुमानं न सिध्यतीत्युक्तम्। इदानीमनुपलब्धिलिङ्गकं स्वभावहेतुकं च यथा न सिध्यति तथा दर्शयितुं भूमिकामारचयन् वैजात्याभ्युपगमे बाधकान्तरमाह-**एवम्-इति**।

यथा तथा वा भवतु जातिस्वरूपं, सर्वथा तु तस्य कुर्वत्त्वजातिभेदस्य बीजत्वेन सहैकस्यां व्यक्तौ न समावेशः संभवति। कुर्वत्त्वाकुर्वत्त्वयोर्विरोधात् यदि समावेशः स्यात्ततस्तस्य शालित्वं प्रति परत्वं वा स्याद् वृक्षत्ववत्, अपरत्वं वा स्याच्छिंशपात्ववदिति। न चोभयमपि संभवति, परत्वे शालिजातीयं सर्वमपि कार्यं कुर्यात्, अपरत्वे त्वशालिजातीयमङ्कुरं न कुर्यादिति भावः। अत्र परापरभूतयोर्जात्योरसमावेश एव साध्यः, समाविष्टयोस्तु परापरभावः प्रसङ्गादुक्त इति। उत्तरस्मिन्साध्ये हेतुमाह-**अन्यून-इति**। अनुवृत्ताकारावभासिनी हि प्रतीतिर्जातिसद्भावे प्रमाणम्। तस्याश्चैकयैव जात्योपपत्तौ न तावत्स्वेव पिण्डेषु जात्यन्तरे प्रमाणमस्तीति। व्यावृत्तिरूपयोरपि जात्योः समावेशे परापरभाव एवेत्याह-

व्यावर्त्त्य-**इति**। अपोह्यभेदेनापोहानां विरोधस्ततश्च तेषां भेद इत्यपोहवाद:। तत्र तावत्स्वेव पिण्डेषु अपोहद्व्यानाधारेषु सत्सु कुतोऽपोह्यभेद: कुतस्तरां तन्निबन्धनो विरोध: कुतस्तमां वापोहभेद इति।

परस्पर .... मासादयेदिति तुल्यम्।१४९-१५२।

पूर्वसाध्यसिद्ध्यर्थमनिष्टप्रसङ्गमाह-**परस्पर-इति**। **तथाभाव:** = समावेशस्तस्माद्भिन्नयोरपरापरभूतयो: परस्पराभावाविनाभाविनोरेकत्र न समावेश:। समावेशे वा जगति विरोधोच्छेद एव स्यादिति भाव:। शङ्कते-**सामग्री इति**। न हि गोत्वाश्वत्वयोरसमावेशे परस्परपरिहारवत्त्वं प्रयोजकं किन्तु तदभिव्यञ्जकव्यक्त्युत्पादकसामग्रीविरोध:। तस्माद्विरुद्धयो: समावेशे नातिप्रसङ्ग इति भाव:। गूढाभिसन्धि: सिद्धान्ती पृच्छति-**कुत एतत् इति**। गवाश्वयोर्विरुद्ध-सामग्रीकत्वं कुत: प्रमाणादवगम्यत इति। इतर आह-**परस्पर-इति**। सामग्र्यो: परस्परपरिहारस्थितेर्विरोधोऽवगम्यत इति। **नेदम्-इति**। सामग्र्यो: परस्परपरिहारेणावस्थानम्। इदं न प्रत्यक्षं सामग्र्योर्नित्यत्वं कार्यकल्पत्वादिति। प्रत्युत सामग्रीसमावेश एवानुमातुं शक्यत इत्याह **एकदेश-इति**। त्वन्मते गोत्वाश्वत्वयोरेकस्यां व्यक्तौ समावेशात् सामग्र्योरपि समावेशसंभवोऽनुमीयेत। यावद् बाधक दर्शनं तावदिति। यद्वा विरुद्धयोरसमावेश: सामग्रीविरोधादिति वदता विरुद्धयोरप्येकदेश समावेशाङ्गीकारात् विरुद्धयोरपि सामग्र्यो: समावेशसंभवोऽनुमीयत इत्यर्थ:। शङ्कते-**तत्कार्ययोरिति**। न वयं कार्ययो: परस्परपरिहारेण स्थिते: सामग्र्यो: परस्परपरिहारस्थितिं कल्पयाम:, येन कार्ययो: समावेशसंभवात् सामग्रीसमागमोऽपि कल्प्येत। किन्तु सामग्री द्वयकार्ययोर्गवाश्वयो: परस्परपरिहृतस्वभावत्वादितरेतराभावत्वादिति यावत्। अस्ति ह्येकदेशसमाविष्टयोरपि परस्परपरिहृतस्वभावत्वमिति भाव:। गूढाभिसन्धिमुद्घाटयन्नाह-**तर्हि=इति**। यदीतरेतराभाववत्त्वेन गवाश्वयो: सामग्रीविरोधादसमावेश इति कल्प्यते तर्हि कम्पशिंशपयोरप्यसमावेश: स्यात्। कम्पशब्दश्चात्र कम्परूपार्थाक्रियाकारिणं शिंशपावान्तरजातिविशेषमाह। तेनायमर्थ:, कारणवैजात्यमभ्युपगच्छता ह्यकम्पकारिण: शिंशपात्वात् कम्पकारिणो वैजात्यमभ्युपगन्तव्यम्। ततश्च कम्पजनकाजनकयो: शिंशपातदवान्तरविशेषयोरसमावेशप्रसङ्ग:। तयोरपि परस्पराभावत्वादिति। यद्वा, कार्ययो: परस्परपरिहारेण स्थिते: सामग्रीविरोध इति तत्कार्ययोरित्यनेनाशङ्क्य यदि क्वचित्परस्परपरिहारदर्शनेन सामग्रीविरोधमुन्नीय

कार्ययोः सर्वदा सर्वत्रासमावेशः कल्प्येत तर्हि कम्पशिंशपयोः कदाचिदसमावेशदर्शनात् सर्वदा सर्वत्रासमावेशप्रसङ्ग इति परिहारमाह-**तर्हि-इति। दृश्यत इति**। परस्परपरिहारेऽपि कम्पशिंशपयोः समावेशो दृश्यते न तु गोत्वाश्वत्वयोरिति नाप्रसङ्गातिप्रसङ्गाविति। **गोत्वाश्वत्वयोरिति**। परस्परपरिहारवतोरपि क्वचित्समावेशदर्शनादत्रापि तत्संभावना दुष्परिहरेति। एवं तावज्जनकाजनकयोः समावेशाङ्गीकारे सर्वत्र गवाश्वादिविरुद्धसमावेशसंभावना निष्प्रत्यूहं प्रवर्तत इति स्थितम्। एवं भूमिकामारचय्य तत्र विवक्षितमनुमानाभावं निवेशयति-**तथा च-इति**। कार्यलिङ्गवदनुपलब्धिलिङ्गकेनापि गतमिति। तथा चेति परामृष्टं हेतुं स्पष्टयति-**क्वचिदपि-इति**। एषा हि बौद्धपरिभाषा अनुपलब्धिरसद्व्यवहारयोग्यत्वं प्रतिबन्धबलेनानुमापयति। प्रतिबन्धश्चानुपलब्धेः सद्व्यवहारविरोधात्सिद्ध्यति। यथाह न गोत्वमस्ति अश्वत्वादिति गोत्वविरुद्धाश्वत्वोपलब्धिरूपा गोत्वानुपलब्धिर्गोत्वाभावं गमयतीति। तत्र यदि विरुद्धयोरपि समावेशः स्यात् तदानुपलब्धेरपि सद्व्यवहारयोग्यत्व-समावेशसंभवेनासद्व्यवहारयोग्यतया प्रतिबन्धासिद्धेर्गतमनुपलब्धिलिङ्गकमिति। अतएव स्वभावहेतुरपि निरस्त इत्याह-**तत इति**। तादात्म्येन प्रतिबद्धो हेतुः स्वभावः, यथा शिंशपात्वं वृक्षत्वस्य। क्वचिदपि विरोधासिद्धाववृक्षेऽपि शिंशपात्वसमावेशसम्भवात्तस्य प्रतिबन्धो नास्तीति। स्वभावहेतोर्विपक्षे बाधकमाशङ्कते **ननु-इति**। वृक्षसामग्र्यन्तर्भूता शिंशपासामग्री तदविनाभूता तत्कारणिकेति यावत्। ततश्चावृक्षे वृक्षसामग्र्यभावेन स्वभावसामग्र्यभावाच्छिंशपा न भवति। तेनावृक्षलक्षणे विपक्षेऽपि शिंशपात्वस्य सामग्र्यभावो बाधकमित्यर्थः। शिंशपाव्यवहारेण वृक्षव्यवहारे साध्येऽप्येतदेव विपक्षे बाधकमित्याह-**एवम्-इति**। यदि च शिंशपाव्यवहारो वृक्षव्यवहारमतिपतेत् ततस्तयोः सामान्यविशेषभावो न स्यादिति भावः। यद्यप्यत्र क्वचिदपि विरोधासिद्धौ शिंशपा-तद्व्यवहारयोर्वृक्षतद्व्यवहारातिपातेऽपि न विरोध इत्यपि परिहारः संभवी तथापि परिहारवैभवादन्यथा परिहरति-**एवं तर्हि-इति**। एवंविधस्य विपक्षे बाधकस्य तुल्यत्वाच्छिंशपात्वावान्तरजातिविशेषेण कम्पकारित्वेन शिंशपात्वानुमानं तद्व्यवहारेण शिंशपाव्यवहारानुमानं प्रसज्येत। न च तच्छक्यं शिंशपात्वानन्तर्भूतस्य पलाशादेरपि कम्पजनकत्वादिति।

नोदनादि .... सदृशरूपा अपि।१५२।

नोदनादीति। यथा वृक्षसामग्रीविशेषः शिंशपासामग्री, नैवं शिंशपासामग्र्यन्तर्भूता कम्पसामग्री, किन्तु नोदनाभिघाताद्यागन्तुकहेतुकत्वाच्चलत्वस्य शिंशपात्वातिपातेऽपि न कश्चिद्विरोध इति। एतद्विकल्प्य निराचष्टे-**यदि-इति**। किं नोदनादयो भवन्मतानुरोधेन शिंशपास्वभावभूता भवेयुः, अस्मन्मतानुरोधेनास्वभावभूता वा? पूर्वत्र शिंशपाविशेषा एव नोदनादयः, अशिंशपायाः शिंशपास्वभावत्वायोगात्। तत्र च पूर्वोक्तशिंशपातुल्यत्वं तदवस्थमेव। उत्तरत्र कम्पजनने शिंशपायाः सहकारिणो नोदनादयः स्युरिति। सन्तु सहकारिणः का नो हानिरित्यत्राह-**तत इति**। निर्विशेषैव जातिभेदं व्यक्तिभेदं विनेति यावत्। **चलस्वभावान्** = चलनात्मकान् **स्वभावान्** धर्मान्, चलनात्मिकाः क्रिया इत्यर्थः। पुनः शङ्कते-**स्वभावभूताः-इति**। **स्वभावभूताः**=शिंशपायाः स्वभावभूता एव नोदनादयः ते चागन्तुकनोदनादिसहकारिसंनिधानाधीनजन्मानः, ततश्चागन्तुकसहकार्यनुप्रवेशाच्चलनजननस्वभावं शिशपान्तरं जायत इति क्षणिकत्वं सिद्ध्यति, सिद्ध्यति चाशिंशपाया अपि चलद्रूपत्वं नोदनाद्यागन्तुकसहकारिणां पलाशादावपि संभवादिति। तर्हि शिंशपाया अपि वृक्षातिपातः स्यादित्याह-**एवं तर्हि-इति**। शङ्कते-**एवम्-इति**। एवमविशेषे सत्येतत्त्वदुक्तं स्यात्, किंतु विशेषोऽस्तीत्यर्थः। यथा वृक्षसामग्र्यामागन्तुकशिंशपाबीजत्वादिसहकार्यनुप्रवेशात् शिंशपोत्पत्तिरित्येतत्सत्यं, तथाप्यविशेषोऽस्तीति तमेव विशेषमाह-**शिंशपा इति**। उपादायैव शिंशपा जनयन्तीति शेषः। न तामेव शिंशपासामग्रीमुपादायैव चलत्वं जनयन्ति किन्तु मूर्त्तमात्रमुपादाय, पलाशादीनामपि कम्पदर्शनात्। शिंशपासामग्री तरुसामग्रीं न व्यभिचरति, चलसामग्री तु शिंशपासामग्रीं व्यभिचरतीति विशेष इत्यर्थः। निराकरोति-**मैवम्-इति**। विशेषा एव केचित्स्वपरसामान्यं व्यभिचरन्ति केचिन्नेति न नियमहेतुरस्तीति। दर्शनं त्वन्यत्र नोदनादीनामस्वभावभूतानामेव सहकारित्वादुपपन्नमिति भावः। एवं नोदनादीनां स्वभावत्वे दूषिते प्रामाणिकं सहकारिवादमगत्यावलम्बते-**शिंशपा-इति**। **तद्विशेषा एव**=वृक्षजनकविशेषा एव, **तथा**=शिंशपाया एव जनकविशेषाः, ततश्च सिद्धः कम्पशिंशपयोर्विशेष इति पूर्वोक्तमेव निराकरणं स्मारयति-**एवं तर्हि इति**। **सदृशरूपा**= जातिभेदसामर्थ्यविरहिण इत्यर्थः।

केचित् .... नास्तीति विशेषः १६। १५४-१५६

न तथा–न कम्पकारिण इत्यर्थः। जात्यभेदेऽपि व्यक्तिभेदादेव सिध्यति क्षणिकत्वमित्यत्राह–**तथा च इति**। एकजातीयस्यैव सहकारिलाभात् कार्यजनकत्वाङ्गीकारे सति पूर्वैव शिंशपा व्यक्तिः सहकारिसंनिधानात् कम्पहेतुर्वा भवेत्। स्वोत्पत्त्यनन्तरमेव न दृष्टा पूर्वव्यक्तिः। तज्जातीया तत्संतानान्तःपातिनी त्वन्या सहकारिसमवधानात् कार्यजननीह भवेदित्यत्र न कश्चिद्विशेषः। उभयत्रापि सहकार्यायत्तत्वात्कार्यकारणस्य। तथा च न क्षणिकत्वसिद्धिरिति। तदेवं विरुद्धयोरेव क्वचित्समावेशे क्वचिदपि विरोधासिद्धेर्विपक्षे बाधकाभावात् स्वभावहेतुर्न सिध्यतीत्युक्ते तस्य विपक्षे बाधकमाशङ्क्य यथा तन्न सिध्यति तथोक्तम्। इतानीं प्रकृतमुसंहरति–**तस्मादिति**। ननु नीलमुत्पलं चलतीत्यादौ विरुद्धानाम-परापरभूतानामेव नीलत्वादिसामान्यादीनां समावेशो दृश्यते। न च तत्र परापरभावः नीलस्य परत्वे रक्तमुत्पलं न स्यात्। उत्पलस्य परत्वे नीलं नीलीपुष्पं न स्यात्। न च नास्ति विरोधः? कुर्वत्त्वबीजत्वयोरविरोधप्रसङ्गात्। तत्कथमयं नियम इत्याह–**अनेवम्–इति**। अनेवंभूतानां विरोधे सति समाविष्टानां समावेशे सत्यपरापरभूतानां च द्रव्यगुणकर्मत्वरूपेणोपाधित्वमात्रं, न सामान्यरूपेण समाविष्टत्वम्। तथा हि नीलगुणयोगात् नीलमुत्पलं न तु नीलत्वयोगात्। तथा द्रव्यसंबन्धाद् द्रव्यं नीलं न तु द्रव्यत्वयोगादिति। एवं चलनयोगात् चलं न तु चलत्वयोगादिति। जात्यात्मकानां तु सामान्यानां विरोधे सति न समावेश इतीयं तात्पर्यगोचरमर्थं पृथक्कृत्याह–**तेषां तु–इति**। कुत इत्यत आह–**व्यक्तिभेदात्–इति**। सामान्य-व्यञ्जकानामाश्रयाणां भेदादिति। भिद्यन्तां व्यञ्जकानि किमायातमसमावेशस्य तत्राह–**जातीनाम्–इति**। व्यक्त्याश्रयत्वाज्जातीनां तद्भेदेन तदाश्रयाणां जातीनां च न समावेशः। तस्माद्विरुद्धानां नीलत्वोत्पलत्वञ्चलत्वादीनां गुणद्रव्य-कर्मव्यक्तिसमवेतत्वेन नैकव्यक्तिसमावेशः, समाविष्टानां गुणादिव्यक्तीनां न विरोध इत्यर्थः। मा भूत्तर्हि कुर्वत्त्वबीजत्वयोः समावेश इत्यत्र न वैजात्यं विनेत्येतदेव स्मारयति–**तथा च इति**। अस्तु तर्हि समावेश इत्याशङ्क्य महता प्रबन्धेनोपपादितमनुमानभङ्गमुपसंहरति–**वैजात्य–इति**। **विना तेन न तत्सिद्धिरित्येत**च्छङ्कापूर्वकं व्याचष्टे – **मा भूत्–इति**। कुतः प्रमाणान्तरात् तस्य क्षणिकत्वसिद्धिरिति। ननु प्रत्यक्षमेव तत्र प्रमाणमित्यत्र **नाध्यक्षं निश्चयं विने**त्येतदुत्तरयति – **न हि–इति**। क्षणिकमेतदिति निश्चयस्य विकल्पस्याभावादिति। मा भूद्विकल्पः, निर्विकल्पकमध्यक्षं तत्र प्रमाणमित्यत्राह–**गृहीत–इति**। निर्विकल्पकेन गृहीते विकल्पिते चार्थे तस्य प्रत्यक्षस्य प्रामाण्यादिति विपर्यये

बाधकमाह-**अन्यथा-इति**।

यद्यनिश्चित एवार्थे प्रत्यक्षं प्रमाणं स्यात् किमिति बाह्यक्षणिकत्व एव तत्प्रमाणं न स्यात् इति चोदयति-**ननु-इति**। द्वितीयप्रत्यक्षं तावद्धर्मिणं घटोऽयमिति वर्त्तमानत्वविशिष्टमेवावगाहते, वर्त्तमानस्य चातीतानागतात्मकत्वविरोधात्। तेन वर्त्तमानत्वं निश्चाययदेव प्रत्यक्षं धर्मिणः पूर्वापराभ्यां भेदं निश्चाययतीति क्षणिकत्वे प्रमाणमिति विकल्पं दूषयितुं पृच्छति **तत्-इति। तद्** वर्त्तमानत्वं किमित्यभिमतं, किं नीलादिधर्मिस्वरूपमेव, अथवा तद्धर्म कालविशेषसंबन्ध इति भावः। द्वितीये दूषणमाह-**अथ-इति**। तस्य वर्त्तमानत्वधर्मस्यातीतानागतत्वाभ्यां भेदनिश्चयेऽपि धर्मिणो नीलादेर्न भेदः सिध्यति। तस्य धर्मिणस्ततो धर्मादन्यत्वादिति। **बौद्धः** स्वाभिसन्धिमुद्घाटयति **वर्त्तमान-इति**। न वयं धर्मिमात्रनिश्चयाद्धर्मभेदनिश्चयाद्वा धर्मिणो भेदं ब्रूमः। किन्तु वर्त्तमानत्वावर्त्तमानत्वलक्षणविरुद्धधर्मसंसर्गादिति दूषयति-**यदि-इति**। सदसत्त्वरूपं तावद्वर्तमानत्वावर्त्तमानत्वमेकस्य धर्मिणो नाभ्युपगच्छाम इति। कुत इत्याह-**ताद्रूप्येण-इति**। शङ्कते-**सदसत्-इति**। सता वर्त्तमानेन कालेन संबन्धो वर्त्तमानत्वम्, असताऽतीतेनानागतेन वाऽवर्त्तमानत्वमिति किमसंगतमिति। यथा प्रत्यभिज्ञानमेकमेव वर्त्तमानत्वं सच्च विषयीकरोति असच्चातीत्वम्। यथा वा अघटं भूतलमिति ज्ञानं भावाभावौ, तथैक एव धर्मी सदसद्भ्यां संभन्त्स्यते, को विरोध इति। नन्वस्तु युगपदेकस्यानेकसंबन्धो न तु क्रमेण, तथा हि यद्येकसम्बन्धक्षणे भावः संबन्ध्यन्तरेणापि संबद्धुं समर्थः, तर्हि तदानीमेव तेनापि संबध्येत, समर्थस्य क्षेपायोगात्। असमर्थश्चेन्न पश्चादपि। तदन्यदेव पश्चात्संबध्यत इति सिद्धः क्षणभङ्ग इत्याशयेन शङ्कते **क्रमेण-इति**। प्रत्यभिज्ञया तावदेकत्वं प्रतीयत इत्युक्तम्। न चैकस्यानेकसंबन्धोऽनुपपन्न इति केवलमत्र सम्बन्धक्रमे कारणं वक्तव्यं, तच्च संबन्धिसन्निधापकानां क्रम एवेत्याह-**उपसर्पण-इति**। ननु प्रत्यभिज्ञायाः प्रामाण्ये सति सर्वमेतदेवं स्यात्, तदेवासिद्धमित्याह-**प्रत्यभिज्ञानम्-इति**। मा भूत् प्रामाण्यसिद्धिस्तथापि भवन्तं विजयामह इत्याह-**अस्ति तावत्-इति**। स्थैर्यसाधकं प्रत्यभिज्ञानं तावदस्ति, अन्यथा धर्मिण एवासिद्धौ तत्राप्रामाण्यविधानायोगात्। तेन धर्ममात्रप्रामाण्यमेव तस्य निरूपणीयम्। क्षणिकत्वे तु प्रमाणाभासोऽपि नास्तीति।।१६।।

स्यादेतत् .... समः समाधिः १७१-१५७।

एवं **सौगत**समयसिद्धक्षणिकत्वालम्बिनि **चार्वाकस्य** प्रत्यवस्थाने दूषिते

स एवान्यथा प्रत्यवतिष्ठते-**स्यादेतत्-इति**। न खलु क्षणिकत्वे प्रमाणाभावमात्रेण स्थिरत्वं सिद्ध्यति, किन्तु संदेह एव। तवापि भूतचैतन्यसंभावनया न तद्व्यतिरिक्तश्चेतनः सिद्ध्यतीत्युच्यत इति। किमयं सन्देहः स्थैर्ये? तद्दर्शने वा दर्शनप्रामाण्ये वा? तत्रापि प्रामाण्यमात्रे किं वा प्रत्यभिज्ञानप्रामाण्ये? तत्रापि सर्वत्र प्रकृते वेति ? तत्र न प्रथमद्वितीयावित्याह–**स्थैर्यदृष्ट्योः – इति**। प्रत्यभिज्ञानस्य दुरपह्नवत्वादिति भावः। न तृतीय इत्याह-**न प्रामाण्ये-इति**। अनेकप्रमाणाधीनत्वात् सन्देहस्य प्रामाण्यमात्रासिद्धौ संदेहो न सिध्येत्। तत्सिद्धौ न प्रामाण्यमात्रासिद्धिरिति सन्देहसिद्धिप्रामाण्यमात्रासिद्ध्योः परस्परव्याघातात्। नापि चतुर्थपञ्चमावित्याह – **एकता-इति**। येन विरुद्धधर्मसंसर्गविरहेण क्षणैकत्वग्राहिणः प्रत्ययस्य प्रामाण्यं निश्चित्य क्षणिकस्य भावस्यैकत्वं निश्चिनोषि तेनैव स्थिरमपि भावं निश्चिनुया इति व्याचष्टे–**न हि-इति**। यद्यपि वादिविप्रतिपत्तेराहार्यः सन्देहः, तथापि न स्वरूपतः स्थैर्ये तद्दर्शनसद्भावे वा सन्देहोऽस्ति। प्रत्यभिज्ञानस्य विषयतः स्वरूपतश्च दुरपह्नवत्वादिति। सामान्यतो विशेषतश्च ज्ञानात् प्रामाण्यसन्देह इत्यपि नास्तीत्याह–**नापि-इति**। तत्र सामान्यसन्देहनिराकरणहेतुतया विरोध इत्येतद् व्याचष्टे– **स हि-इति**। सर्वज्ञानप्रामाण्यविषयस्तावन्न सन्देहः संभवतीति व्याघातमेवाह-**तथाहि-इति**। सन्देहग्राहकज्ञानस्य प्रामाण्यसिद्धेः सन्देहोऽपि सिध्येत्। **तस्य** सन्देहस्य **सिद्धौ तदपि** प्रामाण्यमपि सिध्येदिति कुत इत्यत आह-**निश्चयस्य-इति**। सन्देहस्वरूपनिश्चयस्य सन्देहग्राहिज्ञानप्रामाण्याधीन-त्वादिति निश्चयवत्तस्य तदधीनत्वादिति *केचित्पठन्ति*। तत्रायमर्थः– यथा निश्चयः प्रामाण्याधीनस्तथा सन्देहोऽपीति। इतश्च सर्वथा प्रामाण्यासिद्धौ सन्देहो न सिध्येदित्याह–**कोटिद्वयस्य-इति**। निदर्शनं निश्चयः भवतु दर्शनं, तेन चोपस्थाप्यतां कोटिद्वयं, को विरोध इत्यत्राह-**तद्दर्शने च इति**। कोटिद्वयनिश्चयार्थमपि सन्देहः प्रामाण्यमपेक्षत इत्यर्थः। यद्वा, कासांचिज् ज्ञानव्यक्तीनां प्रामाण्यं कासांचिच्चाप्रामाण्यं दृष्टवतः कस्यांचित्प्रमाणमप्रमाणं वेति सन्देहः स्यात्। सर्वथा प्रामाण्यासिद्धौ कोटिद्वयानुपस्थानात्सन्देहो न सिध्यतीति कथं प्रामाण्यमात्रस्य सन्देहग्रस्तत्वे प्रमाणव्यवहारो लौकिकानामित्यत्र यत्प्रतिविधानं **चार्वाकस्य**, अप्रामाणिकः प्रमाणव्यवहार इति। तदपि पूर्वोक्तव्याघातेन निरस्तमित्याह-**एतेन-इति**। व्याघातमेव स्फुटयति-**सर्वथा-इति**। अप्रामाणिकोऽयं व्यवहार इत्यस्यापि प्रमाणसिद्धत्वादिति। एवम्–

सन्देहगोचरः सर्वं कस्यचिन्न कथञ्चन।
प्रतिष्ठामिति वादोऽयं चार्वाकस्य निराकृतः।। इति।

अथोत्तरमर्थं व्याख्यास्यंस्तं निराकरणीयं विशेषतः प्रामाण्यसन्देहं सहेतुकमाशङ्कते–**प्रकृते इति**। व्याचष्टे-**नेति**। तथाप्येकस्मिन् क्षणे भावस्यैकत्वनिश्चयोऽस्ति। तत्रैकोऽयमित्यवाधिताकारं ज्ञानमेव शरणं, तच्च कालभेदेऽपि समानमिति भावः। विपक्षे दण्डमाह–**अनिष्टौ-इति**। एकस्तावन्न सिध्यति, तदसिद्धौ नानेकोऽपीति शङ्कते-**सिद्ध्यतु-इति**। यत्रैकस्मिन् क्षणिके भावे विरुद्धधर्मसंसर्गो नास्ति स एकः सिद्ध्यतु विरुद्धधर्मसंसृष्टविषयं प्रत्यभिज्ञानं प्रमाणं, न प्रत्यभिज्ञानमात्रम्। स्थिरे तु विरुद्धधर्मसंसर्गोऽस्तीति भावः। **तेनैव-इति**। तेन विरुद्धधर्मसंसर्गविरहेण पूर्वमुपपादितेनेति शङ्कते–**स इति**। विरुद्धधर्मविरहः स्थिरेऽपि संदिग्ध इति त्वयोपपादितेऽपि मया संसर्गस्यापाद्यमानत्वाद्विप्रतिपत्तेः संशयगोचरः स्यादिति भावः। यदि निश्चितेऽपि सन्देहस्तर्हि क्षणेऽपि विरुद्धधर्मासंसर्गः संदिग्धः स्यादित्याह–**तुल्यम्-इति**। यदि क्षणिकस्यैक्यानिश्चये न किञ्चित्सिध्येदिति तर्केण तत्र निश्चयः। तर्हि स्थिरस्याप्यभावे सर्वस्यादृष्टगोचरत्वात् क्वचित्प्रवृत्तिः कुतश्चिन्निवृत्तिश्च न स्यादिति सर्वलोकयात्रोच्छेदप्रसङ्गोऽत्रापि सम इत्याह–**क्वचित्-इति**।।१७।।

नन्वेतत् .... साधारण्यमिति१८।१५८-१६०

संप्रति **चार्वाकः** स्थिरपक्षे कारणत्वानुपपत्त्या प्रत्यवतिष्ठते–**ननु-इति**। स्थिरस्य भावस्य कारणत्वं यदि स्वभावतः स्वतःसिद्धं यथा नीलत्वं तर्हि तद्वत्साधारणं स्यात्। तत्र चैकस्मात्कारणात्सर्वकार्योत्पत्तिः प्रसज्यत इति नीलादीनां साधारण्यं दर्शयति–**न हि-इति**। शङ्कते-**अथ-इति**। औपाधिकत्वे ह्यसाधारण्यमुपपद्यते। यथा तस्यैव नीलस्य प्रत्यक्षत्वादेरिति। विकल्प्य निराचष्टे–**तदा उपाधेः –इति**। येनोपाधिना भावः कारणं भवति, स चोपाधिर्भावस्य स्वभावो वा स्यादौपाधिको वा? पूर्वत्र पूर्ववत्तस्यापि तथात्वं साधारण्यं प्रसज्येत। उत्तरत्र तस्यापि तथात्वप्रसङ्गादनवस्था। तस्मात्पारमार्थिकनीलादिवैधर्म्यात्काल्पनिकोऽयं कार्यकारणभाव इति। **अथेति**। यथा कारणत्वमस्य स्वभावः तथा किञ्चिदेव कार्यं प्रति न सर्वमिति कारणत्ववदसाधारण्यमप्यस्य स्वभावः, ततश्च नोक्तप्रसङ्ग इति। तर्हि यं यं कार्यविशेषं प्रति कारणत्वमस्य स्वतः सिद्धं तं तं सर्वदा कुर्यात् स्थिरस्यैकस्वभावत्वात्कालभेदेन स्वभावभेदानुपपत्तेरित्याशयेनाह–**उत्पत्तेः-इति**।

उच्यत-इति। हेतुशक्तिं कारणत्वमनादृत्य पारमार्थिकत्वेनाभ्युपगम्यमानं नीलाद्यपि वस्तु न पारमार्थिकं सद्‌भवति। कुतश्चित्कारणाल्लब्धस्वरूपं पारमार्थिकं स्यात्। इतरथा नित्यत्वेनासत्त्वप्रसङ्गात्। तेन नीलादेः पारमार्थिकत्वं वदता कारणस्यापि पारमार्थिकत्वं वक्तव्यम्। अन्यथा नीलादेरप्यपारमार्थिकत्वापत्तेः। तथा च कथं तद्वैधर्म्येण कारणत्वस्यापारमार्थिकत्वं सिध्येदिति। प्रतिनियतमेव कारणत्वं भावानां स्वभावः। न च तत्र कार्यविशेषाणां सततोत्पादकत्वप्रसङ्ग इत्याह–**तद्युक्तम्-इति।** तैस्तैः सहकारिभिर्युक्तं तत्तत्कारणं तत्र तत्रान्वयव्यतिरेकवत्सु कार्यविशेषेषु शक्तं, तस्मात्कार्यविशेषाणामेव सहकारिक्रमवशात् क्रमेणैवोत्पत्तिरुपपन्नेति। कथं तर्हि पारमार्थिकत्वे कारणत्वस्य नीलादिवैधर्म्य स्तत्राह–**इतीति।** कार्यविशेषनियतं सहकार्यधीनं च कारणत्वं किं न साधारणं, साधारणमेव सर्वैस्तथोपलम्भनियमात्। न हि नीलादेरन्यत्साधारण्यम्। अतो न नीलादिवैधर्म्यं कारणत्वस्येति। तत्र पूर्वार्द्धं व्याख्यातुं तावद्वस्तुसत्त्वं नीलादेरवश्याङ्गीकार्यं यथा तथाह–**सर्व इति।** अनुपन्यस्तस्यापि कार्यभावस्य कारणत्वमतुल्ययोगक्षेमत्वाद्वा कारणत्वस्य संबन्धिरूपत्वेन तत्स्वरूपान्तर्गतत्वाद्वोपादानमित्यस्तु पारमार्थिको नीलादिस्ततः किमित्यत आह-**न च-इति।** किमित्येवमित्यत्राह-**नित्यत्व-इति।** नित्यस्यार्थक्रियाविरहादसत्त्वमेव स्यात्। न च नित्यत्वं कादाचित्कत्वादित भावः। अत्रार्थतः सिद्धमुपसंहरति-**तस्मात्-इति।** **अस्य**=नीलादेः **अपरमपि**=कारणत्वमपि। **तथा**=पारमार्थिकम्। न चोभयमपि पारमार्थिकं स्यादिति तृतीयपादं व्याचिख्यासुस्तन्निराकरणीयां शङ्कामुत्थाप्य निराकरणं प्रतिजानीते **कथ**मित्यादिना न **युक्त**मित्यन्तेन। अन्तरा पूर्वपक्ष्येव सिद्धान्तिनो मतमाशङ्क्य निराकरोति–**तत्स्वभावत्वादि**त्यादिना। अविशेषात्कार्यकारणस्वभावस्योत्पत्तिप्रभृत्यविशेषात्तथैव व्याचष्टे-**तत्तत्-इति।** तुरीयपादं व्याचष्टे-**इदं च-इति।** इतिशब्दव्याख्यानम्। नन्वस्तु सर्वैरुपलम्भः, न तन्नीलादीनां साधारण्यं किन्तु सर्वान् प्रति तत्त्वं, कारणत्वस्य तु नैवंविधं साधारण्यमस्ति नियमस्योक्तत्वादित्यत्राह-**नहि-इति।** न तावन्नीलादेः सर्वदेशकालव्यापित्वं साधारण्यमस्त्यव्यापकत्वादनित्यत्वाच्च। न च सर्वान् प्रत्यपि नीलत्वमित्यपि संभवति। नीलत्वस्य कारणत्ववत्प्रतियोग्यपेक्ष–निरूपणीयत्वाभावात्। ततः सर्वैः सर्वदा तथोपलम्भादेव साधारण्यम्, इदं च कारणत्वेऽप्यविशिष्टमिति।।१८।।

स्यादेतत् .... चोहनीये।१९। १६१-१६३

एवं तावत् क्षणिकत्वप्रतिक्षेपेण स्थिरत्वसमर्थनम्। **न च गत्यन्तरं स्थिर** इत्येतस्मिन् व्यवस्थिते भूतचैतन्यासम्भवात्तद्व्यतिरिक्तश्चेतन इति सिद्धम्। तत्राह–**स्यादेतत्–इति**। भवतु भूतं स्थिरं मा भूच्चैतन्यं तथापि भवदभिमतस्य नित्यविभोरात्मनः कारणत्वं नोपपद्यते, येनास्य ज्ञातृत्वं भोक्तृत्वमित्यादिकं सर्वमुपपद्येतेति भावः। ततः किमित्यत्राह–**न च–इति**। व्यतिरेको हि देशत कालतो वा स्यादिति केवलस्यासम्भवेऽपि शरीराद्युपाधिविशिष्टस्य व्यतिरेकः सम्भवतीत्याशङ्क्याह–**सोपाधेरिति**। कुत इत्यत्राह–**तथाभूतस्य–इति**। नित्यविभोः कारणत्व इवोपाधित्वसम्बन्धेऽप्ययोग्यत्वादिति। तदेवोपपादयति–**जनित इति**। तेन नित्यविभुना जनित उपाधिस्तस्य सम्बन्धी स्यात् **नित्यो वेति। पूर्ववत्–इति**। नित्यविभोर्व्यतिरेकासम्भवः कार्यजनन इवोपाधिजननेऽपि तुल्य इति। **पूर्ववदेवेति**। तज्जनितत्वमिवोपाधेस्तत्सम्बन्धित्वमपि तदन्वयव्यतिरेकाभ्याम–वसेयमन्वयमात्रस्य सर्वात्मसाधारण्यात्। तेनास्यैवायात्मन इत्यसाधारण सम्बन्धित्वमपि व्यतिरेकाभावे दुरवधारणमिति। यद्वा, नित्यत्वेऽप्युपाधेस्तत्सम्बन्ध–स्यानित्यत्वादात्मनैव जनयितव्यत्वाच्चोपाधिस्वरूपजननवत्सम्बन्धजननमपि न सम्भवतीत्युक्तं **पूर्ववदेवेति**। अस्तूपाधिस्तत्सम्बन्धश्च तथाप्युपाधेरेव व्यतिरेकः स्यात् न त्वात्मन इत्याह–**तथापि–इति**। उपाधिव्यतिरेकाव्यतिरेकयोस्तद्वत आत्मनः सर्वत्र सर्वदान्वयाविशेषादिति। अथवा नित्योऽप्युपाधिर्व्यापको वा स्यादव्यापको वेति विकल्पं हृदि निधाय व्यापकत्वे दोष उक्तः **पूर्ववदेव–इति**। निरुपाधिकसमयवदेवेत्यर्थः। अव्यापकत्वे दोषमाह–**तथापि च–इति**। शङ्कते–**तद्वत इति**। विशेषणस्योपाधेर्व्यतिरेके विशिष्टः तद्वानेव व्यतिरिच्यत इति। दूषयति–**न–इति**। उपाधिमानुपाधिश्चेत्यतो द्वयान्यस्य तद्वतो विशिष्टस्य पदार्थान्तरस्य **नैयायिकै**रनभ्युपगमादिति। तद्वतः पदार्थान्तरस्य भावेऽपि व्यतिरेकवतः तस्यैव कारणत्वं स्यान्नात्मनो व्यतिरेकाभावादित्याह–**भावे वा–इति**।

अत्रोच्यत–इति। न तावदन्वयव्यतिरेकावेव कारणं, नापि तावेव तन्निश्चयोपायः। किं तर्हि? कार्यान्नियतः पूर्वभावः कारणत्वं, निश्चीयते च धर्मिग्राहकप्रमाणादिनापि। तस्मान्नित्यविभोरपि कारणत्वसोपाधित्वनिश्चयौ सम्भवतः। एवमनभ्युपगमे ज्ञानादिकार्यलिङ्गेनात्मादेः समवायिकारणस्य प्रतीतिर्न स्यात्, इति व्याचष्टे–**भवेदेवम्–इति**। व्यतिरेकहीनस्यात्मनो न कारणत्वं भवेद्यदि तावेव कारणत्वं स्यादिति। किं तर्हि कारणत्वमित्यत्राह–**किन्तु–इति**। येन केनचिदित्यादिकं

व्याचष्टे-**स च-इति**। तुरीयपादं व्याचष्टे-**अन्यथा-इति**। कुत इत्यत आह-**न-इति**। येन कार्येण लिङ्गेन कारणमनुमीयते तेन **तत्सिद्धेः** तस्य कारणस्य सिद्धेरिति। यद्यप्यनुमित्सिते विशेषे अन्वयव्यतिरेकयोरनुपलम्भस्तथापि तज्जातीयेषु विशेषान्तरेषु तदुपलम्भादन्यत्रापि तज्जातीयदर्शनेन तज्जातीयकारणविशेषानुमानं सिद्ध्यतीत्याशङ्क्याह-**तज्जातीय-इति**। **अन्यत्रापि** व्यतिरेकविरहिण्यपि आत्मादावपि समवायिकारणवद् रूपादिषु गृहीतान्वयव्यतिरेकस्य तज्जातीयज्ञानादि कार्यदर्शनात् समवायिकारणत्वेनात्मनोऽनुमानं सुकरमिति भावः। यद्यप्यनुपलब्धान्वयव्यतिरेकस्यापि कारणस्यानुमानं स्यात्। तथापि वस्तुगत्यानुविहितान्वयव्यतिरेकमेव कारणं कार्यात् अनुमीयते रूपज्ञानादिना चक्षुराद्यनुमाने तथा दर्शनादित्याह-**तथापीति**। **न इति**। अन्वयव्यतिरेकवतः कारणत्वमिति व्याप्तेरदृष्टचरस्य धर्मिणः सिद्धिर्न स्यादिति बाधकतर्केण नित्यविभुकारणव्यतिरिक्तविषयत्वेन संकोचादिति। न परं संकोचः व्याप्तिरेव नास्ति, व्यतिरेकविरहिणः कारणत्वे बाधकाभावादित्याह-**विपक्ष-इति**। अन्यत्र तथा दर्शनादिति यदुक्तं तत्राह-**अन्यत्र-इति**। विपक्षे बाधकमन्तरेण साहचर्यदर्शनमात्रेण साध्यधर्मिणि धर्मान्तरापादनमुत्कर्षसमा नाम जातिरिति। एतदेव कथमित्यत आह-**अस्य च-इति**। क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वाद् घटवदितीश्वरानुमाने तत एव शारीरिकर्तृकं स्यादिति प्रसङ्ग उत्कर्षसमा जातिरिति प्रतिपादयद्भिर्व्याप्तिमन्तरेण साहचर्यमात्रदर्शनेन धर्मान्तरोत्कर्षस्य जातित्वम् तत्र विस्तरेण वक्ष्यत इति नेदानीं प्रपञ्च्यत इति। यद्वा, किमिदानीमयं न प्रपञ्च इत्यत्राह-**अस्य-इति**। नन्वस्ति बाधकं नित्यविभूनां सर्वकार्यं प्रति कारणत्वप्रसङ्गः, अन्वयमात्रस्याविशेषात्। तेन व्यतिरेकवत एव कारणत्वमिति व्याप्तिः सिद्ध्यतीत्याह-**सर्वव्यापकानाम्-इति**। **न-इति**। रूपादिकार्यं प्रति यज्जातीयं कारणं घटाद्यन्वयव्यतिरेकवद् दृष्टं, ज्ञानादिकार्यस्यापि तज्जातीयमेव कारणमनुमीयते। **तज्जातीयत्वं** नाम समवायिकारणजातीयत्वं सहकारिसमवधान निबन्धनकारणयोगित्वं च। तत्र समवायिकारणत्वं द्रव्यस्यैव न गुणादेरिति ज्ञानादीनां द्रव्याश्रयत्वं तावत्सिध्यति। न चातिप्रसक्तिः, द्रव्यान्तरस्याकाशादेः सहकारिसन्निधि कृततत्कारणाभावात्, अतस्तद्व्यतिरिक्तद्रव्यभेदस्यैव ज्ञानकारणात्वेन सिद्धिरिति तदेवोपपादयति-**तथा हि-इति**। **तज्जातीयकारणकमिति** = दृष्टसमवायिकारण-जातीयकारणकमित्यर्थः। अनुमातव्यमिति शेषः। असमवायिनिमित्ताभ्यामेव कार्योत्पत्तौ किं समवायिनेत्यत्राह-**आश्रय-इति**। समवायिप्रत्यासन्नं

ह्यसमवायिकारणं, कथं तत्तदभावे भविष्यतीति मा भूत्समवायिवद-समवाय्यपीत्यत्राह-**तदभावे-इति**। असमवायिकारणोत्पादकस्य हि निमित्तत्वम्, अतस्तदभावे तदपि न स्यादिति। तथापि किमायातमित्यत्राह-**तथा च-इति**। कारणमात्रस्याभावे कार्यस्योत्पत्तिरेव न स्यात्, निरपेक्षस्यैवोत्पत्तौ तस्य कादाचित्कत्वक्वाचित्कत्वे अपि न स्यातामिति। तर्हि निमित्तकारणमेवास्तु माभूतां समवाय्यसमवायिनी तत्सामर्थ्यादेव देशकालनियतोत्पत्तिर्भविष्यीत्यत्राह-**एवम्-इति**। समवाय्यसमवायिनोरभावे निमित्तमपि न स्यादित्युक्तम्। एवमपि यदि निमित्तसामर्थ्यादेव नियतदेशोत्पत्तिः कार्यस्याभ्युपगम्येत भवत्वेवं, तथापि यस्मिन्देशे कार्यमुत्पद्यते स देशोऽपेक्षणीयः कार्येण, स एव नः समवायिकारणमिति। नन्वस्तु तावता समवायिनः सिद्धिः, किमायातमात्मसिद्धेरित्याह-**तथा च-इति**। सामान्यतस्तावत्कश्चिद्देशो भवतैवाभ्युपगतः, तत्र ज्ञानादयः पृथिव्याद्यदृष्टद्रव्याश्रया न भवन्ति, मानसप्रत्यक्षत्वात्। य उक्तसाध्या न भवन्ति न त उक्तसाधना यथा रूपादयः पृथिव्या इत्यनेन पथिव्याद्याश्रयत्वस्य बाधे सति सामान्यतो दृष्टानुमानपूर्वकात् परिशेषानुमानादष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्यसिद्धेः को वारयिता, न कश्चित्। तथा हि ज्ञानादयः क्वचिदाश्रिताः कार्यत्वाद्रूपादिवदिति सामान्यत आश्रयसिद्धौ ज्ञानादयोऽष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रयास्तदाश्रयत्वबाधे सति कार्यत्वात्। न यदेवं न तदेवं यथा रूपमिति। समवायिवदसमवायिनिमित्ते च कारणे बाधकबलादेवोहनीये इत्याह–**एवम्-इति**। समवायिमात्रकारणत्वेऽपि तन्नित्यत्वात् कार्यस्य सततोत्पत्त्यादिप्रसङ्गः, असमवायिमात्रकारणत्वे इन्द्रियार्थसन्निकर्षं विनापि आत्ममनः सन्निकर्षादेव बाह्यार्थविषयज्ञानोत्पादप्रसङ्गः। निमित्तमात्रादुत्पत्तावपि आत्ममनःसंनिकर्षाभावेऽपि तदुत्पादप्रसङ्ग इत्यादि बाधकमूहनीयम्।।१९।।

इत्येषा सहकारि .... बध्नातु शान्तो मम। १६५-१६६

एवं भगवतः परमेश्वरस्य विचित्रविश्वप्रसङ्गेन प्रपञ्चरचनायां सहकारिकारणं तदुपज्ञसंप्रदायकं च धर्माधर्माख्यमलौकिकं हेतुं प्रसाध्य परिच्छेदार्थमुपसंहरन्नयमेव, भगवतः सहकारिशक्तिनियमेऽपि च तत्तद्वादिभिः तत्तत्प्रवृत्तिनिमित्तयोगेन मायादिशब्दैर्जगत्कारणत्वेनाभिलप्यत इति प्रतिपादयन्नुत्तरोत्तरं समीचीनतरन्यायपरिस्फूर्त्तये स्वचेतसि भगवतः सान्निध्यं प्रार्थयते-**इत्येषा इति**। **इति**=एवमुपपादितैषा **असमा** प्रत्यात्मसमवेतत्वेनासाधारणी विचित्रा धर्माधर्माख्या शक्तिर्नैयायिकैर्देवस्य **सहकारिशक्तिरिति** व्युत्पादिता। जीवादृष्टसापेक्षो भगवान्

जगन्ति निर्मिमीत इति तेषां च स्थितिः। **माध्यमिकैस्तु** दुरुन्नीतितः स्वरूपसामर्थ्यादेवमियमित्युन्नेतुमशक्यत्वाद् इन्द्रजालादिमायासादृश्यान्मायेति। **सांख्यैस्तु** मूलकारणत्वात्प्रकृतिरिति, ते हि प्रकरोति प्रपञ्चमिति प्रकृतिशब्दं निराहुः। **वेदान्तवादिनस्तु प्रबोधा**त्तत्वसाक्षात्काराद्बिभेति तिरोधत्ते इत्यविद्येति। यथाहि मिथ्याज्ञानं तत्त्वज्ञानेन विनश्यति तथा धर्माधर्मावप्युत्पन्नतत्त्वज्ञानस्य भोगद्वारेण विलीयते, ततस्तयोरेवाविद्यात्वादविद्यामात्रविलसितः प्रपञ्च इति तेषामाघोषः। एवं तत्तत्प्रवृत्तिनिमित्तवशेन मायादिशब्दैरुदिता यस्य सहकारिशक्तिरसौ देवो गुणतयाधिष्ठानमतीत्यावस्थित एवोपरतजगन्निर्माणादिव्यापारः सोऽस्मदीयं समस्तव्यापारं साक्षात् कुर्वन्मम चेतसि संनिधत्तामिति।।२०।।

उदयनगम्भीरभावप्रकटननिपुणेन वरदराजेन।
व्याख्यात एव गहनः कुसुमाञ्जलेः प्रथमखण्डः।

इति श्रीमद्रामदेवमिश्रसूनोर्वरदराजस्य कृतौ न्यायकुसुमाञ्जलिटीकायां बोधन्यां प्रथमः परिच्छेदः।।



द्वितीयस्तबकः

तदेवं सामान्यतः .... विधान्तरसंभवः।१६७।

अथ द्वितीयं परिच्छेदमारभमाणस्तन्निराकरणीयामाशङ्कामुत्थापयितुं यथा साधितपूर्वेणापूर्वेणेश्वरसिद्धिस्तद्दर्शयति-**तदेवम्-इति**। तदिति वाक्योपक्रमे, एवमित्युक्तप्रकारपरामर्शः, **सामान्यतः**=सामान्यतो दृष्टेन पूर्वोक्तानुमानेन। **अलौकिके हेतौ** अदृष्टे सिद्धे कार्यत्वात्तस्य **साधनेन** ज्योतिष्टोमादिनाऽ**वश्यं भवितव्यम्**। न च तत्साधनमस्मदादिभिः पिशितलोचनैः शक्यदर्शनम्। न च तथाज्ञदृष्टेन तेनानुष्ठानरूपो व्यवहारः सम्भवति। तस्मादतीन्द्रियार्थसाक्षात्कारैकक्षमः सर्वातिशायी कश्चिदस्ति यदुपज्ञोऽयमर्वाचीनानां तद्विषयो व्यवहार इति।

अत्रान्यथासिद्धिं **मीमांसकः** शङ्कते **नन्विति**। नित्यत्वेन पुरुषानुप्रवेशाभावात् निर्दोषं स्वतः सिद्धप्रामाण्यं च वेदमेव मूलमवलम्ब्यायं धर्मसंप्रदायोऽस्तु, तन्नित्यत्वासिद्धावपि **सांख्यादि**मतावलम्बनेन कर्मयोगसिद्धसाक्षात्कार विषयीकृतधर्माधर्माः **कपिलादय** एव सन्तु मूलमस्य। किमनेन परमेश्वरेणानपेक्षितसमुद्रबालुकाकीटसंख्यादिसर्वविषयज्ञानेनेति तदुत्तरत्वेन परिच्छेदप्रतिपाद्यमर्थं संकलय्याह-**उच्यते**।

प्रमायाः-इति। न तावत् स्वतः प्रामाण्यं, प्रमायाः कारणगुणतन्त्रत्वात्। न च वेदस्य नित्यत्वं शब्दस्यैवानित्यत्वात्। परतन्त्रपुरुषपरतन्त्रतया प्रवाहाविच्छेदलक्षणं नित्यत्वमस्तीति चेत्तदपि नास्ति सर्गप्रलययोः सम्भवेन प्रवाहस्यैव परिच्छेदात्। न च कपिलादिद्वारा सम्प्रदायसिद्धिः, ततः परमेश्वरादन्यस्मिन् कपिलादौ प्रमाणत्वेन विश्रम्भाभावात्। न हि योगबलप्रभाविता भावना प्रमात्मकमेव साक्षात्कारं करोतीति नियमः, ततो नित्यसर्वज्ञसिद्धिरिति।।१।।

तथा हीति .... कथं स नेष्यते?। पृ० १६९-१७२।

प्रमापारतन्त्र्यं तावदनुमानेनोपपादयति-**तथाहीति**। प्रमात्वं नामौपाधिकसामान्यविशेषः। तस्य नित्यत्वेनानुत्पाद्यत्वात्। तदाश्रयो यथार्थानुभवलक्षणो ज्ञानविशेषः प्रमाशब्देन पक्षीक्रियते। ज्ञप्तिपक्षे च विरोधात् प्रामाण्यशब्देन प्रमाणत्वमेव पक्षीकरिष्यते, सेयं प्रमाऽप्रमासाधारण ज्ञानसामान्यहेत्वधीना भवति, कार्यत्वे सति ज्ञानविशेषत्वादप्रमावदिति। व्याप्तिद्वयमत्राभिसंहितं-यो यत्कार्यविशेषः स तत्सामान्यहेत्वतिरिक्तहेत्वधीनः,

यथा कलमाङ्कुरः। न ह्यङ्कुरविशेषः कलमाङ्कुरोऽङ्कुरसामान्यहेतोर्बीजादेव भवति किन्तु तद्विशेषात् कलमबीजात्, कार्यविशेषश्चेयं प्रमा। तस्मात् तथेत्येका सामान्यव्याप्तिः। अपरा च-यो ज्ञानविशेषः स ज्ञानसामान्यातिरिक्तहेतुको यथाऽप्रमेति विशेषव्याप्तिरिति। ज्ञानं नाम ज्ञानत्वाभिव्यञ्जिका विषयप्रवणा व्यक्तिः, तद्विशेषत्वमनुभवादीनामिति। अत्र द्रव्यविशेषस्याकाशादेः, ज्ञानविशेषस्य चेश्वरप्रमाया नित्यत्वाद्धेत्वपेक्षैव नास्ति। दूरे तत्सामन्यातिरिक्तहेत्वधीनत्वम्। ततश्च तद्विशेषत्वमनैकान्तिकं मा भूदित्युक्तं-**कार्यत्वे सति-इति**। पक्षीकृतस्यापि कार्यत्वेन विशेषणान्नेश्वरप्रमांशे बाधादयः प्रादुष्यन्ति। अनुमानस्य विपक्षे बाधकं तर्कमाह-**यदि-इति। तावन्मात्राधीना**=ज्ञानसामान्यहेतुमात्राधीनेति। कुत इत्यत आह-**अस्ति हीति**। यदि तत्र ज्ञानहेतुर्न स्यात् तदा कारणाभावेन कार्यं ज्ञानमपि न स्यादित्याह-**अन्यथा-इति। ज्ञानत्वेऽपि-इति**। ज्ञानत्वाभ्युपगमेन तद्धेत्वभ्युपगमं सूचयति-**एवं तर्हि-इति**। यदि दोषान्वयादप्रमा स्यात् तर्हि तद्विरोधिनी प्रमा दोषाभावादेव भवेदित्यधिकहेतुरङ्गीकृतः स्यादिति। **अस्तु-इति**। एवमनित्यस्यापि वेदस्य प्रामाण्यं सिद्ध्यतीति भावः। **भवेदपि-इति**। भावात्मनोऽधिकस्यानङ्गीकारो भवेदपीति। **कथमन्यथा-इति**। विशेषादर्शनस्यादोषत्वे कथं ततो विशेषादर्शनादप्रमात्मकौ संशयविपर्ययौ स्यातामिति वक्रकोटरादेः शुक्तिकात्वस्य विशेषस्यादर्शने हि तयोरुत्पत्तिरिति। सन्तु तर्ह्यभावा अपि दोषाः। ततः किमित्यत्राह-**तत इति**। अभावात्मनो दोषस्याभावो भाव एवेति। कथं स भावः प्रमाहेतुर्नेष्यत इति।

स्यादेतत् .... तथा प्रकृतेऽपि। पृ० १७२-१७५।

अस्त्येव प्रत्यक्षे विशेषादर्शनादेरभावस्य दोषत्वं, न तु प्रमाणान्तर इत्याह-**स्यादेतत् इति**। शब्दे तावद्भावात्मकदोषाभावे सति स्वत एवातिरिक्तभावानपेक्षाज् ज्ञानकारणादेव शब्दात्प्रमोत्पद्यत इति दृष्टम्। शब्दे तावदेवम्, अनुमानादावपि तथा द्रष्टव्यमिति तावच्छब्दस्यार्थः। **न-इति**। अनुमाने लिङ्गविषय विपर्यासविरुद्धत्वादीनां भावानां दोषत्वे सत्त्वेऽपीत्यपि शब्दो भिन्नक्रमः, अवधारणे वा। भावरूपदोषाभावमात्रेण लैङ्गिकज्ञानहेतोर्दृष्टसहचाराद् दृष्टव्यभिचाराल्लिङ्गाद् व्याप्तिलक्षणगुणाभावे प्रमानुत्पत्तेस्तवापीष्टत्वात्। न च व्याप्तिरप्यनुमितिज्ञानमात्रे हेतुर्न प्रमाया इति युक्तम्। व्याप्त्यभावेऽपि मैत्रीतनयत्वादेवानुमितिज्ञानोत्पत्तेः। अत्रादिशब्दाभ्यामर्थापत्तिमनुपपद्यमानविपर्यासं च संगृह्णाति। **अन्यत्र-इति**।

अनुमानादावतिरिक्तभावापेक्षास्तु मा वा, न हि नस्तत्र निर्भरः। शब्दे तु दोषाभावे सत्यपि न स्वतः प्रमोत्पत्तौ गुणापेक्षाऽस्तीति नः समीहितवेदप्रामाण्योपयोगादिति। तदेतदनिष्टप्रसङ्गमुद्भाव्य शङ्कितं, तत्समाधिमत्रापि समीकुर्वन् परिहरति-**गुणाभाव इति, तुल्यत्वादित्यन्तेन**। तर्हि पौरुषेयवाक्ये गुणान्वयव्यतिरेकदर्शनात् तदधीनमस्तु प्रामाण्यम्। अपौरुषेये तु वेदे तदसंभवाद्दोषाभावमात्राधीनं प्रामाण्यमङ्गीकर्त्तव्यमित्याह-**पौरुषेय इति**। तदेतत्परिहरन् प्रसङ्गं तावदाह-**गुणनिवृत्ति-इति**। तत्समाधिमाशङ्क्य साम्यापादनेन परिहरति-**तस्या इति**। यदि लोकवचसि दोषनिवृत्तेः प्रामाण्ये हेतुत्वमुपलब्धं तर्हि गुणनिवृत्तेर-प्रामाण्यहेतुत्वमपि तत्रैवोपलब्धमिति शङ्कोत्तराभ्यामाह **लोक-इति**। ननु तस्य लोकवचसोऽप्रामाण्ये दोषा एव कारणमनन्यथासिद्धान्वय-व्यतिरेकत्वात्। गुणनिवृत्तिस्तु विरोधिदोषसंनिधाननान्तरीयकेत्याह-**तदप्रामाण्य-इति**। तर्हि प्रामाण्यकारणेषु गुणेषु सत्सु तद्विरोधिनां दोषाणां निवृत्तिरप्यवर्ज्जनीयसंनिधिरिति स्यादित्याह-**प्रामाण्यं प्रतीति**। यदि गुणानामन्यत्रोपक्षयेण प्रमायामहेतुत्वं तर्हि दोषाणामपि तथात्वे नाप्रमायामहेतुत्वं भवेदिति शङ्कोत्तराभ्यामाह-**गुणानाम्-इति**। ननु प्रामाण्याप्रामाण्ययोरेवं वक्तृगुणदोषाधीनत्वे सति वक्तृविधुरस्य वेदस्योभयोरप्यभावेन प्रामाण्याप्रामाण्ययोरन्यतरस्वभावत्वमपि न स्यादित्याह-**निःस्वभावत्वम्-इति। आत्मानम्-इति**। अपौरुषेयं वेदमातिष्ठमानमिति शेषः। न तु गुणवद्वक्तृत्वेन वेदस्य प्रामाण्यमङ्गीकुर्वतोऽस्मानिति भावः। उक्तमर्थं दृष्टान्तमुखेन विशदयन्नुपसंहरति-**तस्मादिति**। द्वेषरागाभावाविनाभावेऽपीत्यस्य प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रयत्नयोरित्यनेन संबन्धः, न त्वित्यस्य युज्यते इत्यनेन। **विशेषाभावादिति**। द्वेषानुविधायिनो निवृत्तिप्रयत्नाद्रागानुविधायिनः प्रवृत्तिप्रयत्नस्यैतदनुविधायित्वे विशेषाभावादिति। न चात्र द्वेषाभाव एव प्रवृत्तेः कारणमिति युक्तम्, उपेक्षाज्ञानादपि प्रवृत्तिप्रसङ्गात्। तथा प्रकृते प्रामाण्यविषयेऽपि दोषगुणाभावाविनाभावेऽपि प्रामाण्याप्रामाण्ययोरन्यथासिद्धगुणदोषानुविधान नियमात्तद्धेतुकत्वम्। न त्वप्रमा दोषहेतुका, प्रमा तु सत्यपि गुणानुविधाने दोषाभावहेतुकेति विभागो युक्त इति।

तथापि .... शङ्कानिवृत्तिरिति तुल्यम्। पृ० १७६

नन्वस्तु गुणानुविधानं प्रामाण्यस्य तथापि न तद्धेतुकत्वमित्याह-**तथापि इति**। वेदानां प्रामाण्यमपौरुषेयत्वं च तावत्सिद्धम्। तेन दोषाभावमात्रेण प्रामाण्यं

सेत्स्यतीति सिध्यत्येव। ततो गुणाभावेऽपि दोषाभावादेव वेदे तत्प्रामाण्यं दृष्टमिति व्यभिचारादकारणं गुणाः सर्वत्र दोषाभावस्तु कारणमव्यभिचारादिति। **न-इति।** न तावदद्यापि वेदानामपौरुषेयत्वेन प्रामाण्यमिति सिद्धम्, येन तत्र गुणव्यभिचारो निर्दिश्येत। लोकाधीननिर्णयो हि वेदो लोके चाव्यभिचाराद् गुणः प्रामाण्यहेतुरिति स्थितम्। तत्र यदि वेदस्यापौरुषेयत्वमाश्रित्य दोषाभावात् प्रामाण्यमुच्येत तदा गुणाभावादप्रामाण्यमपि वक्तुं शक्यत इति। **स्वत इति।** न तावद्वेदानां प्रामाण्यमपेतदोषवक्तृत्वेनानुमीयते, स्वतो बोधजनकत्वेन निश्चिते प्रामाण्ये हेत्वन्तरादप्रामाण्यशङ्कायां तन्निराकरणमात्रमप्रामाण्यकारणदोषाभावावधारेणन क्रियते। तदाहुः–

तस्माद् बोधात्मकत्वेन प्राप्ता बुद्धौ प्रमाणता।

अर्थान्यथात्वहेतूत्थदोषज्ञानादपोद्यते।। (श्लो०वा,) इति।

ततो नेदमपेतवक्तृदोषत्वं सप्रतिसाधनीकर्त्तुं युक्तमिति। **न-इति।** दोषाभावे तद्दोषनिबन्धनाप्रामाण्यशङ्कानिवृत्तावपि प्रामाण्यहेतुगुणनिवृत्तिनिबन्धनायास्तस्याः स्वस्थत्वात्। न हि स्वतः प्रामाण्यनिश्चय इत्यग्रे निवेदयिष्याम इति भावः। **तस्या-इति।** न तावद्दोषसंसर्गमन्तरेण केवलाया गुणनिवृत्तेः प्रामाण्यहेतुत्वं लोके दृष्टं, न चापौरुषेये दोषः सम्भवति। तेन गुणनिवृत्तिमात्रेण नाप्रामाण्यशङ्केति। **दोषनिवृत्तेरपि इति।** गुणसहिताया एव दोषव्यावृत्तेः प्रामाण्यहेतुत्वं लोके दृष्टमिति न दोषनिवृत्तिमात्रेणाप्रामाण्यशङ्का निवर्त्तत इति।

एवं प्रामाण्यं .... प्रत्यक्षा स्यात् । पृ० १७६-१८५

यच्च ज्ञानानां स्वरूपात्स्वग्राहकाद्वा प्रामाण्यं ज्ञायते नान्यस्माद् गुणसंवादादिज्ञानादिति स्वतः प्रामाण्यमुक्तं परैस्तदपि निराकुर्वन्नुत्पत्तिवज् ज्ञप्तिरपि परत इत्याह **एवम् इति।** स्वविषयनान्तरीयकस्यार्थक्रियादेः कारणगुणस्य वा। विज्ञानान्निश्चितप्रामाण्यैः प्रवर्तकज्ञानैः सह सजातीयत्वानुसन्धानमभ्यासदशापत्तिः, तद्दशापन्नानां ज्ञानानामन्तरेणाप्यर्थक्रियादिविज्ञानं तज्जातीयतानुसन्धानादेव प्रामाण्यं निश्चीयते, तेन तत्र सांशयिकत्वमसिद्धं भवेदित्यत उक्तम्-**अनभ्यासदशायाम्-इति।** न च व्यभिचाराव्यावर्त्तनायैव हेतोर्विशेषणम्। रूपादिषु मध्ये रूपस्यैवाभिव्यञ्जकत्वादित्युक्तावसिद्धिपरिहारार्थमपि दृष्टत्वादिति। तज्जातीयत्वाननुसन्धानदशायां हि जाते ज्ञानेऽपि निश्चितेऽपि तत्स्वरूपे प्रामाण्यं

प्रति संशेरते ज्ञातार: किमिदं प्रमाणमप्रमाणं वेति। तस्माज् ज्ञानस्वरूपाद् स्वग्राहकाद्वा न प्रामाण्यनिश्चय:, किन्तु परतोऽर्थक्रियादिविज्ञानाद्, यथैवाप्रमाण्यनिश्चय: परतो विसंवादादेरिति। **सांशयिकत्वात्**संशयत्वादित्यर्थ:। साध्यविपर्ययाङ्गीकारेऽनिष्टप्रसङ्गमाह-**यदि इति**। यथा हि निश्चिते ज्ञानस्वरूपे संशयो नास्ति ज्ञानमिदं न वेति। तद्वत्प्रामाण्येऽपि संशय: कदाचिन्न स्यात्, तस्यापि निश्चयात्। निश्चितेऽपि विषये संशयस्यानुत्थानादिति। ननु निश्चितेऽपि प्रामाण्ये ज्ञानत्वादे: प्रमाणाप्रमाणसाधारणधर्मस्य दर्शनात् संशय: स्यादित्यत्राह-**न हि-इति**। असत्येव च साधकबाधकप्रमाणाभावे समानधर्मदर्शनादे: संशयहेतुत्वे को दोषस्तत्राह-**तथा सति-इति**। विशेषदर्शनोत्तरकालेऽपि समानधर्मादिदर्शनस्य संशयहेतो: सत्वादिति। **अथ-इति**। ज्ञानेन सह गृह्यमाणेऽपि प्रामाण्ये प्रमाणज्ञानेष्विवाप्रमाणज्ञानेष्वपि प्रामाण्यदर्शनादिदं प्रमाणज्ञानमिदं त्वप्रमाणमिति नियामकविशेषादर्शनाच्च संशयोपपत्तिरिति भेदतद्विशेषोपलम्भे संशयस्यानुत्पत्ते:। प्रामाण्यसंशयवादिनापि तदनुपलब्धिरवश्यं वक्तव्येति मन्वानो विकल्प्य दूषयति-**तत्किम्-इति**। **धर्मिण एव-इति**। उपलब्धे हि धर्मिणि धर्मविषयक: संशयो न त्वनुपलब्ध इति। अत्रायं संक्षेप:-गृह्यमाणं ज्ञानं यद्यप्रमाणविलक्षणं न गृह्येत तत: प्रामाण्यमेव न गृहीतं स्यात्, अथ तथा गृह्येत ततो न कदाचिदपि प्रामाण्यसंशय: स्यादिति। एवं स्वपक्षसाधनमभिधायेदानीं स्वत: प्रामाण्यं ज्ञायत इत्यत्र परोक्तं प्रमाणं दूषयितुमनुभाषते-**यदपि-इति**। **समर्था** = संगतार्था प्रयोजनाविसंवादिनीति यावत्। यदाह, *भाष्यकार:*- 'सामर्थ्यं पुनरस्या: फलेनाभिसंबन्ध:' इति। तदेतत्प्रवृत्तिसामर्थ्यं प्रवर्त्तकविज्ञानस्य प्रामाण्यमन्तरेणानुपपद्यमानं तदाक्षिपति। तस्यापि प्रवृत्ते: प्रामाण्यसंशयादप्युपपत्तिमाशङ्क्योक्तं – **प्रचुर इति**। संशयेन हि कदाचित् क्वचित् प्रवृत्ति: स्यात्, न तु प्रचुरेति। ननु तत: प्रामाण्यनिश्चयोऽस्तु स्वत एवेति कुत इत्यत्रोक्तं-**झटिति-इति**। प्रमाणान्तरानपेक्षमेव ज्ञानोत्पत्त्यन्तरं भवन्ती तादृशी प्रवृत्ति: स्वत: प्रामाण्यनिश्चयं गमयति। ततश्च परतस्त्वानुमानं बाधप्रतिरोधयोरन्यतरदोषकलुषितमिति भाव:। दूषयति-**तदपि-इति**। तामेवान्यथैवोपपत्तिमाह-**झटिति-इति**। न तु तत्रैवोपयोग: प्रामाण्यग्रहस्येति दर्शयंस्तत्कारणपरम्परां दर्शयति-**इच्छा च इति**। दृष्टार्थेषूपयोगाभावेऽप्यदृष्टार्थेषु ज्योतिष्टोमादिषु प्रागेव प्रवृत्ते: प्रामाण्यनिश्चयोपयोगमाशङ्क्याह **तत: समर्थ इति**। यत: प्रामाण्यग्रहस्य न प्रवृत्तिं प्रत्युपयोग इति कथं प्रमाणादप्यगृहीतप्रामाण्यात् समर्था प्रवृत्तिरित्यत्राह-

तद्ग्रहण इति। प्रवर्त्तकविज्ञानप्रामाण्यग्रहणावश्यंभावेऽपि विशिष्टप्रवृत्तेर्न तद्ग्राहकादेव तद्धर्मप्रामाण्य ग्रह इत्येतद् दृष्टान्तेनोपपादयति-**न हि इति।** न हि पिपासाशमनशक्तमिति विशिष्टा प्रवृत्तिःपाथःस्वरूपग्राहकात्प्रत्यक्षादेव तच्छक्तिग्रहमपेक्षते, सौहित्यलिङ्गेनापि तद्ग्रहोपपत्तेः। तथा प्रवर्तकविज्ञान स्वरूपग्राहिणः प्रमाणादन्येनापि तज्जातीयत्वादिना लिङ्गेन तत्प्रामाण्यानुमानमविरुद्धमिति।

स्यादेतत् .... कथं भ्रान्तत्वमिति। पृ० १८५-१८९

स्यादेतत्-इति। सर्वमिदं-प्रवृत्त्यादिकमिति। न इति। मा भूदनवस्थादुःस्थत्वात् परतः प्रामाण्यग्रहः। तथापि न स्वतस्त्वसिद्धिः, प्रामाण्याग्रहेऽप्यर्थग्रहोपपत्तेरर्थसन्देहेऽपि च प्रवृत्त्युपपत्तेरिति। ननु प्रामाण्ये कदाचिज् ज्ञातव्ये भवत्येवानवस्थेत्याशङ्क्य न तावत्फलज्ञानमाश्रित्येयं प्रसज्यत इत्याह-**न च इति।** यथा ह्यर्थे गृह्यमाणे न तद्विषयकज्ञानप्रामाण्यग्रहापेक्षा, तथा प्रवर्तकविज्ञानप्रामाण्ये गृह्यमाणेऽपि न तद्ग्राहिणो गणसंवादिविज्ञानस्य प्रामाण्यग्रहापेक्षा। तेन यदा कदाचित् केनचित् प्रामाण्यं जिज्ञास्येत तदा तदन्येनागृहीतप्रामाण्येनैव गृह्यत इति। **नानवस्थेति।** अवश्यं ज्ञेयत्वाभ्युपगमे दोषमाह-**अन्यथा इति।** न तावन्मीमांसकस्यापि ज्ञानं स्वयमेव प्रामाण्यं गृह्णाति स्वस्यैवाग्रहणात्। अतः स्वग्राहिणो ज्ञाततालक्षणफलाद्यनुपपत्तिरूपात् प्रामाणाद् गृह्यत इति वक्तव्यं, तत्र चार्थापत्तिप्रामाण्यविषयविज्ञानस्याप्यर्थान्तिरेण प्रामाण्यं ग्रहीतव्यम्। एवं तस्य तस्यापीत्यनवस्था प्रसज्यत इति। ननु मा भूत्फलज्ञानप्रामाणस्यास्यावश्यं ज्ञेयत्वं, मा च भूत् तत्रानवस्था, तथापि प्रमासाधनमाश्रित्यानवस्था प्रसज्यत इत्याह- **लिङ्गम् इति।** प्रवृत्तिसामर्थ्यं प्रवृत्तिसामर्थ्यं तज्जातीयत्वं वा। प्रामाण्यलिङ्गं निश्चितमेव सत्प्रवर्तकज्ञानस्य प्रमाणयं निश्चाययति। लिङ्गनिश्चयश्च तज्ज्ञानप्रमाण्यनिश्चयादेवेति अवश्यं तदपि लिङ्गान्तरेण निश्चितेन निश्चेयं, तन्निश्चयश्च तज्ज्ञानप्रमाण्यनिश्चयादिति। लिङ्गज्ञानप्रामाण्यं निश्चेतुमेव परम्परा व्यवतिष्ठते इत्यत्रापि प्रामाण्यस्यावश्यज्ञेय-त्वानभ्युपगमेन सुगमः परिहार इति मन्वानः परस्यापि समानमेतदित्याह-**तत्किम्-इति।** निश्चित एवानुपपद्यमानोऽपि स्वोपपादकमाक्षिपति। तन्निश्चयश्च तज्ज्ञानप्रामाण्यनिश्चयात् सोऽप्यनुपपद्यमानार्थान्तरनिश्चयादिति दुस्तराऽनवस्थेति। प्रत्येक्षेणेत्यादिशङ्का, तदुत्तरं च सुगमम्। **लिङ्गज्ञानस्य इति।** सत्तामात्रावस्थितेन

चक्षुरादिना जातेऽपि लिङ्गज्ञाने तत्प्रामाण्यानिश्चये कथं लिङ्गनिश्चयः, प्रामाण्यनिश्चयश्च लैङ्गिक एवेत्यनवस्था सुस्थेति। तदन्यत्रापि तुल्यमित्याह- **अनुपपद्यमान-इति। न हि- इति।** अनुपपद्यमानग्राहकं च प्रत्यक्षमिति शेषः तदन्यत्रापि तुल्यं लिङ्गग्राहकस्यापि तुल्यं प्रत्यक्षत्वादित्याह-**तुल्यम्-इति।** सत्तामात्रेण प्रत्यक्षस्य निश्चायकत्वेऽपि तस्य तदाभासादविवेचितत्वात्तदवगतं प्रामाण्यलिङ्गं कदाचिदाभासः स्यात्। अतस्तत्प्रामाण्यं ज्ञेयमिति। तदप्यनुपपद्यमानग्राहिणोऽपि प्रत्यक्षस्य तुल्यमित्याह-**अनुपपद्यमान इति।**

सोऽपि इति। अनुपपद्यमानाभासोऽपि इति। लिङ्गाभासोऽप्येवमित्याह- **लिङ्गेऽपि इति।** यदि लिङ्गाभासेनापि प्रमाण्यानुमानं तर्हि तदनुमितप्रामाणय ज्ञानस्याप्यप्रामाण्यशङ्का निवृत्तेति व्यर्थः प्रमाण्यानुमानप्रयास इत्याह-**तर्हि इति।** अर्थापत्तिवादिनोऽपि तुल्यमेतदित्याह **एतदपीति।** ननु यदन्तरेण हि यन्नोपपद्यते न तत् तदन्तरेणापि भवतीति संभवति। तस्मादनुपपद्यमानस्याभासत्वं न संभवतीत्याह **अनुपपद्यमान इति।** तर्हि तदविनाभूतस्य तेन विनापि भानासंभवात् लिङ्गाभासोऽपि न संभवतीत्याह **लिङ्गेऽपीति।** अत्रान्तरे पार्श्वस्थः **पृच्छति-कः पुनरिति।** योऽसौ युवाभ्यामुच्यते नाभासः स्यादिति कोऽसावर्थ इति। उत्तरं **यदनुपलम्भे इति।** यस्य तदितरव्यावर्तकधर्मविशिष्टस्य वस्तुनोऽनुपलम्भे भ्रान्तिर्भवति यादृशस्योपलम्भे चासौ न भवति, सोऽर्थः स्वप्नेऽपि नाभासः स्यादिति। अनाभासस्योपलक्षणान्तरमाह-**बाध इति।**

तदितरव्यावर्तकधर्मानुपलम्भोपलम्भाभ्यां हि ज्ञानयोर्बाध्यबाधकव्यवस्थेति। यद्वा, यादृशस्योपलम्भे बाधकं व्यवतिष्ठते नातः परं भवति। **सोऽप्यर्थः।** अन्यथेत्यस्य विवरणं **तथाभूतस्यापि व्यभिचार** इति। **सापि**=बाधकव्यवस्थापि न स्यात्। न ह्युभयोरवशिष्टायां व्यभिचारशङ्कायामेकं बाधकमितरद् बाध्यमिति व्यवस्था सिध्येदिति। सापि मा भूत् का नो हानिरित्याह-**मा भूदिति। भवितव्यम् इति।** बाधकज्ञानविषयस्तत्त्वं, बाध्यज्ञानविषयश्चातत्त्वमिति हि तत्त्वातत्त्वव्यवस्था। ततो बाध्यबाधकव्यवस्थाभावेन तत्त्वातत्त्वविभागोऽपि न स्यादिति। मा भूद्विभागोऽपीत्यत्राह-**अन्यथा इति।** मा भूदित्यस्यापि निर्णयस्य तत्त्वभावेन व्याघातादिति। यादृशोपलम्भ इत्यादिनोक्तमेवार्थमुपपादयन्नाह-**कथं हि-इति। तथाभावे वा इति।** नियामकनिःशेषविशेषोपलम्भे वेति।

स्यादेतत् .... उपाध्युद्भावनं वा स्यात्। पृ० १८९-१९१।

अथ पूर्वपक्षैकदेश्याह-**स्यादेतत् इति**। अस्तु परतः प्रामाण्यं प्रमाणानां, तथापि वेदानां वक्तृगुणज्ञानादिनिरपेक्षमेव प्रमाण्यं सिद्ध्यति, नित्यत्वेन तदनपेक्षत्वात् महाजनपरिग्रहाच्च प्रामाण्यसिद्धेः। ततः प्रमायाः पारतन्त्र्येऽपि नेश्वरसिद्धिरिति भावः। **न-इति**। नित्यत्वस्य तदधीनानपेक्षत्वस्य चासिद्धिः। यद्वा, नित्यत्वस्य परिग्रहस्य च, यद्यपि सिद्धः परिग्रहस्तथापि नित्यत्वे वेदस्य निर्मूलतया असत्कल्प एवेति भावः। नित्यत्वासिद्धिमाह-**न हि-इति**। वर्णानामेवानित्यत्वे कुतस्तत्समूहात्मकस्य पदस्य नित्यत्वं, कुतस्तरां तत्समूहात्मनो वाक्यस्य, कुतस्तमां तत्समूहात्मनां वेदानामिति तावच्छब्दस्यार्थः। कथं वर्णानामनित्यत्वमित्यत आह-**तथा हि इति**। विशेषतः सामान्यतश्च शब्दानां ध्वंसरूपमनित्यत्वं श्रोत्रप्रत्यक्षेणानुभूयत इति। नन्वयं शब्दानुलम्भ एव, स च ध्वंसं विनाप्युपपत्स्यत इत्यत्राह-**न हि इति**। अमूर्त्तत्वस्य निष्क्रयत्वव्याप्तेरिति। अमूर्त्तत्वादेव शब्दस्येन्द्रियसंबन्धविच्छेदलक्षणमावरणमपि घटादेरिव न घटत इत्याह-**नापि इति**। नापि सत्येवेन्द्रियसंबन्धे श्रोतुरनवधानादनुपलब्धिरिन्द्रियदोषाद्वा संभवतीत्याह-**नाप्यनवहितः-इति**। नन्वदुष्टेऽपि श्रोत्रेन्द्रिये प्रतिशब्दं तत्सहकारिणां भेदाच्छब्दान्तरोपलम्भेऽप्यनुपलम्भः शब्दान्तरस्योपपद्यते। तेन न तदनुपलम्भः सहकार्युत्तराभावादित्यत आह-**नापि सहकारि-इति**। शब्दोपलम्भं प्रत्यन्वयव्यतिरेकवतः सहकारिणः प्रत्यक्षेणासिद्धिरिति। तच्चातीन्द्रिय-त्वादनुपलब्धिरित्यत्राह-**नापि-इति**। श्रुतस्य शब्दस्याभावे नैवोत्तरकालमनुपलम्भोपपत्त्यर्थं सहकारिकल्पनायां प्रमाणाभावादिति। तथापि तावत्कल्पने ध्वस्तेऽपि घटेऽनुपलम्भः सहकारिविरहादिति स्यादित्याह-**अन्यथा इति**। ननु घटादौ न तत्कल्पनमनित्यत्वात्, तस्मान्नित्यस्य शब्दस्यानुपलम्भः सहकारिविरहनिबन्धन एवेति तत्कल्पना युक्तेत्यत्राह-**न च शब्दस्य-इति**।

ये तु *नैयायिकैकदेशिनः* शब्दध्वंसस्य प्रत्यक्षत्वं नेच्छन्ति तान्प्रति तत्रानुमानमभिदध्महे इत्याह-**ये तु इति**। आद्यादिशब्दप्रध्वंसव्यावर्त्तनायोक्तं-**विवादाध्यासित इति**। **ऐन्द्रियकाभावत्वादिति**। ऐन्द्रियकस्य प्रतियोगिनः प्रध्वंसाभावत्वादित्यर्थः। तथा च न साध्याविशिष्टत्वं, नापि परमाणुवर्तिना घटरूपाभावेन व्यभिचार इति। एकदेशी शङ्कते-**नैतदेवेति**। अभावस्य तावदिन्द्रियेण संयुक्तादिविशेषणविशेष्यभावसन्निकर्षः, न चायं श्रोत्रेण तदाश्रयस्य

शब्दप्रध्वंसस्यास्ति, न चासंयुक्तमिन्द्रियेण गृह्यते, अतीन्द्रियाकाशाश्रयश्च शब्दप्रध्वंसस्ततोऽपि नेन्द्रियेण गृह्यत इति। तदेतद्विकल्प्य दूषयति-**न इति।** इदं द्वयमप्युपाध्युद्भावनं स्यात् ऐन्द्रियकत्वाभावत्वस्यैन्द्रियकत्वेन न स्वाभाविकः संबन्धः, घटाद्यभावे त्वैन्द्रियकत्वस्येन्द्रियसंनिकर्षैन्द्रियकाधारत्वयोरन्यतर प्रयुक्तत्वादिति। यद्वा, इन्द्रियग्राह्यत्वस्येन्द्रियसन्निकर्षः, ऐन्द्रियकाधारत्वं वा व्यापकं घटाभावादिषु दृष्टं, तच्च शब्दप्रध्वंसान्निवर्त्तत इति न तस्यैन्द्रियकत्वम्- इति।

सत्प्रतिपक्षत्वं वा .... वच्छिन्नत्वाद् व्याप्तेः। पृ० १९३-१९७।

सत्प्रतिपक्षत्वमिति। तत्र न तावदुपाध्युद्भावनपक्षः संभवतीत्याह-**प्रथम इति।** इन्द्रियसन्निकर्षस्य तावदनुपाधित्वमाह-**स्वरूप इति।** शब्दप्रध्वंसस्येन्द्रिय ग्रहणं प्रति स्वरूपयोग्यता तत्र साध्यते, सा च यावत्स्वरूपभाविनीति न तां प्रत्यागन्तुकस्य सहकारियोग्यतारूपस्येन्द्रियसन्निकर्षस्योपाधित्वं साध्यव्यापकत्वाभावादिति। ऐन्द्रियकाधारत्वस्याप्यनुपाधित्वमाह-**नापि इति।** तत्र मानसप्रत्यक्षात्माऽऽधाराणां धर्माधर्मसंस्काराणां प्रध्वंसस्य मानसत्वप्रसङ्ग। इन्द्रियसन्निकर्षस्योपाधित्वेऽपि मनःसंयुक्तात्मविशेषणत्वेन धर्माद्यभावस्य प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गो द्रष्टव्य इति भावः। **अत एव इति।** यत इन्द्रियसन्निकृष्टत्वैन्द्रिय काधारत्वयोर्द्वयोरपि धर्माद्यभावे व्यभिचार इति। नापि सत्प्रतिपक्षत्वमित्याह-**नापि द्वितीय इति।** द्वयोरुपाधित्वस्य व्यभिचारदूषितत्वात् सत्प्रतिपक्षत्वमपि निरस्तमेवेति भावः। तत्र प्रथमस्येन्द्रियार्थसन्निकृष्टत्वस्य स्वरूपासिद्धेरपि न सत्प्रतिपक्षत्वमित्याह-**प्रथमस्य इति।** असिद्धिमेवाह-**अस्ति हि-इति।** **स्वाभाविकः**= संयोगसमवायादिसंबन्धान्तरनिरपेक्ष इति। ननु यदि श्रोत्रविशेषणतया शब्दाभावोऽपि गृह्येत ततः शब्दाभावविशिष्टत्वेन श्रोत्रं ग्रहीतव्यं, न चैतत्संभवति श्रोत्रस्यातीन्द्रियत्वादित्याह-**विशेष्यस्य-इति।** विशिष्टज्ञानविषयत्वाभावे को दोषस्तत्राह-**तथेति।** न हि स्वजन्यविशिष्टज्ञानविषयत्वेन विशेष्यमनवच्छिन्दतो विशेषणत्वं नाम। विशेष्यव्यवस्थापकस्यैव विशेषणत्वादिति भावः। **न इति।** तथा विशेष्यव्यवच्छेदो विशेषणस्य फलं न तु विशेषणत्वमिति। कुत इत्यत आह **आत्माश्रय इति।** कथमित्यत्राह **विशेषणभावेन इति।** विशेषणभावो हि सन्निकर्षः समवायाभावयोर्ग्रहणहेतुः।

तत्र यदि विशेष्यस्थापनमेव विशेषणत्वं तदा विशेषणभावेन तयोर्ग्रहणं, विशेषणभावश्च तथाग्रहणमेवेत्यात्माश्रयत्वं दृष्टान्तार्थे समवायोपसंग्रहणमिति।

ततश्चैवमङ्गीकार्यमित्याह **तस्मात् इति**। अस्त्वेवं सम्बन्धः, विशेषणता तु कथं तयोः सिध्येत्, सम्बन्धान्तरपूर्वकत्वात् तस्या इत्यत्राह **सैव इति**। तदुपश्लिष्टस्वभावतैव नीलोत्पलादिष्वपि विशेषणता, तस्या एव विशिष्टप्रत्ययजननयोग्यतारूपत्वाद् योग्यतैव विशेषणमिति भावः। सा च योग्यताऽत्र शब्दप्रध्वंसे दुर्वारा प्रतियोगिनः शब्दस्याधिकरणेनाकाशेन सम्बन्धान्तरमन्तरेणैव शब्दाभावस्योपश्लिष्टत्वादित्याह **सा चात्र इति**। नन्वस्तु योग्यतैव विशेषणत्वं, विशेष्यव्यवस्थापनं च तत्फलम्। तथापि यद्यस्ति शब्दाभावस्य स्वभावत उपश्लेषादाकाशं प्रति विशेषणता, तर्हि तथा विशेष्यव्यवस्थापनेन प्रतीतिरूत्पादयितव्या। भूतलादिविशेषणे घटाभावादौ तथा दर्शनात्। न च तत्सम्भवति विशेष्यस्याकाशस्यातीन्द्रियत्वादित्याशयेनाह **तथापि इति**। **न इति**। विशेष्यग्रहणयोग्यताप्रयुक्तं तत्र तु विशेषणत्वमत्र प्रयुक्तम् तत्, न तु विशेषणत्वमात्रप्रयुक्तम्।

अन्यथा संयुक्तसमवायेन ...... इतेरतराश्रयप्रसंगात्। पृ०१९७-२०४

तन्मात्रप्रयुक्तायां व्याप्तौ बाधकमाह-**अन्यथा इति**। यथा रूपादौ विशेषणे गृह्यमाणे द्रव्यमपि तद्विशिष्टं गृह्यते, तथा गन्धादावपि स्यात्। तत्रापि सन्निकर्षस्य विशेषणत्वस्य चाविशेषात्। न हि तदस्ति विशेष्यस्यायोग्यत्वात् तत्र इति। नन्वस्तु विशेषणतया ग्रहणं, तथापि अघटं भूतलमित्यादाविन्द्रियसम्बद्धविशेषणतयैवाभावस्य ग्रहणं दृष्टं, न तु क्वचिदिन्द्रियविशेषणतया, सा चेन्द्रियसम्बद्धविशेषणता ततः शब्दाभावान्निवर्तमाना स्वव्याप्यमिन्द्रियग्राह्यत्वमप्युपादायैव निवर्तत इति व्यापकानुपलब्धिरेव तस्यानैन्द्रियकत्वे प्रमाणमित्याह **तथापि इति। न इति।** यो हीन्द्रियेण साक्षात्सम्बद्धुमयोग्यस्तत्सम्बन्धिनार्थान्तरेण सम्बध्यते तद्विषय एवायं प्रतिबन्धः, न त्विन्द्रियग्राह्याभावमात्रविषय इति। क्वाचिद् व्यवधानदर्शनादन्यत्रापि तथाभ्युपगमेऽनिष्टमाह **अन्यथा इति**। तदेवमिन्द्रिय-सन्निकृष्टत्वस्यासिद्ध्युद्भावनेन प्रतिपक्षत्वं निराकृतम्। इदानीमतीन्द्रियाधारत्वस्य निराचष्टे **नापि इति**। शब्दादिभिर्व्यभिचारनिवृत्त्यर्थमुक्तम**भावत्वे सति इति**। कुत इत्यत आह **योग्यता इति**। परमाणुगतद्व्यणुकप्रध्वंसादेः सपक्षत्वाभिमतस्य नातीन्द्रियाधारत्वादतीन्द्रियत्वं, किन्तु स्वरूपयोग्यताविरहात् ततो व्याप्यत्वासिद्धो हेतुरिति। नन्वस्तु योग्यताविरह एव प्रयोजकः, स त्वतीन्द्रियाधारैवाभावस्येत्यत्राह **न च इति**। नन्वापद्यतामैन्द्रियकाधारतैव योग्यतेत्यत्राह **न चैवम् इति**।

ऐन्द्रियकाऽऽत्माधारो हि धर्मादिप्रध्वंस इति **दृश्याधारत्वम् इति**। ततश्च न धर्माद्यभावस्य प्रत्यक्षत्वापत्तिरदृश्यप्रातियोगिकत्वात्, नापि शब्दाभावस्यातीन्द्रियाधारत्वात् **तस्येति। न इति**। न ह्याधारेणापि निरूपणीय इति। कथं तर्ह्यभ्युपगम इत्यत्राह **प्रतियोगि इति**। आधारनिरूप्यत्वेऽनिष्टमाह **अन्यथा इति**। किमिति न स्यादत आह **तत्र इति**। तयोर्यदि भूतलमाधारोऽभावनिरूपणे प्रत्यक्षतयोपयुज्यते घटोऽपि तथा स्यात्, आधारत्वाविशेषात्। तथा च परोक्षे घटे इह घटो नास्तीति प्रतीतिर्न स्यादिति भावः। **अथ इति**। प्रकारभेदं सूचयन्नार्थस्तु शब्दः प्रतियोगिनः संसर्गस्य निरूपणाय घटस्योपयोगः। तच्च स्मर्यमाणेनापि तेन सिध्यतीति भावः। तदेतद् भूतलस्यापि तुल्यमित्याह **भूतलस्य इति**। विवक्षितमन्यथोपयोगं प्रश्नपूर्वकमाविष्करोति **कथम् इति**। न तावत्प्रतियोगिनिरूपणे तयोः प्रत्यक्षत्वोपयोग इत्याह– **तत्र इति**। प्रतियोगिनः संसर्गस्य तावन्निरूपणं स्मरणलक्षणं तदानीमनुभवस्यासंभवात्। स्मरणं चाप्रत्यक्षेणापि तन्निरूपकेण संसर्गिणा भवतीति न भूतलघटयोरन्यतरस्यापि प्रत्यक्षत्वेन प्रतियोगिनिरूपणोपयोगः किमुतोभयोरिति। अभावसन्निकर्षार्थत्वेऽपि भूतलस्य न प्रत्यक्षत्वेनोपयोग इति दर्शयिष्यन् सन्निकर्षं तावदाह–**सन्निकर्षस्तु इति**। न तावदिन्द्रियेण साक्षात्सन्निकर्षः संयोगः समवायो वाऽभावस्यास्ति। येन भूतलेन विशेषणविशेष्यभावेन सन्निकर्षोऽस्ति, तेनापि यदीन्द्रियं न सन्निकृष्येत तदाऽव्यवहितस्यापि सम्बन्धाभावात्कथमिव तमभावं गमयेदिति। ननु सन्निकर्षार्थत्वेऽपि भूतलस्य प्रत्यक्षत्वेनोपयोगः अनुपलब्धस्यानुपलभ्यमानस्य चेन्द्रियसन्निकर्षाभावादित्यत आह **न च इति**। इन्द्रियसन्निकर्षादुपलम्भ उपलम्भादिन्द्रियसन्निकर्ष इतीतरेतराश्रयप्रसङ्गादिति।

तस्मात् सन्निकर्षे सति .... कर्णशष्कुलीसुषिरवदिति। पृ० २०४-२०७

यदि भूतलसन्निकर्ष एवोपयुज्यते न तु तदुपलम्भः, कथं तर्हीह भूतले घटो नास्तीति भूतलोपलम्भेनैवाभावोपलम्भ इतीमामाशङ्कां निराकुर्वन्नुपसंहरति– **तस्मात् इति**। तर्हि शब्दाभावेऽप्युभयार्थमेवाधिकरणमपेक्षणीयम्। न च तत्सम्भवतीत्यप्रत्यक्षत्वमेव तस्येत्यत्राह–**प्रकृते तु इति। तस्य**=प्रतियोगिनः शब्दस्येति। अथेदानीमैन्द्रियकानुमानस्यानुग्राहकं तर्कमाह **न चेदेवम् इति**। न चेच्छब्दाभावः श्रोत्रेण गृह्यते ततः कारणाभावादेषा प्रतीतिर्न स्यादिति। नन्वस्त्वनुमानादियं प्रतीतिरित्याह **अनुमानात् इति**। नास्तीदानीं शब्दः

अनुपलभ्यमानत्वादित्यनुमाने तावदाश्रयासिद्धो हेतुः, शब्दस्याश्रयत्वानुपपत्तेरिति। तर्हि सन्तमेव शब्दं पक्षयित्वा तस्य कृतकत्वेनानित्यत्वं साधयाम इत्यत्राह- **अनित्यत्व इति**। तत्र हि शब्दः कदाचित् प्रध्वंसिष्यत इत्येतावदेव सिध्येत्, न त्विदानीं नास्तीति। तर्हीदानीं निःशब्दमाकाशं तद्वत्तयाऽनुपलभ्यमानत्वाद्यथा घटवत्तयाऽनुपलभ्यमानं भूतलं विघटमित्यनुमानं भविष्यतीत्यत्राह-**आकाशस्य इति**। शब्दसम्भवकालेऽप्याकाशस्यातीन्द्रियत्वेन तद्वत्तयाऽनुपलम्भात्। यद्वा, आद्यादिशब्दानां सतामेवानुपलम्भादिति भावः। कालेऽपि पक्षे पूर्वस्य हेतोरनैकान्तिकत्वमित्याह **एवम् इति**। अनुमानान्तरमाशङ्क्य निराकरोति **अहमिदानीम् इति**। व्याहतिं तावद्विभजते **बधिर इति**। साध्यवैकल्यं विभजते - **तस्यापि इति**।

ननु यदि बधिरेणानुपलभ्यमानः शब्दस्तच्छ्रोत्रप्रदेशे भवेत् ततोऽयं व्यर्थः स्यात्। न च व्यर्थस्योत्पत्तिः संभवति, भोक्तृणामुपभोगायैव तत्तददृष्टवशात्सर्वस्योत्पत्तेः। तस्मान्नास्ति तत्र शब्द इत्याह-**अनुपभोग्यस्य इति**। **न इति**। अनुपभोग्यानामेवाद्यादिशब्दानामुत्पाददर्शनान्नानुपभोग्यत्वस्यानुत्पादेन व्याप्तिरिति। नन्वाद्यादिशब्दानामनुपभोग्यानामपि न वैयर्थ्यं शब्दान्तरारम्भोपयोगात्, अन्त्यस्य तूपयोगान्तराभावादानर्थक्यमेव स्यादित्याह **तेषाम्-इति**। **न इति**। बधिरश्रवणसमवेतस्यापि शब्दस्यान्त्यत्वासिद्धेः शब्दान्तरारम्भेणैवोपयोगः सिद्ध्यतीति। किं चास्मदादिभिरनुपलम्भात् प्रयोजनस्याभावो न निश्चेतुं शक्योऽयोग्यत्वेनाप्युपपत्तेरित्याह-**सर्वेषाम् इति**। यथा हि सुषुप्तावस्थायामस्मदादिभिरनाकलितप्रयोजनयोरेव श्वासप्रश्वासयोरुत्पादस्तथा बधिरकर्णगतस्यापि शब्दस्य भविष्यतीति। उक्तमेवोपपादयति-**आरम्भे हि इति**। यदि तु प्रयोजनानुपलम्भमात्रेणाऽऽरम्भो निवर्तेत तदा बधिरस्य कर्णशष्कुल्या नभसोऽवच्छेदोत्पाद एव न स्यात् बधिरस्य तेनावच्छेदेनानुपयोगात् इत्याह- **तथा सति इति**। तदेवं बधिरकर्णस्य निःशब्दत्वे प्रमाणं नास्तीत्युक्तं सशब्दत्व एव प्रमाणमस्तीत्याह-**विवाद इति**। यदा शब्दसन्तानः प्रतीयते योग्ये च देशेऽनावृतकर्णविवरो बधिरस्तिष्ठति, तदा तत्कर्णो न शब्दवानिति परेणोच्यते **तस्मिन्** विवादकाल इति। तदेवम् 'अहमिदानीं निःशब्दश्रोत्रवान्' इति प्रयोगो दूषितः।

निःशब्दाः .... चानुपलम्भात्। २०७-२१०।

अथैकदेशी प्रयोगान्तरमाह-**निःशब्दा इति**। सशब्दानामपि वीणादीनामुपलभ्यमानत्वाद् व्यभिचारनिवृत्त्यर्थमुक्तं-**तदनुपलम्भेऽपि इति**। शब्दानुपलम्भेऽपीत्यर्थः। तथापि धर्माद्यनुपलम्भेऽप्युपलभ्यमानेनात्मना व्यभिचारो मा भूदित्युक्तं-**तदेकज्ञानसंसर्गयोग्यत्वे सति इति**। तेन तद्विशेषणेन सह यदैकं ज्ञानं विशिष्टज्ञानमिति यावत्, संसर्गस्तद्विषयत्वं तद्योग्यत्वे सतीति विशेषणासिद्धो हेतुरित्याह-**न इति**। अयोग्यत्वमेवाह-**शब्दस्य इति**। ननु सुरभि चन्दनमित्यादिषु भिन्नेन्द्रियग्राह्ययोरपि विशिष्टज्ञानविषयत्वं वक्ष्यति। सत्यं, तत्र गुणगुणिभावं वदन्नदो वक्ष्यतीति। ननु परमार्थतस्तदभावेऽपि मधुरस्वरा वीणेति लौकिकानामभिमानस्तावद् दृश्यते। तन्मात्रादेव सिद्धं तदेकज्ञानयोग्यत्वं हेतोर्विशेषणं भविष्यीत्याह-**अभिमान इति**। अस्तु तथा नाम विशेषणं, तथापि शब्दस्य वीणाद्याश्रयत्वेन तत्प्रध्वंसस्याप्येतद्देशत्वान्निःशब्दा वीणादय इति प्रतिज्ञा बाधितविषया स्यादित्याशयेनाह-**तथापि इति**। ननु वीणादिषु शब्दस्यात्यन्ताभावः साध्यते, न तस्य प्रध्वंसवत् प्रतियोगिदेशत्वम्। यदि तु स देशः प्रतियोगिनोऽपि कदाचित् स्यात् ततस्तत्रात्यन्ताभाव इति व्याहन्येतेत्यत्राह-**अत्यन्ताभावस्य इति**। तदेदानीं शब्दो नास्तीति नियतकालतया शब्दाभावप्रतीतिर्न स्यात्, अत्यन्ताभावस्य सर्वदा सत्त्वात्सिद्धसाधनत्वं च तदा स्यादिति भावः।

स्यादेतत् इति। भेर्याद्यवच्छिन्ने ह्याकाशे शब्दः समवैति विभुकार्याणामसमवायिकारणदेशानुरोधित्वात्। तेन शब्दवत् आकाशदेशस्योपाधिषु विधीयमानो निषिध्यमानोऽपि शब्दस्तदुपहित आकाश एव विहितो निषिद्धोऽपि भवति। यथा शरीरावयवे विधीयमाना निषिध्यमाना वा सुखादयस्तदुपहित आत्मनि तथात्वं लभन्ते। तस्माद् भेर्यादिषु निरूप्यमाणः शब्दध्वंस आकाश एव निरूपितो भवतीति। **न इति**। न हि तत्र शरीरे निषिध्यमानानां सुखादीनामर्थादात्मनि निषेधः सिध्यति उपहितस्याऽऽत्मनः प्रत्यक्षसिद्धत्वेन तदाश्रयस्य सुखाद्यभावस्य प्रत्यक्षत्वोपपत्तेः, न चेयं विधा शब्दप्रध्वंसे संभवतीति। उपहितस्य नभसोऽप्रत्यक्षत्वेन तदाश्रयस्य शब्दप्रध्वंसस्याप्यप्रत्यक्षत्वादिति। उपहितस्य नभसोऽप्रत्यक्षत्वेन तदाश्रयस्य शब्दप्रध्वंसस्याप्यप्रत्यक्षत्वादिति। ननूपहितस्याप्रत्यक्षत्वेऽप्युपाधयस्तावद् भेर्यादयः प्रत्यक्षाः ततस्तैरेव शब्दप्रध्वंसो निरूप्यत इत्याशयेनाह-**उपाधय इति। न इति**। आश्रयनिरूप्यत्वादभावस्य तेषां चानाश्रयत्वादिति भावः। अनाश्रयैरपि तैर्निरूपणे वा को दोषस्तत्राह-**निरूपणे**

वा इति। निरूपकाणां प्रत्यक्षत्वातन्निरूप्यस्याभावस्यापि प्रत्यक्षत्वप्रसङ्ग इति। किं च तैरेव निरूपणेऽभ्युपगतहानिरपि स्यादित्याह–**न चैवम् इति।** तेषामभावानधिकरणत्वादिति। किं चाप्रत्यक्षेष्वप्युपाधिषु शब्दाभावस्योपलम्भात्तन्निरूप्यत्वमित्याह– **न च तेऽपि इति।** शब्दस्य हि निमित्तकारणानां भेर्याद्युपाधीनां कुड्यादिव्यवधानेऽपि पूर्वोपलब्धस्य तस्याभावः प्रतीयति इति। ननु शब्दलिङ्गानुमितैर्वीणादिभिः पक्षीकृतैः शब्दाभावमनुमाय निःशब्दास्त इति व्यवहारः स्यात् इत्याह **आनुमानिकैरिति।** **न इति।** सशब्दा अपि हि ते तद्वत्तया नोपलभ्यन्ते तेषामश्रौत्रत्वादिति। **संदिग्धाश्रयत्वात् इति।** तदानीं शब्दलिङ्गाभावात् नाशसंभवाच्चेति। तर्ह्युपलभ्यमाना भेर्यादय इति पक्षं विशेषयिष्याम इत्यत्राह–**उपलभ्यमान इति।** तदा हि विशेषणसिद्धः पक्षः स्यादिति। कुत इत्यत आह–**इन्द्रिय इति।**

अपि च .... तस्मादिति। पृ० २१०-२१२

अधिकरणनिरूप्यत्वं प्रध्वंसस्य वदतां दूषणान्तरमाह–अपि चेति। प्रतियोग्याश्रया एव हि नाशस्याधिकरणं, ते च पूर्वमेव नष्टत्वात्तदानीं नोपलभ्यन्त इति। ननु मा भूतन्नाशोपलम्भ इत्याह–**न कथंचित् इति।** तर्हि किंनिबन्धनोऽयं व्यवहारः स्यादित्याह–**आश्रय इति।** नन्वनुमानतः सिद्धैराश्रयैरानुमानिको नाशोपलम्भो भविष्यतीत्याह–**अनुमानत इति।** **न इति।** व्यवहित–वीणाद्यनुमानिकस्तत्र शब्दाभावव्यवहार इत्यनेन तुल्यन्यायतयाश्रयासिद्धत्वादु–पलभ्यमानत्वेन विशेषणे विशेषणासिद्धेश्चेति। यद्वा नष्टाश्रयाणां नाशस्य प्रत्यक्षेणानुलम्भेऽप्याश्रयनाशादनुमानेनोपलम्भो भविष्यतीति शङ्कार्थः। उत्तरार्थस्त्वाश्रितविनाशवदाश्रयनाशोऽपि न स्वाश्रयानाशे निरूपयितं शक्यत इति। आश्रयविनाशात्कार्यविनाश इति व्यवहारस्य निबन्धनमाशङ्कते–**तन्तुषु इति।** **तद्वदेव**=विनाशात् पूर्वकालवदिति। **एतस्य इति** प्रमाणानुग्राहकत्वेन तर्कस्य न केवलस्यास्य व्यवहारमूलत्वमिति प्रमाणमाशङ्कते–**यदेव इति।** नष्टाश्रये पटादौ यदंश्वादिकमुपलभ्यते तत्स्वकार्यं तन्तवस्तत्कार्यं पटस्तत्कार्ये गुणकर्मणीत्येवं या कार्यपरम्परा तया तद्वन्न भवति तद्वत्तयोपलब्धुं योग्यस्य तथानुलभ्यमानत्वे सति स्वयमुपलभ्यमानत्वादित्यनुमानमनुग्राह्यमत्रेति। **न इति।** किमत्रांशवः पटानाधारा इति साध्यं, किं वा पटप्रध्वंसाधारा इति। पूर्वत्र सिद्धसाधनं तन्त्वाधारत्वात्पटस्य, उत्तरत्र बाधितविषयत्वं पटप्रध्वंसस्य स्वप्रतियोगिसमान

देशत्वेन तन्त्वाश्रयत्वादिति। दूषणद्वयपरिहारमाशङ्कते-**ये इति**। पटप्रध्वंसवत्तन्त्व भाववन्तोंऽशव इति साध्यमिति। **न इति**। नष्टेषु तन्तुषु पटविनाशादसतां च तन्तूनां पटप्रध्वंसवत्त्वानुपपत्तेस्तदभावाश्रयत्वमंशूनां बाधितमिति। तर्हि पटप्रध्वंसाश्रययोग्यानां तन्तूनामभाववन्तोंऽशव इति साध्यमित्यत्राह-**योग्यता इति**। तस्य योग्यतामात्रस्य पटसद्भावकालेऽप्यविशेषात् न ततः प्रध्वंस एकान्ततः सिध्यतीति। ननु गुणक्रियाविशिष्टस्य पटस्याधारास्तन्तवोंऽशुषु न सन्तीति साधिते तन्तुपटविशेषणानां पटगुणादीनां अवस्थानासंभवादभावः सिध्यतीत्याह-**अनन्य इति**। निषेधप्रतीतिरपि हि लौकिकानां विशिष्टविषयेत्याह-**गुणक्रियावदिति**। एवमपि गुणकर्मणोरभावाधिकरणस्य पटस्य तदभावाधिकरणस्य च तन्तूनां तदानीमभावादधिकरणनिरूप्याभाववादिनो नायं प्रत्यय उपपद्यत इत्याह- **तथापि इति**। अधिकरणमाशङ्कते-**अंशु इति**। तर्हि तस्य पटादिप्रध्वंसस्यांश्वधिकरणत्वा-भावात्तदधिकरणत्वेन प्रतीतिर्भ्रान्तिरेव स्यादित्याह-**भ्रान्तिस्तर्हि इति**। शङ्कते-**आश्रय इति**। अयमर्थः। गुणकर्मणोः पटस्य चाश्रयं पटं तन्तूंश्च प्रति परम्परया साक्षाच्चांशवः कारणं, तैरेवारब्धैस्तन्तुभिरारब्धः पट इति। एवं पटाद्यवच्छेदका अंशव इति तेषामप्यदूरविप्रकर्षेण गुणानामप्यभावदेशत्वमस्ति। तस्मादेवंभूतेन व्यवहितेनापि देशेनाभावो निरूपणीयः व्यवहितस्यापीदृशस्याभावनिरूपणे योग्यताव्याप्तेः। न हि संभवति तन्तुप्रध्वंसवन्तोंऽशव इति पटाभावस्तदाश्रय गुणाद्यभावो वा नास्तीति। **न तर्हि इति**। तेन शब्ददेशस्याप्रत्यक्षत्वेऽपि शब्दप्रध्वंसप्रत्यक्षोपपत्तिरिति। किंनिरूप्यस्तर्हीत्याशङ्कामपनुदन्नुपसंहरति-**तस्मात् इति**। यस्य भावस्य या ग्रहणसामग्री तं भावं तदविनाभूतमपि संनिकर्षं विहाय तस्यां सत्यां तस्य भावस्याभावो यत्क्वचिन्निरूप्यः न त्वधिकरण एवेति नियमः भावस्यात्मापि प्रत्यक्षसामग्र्यैकदेश इति **तं विहाय**-इत्युक्तमिति।

इयांस्तु विशेषः .... शब्द प्रागभावो व्याख्यातः। पृ० २१३-२१६।

यद्यतीन्द्रियाधारेऽप्यभावः प्रत्यक्षः, कस्तर्हि प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष-व्यवस्थाहेतुरित्यत्राह-**इयांस्तु इति**। येयमभावग्रहणसामग्री सा विद्यमाना चेत् प्रत्यक्षेण निरूप्यः इह घटो नास्तीति। अत्र हि प्रतियोगिस्मरणं तदनुपलब्धिरालोकादिसहकृतेन्द्रियव्यापारादयो विद्यन्ते सा तु सामग्र्यसती ज्ञायमाना चेदनुमानेन। प्रक्तनाभावप्रतीतौ नेदानीमिन्द्रियव्यापारादयो विद्यन्ते किं तु प्राक्तना एवानुसन्धीयन्त इति। यदि ह्याधारनिरूप्यो न स्यात् तर्ह्याधारप्रतियोगिभ्यां

निरूप्योऽभाव इति प्रतिपादयता शास्त्रेण विरोधः स्यादित्यत्राह-**एतेन इति**। प्रतियोगिनिरूप्यत्वाभ्युपगमेन इति। कथमेतेनास्य परिहार इत्यत्राह-**उभय इति**। यस्याभावस्य प्रतियोगी भावद्वयनिरूप्यः यथा संयोगः, तदभावः सद्भ्यां संयोगिभ्यां निरूप्यते तद्विषयं शास्त्रमिति अनुमेयाभावविषयं वा शास्त्रमित्याह-**अनुमाने इति**। किं तत्राधारोऽपि निरूपणीय एवेत्याह-**अन्यथा इति**। यत्राप्यधिकरणनिरूप्यत्वं तत्रापि न तस्य प्रत्यक्षत्वेनोपयोग इत्याह-**तत्रापि इति**। नन्विह भूतले घटो नास्तीत्यत्राश्रयः प्रत्यक्षेणैव गृह्यत इत्यत्राह-**क्वचित् इति**। तत्राश्रयप्रत्यक्षग्रहणसामग्र्या अभावग्रहणसामग्र्या सह संनिधानात् तत्प्रत्यक्षत्वं, न त्वभावज्ञानाङ्गतयेति। कथमविशेषप्रवृत्तस्य शास्त्रस्यैत द्विषयत्वमवगम्यत इत्यत्राह-**यदि च इति**। सूत्रकारो हि सर्वमनित्यमित्युक्ते तदनित्यत्वं नित्यमनित्यं वा नित्यं चेत्सर्वानित्यता न स्यात् अनित्यस्यैव नित्यत्वात्। अथानित्यं तथापि सर्वानित्यता न स्यात्। अनित्यस्यैव विनाशे सर्वनित्यताप्रसङ्गादिति चोद्यं परिहरन्नाह-'तदनित्यत्वं वह्नेर्दाह्यविनाश्यानुविनाशवत् तद्विनाशः' (न्या०सू० ४.१.२७) इति। अत्र हि यथाऽग्निर्दाह्यं काष्ठादि नाशयित्वा पश्चात्स्वयमपि विनश्यति, न च तदा काष्ठादिकमुपजीवति, एवं सर्वानित्यत्वमपि सर्वं विनाश्य स्वयमपि विनश्यति। न च सर्वनित्यता स्यादिति। वह्निविनाश उदाह्रियते तन्नोपपद्यते यद्यभावस्याश्रयनिरूप्यत्वं भवेदिति। कुत इत्यत आह-**असिद्धेत्यादि इति**। वह्निविनाशस्याश्रयानिरूपणेनासिद्धत्वादिति। तदेवाह-**न हि इति**। नन्वसंभवद्दशान्तरगमनतिरोधानस्यानुपलभ्यमानस्य वह्नेर्विनाशपरिशेषादनुमानतो विनाशः सिध्येदित्याशङ्क्याह-**नापि इति**। गमनाद्यभावस्य हेतोरप्यभावात्मकत्वादिति। निमित्तकारणस्य काष्ठादेर्विनाशे न तत्कार्यस्य वह्नेस्तदवयवानां च विनाशोऽनुमीयत इत्यत्राह-**नापि इति**। न हि निमित्तस्य दण्डचक्रादेर्विनाशे घटादिकार्यविनाशो दृश्यत इति। ननु मा भूदन्यत्र, अस्ति तेजोनिमित्ताभावस्य कार्याभावव्याप्तिरित्याह-**तेजसा इति**। अथापि व्याप्तेर्ग्राहकप्रमाणाभावादसिद्धिरित्याह-**न इति**। तामेव दर्शयति-**न हि इति**। अतीन्द्रियाधारे तेजोविनाशे प्रत्यक्षवृत्त्यनभ्युपगमात् तेन सह दुर्ग्रहाव्याप्ति-रित्युपसंहरति-**तस्मादिति**। **गत्यन्तरस्य**=आश्रयनिरूप्यत्व लक्षणस्याभावादिति। अत्राचार्यसम्मतिं दर्शयति-**अत एव इति**। यत एवाभावप्रत्यक्षस्याधि-करणप्रत्यक्षतायां निर्बन्धो नास्ति अत एव। यदि हि तस्य निर्बन्धः स्यात् तदा भाऽभावस्य तमसस्तेजोऽवयवाश्रयत्वात् तेषां चाप्रत्यक्षत्वादप्रत्यक्षता स्यादिति।

एतेन प्रध्वंसप्रत्यक्षताप्रतिपादनेन शब्दप्रागभावोऽपि प्रत्यक्ष इति सिद्धमेवेत्याह- एतेन इति।

एवं स्थिते .... एतदपि तादृगेव। पृ० २१६-२१८

एवं प्रध्वंसस्य प्रत्यक्षत्वात् प्रध्वंसाभावोपलक्षितवस्तुलक्षणमनित्यत्वं प्रत्यक्षसिद्धमेवेति व्यवस्थिते तत्रानुमानमस्तीत्याह-**एवम् इति**। ननु स एवायं गकार इति प्रत्यभिज्ञानेन पूर्वापरकालयोः स्थिरत्वं "तावत्कालं स्थितं चैनं कः पश्चान्नाशयिष्यती'ति न्यायान्नित्यत्वमपि सेत्स्यति। तेनानित्यत्वानुमानं बाधितविषयं स्यादित्याह-**न चेदम् इति**। ननु शब्दप्रत्यभिज्ञानस्याबाधित्वात् स्वतः प्रामाण्याच्च न भ्रान्तत्वमित्याह-**नैवम् इति**। तदेतदुभयं ज्वालाप्रत्यभिज्ञानेऽपि तुल्यमित्याह-**तुल्यम् इति**। ननु ज्वालाप्रत्यभिज्ञानेऽपि तदबाधित्वं नास्ति, अपचयोपचयक्षण विरुद्धधर्माध्यस्तविषयत्वादित्याह-**ज्वालायाम् इति। अन्यथा इति**। यदि विरुद्धधर्माध्यस्तं स्यादिति। ततश्च भेदग्राहिविरुद्धधर्मसंसर्गग्राहिणा प्रत्यक्षेणानन्यथासिद्धेन प्रत्यभिज्ञानमन्यथासिद्धं बाध्यत इति चोद्याभिप्रायः। तदेतद्विरुद्धधर्माध्यस्तविषयत्वं शब्दप्रत्यभिज्ञानेऽपि तुल्यमित्याह-**तुल्यम् इति**। कुत इत्याह-**शब्देऽपि इति**। ननु तीव्रादिकमिह शब्दे न स्वाभाविकं व्यञ्जकध्वनिधर्मस्यैव तस्य शब्द आरोप्यमाणत्वादित्याह-**तदिह इति। न इति**। यदि हि यतः कुतश्चिन्न्यायाद्यस्य कस्यचिद्धर्मस्य यं कञ्चिद्धर्मिणं प्रति स्वाभाविकत्वमवधार्येत तर्हि तेनैव न्यायेन तीव्रत्वादीनामपि शब्दं प्रति स्वाभाविकत्वमवधार्यतामिति तमेव न्यायमाह-**न हि इति**। तद्धर्मसामानाधिकरण्येन प्रत्यक्षमेव ह्यवादिषु शैत्यादीनां स्वाभाविकत्वे प्रमाणं नान्यत्, तदिहापि समानं तीव्रोऽयं गकार इति प्रत्यक्षेण प्रतीतेरिति भावः। शङ्कते-**तत्तथा इति**। तद् द्रवत्वादि तथैवावादीनां स्वाभाविकमिति युक्तं, तद्धर्मकस्यान्य-स्योपाधेरनुपलम्भादबादिगतत्वेन च शैत्यादीनामुपलम्भादिति। अन्यस्येति शङ्कोपक्रमः प्रत्यक्षेण प्रतीतेरिति केचित्। तदपि तुल्यं तीव्रत्वादीनामित्याह-**तुल्यम् इति**। ननु मा भूदन्यधर्मत्वेनोपलम्भः तीव्रत्वादीनां, तथाऽप्यतीन्द्रियाणां व्यञ्जकध्वनीनां धर्माः स्युरिति शङ्कावकाशः स्यादित्याह-**तथापि इति**। तर्हि शैत्यादीनामप्यतीन्द्रियधर्मत्वशङ्का स्यादित्याह-**एतदपि** इति।

तत्किम् .... कारणाभावात्। पृ० २१८-२२०।

गूढाभिसन्धिः पृच्छति–**तत्किम् इति**। स एवाभिसन्धिमुद्घाटयति–**ननु इति**। तर्हि पीतत्वादीनां शङ्खादिगतत्वेनोपलम्भात् तेऽपि तेषां स्वाभाविकाः स्युरिति। **न इति**। पीतत्वादीनां शङ्खादिधर्मत्वे बाधकमस्ति, न तीव्रत्वादीनां शब्दधर्मत्व इति। यथाहुराचार्याः –

`यो ह्यन्यरूपसंवेद्यः संवेद्येतान्यथा पुनः।

स मिथ्या न तु तेनैव यो नित्यमवगम्यते' इति।। (श्लो० वा०)

ननु बाधकादर्शनेन ते स्वाभाविकाः स्युरिति पीतः शङ्ख इत्यादिषु तद्गतत्वेनोपलम्भस्य भ्रान्तत्वोपलम्भादत्रापि शङ्का स्यादित्यत्राह–**तथापि इति**। **एवम् इति**। साधर्म्यमात्रेण शङ्कायामुष्णोऽग्निरित्यादावपि सा स्यादिति। ततः किमित्यत्राह **तथा च इति**। क्वचिदपि विशेषाय कुतश्चित्प्रमाणात्कस्यचिद्धर्मिणः कश्चिद्धर्म इति न स्यात्। यद्वा, कस्यचित्प्रमातुः किञ्चित्प्रवृत्तिनिवृत्त्यादिकं न सिध्येदिति। तारत्वतारतरत्वादेरन्यत्राननुभूतत्वान्न तद्विषयः संस्कारः, तदभावे च न तेनोपस्थापनं, न च तदनुपनीतस्यास्मृतस्येति यावदन्यत्रारोपः संभवति। तेन भ्रान्तिज्ञानकारणाभावात् तीव्रत्वादिप्रत्ययानां भ्रान्तत्वशङ्काऽपि न युक्तेत्याह–**न च इति**। न च ध्वनिधर्मत्वेन तेषामस्त्यनुभव इति युक्तं वक्तुम्। तद्धर्मत्वे तेषामग्रहणस्यैव प्रसङ्गादित्याह–**न च ध्वनिधर्मा इति**। स्पर्शादिनियतविषयाणि त्वगादीन्द्रियाणि, न च तीव्रत्वादेः स्पर्शादिष्वन्तर्भाव इति। तर्हि श्रोत्रेण गृह्यतामित्यत्राह–**न च इति**। न ह्यवायवीयस्य श्रोत्रस्य वायुधर्मतारत्वादिग्राहकत्वं संभवति चक्षुर्वदिति। दृश्यत एव श्रोत्रेण ग्रहणमिति चेत्, तत एव तर्हि न वायुधर्मा इत्याह–**तारतारतरत्वादय इति**। तेषामवायवीयत्व एवानुमानान्तरमाह–**वायुर्वा इति**।

तेषां वायुधर्माङ्गीकारेऽनिष्टप्रसङ्गमाह–**यदि च नैवम् इति**। श्रोत्रग्राह्याणामेव वायवीयत्वदर्शनादिति भावः। सन्तु कादयो वायवीयाः। उक्तं च 'वायुः शब्दतामापद्यत' इत्याशयेन पृच्छति–ततः किम् इति। उत्तरम्–**अवयविगुणत्वे इति**। वायुधर्मा भवन्तः कादयः किमवयवनिस्तस्य भवेयुः वायुपरमाणोर्वा, पूर्वत्र कादीनामनित्यत्वप्रसङ्गः, उत्तरत्रेन्द्रियग्राह्यता न स्यात् तद्गतस्पर्शवदिति। न चैवमस्त्विति वाच्यमित्याह–**द्वयमिति**। न परं वायुधर्मत्वे बाधकमाकाशधर्मत्वे साधकमप्यस्ति वर्णानामित्याह–**अवश्यम् इति**। **सन्तु इति**। ततश्च श्रोत्रग्राह्यत्वेन तारत्वादीनां शब्दधर्मत्वसिद्धिरिति। **न इति**। तारोऽयं ककार इति प्रतीतिस्तत्र, न

च तारत्वादिमत्तया ध्वनयः परिस्फुरन्तीति न ते ध्वनिधर्माः किन्तु वर्णधर्मा किन्तु वर्णधर्मा एवेति भावः।, मा भूद्ध्वनीनां स्फुरणं, तथापि तद्धर्माणामेव तीव्रत्वादीनां स्फुरणं भविष्यतीत्यत्राह-**न च इति**। व्यक्त्या विना गृह्यमाणतयेति शेषः। विशेषरूपाणां ध्वनीनां सामान्यात्मानस्तीव्रत्वादयः कथमिव तेष्वगृह्यमाणेषु स्फुरेयुरिति।

व्यक्तिस्फुरणसामग्री .... तेन बाधः। पृ० २२०।

यद्वा, विशेषरूपेण ध्वनीनामस्फुरणेऽपि सामान्यात्मना स्फुरणात् तद्धर्मस्य तीव्रत्वादेर्ग्रहणोपपत्तिरित्याशङ्क्याह-**न च इति**। कारणाभावमेवाह-**व्यक्ति इति**।

व्यक्तिस्फुरणसामग्र्येकत्वं जातिस्फुरणस्य कुतोऽवधृतमित्याह-**कुत एतत् इति**। उत्तरम् **अन्वय इति**। अन्वयव्यतिरेकावेव दर्शयति-**ऐन्द्रियकेषु इति**। सतीन्द्रिये व्यक्तिग्राहिणि सामान्यग्रहादसति चाग्रहादिति। ननु तत्र सामान्यस्य स्वरूपयोग्यता सदसत्त्वनिमित्तत्वाद् ग्रहणाग्रहणयोरन्यथासिद्धावन्य-व्यतिरेकावित्याह-**स्वरूपयोग्यता इति**। तद्विकल्प्य दूषयति-**एवं तर्हि इति**। उपसंहरति-**तस्मात् इति**। यस्माद्व्यक्तिग्रहे सत्येव जातिग्रहणमिति। ततः किमित्यत्राह **तथा च इति**। ध्वनिधर्मत्वे तीव्रत्वादीनामग्रहणप्रसङ्गात् न तद्धर्माणामेव तेषां शब्द आरोप इति संभवतीति। किं ततोऽपीत्यत्राह-**इतीति**। ततश्च तीव्रत्वादेः स्वाभाविकत्वसिद्धौ तीव्रमन्दयोर्गकारयोर्भेदस्य वास्तवत्वेन शब्दप्रत्यभिज्ञानस्याप्रमाणत्वान्न तेनानित्यत्वानुमानबाध इति।

नापि सत्प्रतिपक्षत्वम् ..... असिद्धस्य हीनबलत्वात। पृ० २२२-२२५

न च केनापि प्रमाणेन सत्प्रतिक्षत्वं संभवतीत्याह-**नापि इति**। न तावत्तुल्यबलेन, परस्परविरुद्धयोः सिद्धवस्तुविषययोः प्रमाणयोर्वास्तव-तुल्यबलत्वाभावाद् वस्तुनो द्वैरूप्यप्रसङ्गात्। अतोऽन्यतरस्य वैकल्ये तदेव दूषणं वाच्यम्। उपजीव्यत्वादस्य वैकल्ये तदा त्वदीयनित्यत्वानुमानं विकलं स्यादिति न तस्य प्रतिपक्षत्वमिति। मा भूद्वस्तुतः समाधिकहीनबलतः सत्प्रतिपक्षत्वं, तथाप्याभिमानिकतुल्यबलत्वेनानेन सत्प्रतिपक्षत्वोद्भावने सति किञ्चिद् दूषणं तर्कस्य वक्तव्यमित्याह-**तथापि इति**। यद्वा, प्रतिपक्षत्वासम्भवेऽपि स्वपक्षसाधनाय प्रयुक्तेऽस्मिन्नित्यत्वानुमाने किमपि दूषणं वक्तव्यमित्याह **तथापि**

इति। उत्तरमाह-**असिद्धिरिति**। शब्दस्य द्रव्यत्वमसिद्धमिति। द्रव्यत्वसिद्धावनुमानमाह-**द्रव्यम् इति**। गुणादिभिरनैकान्तिकता मा भूदित्युक्तं-**साक्षात् इति**। परिहरति-**न इति**। साक्षात्संबन्धो नाम संयोगः समवायो वा तदन्यतरसिद्धेर्द्रव्यत्वगुणत्वयोरन्यतरसिद्ध्यधीनत्वान्न ततः प्राक् साक्षात्सम्बन्धः सिध्यतीति परिशेषानुमानेन तत्सिद्धिमाह-**परिशेष इति**। 'सदनित्यं द्रव्यवत्कार्यं कारणं सामान्यविशेषवदिति द्रव्यगुणकर्मणामविशेषः' इति (वै०सू० १. १.८.)। सत्तादिमत्वेन सामान्यविशेषसमावायेभ्यो व्यावृत्तस्य मूर्त्तद्रव्यासमवायेन कर्मणोऽपि व्यावृत्तौ द्रव्यत्वगुणत्वयोरन्यतरपरिशेषे साक्षात्संबन्धसिद्धिरिति। तर्हि कर्मत्वादिवद् द्रव्यत्वेऽपि बाधकसद्भावेन गुणत्वस्यैव परिशेषात् साक्षात्संबन्धग्राहिणा परिशेषानुमानेनैव द्रव्यत्वानुमानस्य बाधप्रसङ्ग इत्याह-**न इति**। अन्यथा द्रव्यत्वगुणत्वयोरपि परिशेषो न स्यादित्याह-**बाधक इति**। न चायं परिशेषः प्रमाणं पदार्थषट्कविषयस्य सन्देहस्य द्रव्यगुणविषयत्वे संकोचमात्रहेतुत्वे न संशयादनिस्तारादित्युपसंहरन्नाह-**तस्मात् इति**। **अथेति**। येन ततोऽपि परिशेषाल्लिङ्गग्राहकप्रमाणबाधः स्यादिति। तदाह-**उच्यते इति**। द्रव्यत्वासिद्धौ न चासिद्धविशेषेणाद्रव्यद्रव्यत्वादित्यनेन सत्प्रतिपक्षमनित्यत्वानुमानस्येत्याह - न **चासिद्धेन इति**। यद्वा, नास्मत्प्रतिपक्षस्य स्वरूपसिद्धिरिति।

ननु शब्दस्तावत् .... चाक्षुषाः। पृ० २२५-२२७

ननु श्रोत्रव्यतिरिक्तानां पृथिव्यादीनां गुणः शब्दो नेति भवद्भिरेव परिशेषानुमानेन साधितम्। वयं तु श्रोत्रगुणो नेति अनुमानद्वयेन साधयामः। ततश्च गुणत्वस्यैवासिद्धौ द्रव्यत्वमेव परिशिष्यत इति। **केचित्तु** शब्दः श्रोत्रगुणो नेति पठन्ति। तत्रायमर्थः। महता प्रबन्धेन शब्दस्य श्रोत्रग्राह्यत्वं प्रतिपादयता त्वयैव श्रोत्रगुणो नेति साधितं भवति। कथमेतेनैतत्प्रतिपादितं भवेदित्यत्रोक्तं-**न श्रोत्रगुण इति**। न हि श्रोत्रग्राह्यः शब्दः तद्गुणो भवतीति। मा भूद् गुणत्वसिद्धिर्द्रव्यत्वं तु कुतस्त्यमित्याह-**ततः किम् इति**। यद्वा, अनुग्राहकतर्काभावेऽनुमानमात्रान्न किञ्चित्सिध्यतीति सोपाधित्वादप्रयोजकत्वं वानुमानद्वयमित्याह-**न चैतदपि इति**। स्वगुणत्वस्यैव ग्रहणप्रयोजकत्वेऽनिष्टमाह-**अन्यथा इति**। उपसंहरति-**तस्मात् इति**। इन्द्रियत्वहेतोरप्रयोजकत्वायोक्तं - **योग्येन इति**। एवं शब्दस्य गुणत्वे बाधकमाशङ्क्य निरस्तम्। साधकमप्याह-**अवश्यं च इति**। तदर्थस्य श्रोत्रविषयस्य शब्दस्येति। ननु द्रव्यविशेषस्यैव सतः शब्दस्य ग्रहणार्थं श्रोत्रनिर्माणमस्ति

इन्द्रियान्तराणां तत्रासामर्थ्यादित्यत्राह-**न च इति**। इन्द्रियं द्रव्यगतविशेष गुणग्रहणयोग्यतां सहकारित्वेनाश्रित्यैव द्रव्यं गृह्णाति **नान्यथेति**। द्रव्यस्य स्वरूपयोग्यतामात्रेणेन्द्रिय–ग्राह्यत्वेऽनिष्टमाह **अन्यथा इति**। उपसंहरति-**तस्मात् इति**। **अत एव इति**। यत एव विशेषगुणग्रहणपुरस्कारेणैवेन्द्रिग्राह्यत्वं द्रव्याणामिति।

अस्तु तर्हि .... प्रकारः सम्भवति। पृ० २२८-२३९

शब्दस्य श्रोत्रगुणत्वेनाद्रव्यद्रव्यत्वमसिद्धं तर्हीदमेव प्रतिसाधनमस्त्विति *प्राभाकराः* प्रत्यवतिष्ठन्ते–**तर्हि इति। न इति**। अत्राकार्यत्वौपाधिकत्वात्तदेकगुणत्वम प्रयोजकमिति तस्यैव प्रयोजकत्वेऽनिष्टमाह-**अन्यथा इति**। अत्र ह्यकार्यत्वस्योपाधित्वं त्वयाप्यङ्गीकार्यमिति भावः। नन्वात्मगुणानां नित्यत्वानुमानस्य तदनित्यत्वग्राहिमानसप्रत्यक्षबाधादप्रामाण्यं, न त्वकार्यत्वोपाधिकत्वादित्याह-**अस्य इति। न इति**। यद्ययं निरुपाधिस्तदा बाध एव न स्यादिति। कुत इत्यत आह-**स्वभाव इति**। यदि हि केनचित्स्वभावस्तं प्रतिबद्धस्तस्यैव नित्यत्वप्रयोजकत्वेऽनिष्टमाह-**अन्यथा इति**। तदेवमनित्यत्वानुमानस्य बाधः सत्प्रतिपक्षत्वं च निराकृतं, विरोधव्यभिचारौ त्वसंभावितावेव सपक्षवृत्तिसद्भावाद्विपक्षे वृत्त्यभावाच्चेत्याह-**विरोध इति**। तस्मादन्यतरासिद्धिरेव संभाव्यतया विशिष्टा, सापि निराक्रियत इत्याह-**अत्रेति इति**। हेतुसिद्धावनुमानं विपक्षस्तस्य प्रतिबन्धसिद्धिं तावदाह-**शब्दस्तावत् इति। पूर्वोक्तन्यायेन इति**। तीव्रत्वादीनामन्य-धर्मत्वेनानुपलम्भः शब्दगतत्वेनोपलम्भः शब्दधर्मत्वेनैवोपलम्भो बाधकाभाव इत्यादिर्यः पूर्वमुक्तस्तेनेति। ततः किमित्यत्राह-**इयं च इति**। सर्वत्र माधुर्यादौ कारणप्रकर्षनिकर्षानुविधायिनी दृष्टेत्यन्वयं दर्शयित्वा व्यतिरेकमपि दर्शयति-**अकारणका हि इति**। ततोऽपि किमित्यत्राह **तदियम् इति**। तस्मादियं प्रकर्षनिकर्षवत्तेति। तत्रानुमानं तदनुग्राहकं च दर्शयति **शब्दो जायते इति**। नियामकं कारण प्रकर्षनिकर्षरूपमन्तरेण शब्दे भवन्ती प्रकर्षनिकर्षवत्ता गगनादिष्वपि भवेत्। शब्द एव नाकाशादिष्वस्तीति नियमहेत्वभावादिति। ननु शब्दव्यतिरिक्तस्य प्रकर्षनिकर्षवत्त्वं जायमानतया व्याप्तं तद्दर्शनान्न तु प्रकर्षनिकर्षवत्तामात्रमित्याह **शब्दात् इति। न इति**। बाधकाभावेऽपि व्याप्तिसङ्कोचे सर्वानुमानोच्छेदः स्यादिति। ननु व्यञ्जकानां ध्वनीनां प्रकर्षनिकर्षाभ्यां व्यञ्जनीयस्य शब्दस्य तद्वत्ताभिमानः, ततश्चासिद्धो हेतुरित्याशङ्क्याह-**न च इति**। प्रसज्यतां कामं, तदेव नः समीहितम्। अत्राह-**व्यवस्थितश्च इति**। ध्वनिधर्माणामारोपस्यासंभवादिति। ननु मा भूद्

व्यञ्जकोपाधित्वं तारतारतरत्वादिस्तथापि कथं कारणप्रकर्षाद्यनुविधानं कथं वा स्वाभाविकत्वं सिध्यतीत्यत्राह-**न च इति**। औपाधिकत्वनिषेधेन परिशेषात् सिध्यति गत्यन्तराभावादिति।

स्यादेतत् तथापि .... प्रतिबन्धसिद्धिः पृ० २३०-२३१।

तदेवमनित्यत्वानुमानस्य स्वरूपासिद्धिर्निराकृता, संप्रति व्याप्यत्वासिद्धिं निराकर्तुमाशङ्कते-**तथापि इति**। **भवतां** नैयायिकानाम्, **अस्माकं** मीमांसकानामिति। **न इति**। उत्पत्तिमत्त्वं हि विनाशकारणसन्निधानेन व्याप्तं, तत इदं तत्सन्निधिविरुद्धेभ्यो नित्येभ्यः स्वव्यापकस्य विनाशकारणसन्निधानस्य निवृत्त्या निवर्त्तमानमनित्य एवावतिष्ठत इति व्यापकानुपलब्धिर्विपक्षे बाधकमिति। ननु स्यादेवं यद्युत्पत्तिमत्त्वस्य विनाशकारणसन्निधानेन व्याप्तिः स्यात्, सैव कुतो विपक्षे बाधकात्सिध्यतीत्याह-**विनाशकारणसंनिधानेन इति**। विनाशकारणासन्निधानं ह्युत्पत्तिमतो न तावद्भावाभावयोरिव स्वभावविरोधाद्भवति घटादिषु तयोः संसर्गदर्शनादित्याह-**तदसंनिधानम् इति**। तर्ह्यविरुद्धयोरेव हिमवद्विन्ध्ययोरिवासंसर्गोऽस्त्वित्यत्राह-**अविरुद्धयोः इति**। अस्तु तर्हि देशविप्रकर्षादेवेत्यत्राह-**देशयोरपि इति**। सोऽपि देशयोः स्वभावविरोधात् संसर्गहेत्वभावाद्वा भवतीति ततः किमित्यत आह-**पूर्वोक्तादिति**। यदि हि तद्देशयोः स्वभावविरोधः स्यात् ततस्तदाश्रययोरुत्पत्तिविनाशयोरपि संसर्गो न स्याद्, दृश्यते चासावित्युक्तमेवेति। **द्वितीयस्तु इति**। विनाशकारणजायमानत्वयोर्हेत्वभावाद- संसर्गस्तु यथा पटकुङ्कुमयोरविरुद्धदेशस्वभावतया क्वचित्संसृष्टयोरपि संसर्गहेत्वभावात् क्वचिदसंसर्गः तथा कदाचित्स्यादिति। कथं च तथा स्यादित्याह- **यदि हि इति**। यथा हि कुङ्कुमसंसर्गात्प्रागेव क्वचित्पटविनाशाद्धेत्वभावेन तयोरसंसर्गः, तथा यदि विनाशकारणसमागमात् प्रागेव जायमानस्य विनाशः कदाचित्स्यात् तदा जायमानविनाशकारणयोरसंसर्गः स्यात्, न त्वेतत्संभवतीति। यदि वा यथा विनाशकारणसमागमे सत्येव विनाशः पटस्य नासतीति दृश्यते, तथा यदि कुङ्कुमसमागमे विनाशो नासतीति स्यात् तदा पटकुङ्कुमयोरपि संसर्गोऽवश्यंभावो भवेत्, न त्वेतदस्तीत्याशयवानाह-**यथा इति**। यत एवं देशविप्रकर्षो नास्ति तस्मादविरुद्धस्वभावयोरसंसर्गः कालविप्रकर्षेणेत्यवशिष्यते। स च कालविप्रकर्ष अत उत्पत्तिमद्विनाशकारणाभ्यां व्यावर्त्तमानः स्वव्याप्यं तयोरसंसर्गमप्युपादायैव निवर्त्तत इति। उत्पत्तिमत्त्वस्य विनाशकारणसंसर्गेण सिद्धः

प्रतिबन्धः इत्याह–**तस्मात् इति**।

स्यादेतत् .... परस्पराश्रयप्रसंगात्। पृ० २३२-२३४

शब्दनित्यत्ववादी प्रकारान्तरेण प्रत्यवतिष्ठते–**स्यादेतत्–इति**। प्रत्युच्चारणं भिन्नानां शब्दानामानन्त्यव्यभिचाराभ्यां दुर्ग्रहः संबन्ध इति। **यथा–इति**। यथा ह्यस्थिरस्यैवार्थस्य शब्देन संबन्धग्रहणं तथा शब्दस्याप्यस्थिरस्यार्थेनेति। येन हेतुनाऽस्थिरस्य व्यक्तिरूपस्यार्थस्य संगतिर्दुर्ग्रहेति तेनैवास्माकं जातिरेव पदार्थ इति सिद्धान्त इत्याह–**तेन–इति**। यदि जातिरेव पदार्थः तर्हि शब्दाद् व्यक्तिप्रतीतिर्न स्यादित्याह–**न इति**। ननु शब्दप्रतिपन्नाया जातेराक्षेपाद् व्यक्तिर्लप्स्यत इत्याह–**आक्षेपत इति। कः खलु–इति**। न कश्चिदिति भावः। अत एवाह–**न तावत् इति**। आनन्त्यदोषो हि संगतिग्रह इवाविनाभावग्रहेऽपि सुलभ इति। ननु सर्वव्यक्त्यनुगतेन व्यक्तिमात्ररूपेणाविनाभावः शक्यग्रह इत्याह–**व्यक्तिमात्ररूपेण–इति। न–इति**। न तावज्जातिं व्यक्तिं चान्तरा व्यक्तित्वं नाम सामान्यमस्ति, भावेऽपि तदेव जातेराक्षिप्येत न व्यक्तय इति। यदि च व्यक्तित्वसामान्यमभ्युपगम्येत ततः शब्दवाच्यमेव तदस्तु, तस्यैकत्वेन संगतिग्रहस्य सुकरत्वात्। किमाक्षेपतः सिद्ध्येदित्याह–**वाच्यत्वमपि–इति। अपिरवधारणार्थः**। ननु मा भूदाक्षेपोऽनुमानम्, अर्थापत्तिर्भविष्यतीत्याह–**अर्थापत्तिः इति**। तस्या हि नाविनाभावग्रहापेक्षेति भावः। **व्यक्त्या विना इति। न किञ्चित् इति शेषः**। जातिः तदाश्रया हि **सेति। न इति**। व्यक्तीनां विनाशदशायामपि जातेरवस्थानान्न व्यक्त्या विना जातिरनुपपन्नेति। **तथापि इति**। यद्यपि काश्चिद्व्यक्तीरन्तरेणाप्यवतिष्ठत इति। **न इति**। उक्तं हि न व्यक्तिजातिव्यतिरिक्तमन्यत्किञ्चिदस्तीति **व्यक्तिज्ञानम् इति**। ततो जातिज्ञानाद् व्यक्तिज्ञानाक्षेप इति। **न इति**। शब्दात्केवलजातिज्ञानस्य भवद्भिरभ्युपगमादिति। **व्यक्तिविषयताम् इति**। तेन जातिज्ञानादात्मनो व्यक्तिविषयतामाक्षिपतो व्यक्तिज्ञानसिद्धिरिति। **न इति**। एवं हि जातिव्यक्त्योरेकज्ञानविषयत्वमेवोक्तं स्यात्, तत्रोभयोरपि ज्ञातत्वाविशेषात् किमनुपपन्नं प्रतिपादकं भवेत् किं वा प्रतिपाद्यं भवेत्। अत्रानुपपन्नमात्रनिराकरणप्रकरणे किं प्रतिपादयेदिति प्रक्रियाया असंगतत्वात् प्रमादकृतः पाठ इति संप्रदाय इति। **जातीनामिति**। गोत्वशुक्लत्वादीनां परस्परमन्वयानुपपत्त्या तदन्वयसिद्ध्यर्थं व्यक्तिः प्रतीयत इति। यद्वा, जातीनामनेकव्यक्त्यन्वयः प्रतीयमानो नान्तरेण व्यक्तिमुपपद्यत इति

व्यक्तिरवसीयत इति। **न इति**। प्रतीते ह्यन्वये तदन्वयानुपपत्त्या व्यक्तिः प्रतीयते, प्रतीतायां च व्यक्तौ तदन्वयप्रतीतिरितीतरेतराश्रयत्वम्। किञ्च जातिप्रतीतौ सत्यां तदन्वयानुपपत्त्या व्यक्तिप्रतीतिः, व्यक्तिप्रतीतौ च सत्यां जातिरित्यात्माश्रयत्वं, व्यक्तिप्रतीतिपुरस्कारेण जातिप्रतीतेरुक्तत्वात्। पश्चिमे तु व्याख्याने शब्दात्प्रतीतासु व्यक्तिषु जातेस्तदन्वयप्रतीतिस्तदन्वयप्रतीत्यां च व्यक्तिप्रतीतिरितीतरेतराश्रयत्वं व्याख्येयमिति।

स्यादेतत् ....तत्समूहस्य वेदस्य। पृ० २३४-२३९।

तर्हि विशेषपर्यवसानमेवाक्षेप इत्याह-**स्यादेतत् इति**। यथा हि लिङ्गं साध्यसामान्येनैव गृहीतव्याप्तिकमपि पक्षधर्मतासहायं साध्यविशेषे पर्यवस्यति, तथा शब्दो जात्या गृहीतसंगतिरपि शक्तिविशेषाद् व्यक्तौ पर्यवस्यतीति। **न तावत् इति**। किमयं शब्दो जातिव्यक्त्योः प्रतीतिं क्रमेण जनयेद् युगपद्वा? न तावत् क्रमेण, शक्तिविशेषादेव प्रतीतिं जनयतः शब्दस्यापेक्षणीयान्तराभावेन विरम्य ज्ञानोत्पादनव्यापारायोगादिति। ननु जातौ गृहीतसंगतिः शब्दः तद्विषयं ज्ञानं जनयित्वा तदपेक्ष एव व्यक्तिं प्रत्याययतीत्याह-**जातिप्रत्यायनम् इति**। यदि व्यक्तिज्ञानोत्पादने जातिज्ञानापेक्षा तर्हि किं तत्रापि शब्दव्यक्तिकल्पनयेत्याह-**कृतं तर्हि इति**। कुत इत्यत आह-**तावतैव इति**। जातिज्ञानेन व्यक्तिज्ञानसिद्धेरिति। ननु जातिज्ञानेनैव तत्सिद्धिरनुज्ञायत एवेत्याह-**ओम् इति**। **न इति**। **उक्तत्वात्**। न च व्यक्त्या विना जातिस्फुरणमित्यत्र लिङ्गमपि पक्षधर्मतासहकृतमेकमेव सामान्यविशेषविषयं ज्ञानं जनयतीति भावः। यदि च शब्दव्यापारो जातिज्ञान एव पर्यवस्यन् न व्यक्तिज्ञानं यावद् गच्छेत् तर्हि व्यक्तिज्ञानजनकं जातिज्ञानं सप्तमं प्रमाणमापद्येत। अनुमानार्थापत्त्योर्नि स्तत्वादसंभवाच्चान्येषामित्यभिप्रायवानाह-**प्रमाणान्तर इति**। ननु शब्दप्रतीताज्जातिः साहचर्याद् व्यक्तिं स्मारयति न तु प्रमापयति, ततो न प्रमाणान्तरापात इत्याह-**स्मरणम् इति**। **न इति**। तर्ह्यननुभूतानां गवादिव्यक्तीनां समभिव्याहृतपदार्थान्वयप्रतीतिर्न स्यादिति। तदेवं क्रमेण प्रतीतिर्निराकृता, संप्रति यौगपद्यं निराकर्तु शङ्कते-**अस्तु इति**। शब्दादेव जातिव्यक्तिगोचरा प्रतीतिरेकैव जायते न च प्रमाणान्तरापत्तिर्दोष इति। **कृतं तर्हि इति**। न हि कार्याभेदे कारणभेदशक्तिकल्पनायां प्रमाणमस्तीति। एवमुपपादितं दृष्टान्तप्रकारं दार्ष्टान्तिके निगमयति-**एवं च इति**। शक्तिभेदाभावे सति यथा गोत्वादिसामान्यविषया शब्दशक्तिस्तद्वति विशेषे पर्यवस्यति तमपि विषयीकरोतीति

यावत्। तथा गोशब्दत्वादिसामान्याश्रया या वाचकत्वशक्तिस्तद्वति गोशब्दे पर्यवस्यति, सैव तस्यापि शक्तिर्भवति, नान्या कल्प्यत इत्यर्थः।

सन्तु वर्णाः स्वरूपेण नित्यास्तथाप्यनित्यानामेव संगतिग्रहोऽभ्युपगन्तव्यः। स्वरानुपूर्व्यादिविशिष्टानां तेषां वाचकत्वाद् व्यञ्जकध्वनिधर्मायत्तत्वाच्च स्वरादीनामित्याह-**न च इति**। कथं तर्ह्यनित्यानामेव पदार्थानां पदानां चानन्त्यव्यभिचारादिपरिहारेण संगतिग्रह इत्याशङ्क्य सुहृद्भावेन दर्शयन्नुपसंहरति-**तस्मात् इति**। **एतदनुरोधेन**=संगतिग्रहानुरोधेनेति। तदेवं वर्णानामनित्यत्वं प्रसाध्य वेदानित्यत्वमाह-**यदा वर्णाः इति**। एवं तावत्**प्रमायाः परतन्त्रत्वादिति** व्याख्यातम्।।१।।

परतन्त्र .... अवयवित्वात् पृ० २३९-२४२

अथ द्वितीयं पादं व्याचिख्यासुः शङ्कते-**परतन्त्र इति**। पूर्वपूर्वोच्चारयितृपुरुषपरतन्त्रोत्तरोच्चरयितृपरम्पराप्रवाहस्याविच्छेदो नित्यता सा च प्रत्युच्चारणविनाशिनोऽपि संभवतीति। **एतदपि इति**। एतत्प्रवाहाविच्छेद लक्षणमपि नित्यत्वमिति। सर्गप्रलययोरसंभवे पराभिमतसाधनान्याशङ्कते-**अहोरात्रस्य इति**। विप्रतिपन्नमहोरात्रमव्यवहिताहोरात्रपूर्वकम् अहोरात्रत्वात् अद्यतनाहोरात्रवत् अन्यथाऽद्यतनमपि तथा न स्यात् नियामकाभावात्। किञ्च, **कर्मणां** धर्माधर्माणाम् विषमो**ऽनेकः** फलकालः। तेनैकस्मिन् भुक्तफले कर्मणि क्षीयमाणे कर्मान्तरमुपतिष्ठते फलान्तरोत्पादनेनेत्येककर्मिणः कियन्त्यपि कर्माणि युगपन्निरुद्धवृत्तीनि न संभवन्तीति किमुतानन्तानां कर्मिणामनन्तानि कर्माणि, तदापि कस्यचित्कर्मणो न विपाकावश्यम्भावात्। प्रयोगश्च-विवादाध्यासितानि कर्माणि न युगपन्निरुद्धवृत्तीनि विषमविपाकसमयत्वात्, इदानीं भुक्तभुज्यमान-भोक्ष्यमाणकर्मवदिति। किञ्च, सर्गादिभुवां जातिविशेषव्यवस्थापकस्योत्पादक जातिविशेषस्याभावाद् ब्राह्मणत्वादिवर्णव्यवस्था न स्यात्। विप्रतिपन्ना ब्राह्मणा ब्राह्मणसन्तानजन्मानः ब्राह्मणत्वादद्यतनवत्। किञ्च, सर्गादौ सर्वेषामव्युत्पन्नत्वेन समयग्रहणानुपपत्तौ शब्दव्यवहारोऽपि लुप्येत। विप्रतिपन्नः शाब्दव्यवहारः वृद्धव्यवहारपूर्वकः शाब्दव्यवहारत्वात् अद्यतनवत्। किञ्च, तदानीं कस्यचिदादर्शकस्याभावाद् घटादिनिर्माणसंप्रदायो न स्यात्। विप्रतिपन्नं घटादिनिर्माणं तथाभूतादर्शकज्ञानपूर्वकं घटादिनिर्माणत्वादद्यतनवत् इत्येतैर्हेतुभिर्युगपत्सर्ग प्रलययोरभावे सति कथं वेदसंप्रदायविच्छेदः स्यादिति।

पञ्चापि साधनानि दूषयति-**उच्यते वर्षादिवत् इति**। न तावदहोरात्रपूर्वकत्वे अहोरात्रत्वं प्रयोजकं, भवस्य ब्रह्माण्डस्थितेस्तत्रोपाधित्वात्। यथा वर्षादिदिनस्य तद्दिनपूर्वकत्वे तद्दिनत्वमप्रयोजकं राश्यादिसंसर्गोपाधित्वात्। तस्य च कर्मणां युगपद्वृत्तिनिरोधोऽपि सुषुप्तिदशायामिव संभवति। ब्राह्मणत्वादिनियमोऽपि गोमयादिजातानामिव वृश्चिकादनामुपपद्यते। समयग्रहोऽपि सर्गादौ स्वयमेव परिगृहीतप्रयोज्यप्रयोजकवृद्धशरीरव्यवहारस्य परमेश्वरस्य व्यवहारत एव सुकरः। यथेन्द्रजालिकस्थसूत्रप्रोता दारुमयपुत्रिका इदमानयेति नियुज्य तथा कुर्वन्तीभिस्ताभिर्मायाव्यवहारे तद्दर्शिनां बालानां, तया घटादिक्रियासंप्रदायोऽपि गृहीतकुलालादिविग्रहेण भगवतैव सिध्यतीति।

प्रथमं पादं व्याचष्टे-**तत्पूर्वकत्वमात्रे इति**। सर्गादिवर्त्तिनोऽहोरात्रस्याहोरात्रपूर्वकत्वे साध्ये सिद्धसाधनम् तस्यापि पूर्वसर्गान्तिमाहोरात्रपूर्वकत्वात्। किञ्च, संप्रतिपन्नाहोरात्रपक्षीकरणे सिद्धसाधनं सर्गादिवर्त्तिनस्त्वाश्रयासिद्धिरिति भावः। नन्वव्यवहिताहोरात्रपूर्वकत्वं साध्यत इत्यत्राह-**अनन्तर इति**। तत्राहोरात्रत्वमप्रयोजकं संप्रतिपन्नाहोरात्राणामनन्तरतत्पूर्वकत्वस्योपाध्यन्तरप्रयुक्त्वादिति। अप्रयोजकत्वमेव दृष्टान्तेन दर्शयति-**वर्षादि इति**। यथा हि वर्षाः शरदित्यादौ ऋतुमध्यन्दिनानां तत्तदृतुदिनपूर्वकत्वे तद्दिनत्वमप्रयोजकं संप्रतिपन्नाहोरात्राणां तत्तदृतूनां प्रथमदिनेषु व्यभिचारात्। यद्वा, वर्षर्तोरादिदिनस्य तद्दिनपूर्वकत्वे साध्ये तद्दिनत्वमप्रयोजकमभ्युपगम्यते, तथाहोरात्रत्वमप्रयोजकमुपपद्यत इति। कस्तत्रोपाधिर्येन तद्दिनत्वस्य नियमो भज्यत इत्यत्राह-**राश्यादि इति**। राश्यादिविशेषैरादित्यस्य संसर्गात्मको यः कालोपाधिस्तत्प्रयुक्तं तद्दिनपूर्वकत्वं तस्य कालोपाधेरभावे तद्दिनपूर्वकत्वस्यापि व्यावृत्तेः, साध्याभावाविनाभावात्ययत्वादिति **यावत् इति**। दार्ष्टान्तिकत्वेऽप्यप्रयोजकत्वमुपाधिप्रदर्शनेनाह-**तथा इति**। सर्गस्यानुवृत्तौ निमित्तभूता या ब्रह्माण्डस्थितिः सा स्वरूपमात्मा यस्य कालोपाधेः स एव निबन्धनमनन्तराहोरात्रपूर्वकत्वस्य, तस्मात्सर्गादौ तस्योपाधेरभावे साध्यव्यावृत्तिर्नानुपपन्नेति। ननु ब्रह्माण्डस्य सर्वदावस्थानात् कथं च तदभावः तत्राह-**न च इति। तत्** ब्रह्माण्डमुत्पन्नं विनश्वरं च सावयवत्वादिति।

वृत्तिनिरोधस्यापि .... तदुपपत्तेः। पृ० २४२-२४४

अथ द्वितीयं पादं व्याचष्टे-**वृत्तिनिरोधस्यापि इति**। दृष्टान्तं विभजते-**न**

हि इति। अनियतविपाकसमयानीत्येतावता सुषुप्तिदशायां कृत्स्नान्यपि भोगाविमुखानि न हि भवन्ति, किन्तु भोगविमुखान्येव। सुषुप्तस्य भोगोत्पादः किमिति न स्यात् अत्राह- **न हि इति**। अचैतन्यं सुषुप्तिमूर्छादिः,भोगश्च सुखाद्यनुभवः। तत्र यदि सुषुप्तस्य भोगः स्यात् तदाऽस्त्यनुभवो नास्ति चेति विरोधः स्यादिति। यदि तदा न भोगः कश्चित्तर्हि भोगसाधनस्य शरीरस्य क्वोपयोग इत्याह-**कस्तर्हि इति**। गूढाभिसन्धिमुद्घाटयन्नुत्तरमाह-**उत्तर इति**। यथा हि ज्ञानजननार्थानि चक्षुरादीनि तदानीं ज्ञानमनुत्पादयन्त्यपि जाग्रद्दशायां तदुत्पादनायानुवर्त्तन्ते तथा शरीरमप्युत्तरभोगायेति। कस्तर्हि उत्तरकालं यावत्तावदवस्थितस्य प्राणनस्य तदानीमुपयोग इत्याह-**प्राणिति इति। प्राणनं नाम**=शरीरान्तर्वर्त्तिनो वायोर्गतिविशेष इति। **श्वास इति**। प्राणाख्यस्य वायोः कालावच्छेदेन संबन्ध आयुरिति। अवस्थाभेदो वा किमर्थ इत्याह-**तेन इति**। अस्मिन्नवस्थाभेदे असौ भोगोऽस्मिंस्त्वयमित्यवस्थाभेदेषु भोगविशेषाः प्राणिनां नियताः, ततस्तत्सिद्ध्यर्थोऽवस्थाभेद इति। नन्वस्त्वेकस्यात्मनः कर्मणां युगपद्वृत्तिनिरोधः, न तु विश्वस्यात्मवर्गस्य, न ह्यनन्तानां भोक्तृणामनन्तानि कर्माणि युगपन्निरोत्स्यन्त इति संभवतीत्याह-**एकस्यैवेति। अनन्त इति**। अनन्तत्वादीनि हि कर्मणां युगपन्निरोधाविरोधीनि; तानि च कर्मणामेकत्वानेकत्वयोरविशिष्टानि। तत्र यद्येकस्य सुषुप्तिदशायां तथाभूतानामेव कर्मणां युगपन्निरोधः संभवति। किमिति विश्वस्यायं न संभवेदिति। किञ्च सुषुप्तिरपि सर्वस्य भवति न त्वेकस्यैवेत्याह-**भवति च इति**। तेन कर्मिणामेकानेकत्वकृतो विशेषो नास्तीति। ननु सत्यमस्ति सर्वस्यापि सुस्वापः, स तु क्रमेण न युगपदित्याह-**क्रमेण इति**। ततश्च न तन्निदर्शनेन युगपत्प्रलयः सिध्यतीति भावः। **न इति**। सुषुप्तेः कारणक्रमवशात् क्रमः, न युगपन्निरोधविरोधादिति। ननु सुषुप्तेरिव प्रलयस्यापि कारणानि क्रमेण भवन्ति दृश्यन्ते, तद्वत्सर्वदापि किमिति न भवन्तीत्यत्राह-**न च इति**। न हि क्वचित्कदाचिद्वा क्रमभावीनि कारणानीति सर्वत्र सर्वदा वा तैस्तथा भवितव्यं स्वहेतूनां क्रमयौगपद्यवशेन संभवत्क्रमयौगपद्यानां कारणानामनियतत्वात् **क्रमस्येति**। एकदा क्रमभाविनामेवान्यदा यौगपद्यं दृष्टमित्याह-**सर्वग्रासवत् इति**। तदेव विभजते-**ग्रहाणामिति**। अत्रैव दृष्टान्तान्तरमाह-**त्रिदोष इति**। तदेव विभजते-**यथा हि इति**। वातादिदोषाणां चयप्रकोपप्रशमा न नियताः कदाचिद्धि कश्चिच्चीयते कुप्यति शाम्यति वेति, न तु युगपत्सर्वेऽपि।

यथाह **वाहटः**। (**वाग्भटः**)

चयप्रकोपप्रशमा वायोर्ग्रीष्मादिषु त्रिषु।

वर्षादिषु च पित्तस्य श्लेष्मणः शरदादिषु। इति

तत्रैकैकमात्रकोपे रोगः स्यात्। कदाचित्त्रयाणां सन्निपातो युगपत्कोपः स्यात्। तदा देह एव प्रलीयते। तदप्याह।

रोगस्तु दोषवैषम्याद्दोषसाम्यमरोगता।

वातः पित्तं कफश्चेति त्रयो दोषाः समासतः।

विकृता विकृता देहं घ्नन्ति ते वर्त्तयन्ति च। इति

पक्षेऽप्याह-**तथा इति**। ब्रह्माण्डात्मनो देहस्य, कालानलः पित्तं, संहारपवनो वातः, महार्णवः श्लेष्मेति, तेषां कोपे तदपि प्रलीयते। तदा च भोग्यभोगसाधनयोरसंभवे भोगरहिताः कर्मिणस्तिष्ठन्तीत्यविरुद्धमिति। **तथापि इति**। न सन्ति देहाः,सन्ति च तेषां निमित्तानि कर्माणीति व्याहतमिति। **किमत्र इति**। यथा हि तदानीं सत्स्वेव कर्मसु तन्निरोधात् भोगो निरुध्यते, तथाऽत एव भोगसाधनदेहादिनिरोधोऽपि घटिष्यत इति।

वृश्चिकेति .... कुविन्दादीनाम्। पृ० २४४-२४७।

तृतीयं पादं व्याचष्टे-**वृश्चिक इति**। दग्धाद्वेत्रबीजात् कदलीकाण्डोत्पत्तिरित्यादयः। पक्षेऽप्याह-**तथा इति**। **तेषां** मानुषादीनाम्। **तत्तत्कर्म इति**। तत्तन्मानुषत्वादिजातिभेदनिमित्तादृष्टवदात्मसंयुक्तारम्भकपरमाणुभेदहेतुका इति। तर्हि वैजात्यात्कारणस्य कार्यसाजात्यं न स्यादित्यत्राह – **स एव इति**। अद्यतनानामप्यदृष्टोपनिबद्धभूतभेदहेतुकैव जातिव्यवस्था, ततश्च न कारणवैजात्यमिति। यदि सर्वत्र कर्मोपनिबद्धभूतभेदहेतुर्जातिनियमः, तर्ह्युत्पादकजातिपूर्वकत्वमुत्पाद्यजातीनामिति नियमो निरस्तः स्यात् इत्याह-**गतं तर्हि इति**। **न गतम् इति**। न च सोऽपि नियमः सर्वथा निरस्यत इति। कथमित्याह-**योनिजेषु इति**। योनिजेष्वेवायं नियमो नायोनिजेष्विति केवलं व्यवस्थाप्यते। तेन मानसानामन्यथात्वमपि संभवतीति। नन्वद्यत्वेऽपि यथा गोमयाद् वृश्चिका जायन्ते तथा मनसाऽपि केचिज्जायन्ताम् इत्याह-**गोमय इति**। **न इति**। कालविशेषलक्षणसहकारिविरहादित्यर्थः। तत्रैव दृष्टान्तमाह-**न हि इति**। तथा सर्गादावेवादृष्टोपनिबद्धभूतहेतुको जातिनियमः, नेदानीमपीति सिद्ध एव।

संग्रहस्य तुरीयं पादं व्याचष्टे-**समयोऽपि इति**। मायाविनेत्येतद्विभजते-**यथा हि इति**। शब्दव्युत्पत्तिवद् घटादिनिर्माणव्युत्पत्तिरपि कुलालादिभावव्यवस्थितकायानधिष्ठाय पटादिकं निर्मिमाणेनैवेश्वरेण सुकरेत्याह-**क्रियाव्युत्पत्तिरपि इति**।

विश्वसत्तानोऽयं .... निस्तरङ्गमेतत्। पृ० २४७-२५१

ननु सर्गप्रलययोः सिद्धौ सर्वमेतदेवं स्यात् तयोरेव सिद्धिः कुतस्त्येत्याह-**सर्गादौ इति**। सर्गसिद्धौ तावदनुमानमाह-**विश्वसन्तानोऽयम् इति**। अवयवावयविप्रवाहः सन्तानः, सिद्धसाध्यतानिवृत्त्यर्थमुक्तं-**विश्व इति**। **दृश्यसन्तानशून्यैरिति**। यथा ह्यद्यत्वे घटादिकार्याणि तदारम्भकैः परमाणुभिः तदारम्भात् पूर्वदृश्यमानमृत्पिण्डादिकार्यसन्तानवद्भिरारभ्यन्ते, नैवं सर्वदापीति। कदाचिद्दृश्यसन्तानशून्यैरनारब्धसर्वकार्यैः स्वरूपेणावस्थितैरिति यावत्। परमाणुभिर्विश्वं कार्यमारभ्यते यथा ह्यरणिजनितोऽग्निः सन्तानान्तरशून्यै रेवारणिवर्त्तिभिराग्नेयपरमाणुभिरारभ्यत, इति। प्रलयेऽपि प्रमाणमाह-**वर्तमान इति**। यदि सन्तानारम्भकत्वादित्येवोच्येत द्व्यणुकादिभिर्व्यभिचारः स्यात्, न हि ते पूर्वमुत्पादितसन्तानान्तराः अथ चारम्भकाः। अतस्तद्व्यवच्छेदायोक्तं **नित्यत्वे सति इति**। पूर्वत्राप्यर्थतः प्रलयः सिध्यति। अत्रापि सर्ग इति द्रष्टव्यम्। अनुमानयोर्विपक्षे बाधकं पृच्छति-**अवयवानाम् इति**। यथा ह्यद्यत्वे तन्त्वाद्यवयवानां संयोगविभागाभ्यामेव पटादेरुत्पत्तिविनाशौ सन्तानानुच्छेदेन दृश्येते तथैव सर्वदापि तौ स्यातां, किमत्र बाधकमिति। **एवं तर्हि इति**। यदि सन्तानानुच्छेदः स्यात् तर्ह्यवयवापोद्धारलक्षणो विनाशोऽपि न स्यात्, दृश्यते चासाविति। **कन्थादि इति**। न सन्तानत्वप्रयुक्तः पटादेर्विनाशः, किन्तु विनष्टपटावयवारब्धकन्थादि द्वारभोगविशेषप्रयुक्त इति। **कर्त्रादिभोगविशेषेति** पाठे त्वयमर्थः-पटादेः कर्तॄणां कुविन्दादीनां पटाद्युत्पादनद्वारेण ये भोगास्तेषां तद्विनाशमन्तरेणानुपपत्तेस्तत्प्रयुक्तो विनाश इति। **द्व्यणुकेषु इति**। द्व्यणुकेषु तस्य भोगविशेषस्य विनष्टद्व्यणुकावयवद्वारस्य द्व्यणुकोत्पादनद्वारस्य वा न संभव इति। ततः किमित्यत्राह-**तथा च इति**। तस्माद्भोगविशेषस्याप्रयोजकत्वात्कार्यस्योत्पत्तिविनाशयोः समवायिकारणसंयोगविभागावेव निबन्धनमङ्गीकर्त्तव्यमित्याह-**तस्मात् इति**। अस्त्वेवं, तथापि कार्यस्थितिनिबन्धनमुत्पत्तिहेतुश्च किमिति सर्वदा न स्यातामित्यत्राह-**न च इति**। निरस्तः प्रवाहोऽनादिमानित्यत्रेति।

ईदृश्याम् .... सार्थवद्वा। पृ० २५१।

यदि कार्योत्पत्तिविनाशयोर्भोगविशेषोऽप्रयोजकः तर्हि भोगार्थः कर्मभिः सर्वेषामुत्पाद इति सिद्धान्तो व्याकुप्येतेत्यत्राह-**ईदृश्याम् इति**। इयं तावदर्थस्थितिर्न च तत्र सिद्धान्तहानिः। कर्माण्येव वस्तुस्थितिमनतिक्रामान्ति तद्भोगसमर्थवस्तूत्पादनद्वारेण भोगविशेषं सम्पादयन्ति। तेन येषां वस्तूनामुच्छेदस्वभावो न तेषामनुच्छिन्नानां भोगसाधनत्वम्। अन्यथा नानापुरुषाद्य दृष्टोत्पादितस्यैकस्यैव पटस्य परःसहस्रं वत्सरानवस्थितस्य क्रमेण भोगसाधनत्वप्रसङ्ग इति भावः। तस्माद्यथा द्व्यणुकेषु भोगाभावेऽपि स्थितिनिबन्धनहेत्वोरपगमोपगमाभ्यामेव विनाशोत्पत्ती तथैव विश्वस्यापि कार्यस्य ते भविष्यत इत्याह-**इति द्व्यणुकवत् इति**। एवं विपक्षे बाधकसद्भावात्सृष्टि प्रलयानुमानयोः सिद्धः प्रतिबन्ध इत्याह-**इति इति**। तदेवमापरमाणोर्ब्रह्माण्डस्य विनाशसिद्धौ कैव कथा तदन्तर्वर्त्तिनः कार्यस्येत्याह-**तथा च इति**। तदन्तर्वर्त्तिभिः सह विनश्यतीत्यत्र निदर्शनान्याह-**कपिकपोल इति**।।२।।

अपि च। जन्मसंस्कार .... अशब्दत्वाच्च। पृ० २५२-२५५

न केवलमुमानं दर्शनं च प्रलयसद्भावानुगुणमित्याह-**अपि च इति**। जन्मादेर्ह्रासदर्शनात्स्वाध्यायाध्ययने कर्मणोऽनुष्ठाने पुरुषाणां शक्तेश्च ह्रासदर्शनात् संप्रदायस्य ह्रासोऽवगम्यत इति। जन्मनो ह्रासं व्याचष्टे-**पूर्वं हि इति**। पूर्वे श्रुतयः स्मृतिदर्शनात्तत्स्मृतयश्च पूर्वतमविशिष्टाचारदर्शनादिति। वीजाङ्कुरन्यायेनानादित्वेन स्मृत्याचारयोः प्रामाण्यसिद्धेः किं शब्दानुमानेनेत्याशङ्क्याह -**आचारात् इति**। अन्धानां मुग्धरूपस्मरणतुल्यताप्रसङ्गात्। यथा हि तद् रूपनिर्णयसापेक्षं तथा धर्मनिर्णये स्मृत्याचारः स्मृतेरनुभवापेक्षत्वादाचारस्य प्रमेयत्वेन प्रमाणापेक्षत्वात्। अतस्तयोरेवान्योन्यमूलत्वाभ्युपगमेऽन्ध-वाक्यपरम्परातुल्यता प्रसज्यत इति। तर्हि तयोर्वेदमेव मूलमनुमास्यामः। स तु वेदो मन्वादीनां प्रत्यक्षः इदानीमुच्छिन्न इति नाभ्युपगच्छामः। किन्तु तैरपि पूर्वस्मृत्यादिना, तैरपि पूर्वतमस्मृत्यादिना। ततश्च सर्वेषां नित्यानुमेयस्यैव वेदस्य मूलत्वान्न शाखोच्छेदः, नाप्यन्धपरम्पराप्रसक्तिरिति **प्राभाकरस्तत्राह- आ संसारम् इति**। यदि सर्वैरप्यनाम्नातः तर्हि वेद एव स न स्यात्। वेदो नाम शुश्रूषाराधितगुरुमुखादिगतं द्विजातिभिरधीयमानं क्रमस्वरादिविशेषोपेतं वर्णकदम्बकं न तु वर्णमात्रम्। न चैतन्नित्यमनुच्चारितस्य सम्भवति। तेन नित्यानुमेयो वेद इति

परस्परपराहतं वचनमिति। इतश्च न वेदत्वं तस्येत्याह- **उत्पत्तित इति।** धर्माधर्मयोरावेदनाद्वेदः, वेदत्वं चानुपूर्व्या विशिष्टानां वर्णानां न केवलानाम्। आनुपूर्वी च वर्णानामुत्पत्तितो भवति यथा **नैयायिकानाम्**, अभिव्यक्तितो वा यथा **वैयाकरणानाम्**, अभिप्रायतो वा यथा न्यूनवाक्यप्रयोगे वक्त्रभिप्रायावच्छिन्नैर्वर्णैर्वाक्यपूरणेनार्थप्रतीतिः। त्रिधा चेयमानुपूर्वी नित्यमनुच्चारितानां न सम्भवतीत्यनर्थकत्वाद्वेदत्वव्याघात इति। ननु मा भूद् वेदत्वं तथापि शिष्टैराचर्यमाणत्वादष्टकादेरिष्टसाधनत्वं कर्तव्यत्वं च ज्योतिष्टोमवदनुमाय तत्र चानुमेयवेदस्य प्रामाण्यमपि निश्चित्य मन्वादयः स्मरिष्यन्ति अनुष्ठास्यन्ति चेत्यत्राह-**यदि हि इति। तदर्थस्य** अनुमेयवेदप्रमेयस्य शिष्टाचारत्वानुमानेनैव सिद्धेरिति। धर्माधर्मावेदकत्वं हि वेदत्वं, तच्च शिष्टाचारानुमानस्यास्तीति तदेवानुमेयो वेदो भविष्यतीत्यत्राह-**न च इति।** शिष्टाचारस्य प्रत्यक्षत्वान्न तावदनुमेयत्वम् अशब्दात्मकत्वादिति।

अथ शिष्टाचारत्वात् .... शाखोच्छेदः। पृ० २५५-२६०

ननु यदि वयं शिष्टाचारत्वेन कर्त्तव्यत्वहितसाधनत्वे अनुमास्यामः, ततो वेदानुमानमनर्थकं स्यात्। प्रमाणमूलमात्रमनुमीयत इत्याह-**अथ इति।** तत्र च पक्षधर्मताबलाद्वेदमूलत्वमेव सिध्यतीति भावः। **तत इति।** आचारस्वरूपस्य प्रत्यक्षमूलत्वात्सिद्धसाधनमिति। ननु शिष्टाचारस्येष्टसाधनत्वे प्रत्यक्षमूलत्वासम्भवाद्वेद एवं मूलं भविष्यतीत्यत्राह-**तदसंभवेऽपि इति।** तत्रापि शिष्टाचारत्वानुमानस्य मूलत्वासम्भवात्सिद्धसाधनतैवेति। अथवा धर्मादीनां कस्यचिल्लोकोत्तरस्य प्रत्यक्षत्वाभ्युपगमात् न वेदमूलत्वसिद्धिः। अर्वाचीनानां च मन्वादीनां प्रत्यक्षत्वासम्भवे शिष्टाचारानुमानमूलत्वासम्भावात्सिद्धसाधनतेति। **नित्यम् इति।** न तावदाचाराणां श्रेयः साधनत्वेन व्याप्तं किमपि लिङ्गमिदं नामेति विशेषतो मन्वादिभिरुपगतम्। यथा हि वयं शिष्टानाचरतो दृष्टा कर्तव्यताज्ञानमन्तरेण तदसंभवात्तस्य च ज्ञानस्य प्रत्यक्षमूलत्वासम्भवात् किमप्येषामनुमानं मूलमिति सामान्यतोऽनुमिमीमहे। तथा मन्वादयोऽपि विशिष्टानामाचारमूलं किमप्यस्त्यनुमानमिति सामान्यतोऽनुमिन्वते, न तु लिङ्गविशेषम्। नित्यं च विशेषतोऽज्ञायमानं लिङ्गं कथं प्रत्यायकं भवेत् अप्रत्यायकं च कथमनुमानं कथं वानुशास्तृणां कर्तव्यज्ञानस्य मूलं, ततो वेदत्वस्यैव सिद्धेः कथमनुमानेन सिद्धसाधनतेति भावः। **वेद इति।** नित्यानुमेयत्वपक्षे विशेषरूपेणाज्ञातो

वेदः कथं प्रत्यायको भवेत् कथं च वा मूलमिति। **अनुमितत्वात्** इति। अभियुक्तैराचरितत्वेनाष्टकादेरिष्टसाधनत्वकर्त्तव्यत्वे तावदभ्युपगम्य तत्प्रतिपादक एव वेदविशेषोऽनुमीयते। तेन विशेषतो विज्ञात एवेति। **लिङ्गम्पि** इति। शिष्टाचारात्तन्मूलत्वेनानुमीयमानं लिङ्गमपि विशिष्टमेवेति। **अनुमेय** इति। अत्र ह्याचारस्य हितसाधनत्वकर्तव्यतयोरनुमापकं लिङ्गम् अनुमेयं। तच्च यदि ताभ्यामेवानुमीयते न ततोऽनुमेयप्रतीतेर्लिङ्गप्रतीतिरिति स्यात्। तच्चायुक्तमिति। तदेतद्वेदानुमानेऽप्यविशिष्टमित्याह-**शब्द** इति। आचाराद्धि कर्तव्यतां ज्ञात्वा तज्ज्ञानमूलं वेदोऽस्माभिरनुमीयते यथा, तथा मन्वादिभिरपि प्रमेयभूतकर्तव्यतावगतेः पश्चात्तन्निर्णायकप्रमाणभूतवेदावगतिरिति। ननु स्यादेवं यदि कर्तव्यतया वेदोऽनुमीयेत न त्वेवमित्याह-**आचार** इति। **न** इति। आचारकर्तव्यताया हि मूलान्तरापेक्षेति। तर्हि तयैव वेदोऽनुमास्यत इत्यत्राह-**तत्कर्तव्यतायास्तु** इति। ततः किमित्यत्राह-**अप्रमिततया** इति। मा भूच्छब्दानुमानं प्रत्यक्षवेदेनैव तु कर्तव्यताप्रतीतिरस्त्वित्यत्राह **प्रत्यक्ष** इति। आचारमूलस्य नित्यानुमेयत्वाभ्युपगमादिति। तस्माच्छिष्टाचारत्वेन कर्तव्यतामनुमाय वेदोऽनुमातव्यः। सा चेदनुमिता किं तेनानुमितेन वेदेन। तत्प्रमेयस्य कर्तव्यताया अनुमानादेव सिद्धेरिति। नन्वनुमानादेवाचारकर्तव्यतावगमेऽपि वेदमूलतैव तस्या अनुमीयते। कर्त्तव्यताया वेदमूलत्वेन ज्योतिष्टोमादौ व्याप्त्यवधारणादित्याह **तथापि** इति। यदि व्याप्तिबलादागमो मूलमनुमीयते तर्ह्यत एवानुमीयमानस्य वेदस्य प्रत्यक्षानुमानयोरन्यतरमूलमनुमीयताम्। आगमत्वस्य तन्मूलत्वेन लोके व्याप्त्यवधारणादित्याह- **त एव** इति। एतच्च प्रकृतानुपयोगेऽपि परेषामनिष्टमित्येतावता प्रसञ्जितमिति। **आदिमत** इति। आगमस्य प्रत्यक्षानुमानमूलत्वं दृष्टम्, अयं त्वनुमीयमानो वेदागमोऽनादिरतः कथमस्य तन्मूलतेति। तदेतदाचारेऽपि वक्तुं शक्यत इत्याह-**आचारोऽपि** इति। य आचार आचरित्रा स्वयमेव मूलभूतमागममुपलभ्य प्रवर्तितः तस्यैवेदं प्रथमस्य ज्योतिष्टोमादेरागममूलत्वमुपलब्धम्। अयं त्वष्टकाद्याचारः पूर्वपूर्वाचार परम्परोपलम्भमात्रेणानुष्ठीयमानोऽनादिरतोऽयमागमनिरपेक्षो भविष्यतीति। ननु मा भूदागमो मूलमाचारस्य शिष्टाचारत्वेन कर्तव्यतानुमानमेव मूलं भविष्यति। शिष्टानामपि पूर्वानाचरतो दृष्ट्वा कर्तव्यतामनुमायाचारस्तेषामपि पूर्वतरानाचरतो दृष्ट्वा इत्याचारात् कर्तव्यतानुमानं, तदनुमानाच्चाचार इति अनन्ताभ्युपगमान्नेतरेतराश्रयत्वादिदोषप्रसक्तिरित्याह-**आचार** इति। **किन्नश्छिन्नम्** इति।

स्मृत्याचारयोर्मूलभूतो वेदो नित्यानुमेयः, चोदनैव धर्मे प्रमाणमिति राद्धान्तद्वयमपि छिद्यते, अनुमानस्यैव धर्ममूलत्वाभ्युपगमादिति। पुनरपि नित्यानुमेयवेदवादिनामेवाशयमाशङ्कते-**अथायम् इति**। प्रत्यक्षवेदमूलानामपि च तावदाचरितपूर्वाणामाचाराणामुच्छेदो दृश्यते, न हि ते पूर्वमप्यनाचरिता वक्तुं युक्तं तद्विषयस्य वेदस्यानुष्ठानलक्षणाप्रामाण्यप्रसङ्गात्। न च तस्याप्रामाण्यमेवास्त्विति युक्तम्, अनुष्ठीपमानार्थदर्शपौर्णमासादिवाक्यैरश्वमेधादि-वाक्यानां प्रामाण्यहेत्वविशेषात्। पूर्वकालवदुत्तरकालमनुष्ठास्यन्ते च कदाचिदश्वमेधादयस्तद्वदन्येऽप्यप्रत्यक्षवेदमूला आचारत्वादेवोच्छेत्स्यन्ते पुनरनुष्ठास्यन्ते चेति तेषामपि विच्छेदेन भवितव्यम्। अतोऽनादित्वाभावादाचार-परम्परामूलत्वासंभवेनाश्वमेधादीनामिवाष्टकादीनामप्याचारस्यागमो मूलं, स चानुमेय इति भावः। विवादपदाचारा वेदमूला उच्छेदानन्तरभावित्वात् राजसूयाश्वमेधादिवदिति। **एवं तर्हि इति**। यद्येषामुच्छेदस्तर्हि, किं मूलाः पुनः प्रवर्तन्ताम्। न तावत्कर्त्तव्यतानुमान् अनुमेयवेदो वा मूलं संभवति, तल्लिङ्गस्याचारस्य तदानीमभावात्, न वाऽश्वमेधादिवत् प्रत्यक्षश्रुतिरस्ति तदाचारस्वरूपस्य परिप्लवः स्यात्। न केवलं वेदमूलत्वमस्येत्युपसंहरति-**तस्मात् इति**। तदेवं नित्यानुमेयत्वेन शाखानामुच्छेदाभावं वदन्तो निरस्ताः।

अधुनाप्यस्ति .... पित्रादिक्रमेण प्रवर्तनात्। पृ० २६०-२६३

संप्रति मतान्तरमाशङ्कते-**अधुनापि इति**। स्मृत्याचारयोर्मूलभूता श्रुतिरिदानीमपि देशान्तरेऽधीयते, तेन न तच्छाखोच्छेद इति। तदपि विकल्प्य दूषयति-**अत्र इति**। स्वाध्याय इत्यध्ययनमुच्यते अध्येतृसमानकर्तृकत्वादिति। न ह्यनधीयानामनुष्ठेयज्ञानासंभवादनुष्ठानं संभवतीति। देशान्तरादागतैरध्येतृभिराचाराः प्रवर्त्तिष्यन्त इत्यत्राह **अन्यत इति**। आध्यात्मिकी शक्तिर्वक्ष्यमाणायुरादिकम्। तस्य स्वाध्यायविच्छेदस्य तस्मात्स्वाध्यायविच्छेदोऽपि तावदस्मत्पक्षानुगुण एव भवेदित्याह **न तस्मात् इति**। आयुरादीनां ग्रहणादिशक्तेश्च प्रत्यहमपचयादेव स्वाध्यायानुष्ठानयोर्विशेषणं न तूपचिततेष्वेव तेषु। तत्र कथञ्चित् केषुचिदेव पुरुषेषु कस्याश्चिच्छाखायाः स्वाध्यायानुष्ठानमनुवर्त्तते। परिग्रहीतृणामनेकत्वात्तेषां युगपदनुच्छेदाच्च। नैकदैव सर्वस्य स्वाध्यायस्य कर्मानुष्ठानस्य वोच्छेद इति। अनेन **शक्तेः स्वाध्यायकर्मणो**रित्येतद्विवृतमिति द्रष्टव्यम्।

ननु यद्यायमष्टकाद्याचारः प्रमाणमूलः स्यात् ततस्तन्मूलस्य

वेदस्येदानीमनुपलम्भादुच्छेदः कल्प्येत। अयं त्वप्रामाणिक एव। 'गतानुगतिको लोको न लोकस्तत्त्वचिन्तकः' इति तालतलबन्धनन्यायेन प्रवर्त्तत इत्याह- **गतानुगतिक** इति। ननु महाजनपरिग्रहात्प्रामाणिकत्वमेव तेषामङ्गीकृत्य शाखोच्छेद एव किमिति न कल्प्य इत्यत्राह-**अनेकशाखा इति**। सर्वशाखाप्रत्ययमेकं कर्मेति न्यायात्प्रयोगविधयः शाखान्तरगतानप्यङ्गविधीनुपसंहृत्य कर्माणि प्रयुज्यते, तेन नानाशाखाविहितेतिकर्तव्यतापूरणीयेषु कर्मसु शाखोच्छेदपक्षे कयाचिदुच्छिन्नया विहितमङ्गान्तरं किमपि कदाचित्स्यादिति शङ्कावकाशान्नेकस्मिन्नपि कर्मणि एतावदिदमित्याश्वासः स्यादिति। **न इति**। यदि महाजनपरिगृहीतोऽप्याचारोऽप्रमाणः स्यात् तर्हि वेदा अपि तथा भवेयुः, न हि ततोऽन्यत्तेषामपि प्रामाण्ये कारणम्। तत्र च शाखोच्छेदलक्षणाद् वृश्चिकभयादपसर्पन् कृत्स्नवेदाप्रामाण्यरूपे आशीविषमुखे निपतितः स्यादिति। इतश्च शाखोच्छेदोऽवगम्यत इत्याह-**एतमेव इति**। कालक्रमवशाद्भाविना शाखोच्छेदेनानुष्ठातृणां त्वदुक्तमार्गेण भाविनमनाश्वासमाशङ्क्य कल्पसूत्रकारैर्नानाशाखागतान्यङ्गान्युपसंहृत्य स्मरद्भिरनाश्वासप्रतिविधानं कृतम्। शाखोच्छेदाभावे कल्पसूत्राणि निष्फलानि भवेयुरिति। ततश्च यदुक्तमेकस्मिन्नपि कर्मण्यनाश्वासप्रसङ्ग इति तदपि निरस्तमित्याह-**अत इति**। अथैवमित्यारभ्य वाऽनाश्वासपरिहारतया व्याख्येयमिति। उच्छिन्नस्यैव विश्वस्य पुनरपि भविता प्रवाह इति प्रतिपादयिष्यन् पुनः प्रवृत्तिविधुरादपवर्गरूपादुच्छेदस्य भेदं तावदाह-**न चायम् इति**। श्रवणादिगतस्य विविक्तात्मविषयस्य ज्ञानस्य क्रमेण परिपाकविशेषेण भवन्मोक्षाख्य उच्छेदः श्लाघ्यो भवति आत्यन्तिकत्वात्। अयं तु प्रमादादिपरिपाकक्रमेण। अतः **प्रवाहोच्छेदयोः पुनः प्रवृत्तिरिति**। अस्तु वर्तमानप्रवाहस्य विच्छेदः, भाविप्रवाहस्तु कुतस्त्य इत्यत्राह-**अन्यथा इति**। यद्युच्छेदानन्तरं पुनः प्रवाहो न स्यात् तदा कृतस्य कर्मणः फलभोगमन्तरेणैव नाशः स्यादिति। ननु भवतु भाविनः प्रवाहस्योच्छेदः पुनः प्रवाहश्च भावी। तथापीतः पूर्वमपि प्रवाहोच्छेदौ कथं सिध्यत इत्यत्राह-**तथा च इति**। वर्तमानो यं प्रवाहः प्रवाहोच्छेदपूर्वकः प्रवाहत्वाद्भाविप्रवाहवत्। प्रवाहविच्छेदयोः पुनः प्रवृत्तावागमसंवादं दर्शयति- **स्मरति च इति**। महाजनपरिग्रहाद् वेदस्य प्रामाण्यमित्युक्तं, तत्र कोऽयं परिग्रहो नामेत्याह-**कः पुनरिति। हेतुदर्शनशून्यैरिति**। दृष्टहेतुदर्शनशून्यैरिति। वेदपरिग्रहे न कश्चिद् दृष्टो हेतुरित्याह-**न ह्यत्र इति**। न च सिद्धपुरुषार्थावगत्युपाय आगमान्तरेऽनधिकारिणः केचिद् गत्यन्तराभावादर्थसन्देहादेवात्र प्रवर्तन्ते। यद्ययं

वेदागमः प्रमाणं स्यात् ततः पुरुषार्थसिद्धिः। नो चेत् पूर्वावस्थाया न हानिरिति। न तु प्रामाण्यनिश्चयादिति वाच्यमित्याह–**नापि इति। परैर्बौद्धैः**, सम्मतानामप्यत्र प्रवेशो नास्ति किमु तैरपि त्यक्तानामिति। न चागमान्तराणां भक्ष्याभक्ष्यविभागपरत्वात्सिद्धप्रामाण्यान्यपि तानि परित्यज्य स्वैरभक्षणाद्यर्थमत्र प्रवर्तन्त इत्यत्राह–**नापि इति।** भक्ष्यस्य पेयस्य वा भक्ष्येण पेयेन च सह द्वैतं नास्ति किं तु सर्वं भक्ष्यं च पेयं चैकत्वमेव तयोरिति कामयमाना इति। नापि कुतर्काभ्यासवन्तस्तैः कुतर्कैरप्रमाणमेवेदं प्रमाणतया निश्चित्य प्रवर्तन्ते तदभ्यासविरहिणामेव कुमाराणां प्रवृत्तेरित्याह–**नापि इति।** नापि संभवद्विप्रलम्भैः षडङ्गैः संसर्गेण तैर्विप्रलब्धाः प्रवर्त्तन्ते। पितृपितामहादयोऽत्र प्रवृत्ता इत्यवगम्य

नापि योगाभ्यास .... इति विभागः। पृ० २६४

प्रवृत्तेरित्याह–**नापि इति।** नापि योगमभ्यस्यता मया तूष्णीमास्यत इति व्यपदेशेनाव्यग्रतां निर्व्यापारतां फलत्वेनाभिसन्धायात्र प्रवृत्तिरित्याह–**नापि इति।** कर्मकाण्डे ह्ययं प्राथमिकः प्रवर्तते न तु ब्रह्मकाण्डे "ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्" इति वचनात्। तत्र चास्यानेकधाऽनुष्ठानव्यग्रत्वात्। यद्वा, अन्तिममोक्षाश्रममप्राप्तः प्राथमिकस्तस्य कर्मकाण्डव्यग्रत्वादिति। नापि जीविकाऽत्र प्रवृत्तेर्निर्मितं, '**दृष्टलाभफला नापि**' (न्या० कु० १।८) इत्यनेन निरस्तत्वादित्याह–**नापि इति।** नापि **कुहकानां** वञ्चकानां वञ्चना प्रवृत्तेर्निमित्तं वेदागमे वञ्चनाया असंभवादित्याह–**नापि इति।** न ह्यत्रादित्यस्तम्भादीनामुपाया उपदिश्यन्त इति।

अत्रासंभवन्तः सर्व एवैते दृष्टहेतवो **बौद्धाद्यागम**परिग्रहे संभवन्तीत्याह–**संभवन्ति तु इति।** संभवमेव दर्शयति–**यथा हि इति।** *बौद्धादयोऽपि* विहारकुहरकोटरेषु चक्षुषी निमील्य निर्व्यापारा आसत इत्यलसास्तान् बौद्धाद्यागमान् परिगृह्णन्तीति संबन्धः। **इतः** वैदिकात् पथः, **रागिणः** भोज्याद्यद्वैतरागिणः स्वेच्छया परिग्रहः पित्रादीनां नियामकानामभावात्।

अत्यन्तमलिनो देहो देही चात्यन्तनिर्मलः।
उभयोरन्तरं ज्ञात्वा कस्य शौचं विधीयते।

आदित्यस्तम्भनादीनामुपायस्य बौद्धाद्यागमेषूपदिष्टत्वात् कुहकवञ्चिताः परिगृह्णन्ति। अतः यत एवं दृष्टहेतवः संभवन्तीति।

स्यादेतत्। यद्येवं .... कथङ्कारमास्थापयेत्। पृ० २६४-२६६

तदेवं प्रसङ्गाद्वेदप्रामाण्यहेतोर्महाजनपरिग्रहस्य स्वरूपं दर्शयित्वाऽधिकृतयोरेव सृष्टिप्रलययोः किञ्चनाशङ्कते-**स्यादेतत् इति**। विश्वोत्पत्तिनाशयोर्निमित्तानां कर्मणां प्रलयावस्थायां युगपन्निरुद्धवृत्तित्वेन कस्यचिदपि वस्तुन उत्पत्तेर्विनाशस्य चासंभवात् स्तिमिताकाशसदृशं जगदवतिष्ठते, तदा चागन्तोः कुतो हेतुविशेषात् पुनः सर्गः? न हि तदा हेतुविशेषः कुतश्चिदस्ति, न हि तमन्तरेणाहेतुकः सर्गः सम्भवतीति। प्रकृतेर्महदादिरूपेण परिणतेः पुनः सर्गोऽस्त्वित्यत्राह-**प्रकृतिपरिणतेरिति**। मातुलदुहितेव दाक्षिणात्यानां न तु प्रामाणिकानाम्, प्रकृतितन्नित्यत्वयोरप्रामाणिकत्वात्तत्परिणति-हेतोरागन्तुकस्याभावाच्चेति। **ब्रह्मपरिणतेरिति भास्करगोत्र** एव युज्यते कुलवधूरिव श्रोत्रियगोत्रे। **वासना नाम**=आलयसन्ततिपतितानां ज्ञानक्षणानां पूर्वपूर्वविज्ञानं, **तस्य परिपाकः** सहकारिलाभस्तस्मादिति **सौगतमत**मनुधावति। वेशवनितेव धनवन्तमिति। कालविशेषावचछिन्नया भगवतः सिसृक्षया सहकृतैर्भोक्तृकर्मभिः परमाणुषु क्रियोत्पत्तौ तेषां परस्परसंयोगाद् द्व्यणुकादिकमेण पुनः सर्ग इति **नैयायिकानां** मतमाशङ्क्याह-**कालविशेषात् इति**। कालस्य स्वतो भेदाभावादुपाधिविशेषाद्विशेषो वक्तव्यः। प्रलये च कालावच्छेदकस्योपाधेरभावादिति न संगच्छत इति। नन्वसन्त एव तदानीमुपाधयः सर्वकालमुपलक्षयिष्यन्ति असतामेवोपलक्षणत्वाविरोधादित्यत्राह **असतां च इति**। कुत इत्यत आह-**सर्वदा इति**। प्रलयारम्भात् प्रभृति सर्वोपाधीनामसत्त्वेनाविशेषान्नैवागन्तुकसर्गकालस्य विशेषकत्वमिति। ननु मा भूवन्नसन्तो विशेषकाः सर्वदा तुल्यरूपत्वात् तथापि तद्विषयं विज्ञानं कदाचिदुपपद्यते, ततश्चागन्तुकज्ञानावान्तरव्यापारद्वारा तेषामेव विशेषकत्वं भविष्यतीत्याशङ्क्याह-**न च ज्ञानद्वार इति**। तच्च ज्ञानमस्मदादीनां भवेदीश्वरस्य वा? नाद्यः तस्यानित्यत्वेन प्रलये विनाशाच्छरीरेन्द्रियादिकारणाभावेन पुनरनुत्पादाच्च। न द्वितीयः, तस्य नित्यसर्वविषयस्य च स्वरूपतो विषयतश्चाविशेषकत्वात्। ततश्च सर्गादावागन्तोः कस्यचिद्धेतोरभावादनुत्पत्तिः सर्वदा उत्पत्तिर्वा सर्वस्य स्यात्, न तु कदाचिदुत्पत्तिरिति चोद्याभिप्रायः। **न इति**। मा भूवन्नन्ये प्रकृतिपरिणामादयः सर्गस्य निमित्तं, कालविशेषस्तु भविष्यति। अस्ति च तदानीं तस्योपाधिविशेष ईश्वरनिःश्वसितलक्षणः। कथमशरीरस्य तस्य निःश्वसितमित्यत उक्तं **परमाणूनां कर्मसन्तानस्य इति**। परमाणवो हीश्वरशरीरं

साक्षात्प्रयत्नाधिष्ठेयत्वात्, तेन तदाश्रयं कर्मेश्वरनिःश्वसितं भवति। तथा च श्रुतिः- 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतत्' इति। ननु यदि परमाणुषु कर्म स्यात् तर्हि संयोगस्यावर्जनीयत्वाद् द्व्यणुकादिक्रमेण तदानीमेव विश्वं जगदुत्पद्येत, अत उक्तं-**प्रचय इति**। प्रचयाख्यमेव संयोगं तदा कर्मारभते न तु कार्यारम्भकं, तर्हि किमर्थं कर्मसंतानोऽनुवर्त्तत इत्यत उक्तं-**कालावच्छेदैकप्रयोजनस्य इति**। इयन्तं कालं प्रलीनं ब्रह्माण्डमिति प्रलयकालावच्छेद एव प्रयोजनं तस्य नान्यत्। सर्वस्मिन्नेव प्रलीने कुतः कर्मण एवोत्पत्तिरित्यत उक्तं-**महाभूत इति**। महाभूतानां पृथिव्यप्तेजोवाय्ववयविनां संप्लवो = विनाशः तदर्थं यः संक्षोभोऽभिघातस्तेन तदारम्भकेषु परमाणुषु कर्मोत्पत्तिद्वारेण वेगाख्यः संस्कार उत्पद्यते। तेन चावयविनाशोत्तरकालमपि मन्दतरतमादिभावेन कर्मसंतानोऽनुवर्त्तते कार्यान्तराभावेऽपि कालावच्छदैक प्रयोजनमीश्वरनिःश्वसितमनुवर्त्तत इत्यत्र दृष्टान्तः-**शरीर इति**। यथा हि निद्राणानां प्राणिनामेतावानस्यायुषो भोग इदानीं परिपक्वः इदानीं त्वेतावानित्यायुः परिपाकक्रमसंपादनैकप्रयोजनः श्वाससंतानोऽनुवर्त्तते। इतरथा हि तदानीं जीवनकालावच्छेदयोग्यक्रियाभावादियन्तं कालमनेन जीवितमतोऽयमायुर्भागः पक्व इति तत्क्रमो न स्यादिति। यद्यत्र कश्चित्पृच्छेत् कियन्तं कालमसौ प्रलयोऽनुवर्त्तत इति। तत्रैवमुत्तरितव्यमित्याह-**कियानसौ इति**। प्रमाणविरोधाभावादागम-प्रसिद्ध्यनुसारेण यावन्तं कालं सर्गानुवृत्तिस्तावन्तं कालमिति। यद्वा, यावानागमेषूपदिश्यते तावानिति। सर्वथा ब्राह्मेण मानेन वर्षशतमिति। उपाध्यन्तरमाह-**ब्रह्माण्डान्तर इति**। यदेकस्मिन् ब्रह्माण्डे विनष्टे ब्रह्माण्डान्तरमुत्पद्यते तद्व्यवहारो वा तत्समये भाविनो ब्रह्माण्डान्तरस्यानुवृत्तिकालं यावदन्यस्य प्रलय इत्यर्थः। सन्ति च बहूनि ब्रह्माण्डानीत्याह-**यथा खल्विति**। श्रुतिरेवात्र प्रमाणमित्यर्थः। परमप्रकृतमुपसंहरति-**तस्मादिति**। उक्तैर्हेतुभिरेव सर्वेषां विच्छेदे परिग्राह्यपरिग्रहीतृपरिग्रहाणामभावान्न तद्द्वारेण प्रामाण्यं शक्याभ्युपगममिति। परिग्रहमङ्गीकृत्याप्याह-**ज्ञापकश्चेति** महाजनपरिग्रहः खलु प्रामाण्यस्य ज्ञापकः। ननु ज्ञापकानि च कारकोत्पादितानीति केवलं ज्ञापयन्ति,शब्दानां च मूलप्रमाणवत्ता। प्रामाण्यकारणं, न हि सा नित्यस्य संभवति, स्वतः प्रमाण्यमित्युक्तं, ततः कारकाभावान्निवर्त्तमानं प्रामाण्यं ज्ञापकाभिमतः परिग्रहः सन्नपि कथं व्यवस्थापयेत्। न हि सहस्रचक्षुषापि नभसि नभस्वति वा रूपं शक्यसंपादमिति।

स्यादेतत् .... समाश्वास इति। पृ० २६६-२६९

ततोऽन्यस्मिन्ननाश्वासादित्येतदवतारयितुं शङ्कते-स्यादेतत् इति। नित्यनैमित्तिकेन कर्मणा चित्तप्रवृत्तिनिरोधात्मकेन योगेन सिद्धास्तज्जनितधर्मसहकृतेन मनसाऽतीन्द्रियार्थदर्शनसमर्थास्तत एव साक्षात्कृतधर्माधर्माः कपिलहिरण्यगर्भादय एव सन्त्युपदेष्टारस्तेषामेव कारुण्यनिष्ठानां संसारिचेतनानुग्रहार्थमुपदेशसंभवात्। एतावानेव हि तेभ्यो भवदभिमतस्येश्वरस्य विशेषः, यत्कृमिकीटसंख्यादिसर्वविषयं ज्ञानं नाम, तच्चानपेक्षितं धर्माधर्मोपदेशस्येति। तदुत्तरत्वेन संग्रहमुपादत्ते **यतः इति**। अनाश्वासमेवोपपादयति-**तथा हि इति**। न तावद् दर्शनोपायो भावनेति वक्ष्यामः। **यद्यपि स्यात्तथापीति**। नन्वहिंसादिषु संवादाभावेऽपि दृष्टार्थेषु प्रमाणान्तरसंवाददर्शनाददृष्टार्थस्यापि तत्साधर्म्यात्समाश्वास इत्याह-**एकदेश इति**। स्वप्ने श्रुतस्याख्यानस्य। यद्वा स्वप्नस्येदमिति। स्वप्नफल-प्रतिपादकस्यैकदेशसंवादेऽपि न प्रमाण्यं,तद्वदपि संभवेदिति। एवं भाव नामभ्युपगम्योक्तं, सापि नास्तीत्याह-**न च इति**। स्मृतिहेतुः संस्कारो वासना, सा कथमननुभूतपूर्वे भवेदिति। किंच, कमयोगयोरनुष्ठानेन हि कपिलदयः सिध्यन्ति, तदनुष्ठानानां च तयोर्हितसाधनत्वज्ञानात्, तज्ज्ञानोपायश्च तदानीं नास्तीत्याह-**न च कर्मयोगयोरिति**। हितसाधनत्वाभावेऽपि कर्मयोगयोः स्वरूपोपलम्भामात्रेण तदनुष्ठानं भवेदित्यत्राह-**न चैतयोः इति**। **भावनासाध्यो वेति**। न हि स्वरूपोपलम्भो भावनासाध्यो वा भवति प्रत्यक्षत्वात्स्वरूपस्य। यद्वा, कर्मयोगयोर्हितसाधनत्वोपलम्भो भावनासाध्यो वा नोपयुज्यतेऽनाश्वासादिभिः। **न चास्मिन् इति**। कर्मयोगयोरतीन्द्रियार्थप्रदर्शनसाधनत्व इति। किञ्च, तयोस्तत्साधनत्वमवगम्यानुतिष्ठतः फलसाधनादन्वयव्यतिरेकौ स्यातां, तत्साधनत्वाप्रतीतौ कथमनुष्ठानं कथं च फलदर्शनं कथमन्वयव्यतिरेकावित्याह-**अप्रतीताया इति**। तदसंभवात्फलस्यान्वयव्यतिरेकयोर्वाऽसंभवादिति। ननु मा भूतामेकस्मिन् देहे, तथापि योऽहं देहान्तरमधिष्ठाय कर्माकरवं सोऽहं देहमधिष्ठाय तस्य कर्मणः फलमनुभवामीति कर्तृभोक्तृदेहयोरात्मनः प्रतिसन्धानादन्वयव्यतिरेकौ स्यातामित्यत्राह- **न च इति**। मा नामार्वाचीनः प्रतिसन्धत्तां, विशिष्टाः केचित्प्रतिसन्धास्यन्तीत्यत्राह-**केचित् इति**। कुतो वा नाश्वास इत्याह-**विनिगमनायामिति**। **अनुभवत्येवेत्यवधारणायामिति**। **प्रतिपत् इति**। यथा ह्यनध्यायकाले वर्जिताध्ययनानां पुनरध्यायकाले स्मरणम्,

उपाध्यायानामन्योन्यसंवादेन पूर्वाधीतस्वाध्यायप्रतिसन्धानं निश्चीयते, तथा कपिलादीनामन्योन्यसंवादात् सर्गादौ प्रतिसन्धानावधारणेति। **न इति**। कथं हि संस्कारोच्छेदकैर्मरणजननक्लेशैः कालविप्रकर्षेण चान्तरितं जन्मान्तरानुभूतं प्रतिसन्धीयत इति। जन्मान्तरानुभूतं प्रतिसन्दधद्भिरपि **कपिलादिभिः** सर्गादिभुवां ब्राह्मणत्वादिवर्णविशेषस्याज्ञानादधिकारिविशेषेण धर्मविशेषेणानुष्ठानं न संभवति। नहि तदानीं ब्राह्मणोन ब्राह्मण्यामुत्पत्तिरस्ति। न च पूर्वजन्मनि ब्राह्मणमातापितृजन्यत्वेन जन्मान्तरे ब्राह्मणत्वं भवति यतस्तत्प्रतिसन्धानेनैतन्निश्चीयेतेत्याह-**तथा च इति**। यद्वा, **तथा चेति** जन्मान्तरीयप्रतिसंधानाभाव इत्यर्थः। "न हि पूर्वजन्मनी" ति तदभ्युपगमेनोक्तमिति। नन्वीश्वरवद्वर्णविशेषं **कपिलादयो**ऽपि ज्ञास्यन्तीत्यत्राह-**ईश्वरवत् इति**। स हि तज्जातिविशेषे निमित्तमदृष्टविशेषसहकृतभूतभेदारब्धशरीरत्वं जानाति नित्यसर्वज्ञत्वेनादृष्टविशेषवेदित्वात्तस्य, नैवं कपिलादयः तेषामदृष्टविशेष ज्ञानहेतोर्भावनाया निरस्तत्वादिति। तर्हि ब्रह्माण्डान्तरवर्तिनो ब्राह्मणा ब्राह्मणादिवर्णान् तत्र संचार्य तत्तद्वर्णविशेषप्रयुक्तान् धर्मान् व्यवस्थापयन्तीत्यत्राह-**एतेन इति**। एतेन वक्ष्यमाणेन संचरणशक्त्यभावेनेति। **अणिमादि इति**। अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्तिः, प्रकाम्यमीशित्वं, वशित्वमित्येभिरैश्वर्यैः संपन्नाः कपिलादयः। ततस्तेषां किन्नाम दुष्करमिति। **न इति**। अत्राणिमादिसंपत्ताविति। तत्र संभावना तावदस्तीत्यत्राह-**संभावना इति**। **आद्य इति**। अत्र कपिलादीनामैश्वर्येऽतीन्द्रियार्थ दर्शित्वे च तदानीन्तनमहाजनपरिग्रहान्यथानुपपत्तिः कल्पनायां प्रमाणमस्तीति। नन्वेककल्पनायामपि तस्य विदेहस्यैव निर्मातुं शक्तिरणिमाद्यैश्वर्यसंपत्तिश्च कल्प्येतेति कल्पनागौरवमस्त्यवेत्यत्राह-**विदेह इति**। अनेककल्पनायामपि तदविशिष्टमेवेत्यर्थः। अस्तु तर्हि कपिलादीनामन्यतमः स एकः किमीश्वरेणेत्यत्राह-**अस्तु इति**।३।।

कारं कारम् .... भूयासमन्तेष्वपि। पृ० २७०

यद्येक एवाङ्गीक्रियते स तर्हीश्वर एव स्यात्। तमन्तरेणान्यत्र कपिलादावनाश्वासस्योक्तत्वादिति परिच्छेदार्थं संकलय्य दर्शयन् सर्वास्वपि जातिष्वात्मनः परमेश्वरं प्रति प्रणतिं प्रार्थयते **कारं कारम् इति**। संसारिचेतनवर्गसमवेतमदृष्टं **माया**, **तद्वशादलौकिक**मन्यत्रादृष्टचर**मद्भुतमयं** विचित्रं च जगत्कृत्वा कृत्वा पुनः संहत्य संहत्य पुनरपि कुर्वन् ऐन्द्रजालिक

इवेन्द्रजालं यः क्रीडति, तं देवं, निरवग्रहस्फुरदभिध्यानानुभावं निरवग्रहम्= अप्रतिघातं, स्फुरत् प्रकाशमान्। **अभिध्यानं** सर्वानपि विषयानदृष्टपरमाणवादी- नभिध्याय व्यवस्थितं ध्यानं ज्ञानं, तदेव **तस्यानुभावो**=महिमा यस्य तथोक्तः। यद्वा, **अनुभावः**=क्रियाशक्तिः, अप्रतिहते सर्वविषये ज्ञानशक्तिक्रियाशक्ती यस्य स तथा। नित्यज्ञानत्वेन विश्वासभुवां कपिलादीनां निरस्तत्वात् तस्यैकभुवं शिवं प्रति नमन्, **भूयासमन्तेष्वपि** जननेषु नीचास्वपि जातिषु वर्तमानं शिवं प्रति नमन् भूयासमिति यावत्। यदि शिवं प्रति नमन् भवे, अन्तेष्वपि भूयासम्, अन्यथा तूत्तमेष्वपि न भूयासमित्यर्थः।।४।।

इति श्रीमद्रामदेवमिश्रसूनोर्वरदराजस्य कृतौ न्यायकुसुमाञ्जलिटीकायां बोधन्यां द्वितीयः परिच्छेदः।।



परिशिष्टम्

प्रथमद्वितीयस्तबकयोः कारिकार्धसूची

ग्रन्थ का कथ्य जितना गम्भीर है, उतना ही समीचीन तथा प्रकाशन अतीव भव्य एवं मनोरम है। अतः आप हम जैसे भारतीय दर्शन के अध्येताओं की ओर से साधुवादार्ह हैं।

Dr. Shahiprabha Kumar
Professor & Chairperson(Ex.)
Jawaharlal Nehru University
Special Center for Sanskrit Studies

आवरकचित्र : ख्याति मेहता

संपादक : डा. किशोरनाथ झा
पिता : पण्डित श्रीकृष्णमाधव झा
जन्म : १०/०६/१९४०
स्थायि निवास : ग्राम बिट्ठो, पो. सरिसब - पाही, जिल्हा-मधुवनी ८४७४२४ (बिहार)
कार्यक्षेत्र : रीडर, गंगानाथ केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद २११००२।

उपलब्धि :

१)(क) पन्द्रह मौलिक कृतियाँ, (ख) ६३ अनुवाद ग्रन्थ तथा (ग) अट्ठाइस संपादित ग्रन्थ प्रकाशित हैं। तथा चार प्रकाशनाधीन हैं। उनमे से सात उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान लखनऊ से पुरस्कृत हैं। इनमें शाक्ततन्त्र की चार खंडोमें प्रकाशित महाकालसंहिता, न्यायदर्शनका न्यायतत्त्वालोक, न्यायसिद्धान्तलक्षण-सुबोधिनी, मीमांसा-साइन्स औफ सेन्टेस इन्टरप्रिटेशन, तन्त्रवार्तिक व्याख्या अजिता, तार्किकरक्षा तथा न्यायमंजरी विशेष उल्लेखयोग्य हैं।

२) २० से अधिक शोधछात्रों को आपके मार्गदर्शनमे विद्यावारिधि की उपाधि मिली।

३) डा. हरिसिंह गौड विश्वविद्यालय सागर मे आपको विज़िटिंग प्रोफेसर के रूप मे आमन्त्रित कर अनेक सारस्वत कार्य करवाये।

४) पूना विश्वविद्यालय मे न्यायदर्शन पर सप्तदिनव्यापी भाषणमाला दी जिसे सेन्टर ऑफ एडवान्स स्टडीज़ इन संस्कृत द्वारा प्रकाशित किया गया ।

५) आपने गान्धी नगरमे वल्लभ वेदान्त पर आयोजित संगोष्ठि मे बीज भाषण दिया । उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान से सात पुस्तकें पुरस्कृत, शारदापीठाधीश्वर जगद्गुरुशंकराचार्य भारती तीर्थ द्वारा गणेशोत्सव शास्त्रार्थसभा (१९९३ ई.) में सम्मानित तथा २००२ ई. में राष्ट्रपतिद्वारा भी सम्मानित।

६) आपने विभिन्न भारतीयविश्वविद्यालयों में दो सौ से अधिक पीएच. डी. एवं डी. लिट् शोध प्रबन्धोंका परीक्षण किया है ।

७) सन् १९५९ से आपने विभिन्न ६४ दर्शनविद्याके सम्मेलनों में भाग लिया तथा निबन्ध पढे।

८) शताधिक शोधनिबन्ध भारतीय शोध पत्रिकाऔं में प्रकाशित हैं।

९)आपको हस्तलेख विज्ञान में पूर्ण परिचय, हैः प्राचीन हस्तलेख् पढने एंव सम्पादन